श्रीमद्भागवतम्

(चतुर्थ-खण्ड — स्कन्ध ११-१२)

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

श्रीमद्कृष्णद्वैपायनवेदव्यास-प्रणीतम्

श्रीमद्भागवतम्

(चतुर्थ-खण्ड — स्कन्ध ११-१२)

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्य-केशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

श्रीमद्भागवतम् (चतुर्थ-खण्ड — स्कन्ध ११-१२)

रचियता — श्रीमद्कृष्णद्वैपायनवेदव्यास

सम्पादक — श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

प्रकाशक — गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन, सेवाकुञ्ज, वृन्दावन, जिला मथुरा (उ॰प्र॰)

मुद्रक — स्पैक्ट्रम प्रिंटिङ्ग प्रेस प्रा॰ लि॰, ओखला, नई दिल्ली

प्रथम संस्करण — श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी तिरोभाव-तिथि श्रीशरद-पूर्णिमा, २० अक्तूबर, २०२१

ISBN: 978-81-950106-0-8

© २०२१ गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

प्राप्ति-स्थान—

१. श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा (उ॰प्र॰)	९७१९०७०९३९
२. श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ, वृन्दावन (उ॰प्र॰)	९२१९४७८००१
३. श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ, गोवर्धन (उ॰प्र॰)	(०५६५)२८१५६६८
४. श्रीरमणविहारी गौड़ीय मठ, जनकपुरी, नई दिल्ली	(०११)२५५३३२६८
५. श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, नवद्वीप (प॰बं॰)	९३३३२२२७७५
६. श्रीगोपीनाथ-भवन, वृन्दावन (उ॰प्र॰)	९६३४५६३७३९
७. जयश्रीदामोदर गौड़ीय मठ, पुरी (उड़ीसा)	९७७६२३८३२८
८. श्रीराधे-कुञ्ज, वृन्दावन (उ॰प्र॰)	९४५७२२५५६७
९. श्रीराधामाधव गौड़ीय मठ, फरीदाबाद (हरियाणा)	९९११२८३८६९
१०. श्रीराधागोविन्द गौड़ीय मठ, बड़ौत (उ॰प्र॰)	९४११८२६२१५
११. श्रीकुञ्जविहारी गौड़ीय मठ, अम्बाला (हरियाणा)	९७२९३८४९९५
१२. श्रीराधाविनोदविहारी गौड़ीय मठ, नोएडा (उ॰प्र॰)	९६५०८२४४४२

Please visit us at www.purebhakti.com & www.harikatha.com

समर्पण

भक्त–भागवतके सम्पूर्ण आनुगत्यमें ही ग्रन्थ–भागवतके अनुशीलनका दृढ़ अनुमोदन करनेवाले, भागवतके सिद्धान्तोंमें विशेष पारदर्शी, प्राकृत कनक–कामिनी–प्रतिष्ठाके लिए भागवतका पाठ करनेवालोंके लिए पाषण्ड–गजैकसिंह स्वरूप और शुद्ध–भागवत–परम्पराका आनुगत्य स्वीकारकर समस्त अप–उप–छलादि धर्मरूपी मेघके आवरणसे गौड़ीय गगनमें भागवत–अर्ककी प्रभा–राशिको निर्मुक्त रखनेवाले 'वैकुण्ठप्रिय' अस्मदीय श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी प्रेरणासे यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

श्रीगुरुपादपद्मकी अपनी ही वस्तु उन्हींके श्रीकरकमलोंमें समर्पित है।

श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

प्रकाशन–मण्डली

अनुवादक

श्रीमती डा. मधु खण्डेलवाल 'साहित्याचार्य'
एम.ए. (संस्कृत) पी–एच.डी.

टंकण

श्रीपाद भक्तिवेदान्त सागर महाराज
श्रीमान् कमलाकान्त दासाधिकारी
श्रीमान् अच्युतानन्द दासाधिकारी
श्रीमती वृन्दा देवी दासी

संयोजना

श्रीपाद भक्तिवेदान्त नारसिंह महाराज
श्रीमान् अमलकृष्ण दास ब्रह्मचारी

प्रूफ–संशोधन

श्रीपाद भक्तिवेदान्त माधव महाराज
डा. मधु खण्डेलवाल

विशेष सहयोग

श्रीमान् सुबलसखा दासाधिकारी
सुश्री राधिका खण्डेलवाल

प्रच्छद एवं अन्य चित्र

श्रीयुक्ता श्यामारानी दासी

ले–आउट

श्रीमान् सतीश अग्रवाल

कवर डिज़ाइन

श्रीमान् कृष्णकारुण्य दास ब्रह्मचारी

आभार

श्रीमती सपना खण्डेलवाल

प्रकाशनार्थ आर्थिक सेवा

स्व॰ श्रीमान् भानु खण्डेलवालकी स्मृतिमें उनकी धर्मपत्नी श्रीमती शैला खण्डेलवाल एवं पुत्र श्रीमान् सौरभ खण्डेलवाल, श्रीमती सुचित्रा देवी दासी, श्रीमती अनुराधा खण्डेलवाल, श्रीमती करुणा देसाई, श्रीमती गीता खण्डेलवाल, श्रीमान् रमेश माधोगड़िया, श्रीमान् राधेश्याम मालानी इस ग्रन्थके प्रकाशनमें आर्थिक–सेवा–योगदान द्वारा श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गके कृपा–भाजन हुए हैं।

विषय–सूची

प्रस्तावना..... xi-xvi

एकादशः स्कन्धः..... १–४६२

एकादश स्कन्धकी कथाका सार..... ३–१४

प्रथमोऽध्याय—कृष्णेच्छासे मुसल–उत्पत्तिके छलसे यदुवंशके ध्वंसकी सूचना.....१५–२२

द्वितीयोऽध्याय—निमि–जायन्तेय–संवादका उल्लेख करते हुए जिज्ञासु वसुदेवके निकट नारद द्वारा भागवत–धर्मोपदेश, आत्यन्तिक क्षेम एवं वैष्णव–धर्मके स्वरूपका वर्णन.....२३–४१

तृतीयोऽध्याय—बहिरङ्गा मायाका स्वरूप, उसकी निवृत्तिके उपाय, ब्रह्मका स्वरूप, कर्म–नैष्कर्म्यका विषय–वर्णन ४२–६१

चतुर्थोऽध्याय—भगवदवतारोंकी लीलादिका वर्णन.....६२–७१

पञ्चमोऽध्याय—भक्ति–हीन मनुष्योंकी स्थिति, प्रत्येक युगमें पूजा–विधिका वर्णन एवं निमि–जायन्त–संवादकी समाप्ति.....७२–८८

षष्ठोऽध्याय—ब्रह्मादि देवताओं द्वारा स्तव–स्तुतिके साथ भगवान्‌से स्वधाम–गमन विषयमें प्रार्थना, उद्धव द्वारा उनके साथ धाम–गमन विषयकी याचना.....८९–१०४

सप्तमोऽध्याय—उद्धवकी आत्म–ज्ञान–सिद्धिके लिए श्रीहरि द्वारा इतिहासमें कथित अवधूत–विषयक चौबीस गुरुओंके अन्तर्गत आठ गुरुओंसे शिक्षाका वर्णन.....१०५–१२५

अष्टमोऽध्याय—अजगर इत्यादि नौ गुरुओंसे शिक्षित विषयका वर्णन..... १२६–१३९

नवमोऽध्याय—कुरर इत्यादिके निकट प्राप्त शिक्षाका वर्णन.....१४०–१५१

दशमोऽध्याय—स्थूल एवं सूक्ष्म देहसम्बन्ध-वशतः आत्माको संसार-दशा प्राप्त होती है, स्वरूपतः नहीं—मतान्तरोंका खण्डन करते हुए उक्त सिद्धान्तका वर्णन..... १५२-१६४

एकादशोऽध्याय—बद्ध, मुक्त, साधु एवं भक्तिके लक्षणोंका वर्णन..... १६५-१७९

द्वादशोऽध्याय—साधुसङ्गकी महिमा एवं व्रजवासियोंके प्रेमके परम-महोत्कर्षका वर्णन १८०-१८९

त्रयोदशोऽध्याय—सत्त्वगुणके उद्रेकके कारण विद्याके उदयक्रमसे तथा हंसदेवके इतिहाससे चित्तके गुण-विशेषका वर्णन..... १९०-२०३

चतुर्दशोऽध्याय—भक्तिके श्रेष्ठत्वका एवं साधन सहित ध्यान-योगका वर्णन..... २०४-२१७

पञ्चदशोऽध्याय—धारणानुगत सिद्धि-कथन २१८-२२७

षोडशोऽध्याय—श्रीहरिकी आविर्भाव-युक्त विभूतिका वर्णन.. २२८-२३८

सप्तदशोऽध्याय—भक्तिरूप स्वधर्म विषयक जिज्ञासाके उत्तरमें ब्रह्मचारी एवं गृहस्थके सम्बन्धमें हंसोक्त धर्मका वर्णन २३९-२५४

अष्टादशोऽध्याय—वानप्रस्थ यतियोंके धर्म एवं अधिकारी भेदसे तद्गत-वैशिष्ट्यका वर्णन..... २५५-२६८

एकोनविंशोऽध्याय—ज्ञानादिके त्यागके विषयमें वर्णन..... २६९-२८२

विंशोऽध्याय—अधिकारी-भेदसे भक्ति, ज्ञान एवं कर्मयोगका निर्देश २८३-२९४

एकविंशोऽध्याय—कर्म, ज्ञान एवं भक्तियोगसे अनधिकारी कामियोंके सम्बन्धमें द्रव्य एवं देशादि विषयक गुण-दोषका निरूपण..... २९५-३१०

द्वाविंशोऽध्याय—तत्त्व-संख्याकी अविरोध-प्रणाली, प्रकृति-पुरुषका विवेक एवं जन्म-मृत्युके प्रकारका वर्णन..... ३११-३३१

त्रयोविंशोऽध्याय—भिक्षु-गीतोक्त-प्रणाली-क्रमानुसार
बुद्धिकी सहायतासे, मनके संयमसे एवं उनके द्वारा
दुर्जन-कृत तिरस्कार-सहनके उपायका वर्णन ३३२-३५१

चतुर्विंशोऽध्याय—सांख्ययोग द्वारा महामोहके निवारणका
वर्णन..... ३५२-३६३

पञ्चविंशोऽध्याय—गुणवृत्तिका निरूपण..... ३६४-३७४

षड्विंशोऽध्याय—दुष्ट-सङ्गतिसे योग-निष्ठाका विघात
एवं सत्-सङ्गतिसे तद्विषयक उत्कर्षका निरूपण..... ३७५-३८५

सप्तविंशोऽध्याय—अङ्ग-समन्वित भगवदाराधनारूप
क्रियायोगका संक्षेपमें वर्णन..... ३८६-४०२

अष्टाविंशोऽध्याय—पूर्वमें विस्तृतरूपसे वर्णित
ज्ञानयोगका पुनः संक्षेपमें कथन..... ४०३-४२३

एकोनत्रिंशोऽध्याय—पूर्वमें विस्तृतरूपसे वर्णित
भक्तियोगका पुनः संक्षेपमें कथन..... ४२४-४४०

त्रिंशोऽध्याय—निजधाम गमनके इच्छुक भगवान् द्वारा
निज कुल-संहार ४४१-४५४

एकत्रिंशोऽध्याय—भगवान्‌की स्वधाम-विजय एवं
वसुदेवादि द्वारा उनका अनुगमन..... ४५५-४६२

द्वादशः स्कन्धः ४६३-६२९

द्वादश स्कन्धकी कथाका सार..... ४६५-४६९

प्रथमोऽध्याय—कलिके प्रभावसे साङ्कर्य दोषसे
मलिनता-प्राप्त मागधवंशीय इत्यादि भावी राजाओंका
संक्षिप्त क्रम-वर्णन..... ४७१-४८०

द्वितीयोऽध्याय—कलिके दोषोंकी वृद्धिके कारण
भगवान्‌का कल्कि अवतार एवं उसके फलस्वरूप
अधर्म-निष्ठोंके विनाशसे सत्ययुगका पुनः आरम्भ..... ४८१-४९१

तृतीयोऽध्याय—पृथ्वीको जीतनेमें व्यग्र (उतावले) राजाओंकी बुद्धिहीनताका पृथ्वी द्वारा प्रदर्शन, कलिके बहुत-से दोष होनेपर भी कलियुगमें सर्वदोषापहारक श्रीहरिके सङ्कीर्त्तनकी महिमाका वर्णन ४९२-५०५

चतुर्थोऽध्याय—चार प्रकारके लयका विवरण एवं हरि-सङ्कीर्त्तनसे संसार-निस्तार ५०६-५१९

पञ्चमोऽध्याय—संक्षेपमें परब्रह्म-विषयक उपदेश द्वारा परीक्षित्‌के तक्षक-दंशन-जनित-मृत्युभयका निवारण.....५२०-५२४

षष्ठोऽध्याय—परीक्षित्‌की मोक्ष-प्राप्ति, उसके पुत्र जन्मेजय द्वारा सर्पोंके विनाशके लिए यज्ञानुष्ठान; वेदोत्पत्ति-निरूपण एवं वेदव्यास द्वारा वेद-विभाग.....५२५-५४६

सप्तमोऽध्याय—अथर्ववेद-विस्तार, पुराण-विभाग, पुराण-लक्षण एवं भागवत श्रवणका फल ५४७-५५३

अष्टमोऽध्याय—मार्कण्डेय ऋषिकी तपश्चर्या, उसके प्रभावसे सानुचर कामदेवका पराभव एवं मार्कण्डेय द्वारा नर-नारायणरूपी भगवान् श्रीहरिका स्तव ५५४-५६७

नवमोऽध्याय—मार्कण्डेय ऋषि द्वारा भगवान्‌की मायाके प्रभावका दर्शन ५६८-५७७

दशमोऽध्याय—श्रीशङ्करसे श्रीमार्कण्डेयकी वर-प्राप्ति.....५७८-५८९

एकादशोऽध्याय—अर्चनके लिए महापुरुष एवं प्रत्येक मासके रवि-व्यूहका कथन.....५९०-६०३

द्वादशोऽध्याय—श्रीमद्भागवत वर्णित विषयोंका संक्षेपमें वर्णन.....६०४-६२१

त्रयोदशोऽध्याय—पुराण-संहिताओंकी संख्या-समष्टि, श्रीमद्भागवतका विषय, प्रयोजन, दान एवं पाठादि-महिमा...६२२-६२९

❀ ❀ ❀

प्रस्तावना

परमाराध्य गुरुपादपद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे आज कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यास द्वारा रचित श्रीमद्भागवतम्‌के मूल श्लोक एवं श्लोकानुवाद सहित स्कन्ध (११-१२) [चतुर्थ-खण्ड] का हिन्दी-संस्करण प्रकाशित हो रहा है। मेरे द्वारा श्रीमद्भागवतका माहात्म्य वर्णन करना सूर्यको दीपक दिखलाना है। श्रीमद्भागवत साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप है। इसीलिए महाभागवतजन भगवद्भावनासे श्रद्धापूर्वक इस ग्रन्थराज भागवतकी आराधना किया करते हैं। भगवान् श्रीवेदव्यास जैसे भगवत्-स्वरूप महापुरुषको भी वेदोंका विभाग करने, निखिल श्रुतियोंके सार ब्रह्मसूत्र, महाभारत और पुराणोंकी रचना करनेपर भी शान्ति नहीं मिली, अन्ततः श्रीमद्भागवतकी रचना करनेपर ही उन्हें शान्ति मिली। जिसमें सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वजनिक निखिल समस्याओंका समाधान है—उस श्रीमद्भागवतकी अपार महिमाको कौन वर्णन कर सकता है। यह परम मधुर भगवद्रसका छलकता हुआ अगाध-अनन्त महासागर है। इसीलिए भावुक भक्तजन इसमें अवगाहनकर परम मधुर भगवद्रसका पद-पदपर आस्वादन करते हैं। 'विद्याभागवतावधि' अर्थात् भागवत पराविद्याकी चरमसीमा है।

गरुड़पुराणमें लिखा है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ विनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थ परिबृंहितः॥

श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रका अर्थ, महाभारतका तात्पर्य-निर्णय, गायत्रीका भाष्य और समस्त वेदोंके तात्पर्यका संवर्द्धन है।

पद्मपुराणमें भी कथित है—

तमादिदेवं करुणानिधानं तमालवर्णं सुहितावतारम्।
अपारसंसार-समुद्र-सेतुं भजामहे भागवत-स्वरूपम्॥

अर्थात् मैं अपार संसार सागरको पार करनेके लिए सेतु-स्वरूप आदिदेव, करुणानिधान, तमालवर्ण श्रीकृष्णके मङ्गलमय शाब्दिक-अवतार श्रीमद्भागवतका भजन(सेवन) करता हूँ।

अतः इस ग्रन्थ-भागवतकी महिमा ब्रह्माजी और महादेव शङ्करजीकी तो बात ही क्या, स्वयं श्रीकृष्ण भी पूर्ण रूपमें नहीं वर्णन कर सकते।

आजकल भारत और समस्त विश्वके हिन्दी-भाषी लोगों द्वारा अधिकांशतः गीता-प्रेस, गोरखपुरसे अनुवादित श्रीमद्भागवतका ही पठन-पाठन होता है। किन्तु दूसरे किसी संस्थानसे प्रकाशित हिन्दीका भागवत-संस्करण उपलब्ध नहीं होता। गीता-प्रेससे प्रकाशित श्रीमद्भागवतका अनुवाद प्रधानतः प्रसिद्ध निर्विशेषवादी या अद्वैतवादी ब्रह्मलीन पं॰ श्रीशान्तनु-विहारीजी द्विवेदी, संन्यास ग्रहणके पश्चात्—श्रद्धेय स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीने किया है। अत्यन्त परितापका विषय है कि उनके इस अनुवादमें भक्तिपरक श्लोकोंका भी अनुवाद अद्वैतवादपरक रूपमें किया गया है। यत्र-तत्र सर्वत्र अद्वैतवादका मिश्रण है, जैसे—'जीवका प्रधान लक्ष्य मुक्ति है', 'जीव और ब्रह्म एक हैं', 'मुक्तिके पश्चात् जीव ब्रह्म हो जाता है', जगत् मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है इत्यादि।

किन्तु श्रीमद्भागवतके रचयिता महाभागवत वेदव्यासजी कहते हैं—

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परम गीयते।
तत्र ज्ञान-विराग-भक्ति-सहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् सुपठन् विचारण परो भक्त्याविमुच्येन्नरः॥
(श्रीमद्भा॰ १२/१३/१८)

अर्थात् श्रीमद्भागवत-पुराण निर्मल अर्थात् कर्म, ज्ञान, योगसे रहित पुराण है। यह वैष्णव-मात्रका प्रिय है, किन्तु यह कर्मियों, ज्ञानियों तथा योगियोंको प्रिय नहीं है। इसका श्रद्धापूर्वक श्रवण, पठन और मनन करनेवालोंको स्वयं-भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी प्रेमाभक्ति प्राप्त हो जाती है तथा उसके आनुषङ्गिक-फलसे उनका माया-बन्धन भी समाप्त हो जाता है।

और भी—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवापरैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥
(श्रीमद्भा॰ १/१/२)

अर्थात् यह ग्रन्थराज श्रीमद्भागवत महामुनि श्रीनारायण ऋषिके द्वारा चतुःश्लोकीके रूपमें रचित है। इसमें निर्मत्सर अर्थात् सब प्राणियोंमें दयाविशिष्ट व्यक्तियोंके लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी छलसे रहित (कैतवशून्य) परमधर्मकी व्याख्या हुई है। वही धर्म जीवका त्रिताप नाशक, कल्याणकारी और यथार्थ वस्तु-तत्त्वज्ञानप्रद है। जिस किसी समय सुकृतिवान् पुरुष इसके श्रवणमात्रकी इच्छा करते हैं, उसी समय ईश्वर अविलम्ब ही उसके हृदयमें आकर बद्ध हो जाते हैं। अतएव अब अन्य किसी साधन या शास्त्रसे प्रयोजन ही क्या है?

श्रीधरस्वामीपादने प्रस्तुत श्लोककी टीकामें 'प्रोज्झित कैतवः' पदमें कैतवः-शब्दका अर्थ मोक्षकी कामना तकको छोड़ना किया है। श्रीवेदव्यास और भी कहते हैं—

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥
(श्रीमद्भा॰ १/७/७)

अर्थात् इसके श्रवणमात्रसे पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके प्रति परम प्रेममयी भक्ति उदित हो जाती है, जिससे जीवके शोक, मोह और भय अनायास ही नष्ट हो जाते हैं।

'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य' (श्रीमद्भा॰ १०/१४/३) श्लोकमें भी वर्णित है—निर्विशेष ज्ञानकी तो बात ही क्या, तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्तिके लिए भी समस्त प्रकारके प्रयासोंको छोड़कर जो भगवान्‌की लीला-कथाओंका ही श्रवण करते हैं, भगवान् उनके प्रेमके अधीन हो जाते हैं। ब्रह्माजी आगे और भी कहते हैं—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
(श्रीमद्भा॰ १०/१४/४)

अर्थात् हे प्रभो! परम कल्याण-स्वरूप आपको पानेके लिए भक्ति ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। जो लोग भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिए श्रम करते हैं और दुःख भोगते हैं, उन्हें मात्र क्लेश-ही-क्लेश हाथ लगता है। जैसे थोथी-भूसी कूटनेवालेका केवल श्रम ही होता है, उसे चावल नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२९/१३)

अर्थात् निष्काम भक्त मेरी सेवाको छोड़कर दिये जानेपर भी सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्ष तकको ग्रहण नहीं करते। वे मुक्तिका तिरस्कारकर भक्तिको ही ग्रहण करते हैं और उसे ही परम पुरुषार्थ मानते हैं।

आत्मा और परमात्मा एक नहीं हैं। आत्मा भगवान्‌का एक क्षुद्र अंश (विभिन्नांश) है। जीव क्षुद्र हैं, परमात्मा विभु हैं; जीव अनेक हैं, ईश्वर एक हैं; जीव मायाबद्ध होने योग्य हैं, ईश्वर मायापति हैं। जगत् मिथ्या नहीं, अनित्य है अर्थात् जगत् सत्यसङ्कल्प परमात्माके सत्यसङ्कल्पसे उत्पन्न होनेके कारण सत्य है, किन्तु नाशवान् है। श्रीमद्भागवतमें इन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन हुआ है। भगवान् निराकार, अरूप, निर्गुण नहीं, अपितु सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' श्रीकृष्ण स्वयं-भगवान् हैं। श्रीकृष्ण, नन्दनन्दन, यशोदानन्दन, गोपीकान्त और राधाकान्त आदि उनके अनन्त नाम हैं। नवजलधरके समान उनका साँवला रूप है। जन्म, बालक्रीड़ा, असुर-संहार, रासलीला आदि उनकी अनन्त मधुर-मधुर लीलाएँ हैं। श्रीकृष्णके अंशों एवं अंशांश—कलाओंसे जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और संहार होता है। अतः वे निराकार, निर्गुण आदि निर्विशेष तत्त्व कैसे हो सकते हैं? अतएव वैष्णवोंको गीताप्रेसके भागवत-संस्करणका पठन-पाठन आनन्दप्रद नहीं, अपितु इसके विपरीत दुःखदायी ही प्रतीत होता है।

यद्यपि गीताप्रेसके श्रीमद्भागवतकी अनुवाद-शैली सरल-सहज, बोधगम्य, मधुर और आकर्षक है, तथापि उसके पठन-पाठनसे जीवोंका आत्यन्तिक कल्याण नहीं हो सकता अर्थात् उन्हें भगवत्-प्रेम, सेवा, शुद्धभक्ति कदापि प्राप्त नहीं हो सकते। ऐसा विचारकर ही मैंने परम विदुषी, श्रीमद्भागवतपर पी॰एच॰डी॰ करनेवाली मधु बेटीसे कहा कि श्रीमद्भागवतका एक यथार्थ हिन्दी अनुवाद होना आवश्यक है और यदि तुम कर सको तो जगत्‌का परम कल्याण होगा। किन्तु वह हिन्दी अनुवाद विश्वव्यापी गौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता वैष्णवकुल-चूड़ामणि अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' के द्वारा प्रकाशित श्रीमद्भागवतके बँगला संस्करणके आधारपर ही होना चाहिये। इसके लिए उसने बँगला भाषाका अध्ययन किया। तत्पश्चात् उसने 'श्रील प्रभुपाद' के द्वारा

प्रकाशित संस्करणके आधारपर श्रीमद्भागवतका हिन्दी अनुवाद किया। बेटी मधुके द्वारा प्रस्तुत किये गये अनुवादको मैंने स्वयं बहुत सावधानीपूर्वक निरीक्षण किया तथा उसमें संशोधनके साथ-साथ विषयोंको वैष्णव-आचार्योंकी टीकाओंके आधारपर और भी स्पष्ट किया।

श्रीमद्भागवतके इस हिन्दी-संस्करणका एक वैशिष्ट्य यह है कि इसमें प्रत्येक स्कन्धकी कथाका सार दिया गया है जिससे पाठकोंको उस स्कन्धकी विषय वस्तुसे अवगत होनेमें सुविधा होगी। इसके अतिरिक्त इस संस्करणमें श्लोकोंका अनुवाद अभिन्न व्रजेन्द्रनन्दन श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा स्थापित शक्ति-परिणामवाद समन्वित अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त पर आधारित है।

इस विशाल ग्रन्थमें भ्रम-प्रमादवशतः कुछ त्रुटि-विच्युतियोंका रह जाना अस्वाभाविक नहीं है। सुधी पाठकों द्वारा उनका संशोधनपूर्वक पाठ करनेसे हमलोग आनन्दित होंगे।

परमार्थ प्राप्तिके इच्छुक श्रद्धालुजन इस ग्रन्थराजका पठन-पाठनकर परमार्थ-पथपर अग्रसर हों—यही विनीत प्रार्थना है। अलमतिविस्तरेण।

श्रीगोपाष्टमी
५२३ श्रीचैतन्याब्द
२६ अक्टूबर २००९ ई॰

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी
त्रिदण्डिभिक्षु
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

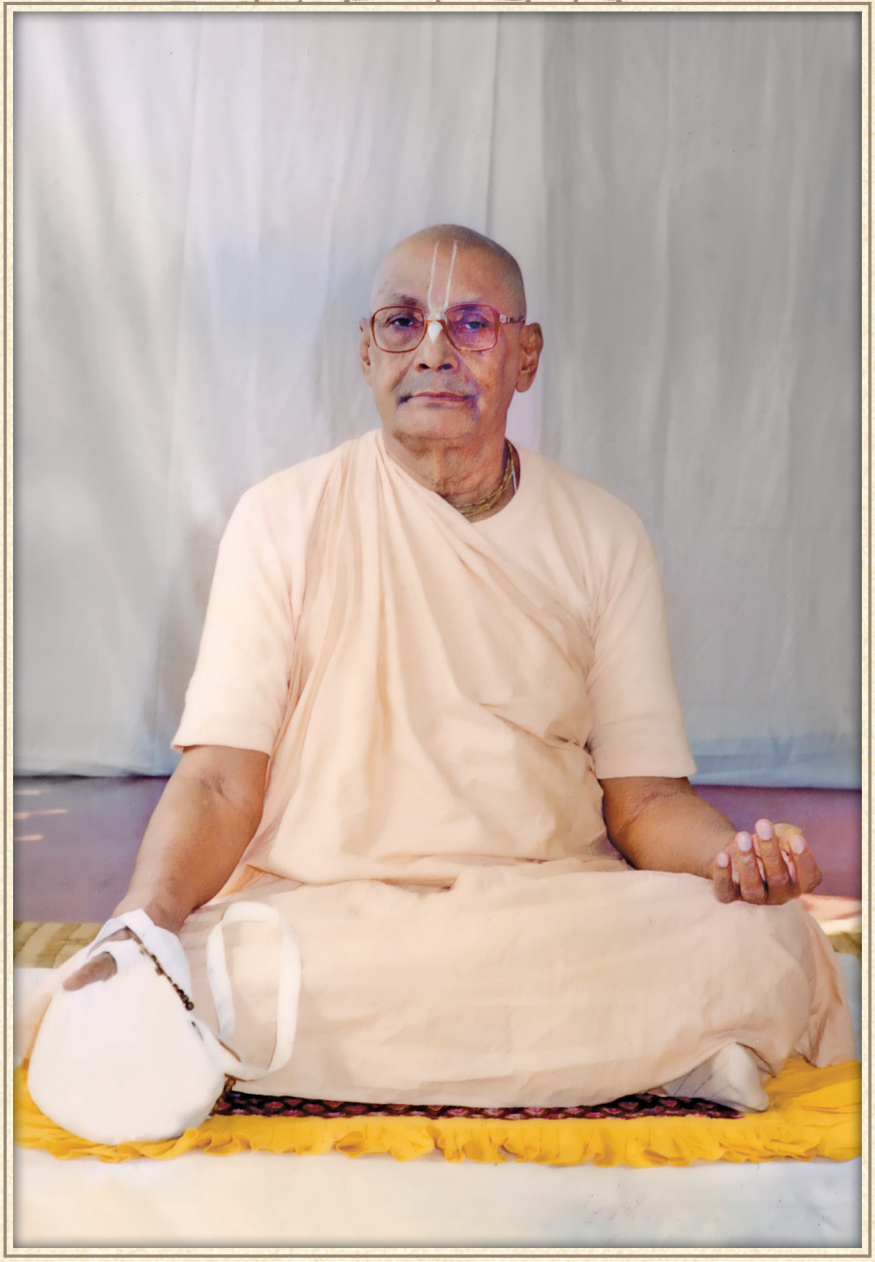

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज

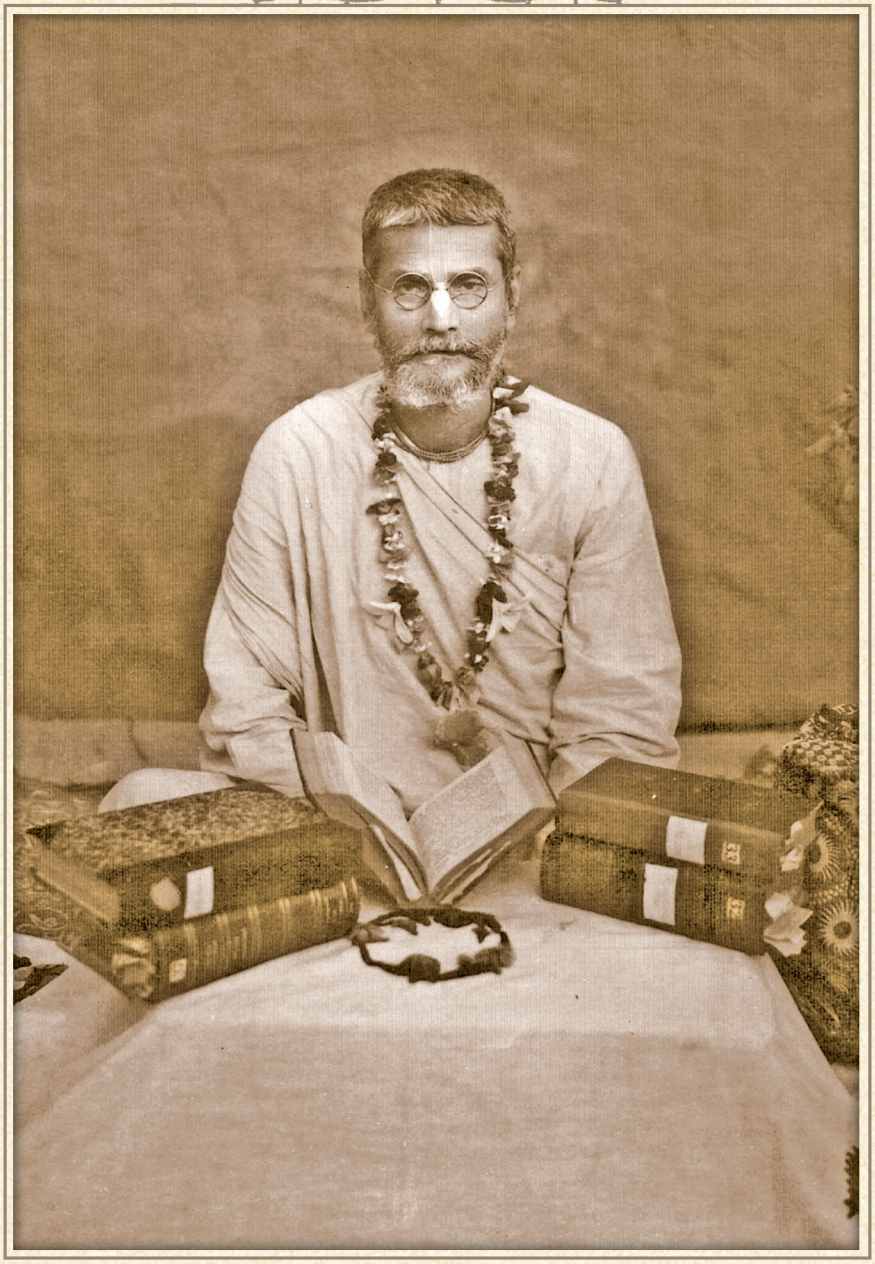

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज

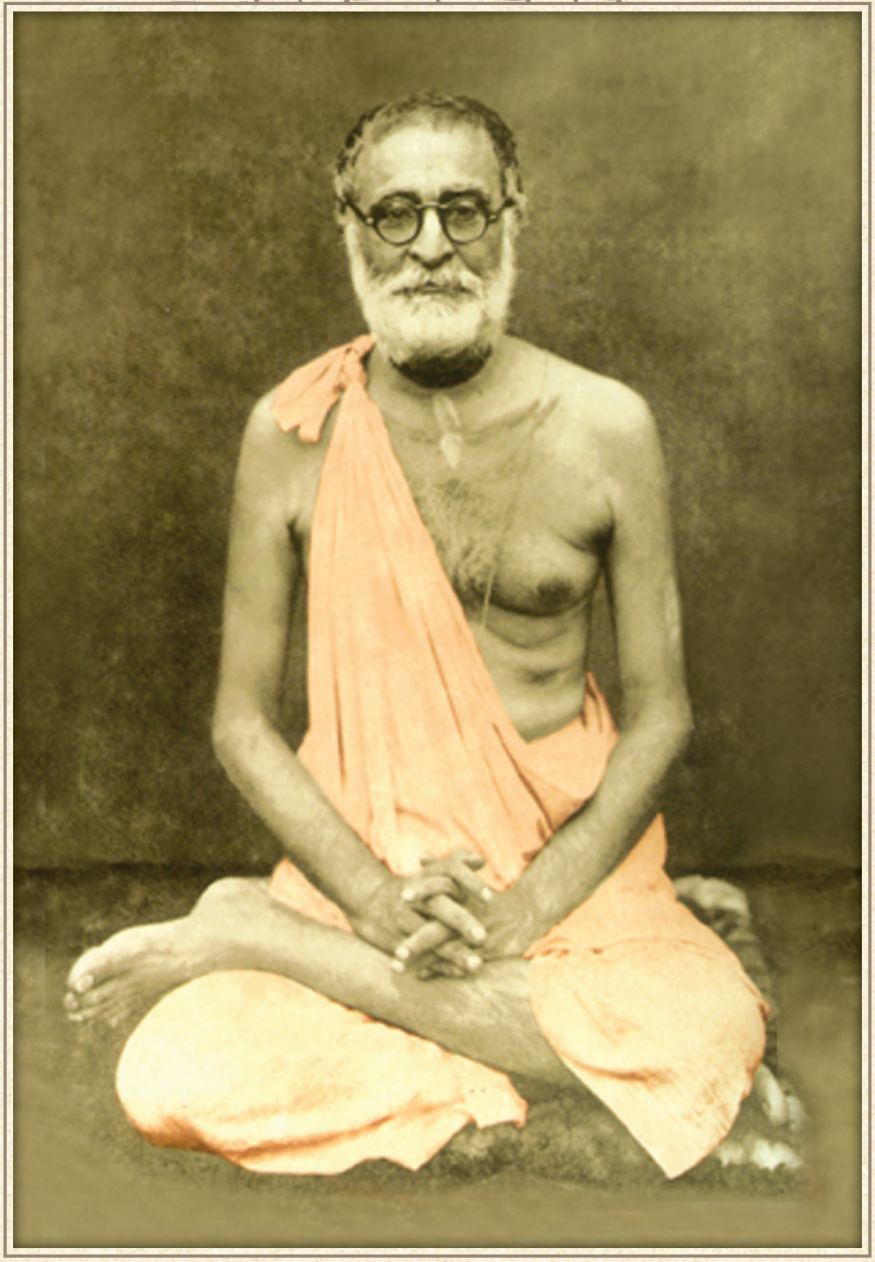

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद'

रसिककुल चूड़ामणि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर

नैमिषारण्यमें श्रीशौनकादि ऋषियों द्वारा श्रीसूत गोस्वामीसे प्रश्न पूछना

महर्षि मार्कण्डेयके मनको विचलित करनेके लिए कामदेव द्वारा प्रेषित अप्सराएँ

अश्वारोही भगवान् श्रीकल्कि अवतार

एकादशः स्कन्धः

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

एकादश स्कन्धकी कथाका सार

महाभागवत श्रीशुकदेव गोस्वामीने दशम स्कन्धमें परीक्षित् महाराजके निकट भगवान् बलराम-कृष्णकी भौम-लीला-कथाका वर्णन करके अब ग्यारहवें स्कन्धमें यदुकुल-संहार-कथाके प्रसङ्गमें नवयोगेन्द्र संवाद, अवधूत-गीता एवं उद्धव-गीताके विषयमें बतलाया है।

भगवान् कृष्णचन्द्रने दैत्यवध एवं कुरुक्षेत्रके समय बहुत-से दुष्ट राजाओंका संहार करके पृथ्वीका भार प्रचुर परिमाणमें दूर कर दिया था, तथापि दुर्जय यदुकुलको पृथ्वीपर छोड़कर भौमलीला संगोपन करनेकी उनकी इच्छा नहीं थी। जो भी कृष्ण-विमुख यादव साधारण मनुष्योंकी दृष्टिमें अपनेको कृष्णके समान पूज्य बतलाकर भ्रम उत्पन्न कराते थे, उनके भी वधके द्वारा श्रीकृष्णने पृथ्वीका भार दूर किया था।

भगवान्‌की प्रेरणासे विश्वामित्र-प्रमुख मुनि द्वारकाके निकट पिण्डारक तीर्थ आये थे। यदुकुमारोंने साम्बको आसन्न-प्रसवा स्त्री-वेशमें सजाया और मुनियोंके समीप पहुँचकर साम्बके प्रसवके विषयमें 'पुत्र होगा या पुत्री'—इस प्रकार जिज्ञासा करने लगे। इसपर मुनियोंने कुपित होकर साम्बको अभिसम्पात दिया कि वह कुलनाशन मुषल उत्पन्न करेगा। यदु-कुमारोंने तत्क्षण ही साम्बका उदर खोला और देखा कि सत्य ही वहाँ मुषल है। वे इस मुषलको लेकर यदुराज उग्रसेनके निकट पहुँचे और उनको सम्पूर्ण वृतान्त सुनाया। उग्रसेनजीने मुषलको चूर्ण-विचूर्ण करके समुद्रमें फेंकवा दिया। लोहेका किञ्चित् अवशिष्ट बचा था, जिसे एक मत्स्य भक्षण कर गया। जब वह मत्स्य धीवरके जालमें फँस गया, तो उसे उसके उदरसे वही लोहेका खण्ड प्राप्त हुआ। जरा

नामक व्याधने उससे बाण बना लिया। अन्तर्यामी भगवान् सब जानते थे, परन्तु उन्होंने कोई प्रतिकार नहीं किया। मुषल-चूर्णसे एरका-वनकी सृष्टि हो गयी।

एक दिन महर्षि नारद वसुदेवजीके घर आये। वसुदेवजीने नारदजीसे सर्वभयहारी भागवत-धर्मकी कथाके विषयमें पूछा। नारदजीने उसके उत्तरमें निमि-नवयोगेन्द्र संवादके विषयमें बतलाया।

कवि, हवि, अन्तरीक्ष इत्यादि श्रेष्ठ महापुरुष संयोगवश निमि राजाके यज्ञ-स्थलमें उपस्थित हुए। राजा निमिने उनकी यथायोग्य पूजा करके उनसे नौ प्रश्न किये।

निमिका प्रथम प्रश्न था—जीवका आत्यन्तिक मङ्गल क्या है? इसके उत्तरमें नवयोगेन्द्रोंमें-से एक कविने कहा—भगवच्चरणसे विमुख जीवोंके द्वितीयाभिनिवेशके कारण जीवोंमें निरन्तर भय बना रहता है। गुरुदेवतात्म होकर गुरुदेवके आनुगत्यमें भगवान्के चरणकमलोंकी सेवा करनेपर समस्त प्रकारके भय नष्ट हो जाते हैं और ऐकान्तिक मङ्गल होता है।

निमिका द्वितीय प्रश्न था—भागवतगणोंके स्वभाव, आचार और लक्षण कैसे होते हैं? इस विषयके उत्तरमें हविने तीन प्रकारके वैष्णवोंका परिचय प्रदान किया।

तीसरा प्रश्न था—भगवान्की बहिरङ्गा मायाका स्वरूप एवं उसके क्या-क्या कार्य हैं? इसके उत्तरमें अन्तरीक्षने कहा—समस्त कारणोंके कारण भगवान् जीवोंके भोगापवर्गके लिये पञ्चमहाभूतकी सृष्टि करते हैं तथा इनसे निर्मित देहोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रवेश करते हैं। जीव देहमें आत्मबुद्धिके कारण नाना प्रकारके कर्मफलोंका भोग करता है। प्रलयकाल उपस्थित होनेपर परमपुरुष समस्त सृष्टिका संहार कर देते हैं।

चौथा प्रश्न था—मायासे मुक्तिका क्या उपाय है? इसके उत्तरमें प्रबुद्धने कहा—जगत्में स्त्री-पुरुष दुःख-निवृत्ति एवं सुख-प्राप्तिकी आशासे कर्म करते रहते हैं, परन्तु फल विपरीत ही प्राप्त होता

है। तब इस लोक एवं परलोकको नश्वर जानकर शब्दब्रह्म एवं परब्रह्ममें निष्णात श्रीगुरुके चरणोंमें प्रपन्न होकर भागवत-धर्मकी शिक्षा एवं आचरण द्वारा भगवत्-परायण होनेपर मायाके कवलसे मुक्त हुआ जा सकता है।

पाँचवाँ प्रश्न था—ब्रह्मका स्वरूप क्या है? इसके उत्तरमें पिप्पलायनने कहा—जो विश्वके जन्म-स्थिति एवं लयके हेतु हैं और स्वयं अहेतु होकर स्वांश-वैभव द्वारा सृष्टि-स्थिति-लयादि कार्य कराके निर्लिप्त रहते हैं; जो जीवकी जागर, स्वप्न, सुषुप्तिमें अधिष्ठित रहकर भी उन अवस्थाओंसे पृथक् रहते हैं, जिनसे देह, मन, प्राणादि सञ्जीवित एवं परिचालित होते हैं, वे ही ब्रह्म हैं।

छठा प्रश्न था—नैष्कर्म्य क्या है? इसके उत्तरमें आविर्होत्रने कहा—कर्म, अकर्म एवं विकर्म तीनों ही वेदशास्त्रगम्य हैं, वे लोगोंके द्वारा ज्ञातव्य नहीं हैं। वेद अपौरुषेय हैं, इस कारण पण्डितोंको भी भ्रम होता है। वेदमें कर्म-निवृत्तिके लिये कर्मका विधान हुआ है। आचार्यकी कृपा प्राप्त होनेपर उनके उपदेशोंसे श्रीहरिका अर्चन करनेपर नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त होती है।

सातवें प्रश्नके उत्तरमें द्रुमिलने भगवदवतारोंकी लीलाओंका संक्षेपमें वर्णन किया।

भगवद्-विमुख जीवोंकी गति क्या है?—इस अष्टम प्रश्नके उत्तरमें चमस ऋषिने कहा—सत्त्वादि गुणोंके तारतम्यसे ब्राह्मणादि वर्ण एवं आश्रमोंकी उत्पत्ति हुई है। सभीकी उत्पत्तिके कारणस्वरूप भगवान्‌की आराधना न करके आत्मेन्द्रिय तर्पणादिमें नियुक्त रहनेपर (अपनी इन्द्रियोंको सन्तुष्ट करते रहने पर) परिणाममें अधोगति होती है।

भगवान् किस युगमें किस नाम एवं किस रूपसे पूजित होते हैं—इस नवम प्रश्नके उत्तरमें करभाजन ऋषिने कहा—सत्ययुगमें भगवान् शुक्लवर्ण, चतुर्भुज, जटा, वल्कलादि धारण करनेवाले ब्रह्मचारी वेशमें अवतीर्ण होकर हंस, सुपर्ण आदि नामोंसे अभिहित

होते हैं। उस युगके सभी लोग ध्यानयोग द्वारा भगवान्‌की आराधना करते हैं। त्रेतामें रक्तवर्ण यज्ञावतार यज्ञोंके द्वारा पूजित होते हैं। द्वारकामें महाराजोपलक्षण युक्त भगवान् श्यामसुन्दर पीले वस्त्रोंको पहनते हैं एवं वैदिक एवं तान्त्रिक विधिके अनुसार पूजित होते हैं। कलियुगमें पीतवर्ण श्रीकृष्णचैतन्यदेव अङ्गोपाङ्गास्त्र-पार्षदोंके साथ अवतीर्ण होकर सङ्कीर्त्तन यज्ञ द्वारा पूजित होते हैं।

ब्रह्मा, रुद्र प्रमुख देवता गन्धर्व, अप्सराओंके साथ द्वारकामें आकर भगवान् कृष्णचन्द्रकी पूजा एवं स्तुति करते हैं। उनके अवतरणका उद्देश्य साफल्यमण्डित (सफलतापूर्वक सम्पन्न) हो चुका है, इस कारण लीला-संगोपनके लिये भगवान्‌के निकट प्रार्थना करते हैं। भगवान् कृष्णचन्द्र ब्रह्माजीके निकट यदुवंशके भावी ध्वंसके विषयसे अवगत होकर देवताओंको अपने-अपने धाममें लौटनेका आदेश देते हैं। इसके बाद द्वारकामें नाना प्रकारके अरिष्ट-सूचक दृश्य दिखायी देनेसे कृष्णचन्द्र यदुवंशके वृद्धजनोंको बुलाकर उनसे कहते हैं कि द्वारकामें रहना मङ्गलजनक नहीं है। भगवान् उनको प्रभास तीर्थ जानेका उपदेश देते हैं। इतनेमें ही महाभागवत उद्धवजी श्रीकृष्णके समीप आते हैं और भगवत्-उद्देश्यका तात्पर्य भगवान्‌से जानना चाहते हैं। भगवान् कृष्णचन्द्र उद्धवजीको अवधूत-यज्ञ-संवादका उल्लेख करके प्रपञ्चकी नश्वरताका वर्णन करते हैं। यह प्रसङ्ग इस प्रकार है कि ययातिनन्दन यदुने किसी अवधूतको जड़ोन्मत्त पिशाचवत् फिर भी परमानन्दमें विचरण करते हुए देखा। यदुने उससे उनकी ऐसी अवस्थाका कारण जानना चाहा। तब अवधूतने उत्तर दिया कि वह चौबीस गुरुओंके निकट विविध विषयोंसे सम्बन्धित शिक्षा ग्रहण करके मुक्त भावसे विचरण किया करता है, यथा -

(१) पृथ्वीसे परोपकार-चेष्टा एवं परार्थपरता।

(२) प्राणवायुसे प्राणवृत्तिमें सन्तोष एवं बाह्यवायुसे देह एवं विषयोंसे निर्लिप्तता।

(३) आकाशसे सर्वव्यापी आत्माकी अपरिच्छिन्नता एवं अदृश्यता।

(४) जलसे निर्मलत्व एवं पावनत्व।

(५) अग्निसे सर्ववस्तुभक्ष्यत्व एवं अमलकारित्व; दाताका सर्व-अशुभ-विनाशत्व; समस्त देहोंमें आत्माका अस्तित्व एवं उत्पत्ति-विनाशका अलक्ष्यत्व।

(६) चन्द्रमासे देहकी ह्रास-वृद्धि।

(७) सूर्यसे विषय-स्पर्श होनेपर भी अभिनिवेश-शून्यता।

(८) कबूतरसे स्त्री-पुत्रादिमें आसक्तिका परिणाम।

(९) अजगरसे संयोगवश अथवा भाग्यवश प्राप्त द्रव्यों द्वारा सन्तुष्ट रहकर भगवद् भजनमें नियुक्त रहना।

(१०) समुद्रसे प्रसन्नता, गाम्भीर्य, सुख-दुःखमें अविचलता।

(११) पतिङ्गसे रूपमें आसक्तिका परिणाम।

(१२) मधुकरसे माधुकरी वृत्ति एवं सञ्चयका परिणाम।

(१३) हाथीसे स्पर्श-सुखकी आसक्तिसे अनर्थ।

(१४) भ्रमरसे दूसरोंके आहृत द्रव्य द्वारा जीवन-निर्वाहका उपाय।

(१५) हिरणसे सङ्गीतासक्तिका अनर्थत्व।

(१६) मछलीसे जिह्वा-वेगका परिणाम।

(१७) पिङ्गलासे नैराश्य।

(१८) कुरर पक्षीसे विषयोंसे अनासक्ति।

(१९) बालकसे निश्चिन्तता।

(२०) कुमारीसे सङ्ग वर्जन।

(२१) शर बनाने वालेके पास चित्तकी एकाग्रता।

(२२) सर्पके निकट एकलत्व, निर्दिष्ट वास-स्थान-शून्यत्व एवं अलक्ष्यगति।

(२३) मकड़ीसे सृष्टि-प्रलयादि कार्य।

(२४) पेशस्कृत (भृङ्गी नामक कीट) से स्नेह, द्वेष एवं भयादिके कारण वस्तुका सारूप्य। धीर व्यक्ति मनुष्यदेहके सुदुर्लभत्व एवं अनित्यत्वको समझकर कल्याण प्राप्तिके लिये यत्न करें।

प्रवृत्तिमार्गमें निरवच्छिन्न सुखके अभावके कारण एवं विषयोंके ध्यानको स्वप्नवत् विफल जानकर भगवदाश्रित व्यक्ति पञ्चरात्रादि विधानके अनुसार गुरुसेवा एवं वैष्णव-धर्म-पालनमें निरत रहकर निष्काम चित्तसे काल-यापन करें।

विद्या एवं अविद्या जीवके संसार-मुक्ति एवं बन्धनके कारण हैं। अविद्या युक्त त्रिगुण-ताड़ित जीव अहङ्कार-विमूढ़ अस्मितासे शोक, मोहादिके वशीभूत होकर स्वकृत कर्मफलका भोग करता है, परन्तु विद्या-युक्त मनुष्य विस्तृत दर्शनके प्रभावसे युक्तवैराग्यरूप असि (तलवार) द्वारा छिन्न-संशय होकर श्रीकृष्णपादपद्ममें चित्त समर्पण करते हुए परा शान्ति प्राप्त करता है। बुद्धिमान् व्यक्ति साधु-सङ्गसे आत्म-तत्त्व जानकर भक्तिके विविध अङ्गोंके याजन द्वारा वस्तु-सिद्धि प्राप्त करते हैं। शम, दम, कृष्णैकशरण्यता इत्यादि छब्बीस गुण साधुओंके लक्षण हैं। साधु-सङ्ग जिस प्रकार संसारासक्तिको नष्ट करके भगवान्को अपनी भक्तिसे वशीभूत करनेकी सामर्थ्य प्रदान करता है, स्वाध्याय, तपः, नियम, यमादि साधनोंमें उस प्रकारकी सामर्थ्य नहीं है। प्रत्येक युगमें सत्सङ्गके प्रभावसे रजः, तम प्रकृतिके व्यक्ति वेदाध्ययनादि अन्यान्य साधनोंके अङ्गोंके बिना ही भगवत्-चरण-प्राप्तिमें समर्थ होते हैं। अबला व्रज-रमणियोंने भगवत्-स्वरूप-विषयमें अनभिज्ञ होकर भी जार-बुद्धिसे भगवत्-सेवाकी कामना-हेतुसे ब्रह्मादिको दुष्प्राप्य भगवत् चरणकमलोंको प्राप्त कर लिया था। उनकी श्रीकृष्णमें इतनी गाढ़ आसक्ति थी कि रास-रजनीमें श्रीकृष्णके सङ्गके कारण उनका चित्त आनन्दसे सराबोर हो गया और सहस्र युग-परिमित समय उन्हें आधे क्षणके समान अनुभूत हुआ। जब कि श्रीकृष्णके मथुरा गमन करने पर भगवत्-विरहमें एक-एक रात्रि उन्हें कल्पके समान सुदीर्घ ज्ञात हुई। कृष्ण-विरह-कातर उन्हें कृष्ण-सङ्गके बिना दूसरा कुछ भी सुखकर बोध नहीं होता था। वस्तुतः गोपीप्रेम ही सर्वोत्कृष्ट है।

सत्त्व, रजः और तम—ये तीनों गुण बुद्धिके हैं, आत्माके नहीं। सत्त्व द्वारा रजः एवं तमो गुणोंको नष्ट करते हुए विशुद्ध सत्त्वसे सत्त्वगुणको निरस्त करना ही प्रयोजन है। सात्त्विक पदार्थके सेवनसे सत्त्वगुणमें वृद्धि होती है। विवेकी व्यक्ति विषयोंसे अनासक्त रहकर युक्त वैराग्यसे केवल भक्तिका आश्रय करते हैं।

ब्रह्मा जब सनकादि द्वारा जिज्ञासित होनेपर उत्तर देनेमें असमर्थ हो गये, तब भगवान्‌ने हंसरूपमें अवतीर्ण होकर आत्मतत्त्व, त्रिविध अवस्थाएँ एवं संसार पर विजय प्राप्त करनेके उपाय बतलाये। ऋषि भगवत्-कृपासे संशयसे मुक्त हो गये। इससे वैदिक धर्मका प्रचार हुआ। वासना-वैचित्र्यके कारण विविध प्रकारकी मतिके उदय होनेपर मनुष्य नाना प्रकारके श्रेयः साधनोंका वर्णन करते हैं। कोई धर्म, कोई यश, कोई तप इत्यादिको श्रेयः-साधन बतलाकर व्याख्या करते हैं। भगवद्-भक्ति ही प्रकृत श्रेयःका उदय कराती है। केवला भक्ति भगवत्-प्राप्ति करानेमें समर्थ है, अन्यान्य साधन नहीं। (अष्टाङ्ग योगादिसे अठारह प्रकारकी सिद्धियाँ साधकोंके चित्तको लुभाती हैं और जीवनके समयको वृथा ही क्षय करती हैं। वे भजनके लिये विघ्न-स्वरूप हैं।

विश्वमें जितना भी तेज, सौन्दर्य, कीर्त्ति, ऐश्वर्यादि हैं—वे सभी भगवान्‌की विभूतियाँ हैं, किन्तु उनमें भगवद्-भक्तोंको अभिनिविष्ट नहीं होना चाहिए।

सत्ययुगमें एकमात्र हंस वर्ण था एवं मनुष्य अनन्य-भक्ति-परायण होकर ध्यानयोगसे भगवद्-भजन करके कृतकृतार्थ होते थे, इसलिये इस युगका दूसरा नाम कृतयुग है। त्रेतामें यज्ञ रूपी भगवान् अवतीर्ण होते हैं। चार वर्ण एवं चार आश्रम उनसे ही उत्पन्न हैं। इसके बाद कृष्णचन्द्र चारों वर्ण एवं आश्रमोंके धर्म तथा तद्-तद् वर्णोंके एवं अन्त्यज व्यक्तियोंके स्वभावका वर्णन करते हैं।

प्रकृत विद्वान् व्यक्ति द्वैत प्रपञ्च एवं उसके साधनोंका परित्याग करके श्रीहरिको सुखी करनेकी चेष्टा करते हैं। तप, जपादि पुण्यकर्मसे

ज्ञान-योग श्रेष्ठ है, उससे शुद्ध भक्ति श्रेष्ठ है। भगवत्-कथा-श्रवणमें श्रद्धा, सर्वदा भगवत्-कीर्त्तन, पूजा, स्तुति, वन्दना, भक्त-पूजा इत्यादिके द्वारा भक्तिका उदय होता है।

मोक्ष-साधनके लिये कर्म, ज्ञान एवं भक्ति-योग वर्णित हुए हैं। अविरक्त कामी व्यक्तियोंके लिये कर्मयोग, कर्मत्यागी जनोंके लिये ज्ञानयोग और युक्त-वैरागी व्यक्तियोंके लिये भक्तियोगका निदर्शन है। जिस समय तक कर्मफल भोगसे विरक्ति और भगवत्-कथामें श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, तब तक कर्मानुष्ठान करना चाहिए। त्यागी अथवा भक्तका कर्मानुष्ठान अनावश्यक है। मनुष्य जन्ममें ही भगवद्-भक्ति प्राप्त होती है, इसीलिये देवता भी मनुष्य-देहकी कामना करते हैं। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति भवसागर पारके नौकास्वरूप नरदेहको प्राप्त करके शुद्धभक्तरूप कर्णधारके आश्रयमें अनायास ही भव-समुद्रसे पार होनेके लिये यत्न करेंगे। भगवद्-भक्तिके द्वारा समस्त प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, भक्तके लिये ज्ञान, वैराग्यादि साधनोंसे कोई प्रयोजन नहीं है।

ज्ञान और भक्तिमें निमग्न व्यक्तियोंके लिये देश, काल एवं पात्रगत कोई दोष, गुण नहीं है। कर्मनिष्ठ साधकोंके चित्तशोधनके लिये नित्य-नैमित्तिक कर्मका विधान है। उन कर्मोंको करनेसे गुण एवं न करनेसे दोष लगता है। ज्ञान-निष्ठका ज्ञानाभ्यास एवं भक्तका श्रवणादिरूप भक्ति ही गुण है। काम्यकर्म श्रेयः साधन नहीं है। उसका उद्देश्य है—प्रवृत्तिका सङ्कोच एवं क्रमशः रुचिका उत्पन्न होना। वेदके कुसुमित वचनोंको आक्षिप्तचित्त मनुष्य समझ नहीं सकता। स्वयं भगवान्के बिना वेदके निगूढ़ तात्पर्यको कोई दूसरा जान नहीं सकता।

तत्त्व संख्या-निर्देशमें अनेक मतभेद दिखायी देते हैं। भगवान्की मायाके प्रभावसे इस प्रकारके मतभेद असम्भव नहीं हैं। तत्त्व-ज्ञानके अभावमें विषय-विमूढ़ जीव संसार-गति प्राप्त करते हैं। आत्मा विषय-भोग नहीं करता, विषय-भोग तो इन्द्रिय-भोग्य हैं, अतएव

श्रेयस्कामी व्यक्ति विवेकका आश्रय ग्रहण करके तथा विषय-भोगका परित्याग करके अपनी आत्माका उद्धार करनेका उद्यम करें। भगवत्-चरणाश्रित व्यक्ति किसी प्रकारके विषयसे अभिभूत न हों। वे अवमानित अथवा ताड़ित होनेपर भी धैर्य धारण करके स्वयंकी रक्षा करें। अवन्ती-देशीय ब्राह्मण-भिक्षु इसका उदाहरण है। वह अत्यन्त कृपण एवं कोमल स्वभावका था। इसलिये उसके सगे-सम्बन्धी एवं बन्धु-बान्धव उसे प्रिय नहीं मानते थे। कालक्रमसे दस्यु, ज्ञाति एवं दैव द्वारा उसका समस्त अर्थ अपहरण कर लिया गया। धनहीन होनेपर सभीने उसका परित्याग कर दिया। अतः तब वह ब्राह्मण निर्वेदको प्राप्त हुआ। उसने विचार किया कि अर्थ ही अनर्थका कारण है; जीवनके शेष समयमें हरिभजन करना चाहिए—यह सोचते हुए उसने दृढ़ सङ्कल्प किया एवं त्रिदण्ड-संन्यास ग्रहण कर लिया। वह भिक्षाके लिये नगरादिमें यहाँ-वहाँ जाया करता। लोग उसे भाँति-भाँतिसे उत्पीड़ित करते, किन्तु वह अटल एवं अचल भावसे सब कुछ सह लेता—ऐसी कुछ बातोंका भागवत शास्त्रमें वर्णन किया गया है। उनका सारार्थ यही है कि संसारके सुख-दुःखका कारण एवं सम्पूर्ण साधन मनका निग्रह ही है। भगवान्‌के चरणोंमें मनोनिवेश करना समस्त साधनोंका सार है।

पुरुषसे क्षोभको प्राप्त हुई प्रकृतिसे महत्तत्त्वका प्रकाश होता है। उससे त्रिविध अहङ्कार एवं उस अहङ्कारसे देवता, मन, दशेन्द्रिय, पञ्च-महाभूत और पञ्च तन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है। पुरुषके नाभि-कमलसे ब्रह्माजीका जन्म होता है। वे चौदह लोकोंकी सृष्टि करते हैं। जगत्‌की जो कुछ सत्ता है, वह समस्त ही नश्वर और पुरुष-प्रकृतिके संयोगसे उत्पन्न है। आत्मा नित्य है। यह सांख्य-ज्ञान समस्त संशय एवं बन्धनका उच्छेदक है।

शम, दमादि सत्त्वकी, काम-मदादि रजकी एवं क्रोध, लोभ, मोहादि अविमिश्रित तमकी वृत्तियाँ हैं। सत्त्व प्रकृति कर्म-निरपेक्ष है, रजः प्रकृति फलाकाङ्क्षी है और तमः प्रकृति हिंसाकामी है।

जीवमें त्रिगुण विद्यमान हैं, किन्तु श्रीहरि निर्गुण हैं। जीवको त्रिगुणका सङ्ग त्यागकर भगवद्-भजन करना चाहिए।

भगवत्-परायण व्यक्ति मायामुक्त है; मायाबद्धगण शिश्नोदरपरायण एवं असत् हैं, उनके सङ्गके फलस्वरूप अन्धतामिस्र नरकमें जाना पड़ता है। उर्वशीके सङ्गसे मुग्ध सम्राट् पुरूरवा निर्वेदको प्राप्त हो गये थे। इस स्कन्धमें स्त्री-सङ्गसे घृणा एवं भयानक-परिणाम आदि विषयोंका वर्णन किया गया है। जो व्यक्ति त्वचा, माँस, अस्थिमय पुरुष अथवा स्त्री देहमें आसक्त है, वह कृमि सदृश है। स्त्री द्वारा जीत लिये गये व्यक्तिके विद्या, तपस्या, मौनादि सभी विफल होते हैं। स्त्री एवं स्त्री-सङ्गीका सङ्ग सर्वथा परित्यज्य है। अतएव बुद्धिमान् व्यक्ति इस समस्त दुःसङ्गका परित्याग करके साधुसङ्गकी ओर आकर्षित होंगे। साधु मुक्त एवं भगवत्परायण होते हैं। वे सदुपदेश द्वारा मनकी आसक्तिका छेदन कर सकते हैं।

भगवदर्चन चित्तको प्रसन्नतासे भर देता है। अर्चन—वैदिक, तान्त्रिक एवं मिश्र—तीन प्रकारका है। प्रतिमा आठ प्रकारकी होती है। सात्वत-विधिसे भगवदर्चन करना चाहिए। भगवदुक्त विधिके अनुसार अर्चन करनेपर भगवद्-भक्ति प्राप्त होती है।

विश्वके निखिल भाव प्राकृत, त्रिगुणजात एवं असत् हैं, इसलिये उनमें अच्छे-बुरेका पार्थक्य विद्यमान है, किन्तु जड़ासक्तिवश इन सबकी निन्दा, प्रशंसादि करनेपर परमार्थकी हानि होती है। समग्र विश्वमें एक आत्मा ही कार्य-कारणरूपमें वर्त्तमान है—इस विचारका अवलम्बन करके अनासक्त भावसे संसार-यात्राका निर्वाह करना चाहिए। अवास्तव देहमें इन्द्रियादिके साथ जबतक सम्बन्ध है, तबतक संसार-प्रतीति है। सद्गुरुकी कृपासे ब्रह्म-विवेक प्राप्त होता है और देहादिके अनात्मत्वकी उपलब्धि होती है। अतः विषयोंके सङ्गका वर्जन करते हुए दृढ़ भक्तियोगका आश्रय करना चाहिए। योगादि उपायोंसे देहका तारुण्य अटूट रखनेकी चेष्टा काल-क्षेपण (समयको नष्ट करना) एवं देह-सिद्धि मात्र है।

भगवन्–माया–मुग्ध अभिमानी, कर्मी एवं योगी भगवत्–चरणकमलोंका आश्रय नहीं करते। भगवान् हंसोंके आराध्य हैं। भगवान् चैत्यगुरु एवं आचार्यरूपमें समस्त अमङ्गलोंको दूर करके स्व–स्वरूपका प्रदर्शन करते हैं। समस्त कर्म भगवान्के लिये ही अनुष्ठेय हैं। भगवत्–धामादिका आश्रय करके भगवत्–सेवा एवं यात्रा–महोत्सवादि करना चाहिए। सर्वत्र समस्त प्राणियोंमें कृष्णाधिष्ठान जानकर समदृष्टि प्राप्त होती है, जिससे अहङ्कारादि नष्ट हो जाते हैं। अनन्य भावसे भगवान्में आत्मसमर्पण करनेपर भगवत्–प्रीति साधित होती है।

अनन्तर उद्धव भगवान्के आदेशसे बदरिकाश्रम चले गये। भगवान्ने द्वारकामें नानाविध अशुभ, महोत्पात देखे तो उन्होंने यादवोंको प्रभास तीर्थमें जानेका उपदेश दिया। तदनुसार सभी वहाँ चले गये। भगवान्की मायाके प्रभावसे यादवगण मद्यपानसे मतवाले होकर परस्पर कलह करने लगे और इसी कलह–युद्धमें एक–दूसरेका वध करने लगे। श्रीबलदेवजीने भी योगबलसे प्रपञ्चका त्याग कर दिया। अब इसके बाद श्रीकृष्णचन्द्र मौनभाव धारण करके विराजमान थे। जरा नामक व्याधने मृगके भ्रमसे भगवान्के श्रीचरणोंमें बाणका प्रहार किया। उसे जब अपने भ्रमका बोध हुआ, तब चरणोंमें दण्डवत् गिरकर क्षमा–याचना करने लगा। भगवान्ने यह उनकी इच्छासे घटित हुआ है, यह समझाकर व्याधको स्वर्ग भेज दिया। उसी समय सारथि दारुक वहाँ आया और उसने भगवान् कृष्णचन्द्रको उस अवस्थामें देखा तो शोक व्यक्त करने लगा। भगवान्ने उसे द्वारका भेजा और समस्त वृत्तान्त बतलाकर सभी द्वारकावासियोंको द्वारका छोड़कर इन्द्रप्रस्थ जानेका आदेश दिया। दारुकने भी उनकी आज्ञाका पालन किया।

वसुदेवादिने दारुकसे भगवान्की लीला संगोपनके विषयमें सुना, तो उन सबने भगवान्का अनुगमन किया। भगवान्की लीलामें सहायताके लिये जो देवता यदुकुलमें अवतीर्ण हुए थे, वे भी अपने

धाम चले गये। कृष्ण-विरहसे कातर अर्जुनने कृष्णके उपदेशोंका स्मरण करते हुए सान्त्वनायुक्त चित्तसे सभी परलोकगत आत्माओंके श्राद्धादि सम्पन्न किये। तत्क्षण ही समुद्रने भगवद् गृहको छोड़कर सारी द्वारकाको आत्मसात् कर लिया। अर्जुन अवशिष्ट यादवोंको लेकर इन्द्रपस्थ आये और वज्रनाभको राजसिंहासनपर अभिषिक्त किया। युधिष्ठिर इत्यादि पाण्डवोंने भगवान्के लीला-संगोपनका संवाद सुना, तब वे परीक्षित्को राज्य समर्पण करके महाप्रस्थान कर गये।

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीमद्भागवतम्

एकादशः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

यदुवंशियोंको विप्रशाप

श्रीबादरायणिरुवाच—

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः।
भुवोऽवतारयद्भारं जविष्ठं जनयन् कलिम्॥ १॥

श्रीबादरायणि (श्रीव्यासदेवके पुत्र श्रीशुकदेव गोस्वामीजी) ने कहा—हे परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने बलराम और अन्यान्य यदुवंशियोंके साथ मिलकर बहुत-से दैत्योंका (पूतना, कंसादिका) संहार किया तथा कौरव और पाण्डवोंमें भी शीघ्र महाहिंसापरिणामी अत्यन्त प्रबल कलह उत्पन्न कराके पृथ्वीका भार उतार दिया॥ १॥

ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नै-
र्दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान्।
कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान्
हत्वा नृपान् निरहरत् क्षितिभारमीशः॥ २॥

दुर्योधन आदि कौरवोंने कपटपूर्ण जूएसे, तरह-तरहके अपमानोंसे, द्रौपदीके केश खींचने आदि दुर्व्यवहारसे, विष खिलाकर मारनेके प्रयत्नसे, लाखसे बने हुए घरमें जलाकर हत्या करनेके प्रयाससे तथा अन्यान्य कारणोंसे पाण्डु-पुत्रोंको अनेक बार क्रोधित किया था। भगवान् श्रीकृष्णने उन्हीं पाण्डवोंको निमित्त बनाकर दोनों पक्षोंमें एकत्र हुए राजाओंका विनाश करके पृथ्वीका भार हल्का कर दिया॥ २॥

भूभारराजपृतना यदुभिर्निरस्य
गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयदप्रमेयः।
मन्येऽवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं
यद्यादवं कुलमहो अविषह्यमास्ते॥ ३॥

अप्रमेयस्वरूप (जिनकी विचार-प्रणाली जाननेकी क्षमता मनुष्यमें नहीं है) भगवान् श्रीकृष्णने निज भुजबलसे सुरक्षित यदुवंशियोंके द्वारा पृथ्वीके भारभूत राजाओं एवं उनकी सेनाओंका संहार करवाके मन-ही-मन विचार किया कि ये यादवगण यद्यपि (मेरे संरक्षणके कारण) अजेय एवं अबध्य हैं, किन्तु जिस प्रकारसे ये उद्धत हो रहे हैं, इनके रहते लोकदृष्टिसे पृथ्वीका भार दूर हो जानेपर भी यथार्थमें पृथ्वीका भार अभी दूर नहीं हुआ॥ ३॥

नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथञ्चि-
न्मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम्।
अन्तःकलिं यदुकुलस्य विधाय वेणु-
स्तम्बस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम॥ ४॥

श्रीकृष्णने मनमें निश्चय किया कि मेरे आश्रयके कारण इन यादवोंका पराभव असम्भव है, परन्तु हाथी, घोड़े, जनबल, धनबल इत्यादि विशाल वैभवके कारण इनकी उच्छृङ्खलता बहुत बढ़ गयी है—देवता भी इनका वध नहीं कर सकते। अतएव मैं बाँसके वनमें परस्पर संघर्षसे उत्पन्न अग्निके समान इस यदुवंशमें परस्पर कलह उत्पन्न कराके प्रभासतीर्थमें इनका विनाश कराऊँगा और शान्तिपूर्वक अपने धाममें जाऊँगा। (यदुकुलमें उत्पन्न यादवोंकी स्वेच्छाचारिताको साधारण लोग कृष्णानुकूल मानकर उनका सम्मान न करने लग जायें, इसलिये भगवान्ने उनके संहारका विचार किया।)॥ ४॥

एवं व्यवसितो राजन् सत्यसङ्कल्प ईश्वरः।
शापव्याजेन विप्राणां सञ्जह्रे स्वकुलं विभुः॥ ५॥

शुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! भगवान् सत्यसङ्कल्प, सर्वनियन्ता एवं जगदीश्वर हैं। उन्होंने इस प्रकार स्थिरकर ब्राह्मणोंके शापके बहाने अपने ही वंशका संहार करवा डाला और सबको समेटकर अपने धाममें ले गये॥५॥

स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम्।
गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः॥६॥
आच्छिद्य कीर्त्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ।
तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात् स्वं पदमीश्वरः॥७॥

हे परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णकी अङ्ग-प्रभा त्रिलोकीके लावण्यको विजय करनेवाली थी। वे अपनी सौन्दर्य-माधुरीसे सबके नेत्र अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे। उनकी मधुर वाणी एवं मधुर दिव्यातिदिव्य उपदेश उनके वचनोंके स्मरण करनेवालोंके चित्तको मुग्ध कर लेते थे। यहाँ-वहाँ अङ्कित उनके श्रीचरण-कमलके चिह्न त्रिभुवनसुन्दर थे—जिनके दर्शनसे लोगोंकी बहिर्मुखता दूर हो गयी थी और वे जड़-कर्म-प्रपञ्चसे ऊपर उठकर अपनी समस्त इन्द्रियोंसे उनकी सेवामें नियुक्त हो गये थे। परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने इस विचारसे अपनी पुण्यकीर्त्तिका विस्तार किया कि मनुष्य उसका गान, श्रवण एवं स्मरण करके संसार-समुद्रसे (अज्ञान-अन्धकारसे) सहज ही पार हो जायें। इसके बाद परमैश्वर्यशाली भगवान् श्रीकृष्ण अपने परमधाममें चले गये॥६-७॥

श्रीराजोवाच—

ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम्।
विप्रशापः कथमभूद्वृष्णीनां कृष्णचेतसाम्॥८॥
यन्निमित्तः स वै शापो यादृशो द्विजसत्तम।
कथमेकात्मनां भेद एतद् सर्वं वदस्व मे॥९॥

यह सुनकर महाराज परीक्षित्ने पूछा—हे मुनिवर! यदुवंशी तो ब्राह्मणोंके हितकारी थे। वे बड़े उदार थे, अपने कुलके गुरुजन

और वृद्धोंकी सदा-सर्वदा सेवा करनेवाले थे। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि श्रीकृष्णमें उनका चित्त ऐकान्तिकरूपसे अर्पित था। ऐसे यदुवंशियोंको विप्रोंने अभिशाप क्यों दिया? उस शापका कारण क्या था? वह किस प्रकारका था? सुहृद यदुवंशियोंमें किस प्रकारसे भेद-बुद्धि हो गयी और वे किस प्रकार परस्पर युद्ध करके विनाशको प्राप्त हुए, हे द्विजोत्तम! इसके विषयमें आप विस्तारपूर्वक मुझे बतलाइए॥ ८-९॥

श्रीशुक उवाच—

बिभ्रद्वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं
कर्माचरन् भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः।
आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्त्तिः
संहर्त्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः॥ १०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—त्रिलोकीके सौन्दर्यके आधार, सर्वत्र समदर्शी श्रीकृष्णने परमशोभनीय विग्रह धारणकर पृथ्वीतलपर कल्याणजनक कर्मोंका आचरण किया। पूर्णकाम प्रभुने द्वारकाभवनका निर्माण कर वहाँ विहार करते हुए मधुर-मधुर लीलाएँ कीं तथा अपनी उदार कीर्त्तिकी स्थापना की। तत्पश्चात् पृथ्वीका भार दूर करनेका कार्य अभी कुछ शेष रह गया है, ऐसा विचारकर अपने कुलके संहार करनेकी अभिलाषा की॥ १०॥

कर्माणि पुण्यनिवहानि सुमङ्गलानि
गायज्जगत्कलिमलापहराणि कृत्वा।
कालात्मना निवसता यदुदेवगेहे
पिण्डारकं समगमन्मुनयो निसृष्टाः॥ ११॥
विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्व्वासा भृगुरङ्गिराः।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिर्वशिष्ठो नारदादयः॥ १२॥

कालस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने वसुदेवके गृहमें निवास करते हुए अनेकानेक पुण्यप्रद, परमकल्याणजनक और सुमङ्गलकारी कार्य

किये। इनका गान करनेसे मनुष्योंके कलिगत सारे दोष नष्ट हो जाते हैं। एक बार उनकी ही प्रेरणासे विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अङ्गिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वशिष्ठ और नारद आदि मुनि उनके समीपसे विदा लेकर द्वारकाके समीपवर्त्ती पिण्डारक तीर्थ (गुजरातकी प्रान्त सीमामें समुद्रसे एक कोस दूर) पहुँचे॥ ११-१२॥

क्रीडन्तस्तानुपव्रज्य कुमारा यदुनन्दनाः।
उपसंगृह्य पप्रच्छुरविनीता विनीतवत्॥ १३॥
ते वेषयित्वा स्त्रीवेषैः साम्बं जाम्बवतीसुतम्।
एषा पृच्छति वो विप्रा अन्तर्वत्न्यसितेक्षणा॥ १४॥
प्रष्टुं विलज्जती साक्षात् प्रब्रूतामोघदर्शनाः।
प्रसोष्यन्ती पुत्रकामा किंस्वित् सञ्जनयिष्यति॥ १५॥

एक दिन यदुवंशके कुछ उद्दण्ड कुमार खेलते-खेलते उन मुनियोंके समीप पहुँचे। कृत्रिम नम्रता दिखाते हुए उन्होंने उन मुनियोंके चरणोंमें प्रणाम किया और इस प्रकार जिज्ञासा करने लगे।

कौमारवयःस्थ उन उद्दण्ड यदुनन्दनोंने जाम्बवतीके पुत्र साम्बको स्त्रीके वेशमें सजा लिया। उसीको दिखाकर ऋषि-मुनियोंसे कहने लगे—हे विप्रगण! आप अमोघदर्शन हैं (आपका ज्ञान अबाध है—आप सर्वज्ञ हैं)। यह स्त्री गर्भवती है, इसके प्रसवका समय निकट आ गया है, यह पुत्र-सन्तान चाहती है। लज्जावश आपसे साक्षात्रूपसे नहीं पूछनेके कारण हमसे जिज्ञासा करवा रही है कि यह पुत्रको जन्म देगी या कन्याको? आप कृपापूर्वक बतलाइए।

(श्रीगौरसुन्दरकी अपनी माताके द्वारा श्रीअद्वैतप्रभुके स्थानपर अपराध-खण्डन इत्यादि लीला औदार्यका आदर्श हैं। श्रीकृष्णकी यदु-संहारलीला भक्तवात्सल्यकी ज्ञापिका है। ब्राह्मण, वैष्णव, ऋषि इत्यादि अनभिज्ञ होते हैं—इसी विश्वासके कारण जाम्बवतीके पुत्र यदुकुमारने साम्बको स्त्रीवेश धारण कराके वैष्णव-समाजका उपहास करनेका जो प्रयास किया है—वह वैष्णवापराध है—यही

बतानेके लिये कृष्णलीलामें भगवत्-पार्षद साम्ब यदुकुल-संहारके कारण बने।)॥ १३-१५॥

एवं प्रलब्धा मुनयस्तानूचुः कुपिता नृप।
जनयिष्यति वो मन्दा मुसलं कुलनाशनम्॥ १६॥

हे राजन्! जब उन कुमारोंने ऋषि-मुनियोंसे उपहासपूर्ण वचन कहे, तब वे भगवत्-प्रेरणासे क्रोधित हो उठे। उन्होंने कहा—हे मूर्खो! यह स्त्री एक ऐसा मुसल प्रसव करेगी, जो तुम्हारे कुलका संहार करनेवाला होगा॥ १६॥

तच्छ्रुत्वा तेऽतिसन्त्रस्ता विमुच्य सहसोदरम्।
साम्बस्य ददृशुस्तस्मिन् मुसलं खल्वयस्मयम्॥ १७॥

मुनियोंके ये वचन सुनकर वे यादव कुमार अतिशय भयभीत हो गये। उन्होंने शीघ्र ही साम्बका उदर खोला, वास्तवमें उसमें एक लोहेका मुसल दिखायी दिया॥ १७॥

किं कृतं मन्दभाग्यैर्नः किं वदिष्यन्ति नो जनाः।
इति विह्वलिता गेहानादाय मुसलं ययुः॥ १८॥

उनका चित्त अति व्याकुल हो गया। वे कहने लगे—'अहो! हम बड़े दुर्भागे हैं। देखो, हमने यह क्या अनर्थ कर डाला? अब लोग हमें क्या कहेंगे?' इस प्रकार कहते हुए वे उस कुलनाशन मुसलको लेकर अपने घर लौट आये॥ १८॥

तच्चोपनीय सदसि परिम्लानमुखश्रियः।
राज्ञ आवेदयाञ्चक्रुः सर्वयादवसन्निधौ॥ १९॥

उस समय उन यदुकुमारोंके मुखकी शोभा म्लान हो गयी थी। उन्होंने उस मुसलको ले जाकर यादवोंकी भरी सभामें सबके समक्ष रख दिया एवं महाराज उग्रसेनको सम्पूर्ण वृत्तान्त निवेदन कर दिया॥ १९॥

श्रुत्वामोघं विप्रशापं दृष्ट्वा च मुसलं नृप।
विस्मिता भयसन्त्रस्ता बभूवुर्द्वारकौकसः॥ २०॥

राजन्! जब द्वारकावासियोंने ब्राह्मणोंके अभिशापकी बात सुनी और अपनी आँखोंसे उस मुसलको देखा, तब सब-के-सब आश्चर्यचकित और भयभीत हो गये। वे जानते थे कि ब्राह्मणोंका अभिशाप कभी मिथ्या (अव्यर्थ) नहीं होता॥ २०॥

तच्चूर्णयित्वा मुसलं यदुराजः स आहुकः।
समुद्रसलिले प्रास्यल्लोहञ्चास्यवशेषितम्॥ २१॥

यदुराज उग्रसेनने श्रीकृष्णसे पूछे बिना ही उस मुसलको चूर्ण-विचूर्ण करवाकर धूलिकणोंमें बदलवा दिया और लोहेका कुछ अंश जो पूर्णरूपसे चूर्ण-विचूर्ण नहीं हुआ था, उस अवशिष्ट अंशको अकिञ्चित्कर जानकर समुद्रमें फेंकवा दिया॥ २१॥

कश्चिन्मत्स्योऽग्रसील्लोहं चूर्णानि तरलैस्ततः।
उह्यमानानि वेलायां लग्नान्यासन् किलैरकाः॥ २२॥

हे परीक्षित्! एक मछली तत्काल ही उस निक्षिप्त लौह-खण्डको निगल गयी तथा सारा चूर्ण समुद्रकी तरङ्गोंके साथ बह-बहकर समुद्रके किनारेकी बालुके साथ मिल गया। कुछ ही दिनोंमें वह चूर्ण एरक तृण (बिना गाँठकी एक घास) के रूपमें उग आया॥ २२॥

मत्स्यो गृहीतो मत्स्यघ्नैर्जालेनान्यैः सहार्णवे।
तस्योदरगतं लोहं सशल्ये लुब्धकोऽकरोत्॥ २३॥

अनन्तर मत्स्यजीवी मछुआरोंने समुद्रमें दूसरी मछलियोंके साथ उस मछलीको भी जालके द्वारा पकड़ लिया। उसके पेटमें जो लोहेका टुकड़ा था, वह जरा नामक व्याधको प्राप्त हुआ, जिसे व्याधने अपने बाणके अग्रभागमें लगा लिया॥ २३॥

भगवान् ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा।
कर्त्तुं नैच्छद्विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत॥ २४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीविप्रशापो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्ण सर्वज्ञ थे। शापका प्रतिकार करनेमें सर्वथा समर्थ होनेपर भी उन्होंने उसका निवारण करना उचित न समझा। कालरूपी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने यदुओंके विनाशरूप ब्राह्मणोंके शापको स्वाभीष्ट जानकर उसका अनुमोदन ही किया॥ २४॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके पहले अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

वसुदेवजीके पास श्रीनारदजीका आना एवं उन्हें विदेहराज निमि तथा नवयोगेन्द्रका संवाद सुनाना

श्रीशुक उचाव—

गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीजीने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ! देवर्षि नारदजीको मन-ही-मन भगवान् श्रीकृष्णके समीप रहनेकी बड़ी लालसा थी, इसलिये वे श्रीकृष्णकी भुजाओंसे सुरक्षित द्वारकामें—जहाँ दक्ष आदिके शापका कोई प्रभाव नहीं हो सकता था—विदा करनेपर भी पुनः-पुनः आ जाते थे तथा श्रीकृष्णके समीप वहीं द्वारकामें निरन्तर वास करते थे॥ १॥

को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम्।
न भजेत् सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः॥ २॥

हे राजन्! ऐसा कौन प्राणी है, जो इन्द्रियवान् होते हुए अर्थात् कर्णादि इन्द्रियोंके रहते ब्रह्मादि देवेन्द्रोंके भी सेवनीय श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी आराधना न करता हो? इस व्यक्त जगत्का हर प्राणी परिवर्त्तनशील धर्मके अन्तर्भुक्त है, अतः उसकी मृत्यु अनिवार्य है। मुकुन्दचरणाश्रय ही उसके निज मङ्गलका कारण है॥ २॥

तमेकदा तु देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम्।
अर्चितं सुखमासीनमभिवाद्येदमब्रवीत्॥ ३॥

एक समय देवर्षि नारद वसुदेवजीके घर पधारे। श्रीवसुदेवजीने उनका यथोचित अभिवादन किया और उनके सुखपूर्वक बैठ

जानेपर विधिपूर्वक उनका अर्चन-पूजन किया। तत्पश्चात् प्रणाम कर उनसे जिज्ञासा करने लगे॥ ३॥

श्रीवसुदेव उवाच—

भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम्।
कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमःश्लोकवर्त्मनाम्॥ ४॥

वसुदेवजीने कहा—भगवन्! संसारमें माता-पिताका आगमन अपने पुत्र-पुत्रियोंके लिये ही सुखकर और कल्याणकारी होता है, इसी प्रकार भगवान्‌की ओर अग्रसर होनेवाले साधु-सन्तोंका पदार्पण कृपण अर्थात् प्रपञ्चमें उलझे हुए सर्वनिकृष्ट प्राणियोंके लिये भी बड़ा ही सुखकर और मङ्गलकारी होता है। भगवन्! आप तो स्वयं भगवान्‌के परम भक्त हैं। आपका आगमन समस्त प्राणियोंके कल्याणके लिये होता है। (कृपण एवं ब्राह्मण भेदसे आत्मा दो प्रकारकी है। क्षुद्र वस्तुके अनुसन्धानकारी 'कृपण' शब्द-वाच्य हैं एवं ब्रह्म वस्तुके अनुसन्धानकारी 'ब्राह्मण' शब्द-वाच्य हैं।) इस स्थलपर श्रीनारदमुनिका सभी प्राणियोंके प्रति वात्सल्य दिखाया गया है॥ ४॥

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम्॥ ५॥

पर्जन्यादि (इन्द्रादि) देवताओंके चरित्र कभी प्राणियोंके लिये दुःखके हेतु और कभी सुखके हेतु बन जाते हैं, किन्तु हे भगवन्! आप जैसे भगवद्भक्त साधुओंका परम पवित्र चरित्र समस्त प्राणियोंके लिये सर्वदा सुख और कल्याणके लिये ही होता है (इन्द्रादि देवता तो अतिशय अथवा अल्प वृष्टि द्वारा वृक्षोंके लिये दुःखके कारण होते हैं।)॥ ५॥

भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः॥ ६॥

जो लोग देवताओंकी जिस प्रकारसे आराधना करते हैं, देवता भी परछाईंके समान ठीक उसी रीतिसे आराधकोंको फल देते हैं;

क्योंकि देवता कर्मके अनुचर अर्थात् उन कर्मोंके अधीन हैं। वे कर्मानुग होकर कर्मके तारतम्यानुसार फल प्रदान करते हैं, परन्तु आप जैसे साधुगण सर्वदा ही दीनवत्सल होते हैं अर्थात् जो ताप-त्रयसे अभिभूत हैं, उनपर वात्सल्य प्रकाश करते हैं। आप देवताओंके समान स्वार्थपर नहीं हैं॥ ६॥

ब्रह्मंस्तथापि पृच्छामो धर्मान् भागवतांस्तव।
यान् श्रुत्वा श्रद्धया मर्त्त्यो मुच्यते सर्वतो भयात्॥ ७॥

हे ब्रह्मन्! यद्यपि हम आपके शुभागमन और शुभदर्शनसे ही कृत्कृत्य हो गये हैं, तथापि श्रद्धापूर्वक जिसे सुनकर मर्त्त्य जीव सब प्रकारके भयसे परित्राण प्राप्त करता है, मैं आपके निकट उसी भागवत धर्मको जाननेकी इच्छा करता हूँ॥ ७॥

अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम्।
अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया॥ ८॥

हे मुनिवर! पूर्वजन्ममें इस भूतलपर मैंने मुक्तिदाता भगवान् श्रीहरिकी आराधनाकी थी, किन्तु देवमायासे मोहित होकर सन्तानकी (पुत्रकी) कामनासे उनकी आराधना की, मुक्तिकी अभिलाषासे नहीं॥ ८॥

यथा विचित्रव्यसनाद् भवद्भिर्विश्वतोभयात्।
मुच्येमह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत॥ ९॥

हे सुव्रत! इस समय आप मुझे सुस्पष्टरूपसे ऐसा उपदेश दीजिए, जिससे मैं जन्म-मृत्युरूप विचित्र व्यसनोंसे परिपूर्ण एवं विविध भयोंसे सङ्कुल इस भयावह संसारसे अनायास ही मुक्ति प्राप्त कर सकूँ॥ ९॥

श्रीशुक उवाच—

राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता।
प्रीतस्तमाह देवर्षिर्हरेः संस्मारितो गुणैः॥ १०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—राजन्! विवेकशील वसुदेवने भगवान्के स्वरूप और गुण आदिके विषयमें श्रवण करनेके अभिप्रायसे ही यह प्रश्न किया था। देवर्षि नारद उनका प्रश्न सुनकर भगवान्के अनन्त कल्याणमय गुणोंके स्मरणमें तन्मय हो गये और आनन्दमें भरकर श्रीवसुदेवसे कहने लगे॥ १०॥

श्रीनारद उवाच—

सम्यगेतद्व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ।
यत् पृच्छसे भागवतान् धर्म्मांस्त्वं विश्वभावनान्॥ ११॥

नारदने कहा, हे यदुश्रेष्ठ वसुदेव! आपने सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करनेवाले भागवत-धर्म-विषयको ही अपने प्रश्नमें उत्थापित किया है (भूमिका बनायी है), इसलिये आपका सङ्कल्प अतिशय उत्तम कहा जाएगा॥ ११॥

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देवविश्वद्रुहोऽपि हि॥ १२॥

वसुदेव! यह भागवत धर्म ऐसा है, जिसे श्रवण करने, श्रवणके बाद स्वयं करने, वाणीसे स्वयं उच्चारण करने, चित्तसे स्मरण (ध्यान) करने, हृदयसे आदर करने या कोई इसका पालन करने जा रहा हो, उसका अनुमोदन करने इत्यादिसे मनुष्य मात्रको चाहे वह भगवान्का या सारे संसारका ही द्रोही क्यों न हो, उसी क्षण पवित्र कर देता है॥ १२॥

त्वया परमकल्याणः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः।
स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणे मम॥ १३॥

आपके प्रश्नके कारण इस समय मेरे हृदयमें पुण्यश्रवण, कीर्त्तनशील (जिनका श्रवण एवं कीर्त्तन परम पुण्यप्रद है), परममङ्गलमय भगवान् नारायणकी स्मृति उदित हो गयी है, मैं तो ऐसा मानता हूँ कि आपने मुझपर अतिशय अनुग्रह किया है॥ १३॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
आर्षभाणाञ्च संवादं विदेहस्य महात्मनः॥ १४॥

वसुदेवजी! आपने भागवत धर्मके निर्णयके सम्बन्धमें जो प्रश्न किया है, उसके सम्बन्धमें सन्त पुरुष ऋषभके नौ योगेन्द्र पुत्रों एवं विदेहके संवादके रूपमें एक प्राचीन उपाख्यान कहते हैं, वह सुनिए॥ १४॥

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः॥ १५॥

स्वायम्भुव मनुके प्रियव्रत नामके पुत्र बहुत प्रसिद्ध थे। उनके पुत्रका नाम था आग्नीध्र और आग्नीध्रके पुत्रका नाम था नाभि। इन्हीं नाभिके पुत्र ऋषभ नामसे विख्यात हुए॥ १५॥

तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद्ब्रह्मपारगम्॥ १६॥

शास्त्रोंमें ऋषभदेवको भगवान् वासुदेवका अंश बतलाया गया है। मोक्षधर्मका प्रवर्त्तन करनेकी इच्छासे इन्होंने पृथ्वीपर अवतार ग्रहण किया था। उनके सौ पुत्र हुए, वे सभी वेदोंके पारदर्शी विद्वान् थे॥ १६॥

तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः।
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम्॥ १७॥

इन सौ पुत्रोंमें ऋषभदेवके सबसे बड़े पुत्र राजर्षि भरत थे। वे भगवान् नारायणके परम प्रेमी भक्त थे। उन्हींके नामसे इस भूखण्डका नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ। पहले इसका नाम अजनाभ वर्ष था॥ १७॥

सभुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम्।
उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः॥ १८॥

ये भरत महाराज सारे भूमण्डलका राज्य भोगकर अन्तमें इस भुक्तभोगा पृथ्वीको छोड़कर तपस्याके लिये वनमें चले गये और

तपोयोगसे भगवान् श्रीहरिकी आराधना कर तीन जन्मोंमें (१—राजा (क्षत्रिय) जन्म, २—मृग जन्म, ३—परमहंस जन्म) भगवान् श्रीहरिको प्राप्त हुए॥ १८॥

तेषां नवनवद्वीपपतयोऽस्य समन्ततः।
कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः॥ १९॥

श्रीऋषभदेवके सौ पुत्रोंमें-से, नौ पुत्र भारतवर्षके चारों ओर स्थित ब्रह्मावर्त्त आदि नौ द्वीपोंके (जम्बूद्वीपके नौ खण्ड अथवा वर्ष—भारत, किन्नर (किम्पुरुष), हरि, कुरु, हिरण्मय, रम्यक (रमणक), इलावृत, भद्राश्व, केतुमालके) अधिपति हुए अर्थात् उन्होंने अपने आधिपत्यका विस्तार किया और इक्यासी पुत्र कर्मकाण्डके (सकाम यज्ञोंके) प्रवर्त्तक ब्राह्मण हुए॥ १९॥

नवाभवन्महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरसना आत्मविद्याविशारदाः॥ २०॥

कविर्हविरन्तरीक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः॥ २१॥

शेष नौ पुत्र कवि, हवि, अन्तरीक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन अधिकारियोंको परमार्थ-वस्तुका उपदेश दिया करते थे। वे दिगम्बर (वायु-वस्त्र), परब्रह्म-तत्त्व निरूपणमें तत्पर, आत्माभ्यासमें महान् प्रयासरत (श्रमण) एवं आत्मविद्यामें विशारद थे। विदेहराज निमिने नवयोगेन्द्रोंसे ये नौ प्रश्न किये—(क) आत्यन्तिक कल्याण क्या है? (११/२/३०) (ख) भागवत (वैष्णव) धर्म, स्वभाव, आचार, वचन एवं लक्षण क्या हैं? (११/२/४४) (ग) भगवान् विष्णुकी बहिरङ्गा माया किसको कहते हैं? (११/३/१) (घ) इस मायासे निवृत्ति किस प्रकारसे होती है? (११/३/१७) (ङ) ब्रह्मका स्वरूप क्या है? (११/३/३४) (च) फलभोगमूलककर्म, भगवदर्पित कर्म एवं नैष्कर्म्य किसको कहा जाता है? (छ) भगवदावतारावलीकी लीलाएँ क्या-क्या हैं?

(११/४/१) (ज) भगवद्-विमुख भक्तिहीन अर्थात् अभक्तोंकी निष्ठा अथवा गति क्या है? (झ) चारों युगोंके युगावतार—चतुष्टयका कैसा वर्ण है, आकार किस प्रकारका है, उनके नाम क्या-क्या हैं और उनकी पूजाकी विधि कैसी है? (११/५/१९) इन नौ प्रश्नोंके उत्तरमें महाभागवत परमहंस योगेन्द्रोंने जो उत्तर दिये, उनकी श्लोक-संख्या यथाक्रमसे इस प्रकार है—(क) ११/२/३३-४३, (ख) ११/२/४५-५५, (ग) ११/३/१६, (घ) ११/३/१८-३३, (ङ) ११/३/३५-४०, (च) ११/३/४३-५५, (छ) ११/४/२-२३, (ज) ११/५/२-१८ एवं (झ) ११/५/२०-४२)॥ २०-२१॥

त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम्।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन्महीम्॥ २२॥

वे कवि आदि नवयोगेन्द्र स्थूल-सूक्ष्मात्मक एवं व्यक्त-अव्यक्त भगवद्स्वरूपभूत इस जगत्को अपनी-अपनी आत्मासे अभिन्नरूपमें अनुभव करते हुए पृथ्वीपर स्वच्छन्दरूपसे विचरण करते थे॥ २२॥

अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्य-
गन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान् ।
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथ-
विद्याधरद्विजगवां भुवनानि काममम्॥ २३॥

उन मुक्त नवयोगेन्द्रोंको अपने किसी भी अभीष्ट स्थानमें जानेके लिये कोई प्रतिरोध नहीं था। वे जहाँ चाहते, अप्रतिहत गतिसे वहीं चले जाते। उनकी आसक्ति कहीं न थी। देवता, सिद्ध, साध्य, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, किन्नर और नागोंके लोक तथा मुनि, चारण, भूतनाथ शिवके कैलाश, विद्याधर, ब्राह्मण और गौओंके स्थान गोकुल—इन सभी लोकोंमें वे स्वच्छन्द विचरण करते थे। वे सभी जीवन्मुक्त थे॥ २३॥

त एकदा निमेः सत्रमुपजग्मुर्यदृच्छया।
वितायमानमृषिभिरजनाभे महात्मनः॥ २४॥

एक बार वे स्वच्छन्द विचरण करते हुए भारतवर्षमें उस स्थानपर उपस्थित हुए, जिस स्थानपर ऋषिगण महात्मा निमिके यज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे॥ २४॥

तान् दृष्ट्वा सूर्यसङ्काशान् महाभागवतान् नृप!
यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे॥ २५॥

हे राजन्! वे नवयोगेन्द्र सूर्यके समान तेजस्वी, महाभागवत एवं भगवान्‌के परम प्रेमी भक्त थे। उन्हें देखकर यजमान महाराज निमिने, आहवनीय आदि मूर्त्तिमान् अग्नियोंने, ऋत्विज आदि याज्ञिक ब्राह्मणोंने एवं वहाँ उपस्थित सभी लोगोंने उठकर उनका अभिनन्दन किया॥ २५॥

विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायणपरायणान्।
प्रीतः संपूजयाञ्चक्रे आसनस्थान् यथार्हतः॥ २६॥

विदेहराज निमि उन लोगोंको भगवान्‌के परम भक्त जानकर अति प्रसन्न हुए। उन्होंने परम प्रीतिके साथ नवयोगेन्द्रोंको आसनोंपर बिठाया तथा विधिपूर्वक पूजा की॥ २६॥

तान् रोचमानान् स्वरुचा ब्रह्मपुत्रोपमान् नव।
पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः॥ २७॥

वे नवयोगेन्द्र अपने अङ्गोंकी कान्तिसे इस प्रकार शोभायमान हो रहे थे, मानो ब्रह्माजीके पुत्र सनक आदि मुनीश्वर ही हों। राजा निमि उनके दर्शन करके परम आनन्दित हुए तथा चरणोंमें विनयपूर्वक झुककर बड़े प्रेमके साथ उनसे पूछने लगे॥ २७॥

श्रीविदेह उवाच—

मन्ये भगवतः साक्षात् पार्षदान् वो मधुद्विषः।
विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि॥ २८॥

विदेहराज निमिने पूछा-हे मुनिगण! मैं ऐसा समझता हूँ कि आप लोग साक्षात् भगवान् मधुसूदनके पार्षद ही हैं। अहो, भगवान्

विष्णुके पार्षद (निजजन) पतित जीवोंको पावन करनेके लिये ही सर्वत्र विचरण किया करते हैं॥ २८॥

दुर्ल्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्ल्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥ २९॥

जीवोंके लिये परम पुरुषार्थ साधक मनुष्य-शरीर क्षणभङ्गुर होनेपर भी परम दुर्लभ है। उसमें भी भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका दर्शन और भी दुर्लभ है (मानव देहमें ही हरिकथा श्रवणका सौभाग्य उदित होता है; इसीलिये दिव्यसूरि वैष्णवोंका साक्षात्कार अतीव सुदुर्लभ एवं विशेष प्रयोजनीय है।)॥ २९॥

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्द्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम्॥ ३०॥

इसलिये हे त्रिलोकपावन महात्माओ! भाग्यवश आपके सुदुर्लभ दर्शन प्राप्त हुए हैं। हम आपसे यह प्रश्न करते हैं कि परम कल्याणका स्वरूप क्या है? इस संसारमें आधे क्षणका भी सत्सङ्ग मनुष्योंके लिये परम निधिकी प्राप्ति स्वरूप आनन्दजनक होता है॥ ३०॥

धर्मान् भागवतान् ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम्।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः॥ ३१॥

हे मुनिवरो! जिस धर्मके अनुष्ठानके कारण भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होकर शरणागतजनोंको अपना स्वरूपतक प्रदान कर देते हैं, वह भागवत-धर्म यदि हमारे श्रवणयोग्य हो, तो उसका वर्णन कीजिए॥ ३१॥

श्रीनारद उवाच—

एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः।
प्रतिपूज्याब्रुवन् प्रीत्या ससदस्यर्त्विजं नृपम्॥ ३२॥

देवर्षि नारदने कहा—वसुदेव! जब महात्मा निमिने उन परमप्रेमी भगवद्भक्तोंसे यह प्रश्न किया, तब वे महाप्रभावशाली मुनिगण

अतिशय प्रसन्न हुए एवं सदस्य, पुरोहितादि तथा ऋत्विजोंके साथ विराजमान महाराज निमिसे प्रेमपूर्वक कहने लगे॥ ३२॥

श्रीकविरुवाच—

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्-
विश्वात्मना यत्र निवर्त्तते भीः॥ ३३॥

उन नवयोगेन्द्रोंमें-से पहले कविने कहा—राजन्! इस संसारमें भगवान्‌के श्रीचरणोंकी नैरन्तर्यमयी उपासना परम कल्याणकारी, आत्यन्तिक क्षेममयी तथा सर्वभयविनाशनी है। देह, गेह आदि तुच्छ एवं असत् वस्तुओंमें आत्मबुद्धि होनेसे जिन लोगोंकी चित्तवृत्ति त्रितापसे अत्यन्त सन्तप्त हो रही है, उन लोगोंका भय भी उन्हीं भगवान् श्रीअच्युतकी सेवासे पूर्णतया निवृत्त हो जाता है॥ ३३॥

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥ ३४॥

राजन्! भगवान्‌ने अज्ञानी पुरुषोंको भी सुगमतासे आत्म-प्राप्ति अर्थात् भगवत् प्राप्तिके लिये जो सुगम उपाय स्वयं अपने श्रीमुखसे बतलाये हैं, उसे ही 'भागवत-धर्म' जानना चाहिए। भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये भगवद्भक्तिका साधन ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है, इसीको 'भागवत धर्म' समझो॥ ३४॥

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥ ३५॥

हे राजन्! भागवत धर्मका अवलम्बन करनेपर मनुष्य कभी विघ्नोंसे बाधित नहीं होता। इस मार्गमें नेत्र बन्दकर दौड़नेपर भी अर्थात् विधि-विधानमें त्रुटि हो जानेपर भी मार्गसे कोई स्खलित नहीं होता अर्थात् पतित नहीं होता, न ही प्रत्यवायसे ग्रस्त होता है और न ही फलसे वञ्चित होता है॥ ३५॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥ ३६॥

मानव विधिवशतः अथवा जन्म-जन्मान्तरोंके स्वभावके प्रेरणावश अपने शरीर, मन, वचन, इन्द्रिय, बुद्धि या चित्तसे जो कुछ कर्म करें, उन सबको परब्रह्म नारायणके लिये (नारायणकी सेवाके लिये) समर्पण कर दें। [यही सुगम (सीधा-सादा) भागवत धर्म है। जिस प्रकार विषयीगण प्रातःकालसे आरम्भ करके मल-मूत्रादि त्याग, मुख-प्रक्षालन, दन्त-धावन, स्नान, दर्शन, श्रवण कथन आदि दैहिक कार्य विषय-सुख भोगके लिये करते हैं, कर्मीगण देव-पूजा एवं पितृ-पूजनके लिये ये समस्त कर्म करते हैं, किन्तु भगवद् भक्तोंकी ये सब क्रियाएँ भगवत्-सेवाके लिये होती हैं।]॥ ३६॥

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्मायया तो बुध आभजेत् तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥ ३७॥

जो व्यक्ति भगवान्से विमुख होता है, भगवान्की मायाके कारण स्वरूप विषयमें (भगवद्-दास्यमें) उसकी विस्मृति रहती है एवं इसी कारण 'यह देह मैं हूँ'—यह ज्ञानरूप विपर्यय (अज्ञानको ही ज्ञान मान लेना) रहता है और इसीसे द्वितीयाभिनिवेश अर्थात् उपाधिभूत देह-इन्द्रियादिमें अहङ्कार रहता है। इस अहङ्कारसे भय समग्ररूपसे उपस्थित हो जाता है। अतएव विवेकी व्यक्तिको अपने गुरुको ही परमाराध्यतम—परम प्रियतम मानकर एवं अन्यान्य कामनाओंसे रहित होकर भगवान्की आराधना भलीभाँति करनी चाहिए॥ ३७॥

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो-
ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा
तत् कर्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात्॥ ३८॥

यह द्वैत प्रपञ्च (भौतिक जगत्) असत्य (अविद्यमान) होनेपर भी मनुष्यके प्रापञ्चिक (सांसारिक) भोगबुद्धि-सम्बन्धित मानसिक चिन्तनके कारण निद्राकालमें उसे स्वप्नमें दिखायी देता है तथा मनोरथजात (इच्छित) पदार्थोंके समान जागरणकालमें इस प्रपञ्चका प्रकाश होता है। [तात्पर्य यह है कि चन्दन, वनितादि भोग्य संसार जिनका नहीं है, रहने पर भी जिनका परित्याग करके जो वनमें वास करते हैं, उनको कोई भय नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ध्यानकारी मनुष्यके मनमें वह जड़ीभूत संसार प्रत्यक्ष होता है, इसे मानस-प्रत्यक्ष कहते हैं।] अतः प्रापञ्चिक ध्यान भगवदितर विषयका ध्यान मात्र ही है। बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिए कि वह सङ्कल्प-विकल्पात्मक मनको विवेकके आश्रयसे नियन्त्रित करे। मनके निग्रहसे ही सारे भय दूर होनेपर वह अकुतोभय हो जाता है—यह मनका निग्रह एकमात्र भगवत्-सेवा द्वारा ही सम्भव है॥ ३८॥

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥ ३९॥

इस संसारमें भगवान् चक्रपाणिकी त्रिलोक-कीर्त्तित बहुत-सी मङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उन्हें सुनते रहना चाहिए। भगवान्के जन्म, गुण तथा लीलाओंका स्मरण दिलानेवाले उनके बहुत-से नाम प्रसिद्ध हैं। लोकलाज-सङ्कोच छोड़कर उनका गान भी करते रहना चाहिए। किसी भी व्यक्ति, वस्तु और स्थानमें आसक्त न रहकर अचञ्चल भावसे सर्वत्र विचरण करते रहना चाहिए।

नाम-गानरूप केवला भक्तिके द्वारा जीवको नित्य सर्वार्थ-सिद्धिकी प्राप्ति होती है॥ ३९॥

एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥ ४०॥

जो विशुद्ध व्रत या नियम ले लेता है, उसके हृदयमें अपने परम प्रियतम श्रीहरिका नामकीर्त्तन करनेसे प्रेमका अङ्कुर उदित हो जाता है और उस जातानुरागका चित्त द्रवित होने लगता है। वह बाह्य-ज्ञानसे रहित होकर (मनुष्यों द्वारा कृत उपहास अथवा प्रशंसादिपर ध्यान न देकर) कभी खिलखिलाकर हँसता है, तो कभी फूट-फूटकर रोदन करता है। कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारता है, तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है। जब वह अपने प्रियतमको नेत्रके सामने अनुभव करता है, तब उन्हें प्रसन्न करनेके लिये उन्मत्तकी भाँति नृत्य भी करने लगता है। (नाम-सङ्कीर्त्तनसे जब प्रेमाभक्तिका उदय होता है, तब श्रीकृष्णके दर्शन करनेकी उत्कण्ठारूप अग्निके द्वारा उसका चित्तरूप स्वर्ण गलित हो जाता है।)॥ ४०॥

खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥ ४१॥

हे राजन्! भगवद्भक्त आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्यादि ग्रह-नक्षत्र, समस्त प्राणी, दिग्मण्डल, वृक्ष, लताएँ, नदियाँ, सागर आदि जितने भी स्थावर जंगम हैं, सबको भगवान् श्रीहरिके अवयव (अधिष्ठान) समझकर एकचित्त होकर उन्हें प्रणाम करते हैं। (जगत् भगवत्-सेवोपकरणका अधिष्ठान है, कृष्णके अतिरिक्त

अन्य कुछ भी नहीं है—भक्तको इस प्रकारसे भगवान्‌की सन्धिनी शक्तिकी परिणतिकी उपलब्धि होती है।)॥ ४१॥

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥ ४२॥

जिस प्रकार भोजन करनेवाले व्यक्तिको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि (तृप्ति अथवा सुख), पुष्टि अर्थात् उदर-पूर्त्ति (जीवनीशक्तिका सञ्चार) और क्षुधा-निवृत्ति—ये तीनों एक ही साथ होते जाते हैं; उसी प्रकार शरणागत मनुष्यको भजनके प्रत्येक क्षणमें प्रेम लक्षणा भक्ति, प्रेमास्पद भगवान्‌के स्वरूपकी अनुभूति और भगवान्‌से भिन्न इतरविषयोंसे विरक्ति—इन तीनोंकी एक ही साथ उपलब्धि होती जाती है (सेवा-प्रवृत्तिके बिना भगवद्-अनुभव छलना मात्र है।)॥ ४२॥

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः
भवन्ति वै भागवतस्य राजन्
ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥ ४३॥

हे राजन्! जो अभ्यासके साथ प्रतिक्षण एक-एक वृत्तिके द्वारा भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंका भजन करता है, उस भजनशील भागवत पुरुषके भगवान्‌के प्रति प्रेममयी भक्ति, संसारके प्रति विरक्ति और अपने प्रियतम भगवान्‌की अनुभूति (तत्त्वज्ञान)—ये भावत्रय सम्पन्न होते हैं। इसके बाद वह स्वयं परम शान्तिका (आत्यन्तिक मङ्गलका) अनुभव करता है। (ऐसा भक्त कदापि विचलित नहीं होता। वह सर्वक्षण सेवाराज्यमें प्रतिष्ठित होकर उत्तरोत्तर अधिकार प्राप्त करता है। इस स्थलपर निमिराजाके प्रश्न 'आत्यन्तिक क्षेम क्या है?' का उत्तर समाप्त हुआ।)॥ ४३॥

श्रीराजोवाच—

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्।
यथाचरति यद् ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः॥ ४४॥

यह सुनकर महाराज निमिने जिज्ञासा की—हे ब्राह्मण! अब आप कृपा करके भागवत महापुरुषके धर्म (लक्षण) बतलाइए। उसका धर्म कैसा होता है अर्थात् उत्तम-मध्यम एवं साधारण भेदसे उसके स्वभावका तारतम्य कैसा होता है (मानस चिह्न)? वह मनुष्योंके साथ व्यवहार करते समय कैसा आचरण करता है (कायिक चिह्न)? कैसे बोलता है (वाचिक चिह्न)? तथा किन लक्षणोंके द्वारा वह भगवान्‌का भक्त निदर्शित (लक्षित) किया जा सकता है। यह सब बतलाइए॥ ४४॥

श्रीहविरुवाच—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥ ४५॥

अब नवयोगेन्द्रोंमें-से दूसरे श्रीहविःने उत्तर दिया—राजन्! जो व्यक्ति निखिल प्राणियोंमें अपनी और अपने आराध्य भगवान्‌की सत्ताका तथा अपने एवं अपने आराध्यदेवमें समस्त प्राणियोंकी सत्ताका दर्शन करता है, वह उत्तम कोटिका महाभागवत है॥ ४५॥

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥ ४६॥

जो व्यक्ति अपने उपास्य भगवान्‌से प्रेम, उनके भक्तोंसे मित्रता, अज्ञानियोंपर कृपा तथा भगवान्‌से द्वेष करनेवालोंकी उपेक्षा करता है, वह मध्यम कोटिका भागवत है॥ ४६॥

अर्च्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥ ४७॥

और जो भगवान् श्रीहरिकी प्रीतिकी कामनासे केवल अर्चा-विग्रह (मूर्त्ति) इत्यादिकी पूजा तो श्रद्धापूर्वक करता है, किन्तु उन भगवान्‌के भक्तों अथवा दूसरे लोगोंकी विशेष सेवा-शुश्रूषा नहीं करता, भेदबुद्धिके कारण वह प्राकृत (साधारण) श्रेणीका अर्थात् कनिष्ठ भगवद्भक्त है॥ ४७॥

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः॥ ४८॥

जो इस विश्वको विष्णुकी कल्पित मायाके रूपमें जानता है एवं अपनी समस्त इन्द्रियों द्वारा जागतिक विषयोंको ग्रहण करके भी उन विषयोंसे न तो द्वेष करता है और न ही हर्षित होता है (भगवद्भक्तगण युक्त-वैराग्यमें अवस्थित होकर जड़ासक्तिमें हर्षित नहीं होता एवं चिन्मय अनुभूतिसे विक्षिप्त नहीं होता), वे उत्तम भागवत है। (इसके विपरीत बद्धजीव इन्द्रियजज्ञानसे स्वयंको आबद्ध करके जगत्‌में भगवदितर अनुभूतियोंके साथ प्रणय अथवा विद्वेष कर लेता है।)॥ ४८॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः॥ ४९॥

जो पुरुष भगवान्‌के निरन्तर स्मरणके प्रभावसे शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे उत्पन्न (शरीरके) जन्म-मृत्यु (प्राणके), भूख-प्यास (इन्द्रियोंके), श्रमसाध्य-कष्ट (मनके), भय-तृष्णा (बुद्धिके) इत्यादि दुःखोंसे भरे हुए संसारके धर्मसे मोहित नहीं होता, वह उत्तम भागवत है॥ ४९॥

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः॥ ५०॥

जिनके चित्तमें कामादि वासनाओंका उदय, उस कारणसे स्त्री आदिके प्रति काम और बादमें कर्म अर्थात् इन्द्रियों द्वारा कृत कार्य—ये तीन जिनके चित्तमें उदित नहीं होते तथा जो वासुदेवैक-निलय हैं—एकमात्र श्रीकृष्णके शरणागत हैं, वे उत्तम भागवत हैं। (वस्तुतः काम-कर्मके बीजके अङ्कुरित होनेपर ही प्रपञ्चमें ताण्डव-नृत्य आरम्भ होता है।)॥ ५०॥

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः॥ ५१॥

जिन्हें इस शरीरमें न तो सत्कुलमें जन्म ग्रहण करनेसे, प्रशंसामूलक जप, ध्यानादि कर्मसे, न ही वर्ण, आश्रम अथवा उच्चजातिकी प्राप्तिसे अहङ्कार होता है, वे श्रीहरिके प्रिय हैं। (उत्तम भक्त होनेकी रुचि प्राप्त करनेपर परम करुण भगवान् जीवको अपनी क्रोडमें आदरके साथ बिठा लेते हैं।)॥ ५१॥

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥ ५२॥

जो धन-सम्पत्ति अथवा शरीर आदिमें अपना और परायेका (अपने शरीरसे प्रीति एवं दूसरेसे अप्रीतिका) भेदभाव नहीं रखता तथा समस्त प्राणियोंमें समभाव रखता है, ऐसा शान्त व्यक्ति ही उत्तम भागवत है। (ये भक्त परमात्माके साथ जीव-जगत् और जड़-जगत्का सम्बन्ध जाननेसे भक्तिपथसे विच्युत नहीं होते।)॥ ५२॥

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लव-
निमिषार्द्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥ ५३॥

हे राजन्! त्रैलोक्यकी राज-लक्ष्मीकी प्राप्तिकी सम्भावना रहने पर भी जिसका चित्त विचलित नहीं होता है, जो अकुण्ठितबुद्धियुक्त होकर सदा-सर्वदा भगवत्-स्मरण करता रहता है, बड़े-बड़े देवता, ऋषि-मुनि अपने अन्तःकरणमें जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं, भगवान्‌के ऐसे दुर्लभ श्रीचरणकमलोंसे आधे क्षण भी जिसका मन हटता नहीं है, वही पुरुष वास्तवमें भगवद्भक्त वैष्णवोंमें अग्रगण्य (सबसे श्रेष्ठ) है। (भगवद् भक्तमें क्षणभरके लिये भी हरि-सेवा-विमुखताकी सम्भावना नहीं है।)॥ ५३॥

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः॥ ५४॥

चन्द्रमाके उदित होनेपर जिस प्रकार सूर्यके प्रचण्ड तापकी सम्भावना नहीं रहती, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके महाविक्रमशाली पाद-पद्मोंमें स्थित अङ्गुलियोंकी नख-मणियोंकी सुशीतल किरणों (चन्द्रिका) द्वारा उन महाभागवतोंके सन्तापके निरस्त होनेपर हृदयमें पुनः उसके उदयका अवसर नहीं रहता। (भगवत्-सेवा विषयमें अत्युल्लास है, वह प्रापञ्चिक तापका आवाहन कर भी कैसे सकता है?)॥ ५४॥

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां एकादशस्कन्धे नारदवसुदेवसंवादे द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

विवशतासे भी नामका उच्चारण करने पर जो मनुष्यकी समस्त पाप-राशिको विनष्ट कर देते हैं, ऐसे श्रीहरि अपने चरण-युगलको

भक्तोंके परम प्रेमके बन्धनमें आबद्ध रखते हैं। वे इन भक्तोंके हृदय-क्षेत्रका परित्याग करनेमें कदापि समर्थ नहीं हो पाते हैं। इन्हीं भक्तोंको उत्तम भागवत कहा गया है॥५५॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके दूसरे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

मायाका स्वरूप, मायासे पार होनेके उपाय, परम ब्रह्मका स्वरूप और कर्मयोगका निरूपण

श्रीराजोवाच—

परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम्।
मायां वेदितुमिच्छामो भगवन्तो ब्रुवन्तु नः॥ १॥

विदेहराज निमिने कहा—हे ब्रह्मविद् मुनिवरो! सर्वशक्तिमान्, परमेश्वर श्रीहरिकी जो माया ब्रह्मादि बड़े-बड़े मायावियोंको भी मोहित कर देती है, मैं उसी मायाके विषयमें जानना चाहता हूँ, आप कृपा करके मुझे उसका स्वरूप बतलाइए॥ १॥

नानुतृप्ये जुषन् युष्मद्वचो हरिकथामृतम्।
संसारतापनिस्तप्तो मर्त्यस्तत्तापभेषजम्॥ २॥

हे योगीश्वरो! मैं संसार-तापसे निरन्तर सन्तप्त, मर्त्य जीव हूँ—यही कारण है कि ताप-निवारक परम-महौषध—आपके वचनरूपी हरिकथामृतरूपका पान करके भी मुझे तृप्ति नहीं हो रही है॥ २॥

श्रीअन्तरीक्ष उवाच—

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये॥ ३॥

अब नवयोगेन्द्रोंमें-से तीसरे योगेन्द्र अन्तरीक्षजीने कहा—हे महाबाहो! (हे जिज्ञासु-प्रवर)! आदिपुरुष भगवान् जिस शक्तिके बलपर समस्त भूतोंके कारण होते हैं एवं कारणस्वरूप होकर स्वांशभूत जीवोंके विषय-भोग, परलोक-गमन, आत्माकी मुक्ति एवं भक्ति-प्राप्तिके लिये (उन जीवोंके) बुद्धि, इन्द्रिय, मन एवं प्राणकी सृष्टि करते हैं, उस शक्तिको ही भगवान्‌की गुणमयी मायाके रूपमें

जानो। [बद्धजीवगण जिन स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा विषय भोग करते हैं, वह नित्य सेवोन्मुख इन्द्रियोंका व्यवधानयुक्त स्मृति-विपर्ययका क्रियामात्र (भगवान्‌की सेवा भूलकर अपनी जड़-इन्द्रियोंका सेवन) है। नित्यलीलामय भगवान्‌का लीला-पोषण मायिक नश्वर जगत्‌के समान बाधा-प्राप्त नहीं है।]॥ ३॥

एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः।
एकधा दशधात्मानं विभजन् जुषते गुणान्॥ ४॥

पञ्चमहाभूतोंके द्वारा बने हुए देवादियोंके शरीरोंमें (वयष्टि एवं समष्टि प्रतीतिके अभ्यन्तरमें) उन्होंने अन्तर्यामीरूपसे प्रवेश किया। वे अपनेको ही पहले एक भागमें अर्थात् अन्तःकरणके (मनके) अभिमानीरूपमें और बादमें दस भागोंमें अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों (सूक्ष्मरूपमें) तथा कर्मेन्द्रियोंके (स्थूलरूपमें) अभिमानी रूपमें विभाजितकर सारे विषयोंका बद्धजीवको उपभोग कराते हैं। (भगवत्-सेवोन्मुख जीवोंको मायिक बन्धनसे उन्मुक्त करके वैकुण्ठ-सेवा-प्रवृत्तिका उदय कराते हैं।)॥ ४॥

गुणैर्गुणान् स भुञ्जान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः।
मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते॥ ५॥

वह देहाभिमानी जीव अन्तर्यामी परमात्माके चैतन्य बलसे अनुप्राणित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका भोग करता है और पञ्चभूतोंके द्वारा निर्मित शरीरको ही आत्मा मानकर उसीमें आसक्त हो जाता है। [यही भगवान्‌की माया है अर्थात् भगवद्-विमुखता ही जीवको आत्म-बोधसे रहित करके अनात्म-प्रतीति (देह ही आत्मा है) में आबद्ध कर देती है।]॥ ५॥

कर्माणि कर्मभिः कुर्वन् सनिमित्तानि देहभृत्।
तत्तत् कर्मफलं गृह्णन् भ्रमतीह सुखेतरम्॥ ६॥

देहाभिमानी जीव कर्मेन्द्रियोंसे उत्तरोत्तर देह (देहसे कर्म एवं कर्मसे देह) धारणके लिये वासनाओंसे युक्त कर्मोंका

आचरण करते हुए सुख-दुःखात्मक कर्मफल अनुभव कर संसारमें नारकीय योनियोंमें भ्रमण करता रहता है। (यही भगवान्‌की माया है)॥ ६॥

इत्थं कर्मगतीर्गच्छन् बह्वभद्रवहाः पुमान्।
आभूतसंप्लवात् सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः॥ ७॥

इस प्रकार कर्मके वशीभूत होकर जीव देव, मनुष्य और तिर्यग् आदि विविध दुःखप्रद, अमङ्गलमय कर्म-गतियोंको और उनके फलोंको प्राप्त करता हुआ भौतिक (सृष्ट वस्तुओंके) प्रलयकाल तक जन्म-मृत्युके प्रवाहमें पड़ा रहता है॥ ७॥

धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम्।
अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति॥ ८॥

जब पञ्च-महाभूतोंके प्रलयका काल निकट होता है, तब अनादि और अनन्त (उत्पत्ति एवं विनाश) रहित महाकाल (भगवान्) स्थूल और सूक्ष्म, द्रव्य और गुणरूप इस समस्त व्यक्त सृष्टिको अव्यक्त कारणके प्रति आकर्षित करता है अर्थात् वह महाकाल इस विश्वको मूल अव्यक्त अवस्थामें समेट लेता है। (अब विश्वका संहार बतला रहे हैं।)॥ ८॥

शतवर्षा ह्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा भुवि।
तत्कालोपचितोष्णार्को लोकांस्त्रीन् प्रतपिष्यति॥ ९॥

उस समय (महाकालके उपस्थित होनेपर) सौ वर्षोंतक पृथ्वीपर भयङ्कर एवं दुःसह्य अनावृष्टि होती है। हे राजन्! इसी कालधर्मके कारण सूर्यकी उष्णता अतिशय बढ़ जाती है और वे तीनों लोकोंको सन्तप्त करने लगते हैं॥ ९॥

पातालतलमारभ्य सङ्कर्षणमुखानलः।
दहन्नूर्ध्वशिखो विष्वग्वर्द्धते वायुनेरितः॥ १०॥

उस समय सङ्कर्षणके (शेषनागके) मुखसे आगकी प्रचण्ड लपटें ऊपरकी ओर उठती हैं। वे लपटें वायुकी प्रबल प्रेरणासे

परिचालित होकर पाताल-तलको जलाना आरम्भ करती हैं तथा चारों दिशाओंको दग्ध करती हुई सर्वत्र प्रसारित हो जाती हैं॥ १०॥

संवर्त्तको मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः।
धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट्॥ ११॥

इसके बाद प्रलयकालीन सम्वर्तक मेघगण हाथीकी सूँड़के समान मोटी-मोटी धाराओंसे सौ वर्ष तक बरसते रहते हैं। उससे यह विराट् ब्रह्माण्ड जलराशिमें लीन हो जाता है॥ ११॥

ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप।
अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः॥ १२॥

हे राजन्! उस समय ब्रह्माण्डरूप उपाधिके लय होनेपर विराट् पुरुष हिरण्यगर्भ उक्त ब्रह्माण्ड एवं अपने विराट् शरीरको त्यागकर अव्यक्त अर्थात् कारणमें उसी प्रकार प्रविष्ट हो जाते हैं, जैसे ईंधन समाप्त हो जाने पर अग्नि। [विराट् पुरुषका नश्वर सृष्टिमें जो अनित्य रूप, गुण एवं क्रिया-वैचित्र्य अवस्थित है, वह समस्त ही प्रत्यावर्त्तनकालमें (संहारकालमें) निर्विशिष्टताको प्राप्त होता है, इसलिये विराट्का नित्यविग्रहत्व स्वीकृत नहीं हो सकता]॥ १२॥

वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते।
सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते॥ १३॥

उस समय यही संवर्त्तक वायु पृथ्वीके गन्ध गुणको अपहृत कर लेती है, जिससे पृथ्वी जलके रूपमें परिणत हो जाती है। पुनः उसी वायुके द्वारा जलका रस खींच लिये जानेपर जल अग्निके रूपमें बदल जाता है। (यह सृष्टि-कार्यका अर्थात् समष्टि विराज ब्रह्मासे पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वोंका विपरीत क्रमसे लय है।)॥ १३॥

हृतरूपन्तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते।
कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते॥ १४॥

तदनन्तर जब अन्धकार अग्निका रूप हरण कर लेता है, तब वह अग्नि वायुमें लीन हो जाती है और आकाशके द्वारा वायुके स्पर्श गुणका हरण कर लिये जानेपर वह वायु आकाशमें लीन हो जाती है। तत्पश्चात् कालरूपी ईश्वर आकाशके शब्द गुणका हरण कर लेते हैं। तब आकाश तामस अहङ्कारमें लीन हो जाता है। इस प्रकार पञ्चमहाभूत भी तामस अहङ्कारमें लीन हो जाते हैं॥ १४॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप।
प्रविशन्ति ह्यहङ्कारं स्वगुणैरहमात्मनि॥ १५॥

हे राजन्! तदनन्तर इन्द्रियाँ एवं बुद्धि अपने कारणरूपी राजस अहङ्कारमें लीन होते हैं। मन वैकारिक देवताओंके साथ सात्त्विक अहङ्कारमें लीन होता है। इस प्रकारसे त्रिविध गुणोंके साथ एवं अपने विग्रहके साथ अहङ्कार महत्तत्त्वमें लीन होता है। अनन्तर यह महत्तत्व प्रकृतिमें लीन होता है। (प्रकृति भगवान्‌की बहिरङ्गा मायाशक्ति है।)॥ १५॥

एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ १६॥

हे राजन्! जगत्‌की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयकारिणी त्रिवर्णा (लोहित, शुक्ल एवं कृष्ण वर्णा) अर्थात् सत्त्व, रज एवं तमोगुणयुक्त मायाका स्वरूप हमने वर्णन किया। लोहित (लाल) वर्णसे प्रपञ्चकी सृष्टि है, शुक्ल वर्णसे अवस्थिति (पालन) है तथा कृष्ण वर्णसे विलुप्ति (संहार) है। इसके पश्चात् अब आप और क्या सुनना चाहते हैं, बतलाइए॥ १६॥

श्रीराजोवाच—

यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः।
तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्षे इदमुच्यताम्॥ १७॥

(सभामें पण्डिताभिमानी कर्मियोंकी ओर कटाक्ष करते हुए) राजा निमिने जिज्ञासा करते हुए कहा—हे महर्षे! इस स्थूल-देहमें अहं-आत्म-बुद्धि-विशिष्ट (स्थूल-देहमें मैं-मेरेका भाव रखनेवाले) एवं अजितेन्द्रिय (इन्द्रियोंको वशमें नहीं करनेवाले) मनुष्य इस दुस्तरणीय मायाको अनायास ही किस प्रकारसे पार कर सकते हैं—कृपा करके यह बतलाइए॥ १७॥

श्रीप्रबुद्ध उवाच—

कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च।
पश्येत् पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम्॥ १८॥

अब नवयोगेन्द्रोंमें चौथे योगेन्द्र प्रबुद्धजी कहते हैं—हे राजन्! स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक आदि बन्धनोंमें बँधे हुए कर्मफल-बाध्य स्थूल-बुद्धि मनुष्य परस्पर एकत्र होकर सुखकी प्राप्ति तथा दुःखकी निवृत्तिके लिये नाना प्रकारके कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं, किन्तु उनके कर्मोंका फल सदा ही विपरीत हो जाता है—सुखके बदले वे दुःख पाते हैं और दुःख-निवृत्तिके स्थानपर उनका दुःख अधिक बढ़ता जाता है। अतः मनुष्योंको इस विषयमें निपुणतापूर्वक विचार करना चाहिए॥ १८॥

नित्यार्त्तिदेन वित्तेन दुर्ल्लभेनात्ममृत्युना।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः॥ १९॥

अर्थके साथ कैसी प्रीति! यह निरन्तर दुःखप्रद, अति कष्टदायक तथा परिश्रमसाध्य है। मिल भी जाय, तो आत्माके लिये मृत्यु-स्वरूप ही है। इस दुःखदायी धनसे संग्रह किये हुए गृह, पुत्र, स्वजन-सम्बन्धी, पशु आदि सभी अनित्य एवं नाशवान् हैं—यदि इन क्षणस्थायी वस्तुओंका कोई संग्रह कर भी ले, तो उसे किञ्चित् भी सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है क्या?॥ १९॥

एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम्।
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्त्तिनाम्॥ २०॥

जिस प्रकार खण्ड राज्योंके अधिपतियोंमें परस्पर स्पर्द्धा इत्यादि देखे जाते हैं, उसी प्रकार पुण्य कर्मोंसे अर्जित स्वर्गादि परलोकके अधिपतियोंमें भी समान व्यक्तिके प्रति स्पर्द्धा एवं उच्चपदस्थितोंके प्रति असूया (ईर्ष्या) देखे जाते हैं। स्वर्गस्थ देवता अपने विनाशकी आशङ्कासे सदैव संशयग्रस्त एवं भयभीत रहते हैं। कर्मार्जित ऐहिक भोग्य वस्तुओंके समान पुण्यादि अनुष्ठानोंसे अर्जित पारलौकिक भोग्य वस्तुएँ भी भोगोंके द्वारा क्षीण हो जाती हैं। दोनों ही लोकोंके भोग एवं भोग्य वस्तुएँ क्षणस्थायी एवं ध्वंसशील हैं। ध्वंसके बाद शोक होना भी अवश्यसम्भावी है॥ २०॥

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेयः उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥ २१॥

इसलिये जीवोंके परम मङ्गल अर्थात् जो लौकिक और पारलौकिक कर्मोंके द्वारा प्राप्त भोगोंकी भाँति अनित्य नहीं है, ऐसे शाश्वत कल्याणको जाननेके इच्छुक व्यक्तिको शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म विषयमें निष्णात गुरुके शरणागत होना चाहिए। गुरुको उपाश्रयम् होना चाहिए अर्थात् उनका चित्त शान्त (क्रोध, लोभादिके अवशीभूत) तथा प्रपञ्चके विषयोंमें अनासक्त होना चाहिए॥ २१॥

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः॥ २२॥

ऐसे श्रीगुरुदेवको अपना परम हितकारी बान्धव और परमाराध्य हरिका स्वरूप जानकर उनका निरन्तर निष्कपट भावसे अनुगमन करना चाहिए तथा जिस धर्मके अनुष्ठानसे अपनेको भी दे देनेवाले श्रीहरि सन्तुष्ट हो जाते हैं, उससे उस भागवत धर्मकी अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त करानेवाले भक्तिके साधनोंकी शिक्षा उनसे (गुरुदेवसे) ग्रहण करनी चाहिए॥ २२॥

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गञ्च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयञ्च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥ २३॥

सर्वप्रथम देह, गेह, पुत्र आदि समस्त विषयोंमें चित्तकी अनासक्ति, तत्त्वविद् और अपने प्रति प्रीतियुक्त साधुओंका सङ्ग, अपनेसे छोटे प्राणियोंके प्रति यथार्थतः दया, तुल्य व्यक्तियोंके प्रति मित्रता और अपनेसे उत्तम पुरुषोंके प्रति विनयकी (दैन्य-विज्ञप्तिकी) निष्कपट भावसे शिक्षा ग्रहणकर उसका अभ्यास करना चाहिए॥ २३॥

शौचं तपस्तितिक्षाञ्च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसाञ्च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः॥ २४॥

इसके बाद मिट्टी, जल आदिसे बाह्य-शरीरकी पवित्रता, तपः अर्थात् काम, क्रोध, दम्भ, छल, कपट आदिके त्यागसे भीतरकी पवित्रता, क्षमा, मौन, स्वाध्याय (भक्ति-विधायक श्रीगोपालतापनी आदि उपनिषद्, वेद एवं भागवत-पाठ), सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें हर्ष-विषादसे रहित होना सीखना चाहिए॥ २४॥

सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेततां।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित्॥ २५॥

सर्वत्र अर्थात् समस्त देश, काल और वस्तुओंमें सच्चित्-स्वरूपसे (चेतनरूपसे) आत्मवस्तुका और नियन्तारूपसे ईश्वर-वस्तुका अनुसन्धान (निज इष्टदेवके दर्शनका अभ्यास), एकान्त सेवन (निर्जनमें विचरण), गृहादिविषयक अभिमानशून्यता अर्थात् 'यह घर मेरा है'—ऐसे भावसे रहित होना, निर्जन स्थानमें पतित शुद्ध वस्त्रखण्ड या विशुद्ध बल्कल (वृक्षोंके छाल) आदिको पहनना, बिना परिश्रमके लब्ध वस्तुमात्रसे सन्तुष्ट रहना सीखना चाहिए॥ २५॥

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनन्दामन्यत्र चापि हि।
मनोवाक्कर्मदण्डञ्च सत्यं शमदमावपि॥ २६॥

भगवद्विषयक शास्त्रोंमें श्रद्धा, दूसरे किसी भी शास्त्रकी निन्दा न करना, मन, वचन और कर्मका संयम करना, सत्य (यथार्थ

भाषण) तथा शम (भगवान्में निष्ठा बुद्धि), दमका (अन्तःकरण एवं इन्द्रियोंके दमनका) अभ्यास करना भी सीखना चाहिये॥ २६॥

श्रवणं कीर्त्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।
जन्मकर्मगुणानाञ्च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्॥ २७॥

हे राजन्! अद्भुत-चरित भगवान्की लीलाएँ अद्भुत हैं। उनके जन्म (अवतार), नाम, कर्म और गुण दिव्य हैं। उन्हींका श्रवण, कीर्त्तन तथा ध्यान करें और भगवान्के प्रति प्रीतिकी कामनासे अपने समस्त कर्मोंका (दन्त-धावनादि आह्निक कृत्योंका) अभ्यास करें॥ २७॥

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्॥ २८॥

यज्ञ आदि इष्टकर्म, दान, तप, जप, सदाचार और अपने प्रिय गन्ध, पुष्प आदि द्रव्य, स्त्री, पुत्र, गृह और प्राण आदि समस्त विषयोंको भगवान्के उद्देश्यसे समर्पण करना सीखे। (हरिकथामें सर्वतोभावसे नियुक्त होकर श्रवण-कीर्त्तनमें सम्पूर्ण चेष्टा संस्थापित हो जानेपर जीवकी इतर-वस्तुओंमें चेष्टा रह नहीं सकती—यही भागवत धर्म है।)॥ २८॥

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम्।
परिचर्याञ्चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु॥ २९॥

इस प्रकार श्रीकृष्णके आश्रित मनुष्योंके प्रति सौहार्द्द (प्रीति), स्थावर और जङ्गम दोनों प्रकारके प्राणियोंकी सेवा, विशेषकर मनुष्योंके प्रति—उनमें भी स्वधर्मशील व्यक्तियों और उनमें भी महाभागवतोंकी सेवा-शुश्रूषा करना सीखे (समग्र जगत्को भगवत्-सेवोपकरण माने एवं सभीके प्रति पूज्य-बुद्धि रखे, विशेष रूपसे हरिसेवोन्मुख जनोंकी परिचर्या करे।)॥ २९॥

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः।
मिथोरतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः॥ ३०॥

उक्त भगवद्भक्तोंके साथ मिलकर परमाराध्य श्रीकृष्णके पवित्र यशके सम्बन्धमें परस्पर अनुक्षण कीर्त्तन, परस्पर आत्माका अनुराग, (भक्तोंके साथ प्रणय-वर्द्धन) समस्त विषयोंमें परस्पर सन्तुष्ट रहना एवं विषय-भोगादि निखिल दुःखोंकी निवृत्तिके लिये परस्पर शिक्षा ग्रहण करे॥ ३०॥

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥ ३१॥

इस प्रकार भागवत (भगवत्-प्रेमी) पुरुष साधन-भक्तिसे उत्पन्न प्रेमा-भक्तिके प्रभावसे आन्दोत्फुल्ल होकर समस्त प्रकारके अमङ्गलोंका ध्वंस करनेवाले श्रीहरिका स्मरण करे और सङ्कीर्त्तन द्वारा दूसरोंको भी स्मरण करावे। (ऐसे भक्तोंके चित्तमें विषयकी मलिनता किञ्चित् मात्र भी नहीं रहती और वे साध्य-सेवामें नियुक्त रहकर सर्वदा प्रेमोद्रेकसे पुलकित शरीर धारण करते हैं।)॥ ३१॥

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥ ३२॥

अनन्तर अनित्य देहमें 'मैं-मेरा रूप आत्मबुद्धि'की निवृत्ति होनेपर उनकी साधारण संसारी लोगोंसे कुछ विलक्षण चेष्टाएँ होती हैं। वे इस अवस्थामें निरन्तर भगवत् चिन्तनमें निमग्न होकर कि अब तक भगवान् नहीं मिले, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ, कौन उनकी प्राप्ति करावे—इस प्रकार सोचते-सोचते कभी-कभी रोने लगते हैं। कभी-कभी यह देखकर कि परम ऐश्वर्यशाली भगवान् गोपवधूके घरमें चोरीके लिये अन्धकारमयी रात्रिमें किसी गोपके प्राङ्गणमें वृक्षके तले छिपकर खड़े हैं और किसी गुरुजनके पूछनेपर कि 'अरे! तुम कौन हो?'—यह सुनकर पलायन करने लगते हैं, कृष्णकी ऐसी लीलाओंकी स्फूर्त्ति होनेपर खिलखिलाकर हँसने लगते हैं। कभी-कभी अपने आराध्य देवका

दर्शनकर आनन्दमें मग्न हो जाते हैं। कभी लोकातीत भावमें स्थित होकर भगवान्‌के साथ वार्त्तालाप करने लगते हैं। कभी नाच-नाचकर उन्हें रिझाते हैं। कभी गीत गाकर उन्हें प्रसन्न करते हैं और कभी श्रीहरिकी मधुर लीलाओंका अभिनय करने लगते हैं। इस प्रकार वे श्रीहरिका साक्षात्कार प्राप्तकर शान्त एवं मौन भाव धारण करके रहते हैं। (इस प्रकार कृष्णानुशीलनमें अति व्यस्त रहकर बाह्य जगत्‌की चेष्टाओंसे पृथक् होकर गम्भीर भावसे प्रेमसुख-सेवा प्राप्त करते हैं।)॥ ३२॥

इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम्॥ ३३॥

हे राजन्! भागवत-धर्मकी शिक्षाके अभ्यास करनेवालेको उस शिक्षाके प्रभावसे प्रेमा-भक्तिकी प्राप्ति होती है। वह प्रेमी श्रीकृष्ण-परायण होकर दुस्तरणीया मायाको अनायास ही पार कर जाता है। (मायाको पार करना प्रेमा-भक्तिका आनुषङ्गिक फल है।)॥ ३३॥

श्रीराजोवाच—

नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः।
निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमाः॥ ३४॥

यह सुनकर महाराज निमिने कहा—हे मुनियो! आपलोग ब्रह्मज्ञ अर्थात् भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपको जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। इसलिये आपलोग नारायण शब्दसे प्रतिपाद्य वस्तुका एवं ब्रह्म तथा परमात्म वस्तुका स्वरूप हमारे निकट वर्णन करनेमें समर्थ हैं। अतः कृपया आपलोग इस तत्त्वका निरूपण कीजिए। (ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्—इन तीनों शब्दोंकी अभिधेय जो विष्णु-वस्तु है, निष्ठाके अभावमें उसे समझा नहीं जा सकता।)॥ ३४॥

श्रीपिप्पलायन उवाच—

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य
यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन
सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र॥ ३५॥

अब नवयोगेन्द्रोंमें पाँचवे योगेन्द्र पिप्पलायनजीने कहा—हे राजन्! जो इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके मूलकारण हैं, वे ही नारायण संज्ञक परमतत्त्व भगवान्के रूपमें ज्ञातव्य हैं। जो स्वप्न, जागरण एवं सुषुप्तिकी दशामें तथा समाधि आदि अवस्थाओंमें सर्वत्र साक्षीरूपमें (सद्रूपमें) वर्त्तमान रहते हैं, वे ही ब्रह्मस्वरूप परमतत्त्व हैं। इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण तथा हृदय जिनके प्रभावसे सञ्जीवित होकर अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं—उन्हींको परमात्मा नामक परमतत्त्व समझो॥ ३५॥

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा
प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयात्ममूल-
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः॥ ३६॥

जिस प्रकारसे चिनगारियाँ आदि अग्निके निज अंश (मूल) अग्निको प्रकाशित नहीं कर सकतीं अथवा उसे जला नहीं सकतीं, उसी प्रकार मन, वचन, नेत्र, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियाँ भी पूर्वोक्त परमतत्त्वको (भगवत्तत्त्वको) प्रकाशित नहीं कर सकते। उक्त आत्म-वस्तुके (भगवत्तत्त्वके) प्रमाणस्वरूप शब्द अर्थात् वेदका बोधकत्व धर्म (वाणीसे प्रकाशित करनेवाला धर्म) वहाँ निषिद्ध होनेके कारण (वेदोंकी प्रामाणिक भाषा भी भगवान्का वर्णन नहीं कर सकती) वे वेद भी साक्षात्रूपसे उन्हें प्रकाश करनेमें समर्थ नहीं हैं, परन्तु स्थूलत्व और अणुत्व आदि सम्पूर्ण धर्मोंके निषेधकी सीमाभूत ब्रह्मवस्तुकी सिद्धि नहीं होनेसे उन सबका

निषेध भी सम्भव नहीं होता [अभिप्राय यह है कि परब्रह्मके अस्तित्वके बिना वेदोंसे प्राप्त विधि-निषेधोंका कोई तात्पर्य नहीं होता। वेदोंमें कहा गया है कि 'यन्मनो न मनुते' 'मन चिन्तनके द्वारा उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता' और यह भी कहा गया है कि 'दृश्यते त्वग्र्य्या बुद्ध्या' 'अति सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा उनको देखा जा सकता' है। इसलिये शब्द अर्थात् वेद अर्वाधीन हैं अतः गौणरूपमें ही उनका प्रतिपादन करनेमें समर्थ होते हैं। (अचिन्त्यविग्रह भगवान् अपनी करुणाके द्वारा भक्तोंके नयनोंमें प्रकट होते हैं।)]॥ ३६॥

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ
सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम्।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत्॥ ३७॥

वह ब्रह्मवस्तु पहले अद्वितीयरूपमें (एक ही रूपमें) अवस्थित रहकर बादमें बहिरङ्गरूपमें (मायारूपमें) सत्त्व, रजः और तमः—इस त्रिगुणात्मक अवस्थामें प्रधानके नामसे, क्रियाशक्तियुक्त (कार्य करनेकी शक्तिसे युक्त) अवस्थामें सूत्र नामसे, ज्ञानशक्तियुक्त अवस्थामें महत्तत्त्वके नामसे एवं जीवकी उपाधिभूत अवस्थामें अहङ्कार नामसे जानी जाती है। तदनन्तर अचिन्त्य अनन्त शक्तिविशिष्ट उक्त ब्रह्मवस्तु ही पहले कहे गये देवता, इन्द्रिय, विषय, तत्प्रकाश अथवा उस विषयोंके अनुभवजनित कर्मफलरूप सुख, दुःख आदिरूपमें और परम कारण होनेके कारण स्थूल, सूक्ष्म सभी वस्तुओंके रूपमें प्रकाशित होती है। (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति—कृष्णके आलोकसे ही समस्त विश्व आलोकित होता है।) अतः ब्रह्म सभी स्थूल एवं सूक्ष्म अभिव्यक्तियोंके स्रोत हैं, अतः परम हानेके कारण उन सबसे परे भी हैं॥ ३७॥

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि।

सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्॥ ३८॥

नित्य शुद्ध आत्माका जन्म, वृद्धि, ह्रास या विनाश नहीं है। वह (आत्मा) प्राणकी भाँति अव्यभिचारीरूपसे (अपरिवर्तनशीलरूपसे) व्यभिचारी अर्थात् बाल्य, यौवन आदि आगमपायी-धर्म-विशिष्ट (जीवन-मरणसे युक्त) दशाओंसे ग्रस्त शरीरोंमें तत्-तत् कालमें (सर्व कालोंमें) साक्षीरूपसे (ज्ञातारूपसे) अनुवर्त्तमान (विद्यमान) रहता है। वह सत्य और ज्ञानात्मक वस्तु (आत्मा) इन्द्रियोंके आधारपर नाना प्रकारसे कल्पित होकर सदा-सर्वदा सभी देहोंमें भौतिक शरीरोंके सम्पर्कसे विविध भौतिक उपाधियाँ धारण करते हुए इस प्रकार अवस्थित रहता है, जैसे विद्युत शक्ति एक है किन्तु भौतिक दशाओंके अनुसार विविध-रूपोंमें प्रकट होती है। आत्मा जड़का भोक्ता नहीं है॥ ३८॥

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु
प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः॥ ३९॥

जगत्में चार प्रकारके जीव होते हैं—अण्डज (अण्डेसे उत्पन्न पक्षी, सर्प आदि), जरायुज (नालसे बँधे होकर उत्पन्न होनेवाले पशु, मनुष्यादि), उद्भिज्ज (धरतीसे उत्पन्न वृक्ष-वनस्पति), स्वेदज (पसीनेसे उत्पन्न खटमल आदि)। इन समस्त शरीरोंमें प्राण जिस प्रकार अविकृतरूपसे (अपरिवर्तितरूपसे) जीवात्माका अनुगमन करता है (आत्माका अनुगमन करते हुए एक शरीरसे दूसरे शरीरमें चला जाता है), उसी प्रकार सुषुप्ति दशामें (बिना स्वप्न देखे प्रगाढ़ निद्रामें) भौतिक इन्द्रियों एवं अहङ्कारके लीन (निश्चेष्ट अथवा निष्क्रिय) होनेपर विकारके (परिवर्तनके) हेतुभूत लिङ्ग-शरीररूप उपाधिके अभावमें आत्मा भी निर्विकाररूपसे (अपरिवर्तितरूपसे) अवस्थान करता है। इस समय उसका लय नहीं होता है; क्योंकि

सुषुप्तिके अनन्तर जाग्रत दशामें 'मैं सुखपूर्वक सोया'—यह स्मृति सुषुप्तिकालमें भी साक्षीरूपसे वर्तमान आत्म-वस्तुका परिचय प्रदान करती है अर्थात् उस समय भी उस आत्माके अस्तित्वको प्रमाणित करती है॥ ३९॥

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतोमलानि विधमेद्गुणकर्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद्यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः॥ ४०॥

श्रीहरिके पादपद्मकी सेवाकी अभिलाषा होनेपर जीव जिस समय सब प्रकारसे चेष्टारत होता है, उस समय परम प्रेमाभक्तिके कारण उसके अन्तःकरणसे प्राकृत गुण-कर्मजनित मालिन्य सम्पूर्णरूपसे क्षालित (निर्मल) हो जाता है। सम्यक्-दृष्टि-विशिष्ट साधारण मनुष्यके नेत्रद्वय जैसे सूर्यके प्रकाशित होनेपर उसकी साक्षात् उपलब्धि करनेमें समर्थ होते हैं, वैसे ही वह जीव विशुद्ध अन्तःकरणमें आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करता है। अनन्तर उसे भगवान्का दर्शन एवं सान्निध्य प्राप्त होता है। (इस प्रसङ्गमें श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा उपदिष्ट 'चेतोदर्पणमार्जनम्' श्लोक द्रष्टव्य है।)॥ ४०॥

श्रीराजोवाच—

कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः।
विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम्॥ ४१॥

महाराज निमिने कहा—हे योगेश्वरो! मनुष्य जिस कर्मयोगके अनुष्ठान द्वारा इस जन्ममें शीघ्र ही मोक्ष-प्रतिबन्धक (मोक्षमें रुकावट डालनेवाले) कर्मोंको निरस्त कर देता है तथा सुकृतियुक्त होकर मोक्षके उपयोगी नैष्कर्म्यजनित (कर्म-निवृत्ति साध्य) परम ज्ञानको प्राप्त कर लेता है, आप मेरे लिये उस कर्मयोगका वर्णन कीजिए॥ ४१॥

एवं प्रश्नमृषीन् पूर्वमपृच्छं पितुरन्तिके।
नाब्रुवन् ब्रह्मणः पुत्रास्तत्र कारणमुच्यताम्॥ ४२॥

पूर्वकालमें मैंने अपने पिता महाराज इक्ष्वाकुके निकट अवस्थित (बैठे हुए) ब्रह्माजीके मानस-पुत्र सनक आदि ऋषियोंसे इसी विषयमें प्रश्न किया था, परन्तु सनक आदि ऋषियोंने सर्वज्ञ होकर भी न जाने क्यों उसका उत्तर प्रदान नहीं किया। उसका कारण क्या है? आप कृपया बतलाइए॥ ४२॥

श्रीआविर्होत्र उवाच—

कर्माकर्म विकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥ ४३॥

अब नवयोगेन्द्रोंमें छठे योगेश्वर आविर्होत्रजीने कहा—राजन्! कर्म (शास्त्रविहित आचरण), अकर्म (शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण न करना) एवं विकर्म (शास्त्रनिषिद्ध आचरण करना)—इन तीनोंका स्वरूप एकमात्र वेदशास्त्रके द्वारा ही विदित है। ईश्वरसे प्रकाशित होनेके कारण वेद अपौरुषेय हैं; साधारण मनुष्योंके द्वारा ज्ञातव्य नहीं हैं। वेद-वर्णित वचनोंका पूर्वापर द्वारा तात्पर्य ज्ञान (विरोधी प्रतीत होनेवाली श्रुतियोंका सामञ्जस्य) दुष्कर है। भगवान्ने कहा है—शब्दब्रह्म वेद एवं परब्रह्म मैं—ये दोनों मेरे नित्य तनु हैं। अतः वेद-निरूपित कर्मोंके अभिप्रायका निर्णय करनेमें बड़े-बड़े पण्डित भी मोहित हो जाते हैं। (वेद साक्षात् नारायण हैं—स्वयं उत्पत्तिविशिष्ट हैं अर्थात् परम महतत्त्व कारणार्णवशायी विष्णुके निःश्वाससे प्रकटित हैं) तुम उस समय बालक थे—इसलिये सनक आदि मुनियोंने तुम्हारे प्रश्नका उत्तर नहीं दिया॥ ४३॥

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा॥ ४४॥

वेदका स्वभाव परोक्षवादात्मक है अर्थात् एक प्रकारकी स्थितवस्तुके यथार्थ तत्त्वको गोपन रखनेके लिये उसका अन्य

प्रकारसे वर्णन करना है। पिता जिस प्रकार लड्डू आदि मिठाइयोंका प्रलोभन दिखलाकर अपनी सन्तानको आरोग्य-फलप्रद ओषधिका सेवन कराता है, उसी प्रकार वेद भी अनभिज्ञ मनुष्योंकी प्रवृत्तिके लिये स्वर्गादि सुखोंके प्रलोभन-छलसे कर्मसे निवृत्तिके लिये ही विहित कर्मोंका प्रतिपादन करता है। (तात्पर्य यह है कि वैदिक आदेश पहले तो रजोगुणमय सकाम कर्मोंका विधान करते हैं, अनन्तर परोक्ष रीतिसे परम मोक्षके मार्गपर ले जाते हैं।)॥ ४४॥

नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥ ४५॥

जो अजितेन्द्रिय अज्ञानी पुरुष वेद-विहित कर्मोंका (प्रातःस्नान, सन्ध्या-वन्दनादिका) आचरण नहीं करता, वह कर्मके अननुष्ठान-जनित अधर्मके कारण मृत्युके बाद पुनः मृत्युके मुखमें ही पतित होता है। (भगवान्‌का कथन है कि मनुष्य एक क्षण भी कर्म किए बिना रह नहीं सकता। अतः विहित कर्मोंका आचरण न करने पर वह विवेक-रहित वेद-निषिद्ध कर्म करेगा, फलतः नरक यन्त्रणाओंको प्राप्त होगा।)॥ ४५॥

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यं लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥ ४६॥

इसलिये जो फलकी अभिलाषा छोड़कर निःसङ्गभावसे (अनासक्त भावसे) उन कर्मफलोंको भगवान्‌को समर्पणकर वेदोक्त कर्मोंका ही अनुष्ठान करते हैं, वे नैष्कर्म्य सिद्धि अर्थात् कैवल्य (केवला भक्ति) प्राप्त करते हैं। स्वर्ग आदि दूसरे-दूसरे जिन फलोंके विषयमें श्रुतियोंमें उल्लेख है, उन्हें केवलमात्र कर्ममें रुचि-उत्पन्न करनेके लिये ही समझना होगा, फलकी सत्यतामें नहीं (कर्मकाण्डके मूलमें आत्मसुखवाञ्छा है, किन्तु कृष्णके लिये जो अखिल वैदिक क्रियानुष्ठान है, वह फलकी आकाङ्क्षासे रहित निःसङ्गत्वका ज्ञापक और भगवत्-सेवनका अमिश्र अङ्ग-विशेष है।)॥ ४६॥

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥ ४७॥

हे राजन्! जो शीघ्र-से-शीघ्र अपनी हृदयग्रन्थि—मैं और मेरेकी (मिथ्या अहङ्कारकी) गाँठको खोलनेके इच्छुक हैं, वे तन्त्रों और वेदोंमें वर्णन किये गये विधानके अनुसार भगवान् श्रीकेशवकी पूजा करें (वेदशास्त्र 'निगम' शब्दसे कहे जाते हैं तथा निगमके सुष्ठु विस्तारको ही 'आगम', 'तन्त्र' कहा जाता है।)॥ ४७॥

लब्धानुग्रह आचार्यात् तेन सन्दर्शितागमः।
महापुरुषमभ्यर्च्चेन्मूर्त्त्याभिमतयात्मनः ॥ ४८॥

सर्वप्रथम निष्कपट सेवा आदिके द्वारा आचार्यको प्रसन्नकर उनके निकट उनकी कृपा-स्वरूप दीक्षा—उपनयन एवं मन्त्र आदि प्राप्त करे तथा अर्चन प्रणाली जानकर अपनी अभीष्ट मूर्त्तिमें (भगवान्‌के अत्यन्त आकर्षक किसी साकाररूपमें) श्रीभगवान् हरिकी आराधना करे॥ ४८॥

शुचिः सम्मुखमासीनः प्राणसंयमनादिभिः।
पिण्डं विशोध्य सन्न्यासकृतरक्षोऽर्चयेद्धरिम्॥ ४९॥

स्नान आदिके द्वारा पवित्र होकर तिलक लगाकर अपने इष्ट भगवत्-मूर्त्तिके सामने आसीन हो, तदनन्तर प्राणायाम आदिसे देह-शुद्धि (भूत-शुद्धि), अङ्ग-न्यास और कर-न्यास आदिके द्वारा रक्षा-बन्धन (भगवान् द्वारा सुरक्षाका आवाहन) आदिका अनुष्ठान करके श्रीहरिका अर्चन करे॥ ४९॥

अर्चादौ हृदये चापि यथालब्धोपचारकैः।
द्रव्यक्षित्यात्मलिङ्गानि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम्॥ ५०॥
पाद्यादीनुपकल्प्याथ सन्निधाप्य समाहितः।
हृदादिभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत्॥ ५१॥

अनन्तर यथायथ विधानके अनुसार पुष्पादि द्रव्योंसे कीट-शोधन करके, भूमिका मार्जन करके, अव्यग्ररूपसे (शान्तभावसे) आत्म-शोधन

करके, श्रीमूर्त्तिसे चन्दन पोंछ करके एवं जलादि द्वारा प्रक्षालन करके अर्चाविग्रहको पूजनके लिये तैयार करे। अब पाद्यादि सम्पादन करे। तदनन्तर आसनपर मन्त्रोच्चारणपूर्वक जल छिड़ककर एकाग्रतापूर्वक अर्चादिमें (श्रीमूर्त्तिमें) अथवा हृदयमें भगवान्‌की निकटताकी कल्पना करते हुए हृदयादि मन्त्र एवं मूलमन्त्रसे न्यास क्रियाका सम्पादन करे। अन्तमें यथालब्ध देश, काल आदिके अनुकूल पूजा-सामग्रीसे प्रतिमा आदिमें अथवा हृदयमें भगवान्‌का अर्चन करे (कृष्ण-मन्त्रसे संसारका मोचन होता है एवं कृष्ण नामसे कृष्णके चरणोंकी प्राप्ति होती है।)॥ ५०-५१॥

साङ्गोपाङ्गां सपार्षदो तां तां मूर्त्तिं स्वमन्त्रतः।
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः　　स्नानवासोविभूषणैः॥ ५२॥
गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः　　।
साङ्गं सम्पूज्य विधिवत् स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम्॥ ५३॥

अपनी-अपनी उपास्या श्रीमूर्त्तिके हृदयादि अङ्ग, सुदर्शनचक्र, शङ्ख आदि उपाङ्ग और उनके पार्षदोंकी निज-निज मन्त्रानुसार पाद्य (चरण धोनेके जल), अर्घ्य (सत्कारके लिये सुगन्धित जल), आचमनीय (मुख-प्रक्षालनके लिये जल), स्नान, वस्त्र, आभूषण, गन्ध, पुष्प, माल्य, अक्षत, रत्नादि माला, धूप, दीप इत्यादि उपहारोंके द्वारा यथोचित पूजा सम्पन्न करे एवं यथाविधि स्तुति-वचनोंसे आदरपूर्वक स्तव करते हुए श्रीहरिको प्रणाम करे॥ ५२-५३॥

आत्मानं तन्मयं ध्यायन् मूर्त्तिं सम्पूजयेद्धरेः।
शेषामाधाय शिरसि स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम्॥ ५४॥

अर्चक स्वयंको भगवन्मय (भगवान्‌के नित्य दासके) रूपमें चिन्तन करते हुए भगवान्‌के अर्चा-विग्रहकी पूजा करे। (उसे सदैव स्मरण रखना चाहिए कि अर्चा-विग्रह उसके हृदयमें भी अवस्थित है।) तदनन्तर निर्माल्यको अपने मस्तकपर धारण करे

और आदरपूर्वक अपने उपास्य देवता अर्थात् भगवत्-विग्रहको यथास्थान स्थापितकर पूजा सम्पन्न करे॥ ५४॥

एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः।
यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां एकादशस्कन्धे जायन्तेयोपाख्याने विदेहप्रश्नस्तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

जो मनुष्य अग्नि, सूर्य, जल आदि भूतोंमें अतिथि या अपने हृदयमें संसार-बन्धन-विनाशन श्रीहरिका अर्चन करते हैं, वे अति शीघ्र मुक्ति प्राप्त करते हैं॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके तीसरे अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

भगवान् श्रीहरिके भूत, वर्तमान और भविष्यके अवतारों एवं उन अवतारोंके गुणोंका विवेचन

श्रीराजोवाच—

यानि यानीह कर्माणि यैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः।
चक्रे करोति कर्त्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः॥ १॥

राजा निमिने कहा—हे योगेन्द्रो! सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भगवान् श्रीहरि भक्तिके वशीभूत होकर स्वेच्छापूर्वक अनेक अवतार ग्रहण करते हैं और इस लोकमें विविध लीलाएँ करते हैं। अब कृपा करके श्रीहरिकी उन मधुर लीलाओंका वर्णन कीजिए, जो वे कर चुके हैं, कर रहे हैं और भविष्यमें करेंगे॥ १॥

श्रीद्रुमिल उवाच—

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता-
ननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथञ्चित्
कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः॥ २॥

अब नौ योगेन्द्रोंमें-से सातवें योगेन्द्र द्रुमिलजीने कहा—हे राजन्! भगवान् अनन्त हैं। उनके गुण, अवतार एवं लीलाएँ भी संख्यातीत हैं। जो लोग जगदीश्वर श्रीहरिके गुणोंकी गणना करना चाहते हैं, वे अतिशय अज्ञ (बाल-बुद्धि) हैं। हो सकता है कोई किसी प्रकार सुदीर्घ कालमें पृथ्वीके कणोंकी (परमाणुओंकी) गणना कर ले, परन्तु समस्त शक्तियोंके आधार श्रीहरिके अनन्तकोटि गुणोंको गिननेमें वह कोई किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हो सकता॥ २॥

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान-
मवाप नारायण आदिदेवः॥ ३॥

आदिपुरुष भगवान् नारायण जिस समय अपनी मायाके द्वारा रचित पञ्चभूतोंके द्वारा विराट् ब्रह्माण्डरूप शरीरका (दृश्यजगत्का) निर्माण करके उसमें स्वांशसे अन्तर्यामीरूपमें (साक्षीरूपमें) प्रवेश करते हैं, तब वे पुरुष नाम धारण करते हैं। यही पुरुषावतार उनका पहला अवतार है। (पुरुषोत्तमकी पुरी वैकुण्ठधाम है, उसीसे विक्षिप्त बद्ध जीवोंकी पुरी—देवीधाम ब्रह्माण्ड है।)॥ ३॥

यत्काय एष भुवनत्रयसन्निवेशो
यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि ।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्त्ता॥ ४॥

उन्हीं महाविष्णुके इस ब्रह्माण्ड-शरीरमें ऊर्ध्व, मध्य एवं अधः—असंख्य लोक स्थित हैं। उन्हींकी इन्द्रियोंसे समष्टि एवं व्यष्टि समस्त देह-धारियोंकी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ कार्योंका सम्पादन करती हैं। उनके अन्तर्यामी स्वरूपसे ही देहधारियोंके स्वतःसिद्ध ज्ञानका सञ्चार होता है एवं उनके ही श्वास-प्रश्वाससे (प्राणसे) समस्त प्राणियोंमें बलका (देहशक्तिका) सञ्चार होता है तथा इन्द्रियोंमें ओज (इन्द्रियोंकी शक्ति) और कर्म करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। उन्हींके सत्त्व आदि गुण-त्रयसे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं। इस विराट् शरीरके जो शरीरी हैं, वे ही आदिकर्त्ता नारायण हैं (गर्भोदकशायी द्वितीय पुरुषावतार इस श्लोकके आलोच्य विषय हैं। विष्णुके त्रिविध पुरुषावतारोंमें अन्तर्यामीरूपमें सर्वव्यापक भूमाके वर्णनमें पुरुषसूक्तोदिष्ट परमात्मा विचारको ही भगवदंशरूपमें प्रकाश किया गया है।)॥ ४॥

आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य
इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु॥ ५॥

वे ही आदिपुरुष इस जगत्के सृष्टि-कार्यके नियामकरूपमें सर्वप्रथम रजोगुणके द्वारा ब्रह्मा, तत्पश्चात् जगत्की स्थिति कार्यमें सत्त्वगुणके द्वारा ब्राह्मण एवं धर्मके पालक यज्ञपति विष्णुमूर्त्ति तथा संहारकार्यमें तमोगुणके द्वारा रुद्रमूर्त्ति धारण करते हैं। इस प्रकार निरन्तर उन्हींसे प्रजाकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार होते रहते हैं। (गुणजात विश्व एवं बद्धजीवोंके सम्बन्ध-निरूपणके लिये ही इस स्थलपर भगवान्के गुणावतारोंका वर्णन है।)॥ ५॥

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां
नारायणो नर ऋषिप्रवरः प्रशान्तः।
नैष्कर्म्यलक्षणमुवाच चचार कर्म
योऽद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः॥ ६॥

दक्ष प्रजापतिकी तेरहवीं कन्याका नाम मूर्त्ति था। वह धर्मकी पत्नी थी। उसके गर्भसे भगवान्ने ऋषियोंमें श्रेष्ठ, परमशान्त नर-नारायणके रूपमें अवतार लिया। इस अवतारमें उन्होंने आत्म-साक्षात्कारके उपायभूत कर्मोंका आचरण (नैष्कर्म्य अर्थात् भगवत्-सेवा) एवं प्रचार किया था। वे उत्तम ऋषि-मुनियोंके द्वारा पूजित होकर आज भी पृथ्वीमें (बदरिकाश्रममें) विराजमान हैं॥ ६॥

इन्द्रो विशङ्क्य मम धाम जिघृक्षतीति
कामं न्ययुङ्क्त सगणं स बदर्युपाख्यम्।
गत्वाप्सरोगणवसन्तसुमन्दवातैः
स्त्रीप्रेक्षणेषुभिरविध्यदतन्महिज्ञः ॥ ७॥

उन्हें इस प्रकार घोर तपस्या करते हुए देखकर (अदूरदर्शी) इन्द्रने ऐसी आशङ्का की कि ये मेरा इन्द्रपद एवं स्वर्ग छीन लेना

चाहते हैं। इसलिये उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये उन्होंने परिजनोंके साथ कामदेवको नियुक्त किया। तब कामदेव अप्सराओं, वसन्त ऋतु और मलय पवनके साथ बदरिकाश्रममें उपस्थित हुए और उनकी महिमा न जाननके कारण कामिनियोंके कटाक्षरूप बाणसे उन्हें विद्ध करवाने लगे। (बदरी वृक्षोंसे विभूषित होनेके कारण इस स्थानका नाम बदरिकाश्रम है। यहाँ ब्रह्मनदी सरस्वतीके पश्चिमी तटपर ऋषियोंके यज्ञानुष्ठान सम्पन्न होते हैं)॥ ७॥

विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः
प्राह प्रहस्य गतविस्मय एजमानान्।
मा भैर्विभो मदन मारुत देववध्वो
गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम्॥ ८॥

आदिदेव नर-नारायण ऋषि इन्द्रकृत अपराधको जान गये। वे कन्दर्प और अप्सराओंको शापके भयसे काँपते हुए देखकर बिना किसी अहङ्कारसे हँसते हुए कहने लगे—हे प्रबल पराक्रमशाली! कामदेव! हे पवनदेव! हे देववधुओ! अप्सराओ! तुमलोग भयभीत न हो, इस समय तुम सब मेरा आतिथ्य ग्रहण करो और इसी स्थानपर सदैव निवास करो॥ ८॥

इत्थं ब्रुवत्यभयदे नरदेव देवाः
सव्रीडनम्रशिरसः सघृणं तमूचुः।
नैतद्विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रं
स्वारामधीरनिकरानतपादपद्मे ॥ ९॥

हे राजन्! जब नर-नारायण ऋषिने उन्हें अभयदान देते हुए इस प्रकार कहा, तब कामदेव आदि देवताओंके सिर लज्जासे झुक गये। उन्होंने परम कारुणिक नर-नारायण ऋषिकी कृपा पानेके लिये कातर स्वरमें उनसे कहा—हे विभो! बड़े-बड़े आत्माराम मुनिगण और धीर (शान्त) पुरुष निरन्तर आपके चरणकमलोंमें प्रणत रहते हैं। आप मायासे परे और निर्विकार परम पुरुष-स्वरूप हैं। आपके लिये ऐसा करना आश्चर्यजनक नहीं है॥ ९॥

त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः
स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते।
नान्यस्य बर्हिषि बलीन् ददतः स्वभागान्
धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्द्धनि॥ १०॥

जो लोग आपकी आराधनाकर देवताओंके पद स्वर्गादि लोकोंका भी उल्लंघनकर आपके परम पादपद्मकी प्राप्तिका प्रयास करते हैं, देवतागण उनकी उपासनामें नाना प्रकारके विघ्न-बाधा उत्पन्न किया करते हैं और जो लोग यज्ञमें देवताओंके लिये बलि (पूजोपहार) प्रदान करते हैं, उनके अनुष्ठानमें वे देवता किसी भी प्रकारका विघ्न उत्पन्न नहीं करते। आपके सेवक, आपके भक्त आपके द्वारा ही रक्षित हैं, इसलिये वे ऐसी विघ्न-बाधाओंके मस्तकपर पदार्पण करते हुए उन्हें अतिक्रमण करके सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। (आपके भक्तगण स्वर्गको अतिक्रमण करके आपके धाममें चलकर जाते हैं, अतएव मात्सर्यके कारण देवता विध्न उपस्थित करते हैं।)॥ १०॥

क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुतजैह्वशैश्ना-
नस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित्।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गो-
र्मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति॥ ११॥

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अपार समुद्रके समान देवताओं द्वारा प्रदत्त दुर्लंघ्य क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्णता, वर्षारूप-कालधर्म, आँधी, वर्षाके कष्टोंको तथा रसनेन्द्रिय, जननेन्द्रियके वेगोंको सह लेते हैं अर्थात् पार तो कर जाते हैं, किन्तु निष्फल क्रोधके वशीभूत हो जाते हैं। इसलिये उनका वैसा पतन गायके खुरसे बने गड्ढेमें गिरकर डूब मरनेके समान है। उन्हें दुष्कर तपस्या द्वारा भोग या मोक्ष कुछ भी प्राप्त नहीं होता, बल्कि शाप आदिके कारण वे विनष्ट हो जाते हैं। (क्रोधवश अभिशापादि देनेपर तपस्याका फल

नष्ट कर बैठते हैं।) अन्तमें क्लान्त होकर अपनी चेष्टाओंका भी परित्याग कर देते हैं॥ ११॥

इति प्रगृणतां तेषां स्त्रियोऽत्यद्भुतदर्शनाः।
दर्शयामास शुश्रूषां स्वर्चिताः कुर्वतीर्विभुः॥ १२॥

जब कामदेव, अप्सराओं और वसन्त आदि देवताओंने इस प्रकार नर-नारायणकी स्तुति की, तब सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणने अपने योगबलसे उनके सामने अपनी सेवा-शुश्रूषामें नियुक्त बहुत-सी रमणियोंको दिखलाया, जो अद्भुत एवं दिव्यरूप लावण्यसे सम्पन्न एवं सुरम्य अलङ्कारोंसे सुसज्जित थीं॥ १२॥

ते देवानुचरा दृष्ट्वा स्त्रियः श्रीरिव रूपिणीः।
गन्धेन मुमुहुस्तासां रूपौदार्यहतश्रियः॥ १३॥

जब देवराजके अनुचरोंने साक्षात् लक्ष्मीके समान पूर्वोक्त स्त्रियोंको देखा, तब उनके अद्भुत रूप-सौन्दयके प्रभावसे वे निष्प्रभ हो गये तथा उनके शरीरसे निकलनेवाली दिव्यगन्धसे मोहित हो गये॥ १३॥

तानाह देवदेवेशः प्रणतान् प्रहसन्निव।
आसामेकतमां वृङ्ध्वं सवर्णां स्वर्गभूषणाम्॥ १४॥

देवदेवाधिपति नारायणने कन्दर्प आदि इन्द्रदेवके अनुचरोंको इस प्रकार मोहित और प्रणत देखकर प्रायः हँसते हुए कहा—तुमलोग इन रमणियोंमें-से तुम्हारे अनुरूप किसी एक रमणीको ग्रहण करो, वह तुम्हारे स्वर्गलोकके लिये भूषण-स्वरूप होगी॥ १४॥

ओमित्यादेशमादाय नत्वा तं सुरवन्दिनः।
उर्वशीमप्सरःश्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवं ययुः॥ १५॥

तब देवेन्द्रके अनुचरोंने उनके आदेशको स्वीकार करते हुए उन्हें प्रणामकर उन परम सुन्दरी रमणियोंमें-से एक रमणीका वरण किया। उस श्रेष्ठ और परम रूपवती अप्सराका नाम उर्वशी था। वे उसे आगे कर स्वर्ग चले गये॥ १५॥

इन्द्रायानम्य सदसि शृण्वतां त्रिदिवौकसाम्।
ऊचुर्नारायणबलं शक्रस्तत्रास विस्मितः॥ १६॥

जब वे अनुचर स्वर्गमें पहुँचे, उस समय सभामें इन्द्र बैठे थे। उन्हें प्रणाम करके सब श्रोताओंके समक्ष उन्होंने श्रीनारायण ऋषिके प्रभावका वर्णन किया, जिसे सुनकर देवराज इन्द्र अत्यन्त विस्मित और भयभीत हो गये (कि मैंने उनके प्रति अपराध कर डाला।)॥ १६॥

हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मयोगं
दत्तः कुमार ऋषभो भगवान् पिता नः।
विष्णुः शिवाय जगतां कलयावतीर्ण-
स्तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये॥ १७॥

भगवान् अच्युत विष्णुने जगत्के कल्याणके लिये बहुत-से कलावतारोंमें (अंशतः) अवतीर्ण होकर, हंस, दत्तात्रेय, सनकादि कुमार और हमारे पितृदेव ऋषभदेवके रूपमें आत्मज्ञानका उपदेश किया है। उन्होंने (विष्णुने) ही हयग्रीव मूर्त्ति धारणकर मधु और कैटभ नामक दैत्योंको विनष्टकर उनके द्वारा चुराये गये वेदोंका पातालसे उद्धार किया था (और ब्रह्माजीको प्रदान किया था।)॥ १७॥

गुप्तोऽप्यये मनुरिलौषधयश्च मात्स्ये
क्रौडे हतो दितिज उद्धरताम्भसः क्ष्माम्।
कौर्मे धृतोऽद्रिरमृतोन्मथने स्वपृष्ठे
ग्राहात् प्रपन्नमिभराजममुञ्चदार्त्तम्॥ १८॥

उन्होंने ही प्रलयकालमें मत्स्य अवतार लेकर पृथ्वी, सत्यव्रत मुनि एवं जौ आदि शस्यबीजोंकी रक्षा की थी। वराहावतार ग्रहण करके उन्होंने ही पृथ्वीका जलसे उद्धार कर हिरण्याक्षका वध किया था। कूर्म अवतारमें अमृत मन्थनके समय अपनी पीठपर मन्दराचल पर्वतको धारण किया था और श्रीहरिरूपमें अवतार

लेकर ग्राहके मुखसे पीड़ित और अपने शरणागत भक्त गजेन्द्रको मुक्त किया था॥ १८॥

संस्तुन्वतोऽब्धि निपतितान् श्रमणानृषींश्च
शक्रञ्च वृत्रवधतस्तमसि प्रविष्टम्।
देवस्त्रियोऽसुरगृहे पिहिता अनाथा
जघ्नेऽसुरेन्द्रमभयाय सतां नृसिंहे॥ १९॥

एक समय बालखिल्य नामक ऋषि तपस्या करते-करते अत्यन्त दुर्बल हो गये थे। वे जब कश्यप ऋषिके लिये समिधा (यज्ञकाष्ठ) ला रहे थे, तो थककर गायके खुरसे बने गड्ढेमें गिर गये, उस समय इन्द्र उनका उपहास कर रहे थे। तब उन्होंने अपने उद्धारके लिये श्रीहरिकी स्तुति की, उस समय उन श्रीहरिने ही उनका उस विपत्तिसे उद्धार किया था। वृत्रासुरको मारनेके कारण जब देवराज इन्द्रको ब्रह्महत्याका पाप लगा और वे उसके भयसे भागकर छिप गये, तब श्रीहरिने ही उस पापसे इन्द्रकी रक्षा की थी। श्रीहरिने ही असुरोंके घरमें बन्दी अनाथ देवाङ्गनाओंको अपने घरमें लाकर उन्हें मुक्त किया था और उन्होंने ही नृसिंह अवतारमें साधुजनोंको (भक्त प्रह्लादको) अभय प्रदान करनेके लिये दैत्यराज हिरण्यकशिपुका संहार किया था॥ १९॥

देवासुरे युधि च दैत्यपतीन् सुरार्थे
हत्वान्तरेषु भुवनान्यदधात् कलाभिः।
भूत्वाथ वामन इमामहरद् बलेः क्ष्मां
याच्ञाच्छलेन समदाददितेः सुतेभ्यः॥ २०॥

उन्होंने ही देवासुरसंग्राममें देवताओंकी रक्षाके लिये दैत्यपतियोंका संहार किया और सभी मन्वन्तरोंमें अपने विभिन्न अवतारोंके द्वारा निखिल भुवनकी रक्षा की है। उन्होंने ही श्रीवामनदेवके रूपमें दान माँगनेके छल द्वारा दैत्यराज बलिसे इस भूमण्डलका हरण कर लिया और अदितिनन्दन इन्द्रादि देवताओंको उसे प्रदान कर दिया॥ २०॥

निःक्षत्रियामकृत गाञ्च त्रिःसप्तकृत्वो
रामस्तु हैहयकुलाप्ययभार्गवाग्निः।
सोऽब्धिं बबन्ध दशवक्त्रमहन् सलङ्कं
सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्त्तिः॥ २१॥

उन्होंने ही परशुराम अवतार ग्रहणकर पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियविहीन किया, वे ही हैहयवंशका संहार करनेके लिये मानो भृगुवंशमें अग्निके रूपमें अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने ही लोकपावनकीर्त्ति भगवान् श्रीरामके रूपमें अवतीर्ण होकर समुद्रपर पुल बाँधा तथा रावण और उसकी राजधानी लङ्काको विध्वंस कर दिया। (चक्रवर्त्ती ठाकुर कहते हैं कि जिस समय नवयोगेन्द्र यह कथा कह रहे थे, उसी समय भगवान् श्रीरामका अवतार हुआ था। श्लोकस्थ 'जयति' शब्द यही सूचित करता है।)॥ २१॥

भूमेर्भारावतरणाय यदुष्वजन्मा
जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि।
वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान्
शूद्रान् कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते॥ २२॥

हे राजन्! अजन्मा होनेपर भी भगवान् पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये यदुकुलमें अवतीर्ण होकर देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुष्कर कर्म करेंगे। तदनन्तर बुद्धके रूपमें प्रकट होकर यज्ञके अनधिकारी असुरोंको यज्ञ करते देखकर वेद-विरुद्ध पशु-हिंसाकी निन्दा करेंगे, नाना प्रकारके तर्क-वितर्कोंके (मायावादके) प्रचार द्वारा मोहित करेंगे एवं कलियुगके अन्तमें कल्किरूपमें अवतीर्ण होकर वे ही म्लेच्छधर्ममें मग्न शूद्र राजाओंका संहार करेंगे॥ २२॥

एवम्विधानि जन्मानि कर्माणि च जगत्पतेः।
भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां एकादशस्कन्धे निमिजायन्तेयोपाख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

हे महाबाहो विदेहराज! जगदीश्वर श्रीहरिकी कीर्त्ति अनन्त है। महात्माओंने जगत्पति भगवान्‌के ऐसे-ऐसे असंख्य अवतार एवं चरितोंका प्रचुरतासे वर्णन किया है॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके चौथे अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

भक्तिरहित पुरुषोंकी गति और विभिन्न युगोंमें भगवान्‌की पूजा-विधिका विवेचन

श्रीराजोवाच—

भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः।
तेषामशान्तकामानां का निष्ठाऽविजितात्मनाम्॥ १॥

महाराज निमिने कहा—हे ब्रह्मज्ञोंमें श्रेष्ठ मुनियो! आपलोग सर्वश्रेष्ठ आत्मज्ञानी और भगवान्‌के भक्त हैं। अब यह बतलाइए कि इस लोकमें बहुत-से ऐसे मनुष्य हैं, जो भगवान् श्रीहरिकी आराधना नहीं करते, ऐसे अजितेन्द्रिय तथा कामनापरवश पुरुषोंकी क्या गति होती है?॥ १॥

श्रीचमस उवाच—

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥ २॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥ ३॥

अब नवयोगेन्द्रोंमें-से आठवें योगेन्द्र चमसजीने कहा—राजन्! आदिपुरुष भगवान् विष्णुके मुखसे सत्त्वप्रधान ब्राह्मण, भुजाओंसे सत्त्व और रजोगुण प्रधान क्षत्रिय, जाँघोंसे रजः और तमःप्रधान वैश्य और चरणोंसे तमःगुण प्रधान शूद्रकी उत्पत्ति हुई है। उन्हींकी जाँघोंसे गृहस्थ आश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्य, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ और मस्तकसे संन्यास—ये चार आश्रम भी उन्हींके साथ प्रकट हुए हैं। भगवान् विष्णु ही इन चार वर्णों और आश्रमोंके जन्मदाता, इनके स्वामी, नियन्ता और आत्मा भी हैं। इसलिये इन वर्ण और

आश्रममें स्थित जो मनुष्य अज्ञानवशतः अपनी उत्पत्तिके साक्षात् कारणस्वरूप भगवान्‌का भजन नहीं करते अथवा जान-बूझकर (प्रापञ्चिक अहङ्कारवश) उनका अनादर करते हैं, वे अपने स्थान, वर्ण, आश्रम और मनुष्य-योनिसे भी च्युत हो जाते हैं, उनका अधःपतन हो जाता है॥ २-३॥

दूरे हरिकथाः केचिद् दूरे चाच्युतकीर्त्तनाः।
स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम्॥ ४॥

बहुत-सी स्त्रियाँ, शूद्रादि तथा अन्यान्य पतित जातिके लोग साधु-सङ्ग, हरिकथा-श्रवण एवं अच्युत-माहात्म्य-कीर्त्तन (हरिनाम-सङ्कीर्त्तन) से वञ्चित हो गये हैं। वे आप जैसे भगवद्-भक्तोंकी कृपाके पात्र हैं। आप भक्तिका उपदेश देकर उन्हें कृतार्थ करें। गुरु ही श्रेयःपथके उपदेष्टा होते हैं॥ ४॥

विप्रो राजन्यवैश्यौ वा हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम्।
श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः॥ ५॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जन्मसे, वेदाध्ययनसे तथा यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंके कारण श्रीहरिके श्रीचरणकमलोंको प्राप्त करनेके लिये उत्तम अधिकार रखते हैं, परन्तु वेदोंके यथार्थ तात्पर्यको न समझकर उनके अर्थवादसे मोहित हो जाते हैं तथा भगवदुपासना त्यागकर स्वर्ग आदि कर्म-फलोंमें आसक्त हो जाते हैं॥ ५॥

कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः।
वदन्ति चाटुकान्मूढ़ा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः॥ ६॥

यथार्थ कर्मके विषयमें अकोविद अर्थात् अनभिज्ञ, अविनीत अर्थात् उद्दण्ड, मूर्ख फिर भी अपनेको पण्डित माननेवाले और अभिमानसे ग्रस्त मूढ़जन श्रुतियोंके मधुर तथा वैदिक अर्थवाद (स्वर्ग आदि सुख प्रतिपादक) वचनोंसे उत्सुक और मोहित होकर यज्ञ आदिमें उन-उन कर्म-फलोंको देनेवाले देवताओंकी चाटुकारी

करते हैं अर्थात् प्रशंसामूलक वचनावलियोंसे उनको प्रसन्न करनेका प्रयास करते हैं॥ ६॥

रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः।
दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान्॥ ७॥

रजोगुणकी अधिकताके कारण उनके सङ्कल्प अति घोर हिंसाविषयक (मेरा शत्रु मर जाय आदि कुटिल भावमय) होते हैं तथा उनकी कामनाओंकी सीमा नहीं रहती। वे कामुक, सर्प-तुल्य क्रोधी, दाम्भिक, घमण्डी तथा पापपूर्ण आचरणमें संलग्न रहते हैं और भगवद्भक्तोंका उपहास किया करते हैं॥ ७॥

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो
गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं
वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः॥ ८॥

वे मूर्ख स्त्रियोंकी सेवामें निमग्न होकर, मैथुन सुखको ही श्रेष्ठ मानकर घरमें रहते हुए परस्पर घर-गृहस्थी सम्बन्धी बातें करते हैं, अन्न आदि दानसे रहित, दक्षिणासे रहित एवं अविधिपूर्वक यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं तथा हिंसा दोषके विषयमें अनभिज्ञ होकर केवलमात्र अपनी जीविका निर्वाहकी कामनासे पशुओंकी हत्या करते हैं॥ ८॥

श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया
त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान्
सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः॥ ९॥

ऐसे क्रूरचित्तवाले मनुष्य, धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य, विद्या, सत्कुल, दान, रूप एवं देहबलसे तथा वैदिक यज्ञ आदि कर्मजनित गर्वसे अन्धे हो जाते हैं। वे विवेक-बुद्धिसे रहित होकर जगदीश्वर श्रीहरि और उनके भक्त साधुओंका अपमान अथवा तिरस्कार करते हैं (ऐसे दुष्ट-स्वभाव लोगोंका पतन अवश्यम्भावी है।)॥ ९॥

सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं
यथा खमात्मानमभीष्टमीश्वरम्।
वेदोपगीतञ्च न शृण्वतेऽबुधा
मनोरथानां प्रवदन्ति वार्त्तया॥ १०॥

राजन्! वे मूर्ख अखिल प्राणियोंके अन्तःकरणोंमें आकाश-तुल्य अर्थात् निःसङ्गरूपसे निरन्तर अवस्थित एवं वेदों द्वारा कीर्त्तित परम प्रेमास्पद, परमाराध्य, जगदीश्वर श्रीहरिकी कथा सुनकर भी उसे समझ नहीं पाते तथा अपने-अपने मनोरथजात ग्राम्य-प्रसङ्गोंके कहने-सुननेमें ही अपना समय व्यतीत करते हैं॥ १०॥

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्या हि जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥ ११॥

जगत्में स्त्रीसङ्ग, माँस-भक्षण एवं मद्यपानमें प्राणीमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होनेके कारण इन विषयोंमें शास्त्र-विधानकी कोई आवश्यकता नहीं है। इन सब प्रवृत्तियोंका सम्पूर्णरूपसे परित्याग करना असम्भव हो, तो विवाहके द्वारा स्त्रीसङ्ग, यज्ञके द्वारा माँस-भक्षण एवं सौत्रामणी नामक यज्ञके द्वारा मद्यपानका विधान (व्यवस्था) वेदमें विहित है। वस्तुतः इन समस्त विषयोंसे सर्वतोभावेन निवृत्ति कराना ही वेदका मुख्य उद्देश्य (तात्पर्य) है। (इन्द्रिय-तोषणपर क्रमशः नियन्त्रण लगाना ही वैदिक विधि है। पार्थिव-विचारसे इन्द्रिय-तर्पण, परहिंसा द्वारा निजदेह-पोषण एवं आत्मवञ्चनरूप आसव-पान हरिविमुख जनोंका ही एकमात्र कृत्य है।)॥ ११॥

धनञ्च धर्मैकफलं यतो वै
ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य
मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम्॥ १२॥

धर्म ही धनका एकमात्र उत्कृष्ट फल है। इस धर्मसे ही विज्ञानके साथ अपरोक्ष परमतत्त्वका ज्ञान अर्थात् भगवत्-साक्षात्कार होता है, उसीसे शास्त्र-ज्ञान होता है। उसके बाद ही प्रकृष्ट-प्राप्ति अर्थात् मोक्ष होता है, परन्तु जो लोग धार्मिक कृत्योंके सम्पादनमें उपयोगी (जो धन धर्ममें लगना चाहिये) उस धनको घर-गृहस्थीके कार्योंमें, आत्मेन्द्रिय-तृप्ति साधनमें (कामभोगमें) ही व्यवहार करते हैं, वे अप्रतिहतवीर्य (अनिवार्यरूपसे प्राप्त होनेवाली अतिविक्रमशाली) मृत्युकी चिन्ता नहीं करते॥ १२॥

यद्घ्राणभक्षो विहितः सुराया-
स्तथाप्रशोरालभनं न हिंसा।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्ये
इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम्॥ १३॥

शास्त्रोंमें सौत्रामणी यज्ञमें भी सुराके भक्षणका ही विधान आघ्राणके लिये ही है, पानके लिये नहीं। उसी प्रकारसे यज्ञमें पशुओंका आलम्भनमात्र अर्थात् स्पर्शमात्र ही विहित है, यथेष्ट हिंसा नहीं। इसी प्रकार अपनी धर्मपत्नीके साथ मैथुनकी आज्ञा भी केवल धार्मिक परम्पराके रक्षण हेतु अर्थात् सन्तान-उत्पत्तिके लिये है, विषयोंका भोग करनेके लिये नहीं, परन्तु जो विषयी लोग नाना मनोरथोंमें उलझे हैं, वे इस विशुद्ध स्वधर्मको कैसे जान सकते हैं॥ १३॥

ये त्वनेवम्विदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः।
पशून् द्रुह्यन्ति विश्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान्॥ १४॥

विशुद्ध धर्मके तत्त्वसे अनभिज्ञ लोग बड़े अभिमानी होते हैं, वास्तवमें तो वे दुष्ट हैं, परन्तु अपनेको श्रेष्ठ साधु समझते हैं। वे दुर्जन बिना किसी शङ्काके पशुओंकी हिंसा करते हैं। हे राजन्! मृत्युके बाद वे पशु ही परलोकमें उन मारनेवालोंका भक्षण करते हैं॥ १४॥

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः॥ १५॥

यह स्थूल शरीर 'मृतक' अथवा जड़देह कहा जाता है। मनुष्य इस स्थूल शरीरसे सम्बन्ध-विशिष्ट पुत्र, कलत्रादिमें अत्यन्त आसक्त हो जाता है। ऐसा मानव दूसरे शरीरोंमें स्थित जीवात्माके प्रति हिंसाकी दृष्टि रखता है और परमात्मरूपी जगदीश्वर श्रीहरिके प्रति विद्वेष कर लेता है। इसीके परिणामस्वरूप वह नरकगामी होता है। आत्माका स्वरूप भगवत्-उपासना है—इसकी उसे अनुभूति नहीं होती॥ १५॥

ये कैवल्यमसंप्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम्।
त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते॥ १६॥

जो लोग इस संसारमें तत्त्वज्ञानको प्राप्त नहीं कर पाते अर्थात् सम्पूर्ण रूपेण तत्त्वज्ञ नहीं हैं एवं जो अत्यन्त जड़ताके भावको पार कर चुके हैं अर्थात् जो पूरे-पूरे मूढ़ (अज्ञ) भी नहीं हैं। ऐसे मध्यवर्त्ती (जो अज्ञ भी नहीं हैं, तत्त्वज्ञ भी नहीं) धर्म, अर्थ, काम—इन तीनों पुरुषार्थोंमें आसक्त रहते हैं, उन्हें एक क्षणके लिये भी शान्ति नहीं मिलती। वे आत्मस्वरूपसे वञ्चित होकर अपनी आत्माको विनष्ट करते हुए अपनेको नरकादि लोकोंकी प्राप्तिके योग्य बना लेते हैं। वस्तुतः ये ही लोग आत्मघाती हैं॥ १६॥

एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः।
सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः॥ १७॥

ये सब आत्म-वञ्चक, अशान्त-चित्त मनुष्य कर्मको ही ज्ञान-साधनका उपयोगी मानकर असत् कर्मोंका आचरण करते हैं और उसके फलस्वरूप कालके प्रभावसे विफल-मनोरथ होकर नरककी यन्त्रणाओंका भोग करते हैं॥ १७॥

हित्वात्मायारचिता गृहापत्यसुहृत्स्त्रियः।
तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः॥ १८॥

भवगद् विमुख ऐसे मनुष्य अपनी इच्छा न रहनेपर भी अन्तिम कालमें भगवान्‌की मायाके द्वारा रचित कुण्ठा धर्मके आश्रय गृह, पुत्र, बन्धु-बान्धव, स्त्री आदि सबको त्याग करके नरकमें (सूर्य-रहित गाढ़ अन्धकारसे आवृत लोकोंमें) प्रवेश करते हैं॥ १८॥

श्रीराजोवाच—

कस्मिन् काले स भगवान् किं वर्णः कीदृशो नृभिः।
नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम्॥ १९॥

यह सुनकर महाराज निमिने कहा—हे योगेन्द्रो! अब आप कृपा करके यह बतलाइए कि भगवान् किस कालमें कौन-सा वर्ण, कौन-सा आकार स्वीकार करते हैं तथा मनुष्य किन नामोंसे और किन विधियोंके अनुसार उनकी उपासना करते हैं?॥ १९॥

श्रीकरभाजन उवाच—

कृतं त्रेता द्वापरञ्च कलिरित्येषु केशवः।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते॥ २०॥

अब नवयोगेन्द्रोंमें-से करभाजनजीने कहा—राजन्! सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चार युग हैं। इन युगोंमें भगवान् श्रीहरिके विविध वर्ण, नाम और आकृतियाँ होती हैं तथा विभिन्न विधियोंसे उनका अर्चन-पूजन होता है॥ २०॥

कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो वल्कलाम्बरः।
कृष्णाजिनोपवीताक्षान् विभ्रद्दण्डकमण्डलु॥ २१॥

सत्ययुगमें भगवान्‌के श्रीविग्रहका वर्ण श्वेत होता है। उनकी चार भुजाएँ तथा सिरपर जटिल केश अर्थात् जटाएँ होती हैं। वे बल्कल वस्त्र पहनते हैं। इस युगमें वे मृगका चर्म, यज्ञोपवीत, अक्षमाला (अकारसे क्षकार पर्यन्त वर्णमयी माला), दण्ड और कमण्डलु धारण करके ब्रह्मचारीके वेशमें अवतीर्ण होकर दर्शन देते हैं॥ २१॥

मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च॥ २२॥

सत्ययुगमें लोग बड़े शान्त, परस्पर शत्रुतारहित, सबके हितैषी और समदर्शी होते हैं। वे लोग शम, दम और तप अर्थात् ध्यानयोगसे भगवान्‌की आराधना करते हैं॥ २२॥

हंसः सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरोऽमलः।
ईश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्मेति गीयते॥ २३॥

सत्ययुगमें भगवान् हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, अमल, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त और परमात्मा—इन नामोंसे पूजित होते हैं। उस समयके लोग अपनी-अपनी स्थितिमें इन्हीं भगवान्‌के गुण, लीला इत्यादिका गान करते हैं॥ २३॥

त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः॥ २४॥

राजन्! त्रेतायुगमें भगवान्‌के श्रीविग्रहका वर्ण रक्त अर्थात् लाल होता है। उनकी चार भुजाएँ होती हैं, वे कटिभागमें (ऋक्, साम एवं यजुः वेदोंकी दीक्षाके अङ्गभूत) त्रि-गुण कटिसूत्र अर्थात् मेखला धारण करते हैं, उनके केश सुनहरे होते हैं, वे वेद-त्रय-प्रतिपादित यज्ञ-विग्रहके रूपमें अवतीर्ण होते हैं। उस समय स्रुक, स्रुवा इत्यादि यज्ञके पात्र ही भगवान्‌के चिह्न होते हैं॥ २४॥

तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम्।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः॥ २५॥

त्रेतायुगमें वेदोंमें पारङ्गत धार्मिक मनुष्य त्रयीविद्या द्वारा अर्थात् वेदोंमें विहित यज्ञानुष्ठानोंके द्वारा सर्वदेवमय अन्तर्यामी भगवान् श्रीहरिकी यज्ञ-विधिसे आराधना करते हैं॥ २५॥

विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव उरुक्रमः।
वृषाकपिर्जयन्तश्च उरुगाय इतीर्य्यते॥ २६॥

त्रेतायुगमें मनुष्य विष्णु, यज्ञ, पृश्निगर्भ, सर्वदेव, ऊरुक्रम, वृषाकपि (जिनके स्मरण मात्रसे भक्तोंकी अभीष्ट कामनाओंका वर्षण होता है), जयन्त (जो सर्वदा सबपर जय प्राप्त करते हैं) और ऊरुगाय नामोंसे भगवान्‌के गुण और लीला आदिका कीर्त्तन करते हैं॥ २६॥

द्वापरे भगवान् श्यामः पीतवासा निजायुधः।
श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः॥ २७॥

द्वापरयुगमें भगवान्‌का वर्ण अतीस पुष्पके समान श्याम होता है (इसीलिये भगवान्‌को श्याम-सुन्दर कहा जाता है।) वे अपने श्यामल वपुपर पीताम्बर धारण करते हैं। शङ्ख, चक्र, गदा आदि उनके आयुध होते हैं। वक्षःस्थलपर श्रीवत्स चिह्न (रोमावलीका दक्षिणावर्त्तरूप) अङ्कित होता है तथा कौस्तुभमणि इत्यादिसे विभूषित होकर वे इस जगत्‌में अवतीर्ण होते हैं॥ २७॥

तं तदा पुरुषं महाराजोपलक्षणम्।
यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप॥ २८॥

हे राजन्! उस समय तत्त्वज्ञान-जिज्ञासु मनुष्य छत्र, चँवर आदि राजा-महाराजाओंके चिह्नोंसे युक्त परमपुरुष भगवान्‌की वैदिक और तान्त्रिक (पञ्चरात्र) विधियोंसे उपासना-अर्चना करते हैं। भगवत्-सेवाको धर्मादि चतुर्वर्णके अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए॥ २८॥

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः॥ २९॥
नारायणाय ऋषये पुरुषाय महात्मने।
विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नमः॥ ३०॥

हे भगवन्! हे वासुदेवरूपी भगवान्! आपको नमस्कार है, सङ्कर्षणरूपी आपको नमस्कार है, प्रद्युम्नरूपी आपको नमस्कार है। अनिरुद्धरूपी आपको नमस्कार करता हूँ। हे देव! हे विश्वेश्वर! सर्वभूतान्तर्यामी विश्वमूर्त्ति नारायण ऋषि नामक महापुरुषरूपी आपको

प्रणाम करता हूँ। भगवान्‌के नाम, रूप, गुण एवं लीलादिका कीर्त्तन होनेपर ही जीवमें श्रवण-योग्यताका उदय होता है॥ २९-३०॥

इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम्।
नाना तन्त्रविधानेन कलावपि तथा शृणु॥ ३१॥

राजन्! इस प्रकार लोग द्वापरयुगमें भगवान् जगदीश्वरकी स्तुति करते हैं, अब कलियुगमें विविध तन्त्रोंके विधि-विधानसे भगवान्‌की जैसी आराधना की जाती है, उसका वर्णन सुनो—अर्थात् कलियुगकी आराधनाके नियम सुनो॥ ३१॥

कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः सङ्कीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥ ३२॥

जो सदा-सर्वदा 'कृष्ण' इन दो वर्णोंका कीर्त्तन करते हैं और कृष्ण नाम और उनकी लीला-कथाओंका उपदेश करते हैं अथवा 'कृष्ण' इन दो वर्णोंसे युक्त कृष्णके कीर्त्तन द्वारा श्रीकृष्णके अनुसन्धानमें तत्पर रहते हैं अर्थात् उन्हें ढूँढ़ते रहते हैं, जिनके 'अङ्ग' अर्थात् श्रीमन्नित्यानन्द और श्रीअद्वैत प्रभु-द्वय हैं तथा 'उपाङ्ग' अर्थात् जिनके आश्रित श्रीवास आदि शुद्ध भक्तगण हैं और जिनका 'अस्त्र' श्रीहरिनाम है और जिनके 'पार्षद' श्रीगदाधर पण्डित, स्वरूप दामोदर, राय रामानन्द, श्रीरूप, श्रीसनातन आदि हैं तथा जिनके अङ्गोंकी कान्ति 'अकृष्ण' अर्थात् पीत (गौर) है; उन्हीं अन्तःकृष्ण और बहिर्गौर श्रीराधा-भाव-द्युति-सुवलित श्रीशचीनन्दन श्रीमद्‌गौरसुन्दरकी कलियुगमें बुद्धिमान् पुरुष सङ्कीर्त्तन-प्रधान यज्ञके द्वारा आराधना करते हैं (कलियुगमें कीर्त्तन-यज्ञके द्वारा भगवत् पूजा-विधि है।)॥ ३२॥

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्त्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३३॥

वे लोग भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति करते हैं—प्रभो! आप शरणागत भक्तोंके रक्षक हैं। हे परतम पुरुषोत्तम महाप्रभो! आप निरन्तर ध्यानयोग्य हैं, अन्याभिलाष कर्म, ज्ञान, योग आदि केवला-भक्ति विरोधी मार्गोंको पराजित करनेवाले हैं, श्रीकृष्ण-प्रेमको देनेवाले हैं, श्रीगौरमण्डल, क्षेत्रमण्डल और व्रजमण्डल आदि तीर्थोंके आश्रयस्वरूप हैं। ब्रह्म-सम्प्रदायके आचार्य श्रीमदानन्दतीर्थानुगत श्रौतपथाश्रित श्रीरूपानुग महाभागवतोंके एकमात्र आश्रयस्वरूप हैं। (ब्रह्म-सम्प्रदायकी श्रवण-परम्परा श्रीमद् आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य) से प्रारम्भ होती है एवं रूपानुग महाभागवतों अर्थात् श्रीमन् चैतन्य महाप्रभुके अनुयायियों द्वारा आगे बढ़ती है) आप ही सदाशिवके अवतार श्रीमदद्वैताचार्य प्रभु और विरिञ्चिके अवतार श्रीमन्नामाचार्य हरिदास प्रभुके द्वारा स्तव-स्तुति किये जाते हैं, आप समस्त शरणागत जनोंके आश्रयणीय हैं, अपने सेवक कुष्ठविप्रका कुष्ठरोगरूपी दुःख अर्थात् आर्त्तिको दूर करनेवाले हैं, सार्वभौम भट्टाचार्य और श्रीप्रतापरुद्र आदिके क्रमशः मोक्षकी इच्छा एवं भोगकी इच्छारूप भवसागरको पार करनेके लिये पोत (नाव) स्वरूप हैं। आपके श्रीचरणकमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ॥ ३३॥

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्-
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३४॥

हे महाप्रभो! आप (बहिर्दृष्टिसे संन्यास ग्रहणके छलसे) वैधी भक्त-धर्मके प्रचारक-आचार्यकी लीलाका अभिनय करनेवाले जगद्गुरुके रूपमें विद्यमान रहते हैं एवं (अन्तर्दृष्टिसे) सभी रागात्मिक धार्मिकोंकी शिरोमणि श्रीमतीराधाके कृष्ण-विरह-भावमें विभावित रहते हैं। देवताओंकी वाञ्छित राज्य-लक्ष्मीका एवं प्राणोंसे भी अधिक प्रिया दुष्परिहार्या (जिसे त्यागा नहीं जा सकता) लक्ष्मीस्वरूपिणी विष्णुप्रिया देवीका आपने त्याग कर दिया था। इस प्रकार आपने

ज्ञान एवं ऐश्वर्यमिश्रा मुक्ति एवं भक्तिका त्याग किया था। विप्र शापका पालन करनेके छलसे आपने चतुर्थाश्रम यतिधर्मको स्वीकार किया था। (चैतन्य-चरितामृतमें वर्णन है कि एक विप्र महाप्रभुके कीर्त्तन-कक्षमें प्रवेश नहीं कर पाया था, तब उसने श्रीमन्महाप्रभुको समस्त भौतिक सुखोंसे वञ्चित रहनेका शाप दिया था—महाप्रभुने इस शापको वरदान मानकर संन्यास ग्रहण कर लिया था। श्रीगौरसुन्दरकी संन्यास-ग्रहण-लीला कृष्णान्वेषणके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसी छलसे वे तदनुग व्यक्तियोंको सुष्ठुरूपेण भजन-रीतिका निर्देश करते हैं)। जो कनक, कामिनी एवं प्रतिष्ठाकी आशारूपा अथवा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष-रूपा मायाका अन्वेषण करते रहते हैं एवं कृष्ण-सेवासे इतर भोग्य विषयोंमें अत्यन्त व्यस्त रहा करते हैं—ऐसे जीवों पर अहैतुकी एवं अमन्दोदय-दया (दुःखोंको आत्यन्तिक नष्ट कर देनेवाली दया) के कारण आप स्वाभीष्ट प्राणनाथ गोपीजनवल्लभ श्यामसुन्दरको पुकारते रहते हैं; सर्वत्र उनका अन्वेषण करते रहते हैं। विशाखा सखीके समीप चित्रजल्पमें निरत उद्घूर्णामयी (अधिरूढ़ महाभावका विकार जिनमें प्रकाशित होता है), परमप्रेष्ठा प्रेयसी श्रीमती राधिका जिन्हें पानेकी अभिलाषा करती रहती हैं और जो स्वयं ह्लादिनीशक्ति-स्वरूपिणी श्रीमती राधिकाका अन्वेषण करते हैं (राधाजीके आराधनके कारण कृष्ण वृन्दावनका परित्याग नहीं करते), ऐसे श्रीराधारमणका अनुसन्धान जिन्होंने विरहिणी गोपियोंके भावमें विभावित होकर किया है, उन आपके श्रीचरणकमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ॥ ३४॥

एवं युगानुरूपाभ्यां भगवान् युगवर्त्तिभिः।
मनुजैरिज्यते राजन् श्रेयसामीश्वरो हरिः॥ ३५॥

हे राजन्! परम पुरुषार्थ कृष्ण-प्रेमको देनेवाले भगवान् श्रीहरि इस प्रकारसे प्रत्येक युगमें मूर्त्ति धारण करते हैं एवं उन-उन रूपों-में मनुष्योंके द्वारा पूजित होते हैं॥ ३५॥

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र सङ्कीर्त्तनेनैव सर्वस्वार्थोऽभिलभ्यते॥ ३६॥

हे राजन्! कलियुगमें एकमात्र श्रीहरिके नाम-सङ्कीर्त्तनके द्वारा ही समस्त युगोंके सभी प्रकारके पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं। इसलिये गुणग्राही बुद्धिमान् मनुष्य इस युगकी बड़ी प्रशंसा करते हैं (सत्ययुगमें ध्यान द्वारा, त्रेतामें यज्ञ द्वारा, द्वापरमें अर्चन द्वारा जो प्राप्त होता है, कलियुगमें वह सब श्रीकेशव-सङ्कीर्त्तन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।)॥ ३६॥

न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह।
यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः॥ ३७॥

इस संसारमें भ्रमणशील जीवोंके लिये हरिनाम-सङ्कीर्त्तनसे बढ़कर परम कल्याणकारी कुछ भी नहीं है, क्योंकि नाम-सङ्कीर्त्तन होनेसे संसार-भ्रमण रुक जाता है और परम शान्ति प्राप्त होती है (कीर्त्तनकी तुलनामें कोई भी साधन-प्रणाली उतनी लाभकारी नहीं है। यह गौणरूपसे संसार-नाश भी कर देती है।)॥ ३७॥

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः
क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः॥ ३८॥
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी॥ ३९॥
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः॥ ४०॥

हे राजन्! सत्य, त्रेता और द्वापरके मनुष्य भी कलियुगमें जन्म ग्रहणकी इच्छा करते हैं। इस कलियुगमें किसी-किसी स्थानपर अल्पसंख्यक भक्त प्रकट होंगे, परन्तु द्रविड़देशमें विशेषतः बहुसंख्यक भगवद्भक्त महापुरुष जन्म ग्रहण करेंगे। हे मनुजेश्वर! उस द्रविड़देशमें ताम्रपर्णी, बहुतोया कृतमाला, पयस्विनी, परम

पवित्र कावेरी एवं प्रतीची नामकी महानदी प्रवाहित होती हैं। हे राजन्! वहाँके मनुष्य नदियोंका जल पान करते हैं, जिससे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वे भगवद्भक्ति प्राप्त करते हैं॥ ३८-४०॥

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्॥ ४१॥

हे राजन्! जो लोग इस शरीरमें 'मैं' और 'मेरे' के अभिमानको त्यागकर सब प्रकारसे परम शरण्य श्रीहरिके शरणागत होते हैं, वे साधारण मनुष्यकी भाँति देवता, ऋषि, भूतगण, स्वजन और पितृलोकके किङ्कर अथवा ऋणी नहीं होते अर्थात् ये भक्त पञ्च-ऋण-परिशोधनके लिये कर्त्तव्यपरायणतारूप कैङ्कर्यमें बाध्य नहीं होते॥ ४१॥

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्-
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥ ४२॥

जो लोग अनन्य भावसे (सभी पार्थिव कर्मों एवं विचारोंका परित्याग करते हुए) भगवान्के श्रीचरणकमलोंकी शरण ग्रहणकर उनकी आराधना करते हैं, ऐसे प्रिय भक्तोंके हृदयमें किसी प्रकारकी विकर्मकी प्रवृत्ति (विपरीत बुद्धि) उत्पन्न होती भी हो, तो भी उनके हृदयमें (विवेक मूलमें) स्थित परमेश्वर श्रीहरि उस प्रवृत्तिको सम्पूर्णरूपेण विनष्ट कर देते हैं॥ ४२॥

श्रीनारद उवाच—

धर्मान् भागवतानित्थं श्रुत्वाथ मिथिलेश्वरः।
जायन्तेयान् मुनीन् प्रीतः सोपाध्यायो ह्यपूजयत्॥ ४३॥

श्रीदेवर्षि नारद कहते हैं—हे वसुदेवजी! इस प्रकार अपने उपाध्यायोंके साथ मिथिलाके अधिपति निमि महाराज नवयोगेन्द्रोंसे भागवत धर्म सुनकर बहुत ही आनन्दित हुए। उन्होंने सन्तुष्ट होकर उन जयन्तीनन्दन अर्थात् ऋषभनन्दन नवयोगेन्द्रोंकी विधिपूर्वक पूजा की [जो वृत्ति (वेतन) के लिये वेदांश या वेदाङ्गका अध्यापन करते हैं, उन्हें उपाध्याय कहा जाता है।]॥ ४३॥

ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः सर्वलोकस्य पश्यतः।
राजा धर्मानुपातिष्ठन्नवाप परमां गतिम्॥ ४४॥

इसके बाद सब लोगोंके समक्ष ही कवि आदि सिद्धपुरुष अन्तर्धान हो गये। महाराज निमिने भी उनसे श्रुत भागवत धर्मोंका आचरण किया और परम गति प्राप्त की॥ ४४॥

त्वमप्येतान् महाभाग धर्मान् भागवतान् श्रुतान्।
आस्थितः श्रद्धया युक्तो निःसङ्गो यास्यसे परम्॥ ४५॥

हे महाभाग वसुदेवजी! आप भी निष्काम एवं श्रद्धायुक्त होकर उन भागवत धर्मोंका अनुष्ठानकर उत्तम पद प्राप्त कर सकेंगे॥ ४५॥

युवयोः खलु दम्पत्योर्यशसा पूरितं जगत्।
पुत्रतामगमद्यद्वां भगवानीश्वरो हरिः॥ ४६॥

हे वसुदेवजी! भगवान् जगदीश्वर श्रीहरि आपके पुत्रत्वको स्वीकार करके आविर्भूत हुए हैं, इसलिये आप दोनोंकी (देवकी और वसुदेवकी) कीर्त्तिसे जगत् पूर्ण हो गया है॥ ४६॥

दर्शनालिङ्गनालापैः शयनासनभोजनैः।
आत्मा वां पावितः कृष्णे पुत्रस्नेहं प्रकुर्वतोः॥ ४७॥

आप दोनोंने श्रीकृष्णके प्रति पुत्र-स्नेहवान् होकर उनका दर्शन, आलिङ्गन किया है एवं उनके साथ वार्त्तालाप किया है। आपने अति तन्मयतासे उनको शयन कराया है, अपने साथ बिठाया है एवं भोजन कराया है—इससे आपका चित्त पवित्र हो गया है॥ ४७॥

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्र-
शाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्॥ ४८॥

हे वसुदेवजी! शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्वादि राजागण सोते-बैठते सभी कार्योंमें शत्रुभावसे श्रीकृष्णके लीलाविलास, चितवन, गमनादि क्रियाओंका चिन्तन करते थे। इससे उनकी बुद्धि कृष्णाकार हो गयी और उन दुरात्माओंने भगवत्-चिन्तन-जनित सुकृतिके फलस्वरूप श्रीकृष्णका साम्य प्राप्त कर लिया। तब जो कृष्णानुरक्त भक्त अनुकूलभावसे उनकी अनुरागपूर्ण सेवा करते हैं, उन्हें विशेष मङ्गल प्राप्त होगा—उनका साम्य प्राप्त होगा—इस विषयमें वक्तव्य क्या है?॥ ४८॥

माऽपत्यबुद्धिमकृथाः कृष्णे सर्वात्मनीश्वरे।
मायामनुष्यभावेन गूढ़ैश्वर्ये परेऽव्यये॥ ४९॥

श्रीकृष्ण सर्वान्तर्यामी, अव्यय-स्वरूप, परमपुरुष, स्वयं भगवान् हैं। ये अपनी योगमायाके बलसे मनुष्य-लीला-अभिनयके द्वारा अपने ईश्वरत्वको (भगवत्ताको) गोपन करते हैं। अतः आप इनको पुत्र न समझें, अनुराग-बुद्धि रखें, उदासीनताका भाव नहीं॥ ४९॥

भूभारासुरराजन्यहन्तवे गुप्तये सताम्।
अवतीर्णस्य निर्वृत्यै यशो लोके वितन्यते॥ ५०॥

इन श्रीकृष्णने पृथ्वीके भारस्वरूप क्षत्रियराजारूप दैत्योंका संहार करने, साधुओंकी रक्षा करने और जीवोंकी मुक्तिके लिये अवतार ग्रहण किया है। इस समय सम्पूर्ण जगत्में उनके यशका विस्तार हो रहा है॥ ५०॥

श्रीशुक उवाच—

एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोऽतिविस्मितः।
देवकी च महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः॥ ५१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीजी कहते हैं—महासौभाग्यवान् श्रीवसुदेवजी और महाभाग्यवती देवकीको देवर्षि नारदजीसे इन सब तत्त्वोंको सुनकर बड़ा ही विस्मय हुआ। उन्होंने अपने मोहजनित (असुरोंको भी कृष्णने मोक्ष प्रदान किया) अज्ञानका परित्याग कर दिया॥ ५१॥

इतिहासमिमं पुण्यं धारयेद् यः समाहितः।
स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां एकादशस्कन्धे जायन्तेयोपाख्यानं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

जो लोग एकाग्रचित्तसे इस पुण्यमय इतिहासका श्रवण करते हैं, वे शरीरमें अवस्थित रहकर भी समस्त प्रकारके सांसारिक मोहको परित्यागकर ब्रह्मभावको प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाते हैं॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके पाँचवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

ब्रह्मादि देवताओंकी भगवान् श्रीकृष्णसे स्वधाम पधारनेके लिये प्रार्थना, यादवोंका प्रभास तीर्थमें जानेके लिये प्रस्तुत होना तथा भक्त उद्धवका श्रीकृष्णके समीप आना

श्रीशुक उवाच—

अथ ब्रह्मात्मजैर्देवैः प्रजेशैरावृतोऽभ्यगात्।
भवश्च भूतभव्येशो ययौ भूतगणैर्वृतः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीजीने कहा—परीक्षित्! जब देवर्षि नारद वसुदेवजीको उपदेश करके चले गये, तब ब्रह्माजी अपने सनकादि पुत्रों, इन्द्रादि देवताओं एवं मरीचि आदि प्रजापतियोंसे परिवेष्टित होकर तथा सभी प्राणियोंके लिये मङ्गलप्रद शिव अपने भूतगणोंसे परिवृत होकर द्वारकामें उपस्थित हुए॥ १॥

इन्द्रो मरुद्भिर्भगवानादित्या वसवोऽश्विनौ।
ऋभवोऽङ्गिरसो रुद्रा विश्वे साध्याश्च देवताः॥ २॥
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धचारणगुह्यकाः।
ऋषयः पितरश्चैव सविद्याधरकिन्नराः॥ ३॥
द्वारकामुपसंजग्मुः सर्वे कृष्णदिदृक्षवः।
वपुषा येन भगवान् नरलोकमनोरमः।
यशो वितेने लोकेषु सर्वलोकमलापहम्॥ ४॥

हे महाराज! भगवान् श्रीकृष्णने अपने जिस श्रीविग्रहके द्वारा मनुष्योंका मनोरञ्जन (हृदयमें आनन्द-दान) करते हुए समग्र जगत्में सभी प्राणियोंके पाप-विनाशन यशका विस्तार किया है, उसी परम रमणीय श्रीविग्रहकी माधुरीका दर्शन करनेकी अभिलाषासे मरुद्गणोंके साथ देवराज इन्द्र, द्वादश आदित्य, आठ वसु, दोनों अश्विनीकुमार,

ऋभुगण, अङ्गिरा ऋषिके वंशज, ग्यारह रुद्र, विश्वेदेव, साध्यगण, देवगण, गन्धर्व, अप्सराएँ, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, ऋषिगण, पितृगण, विद्याधर एवं किन्नर सभी द्वारकापुरी पहुँचे॥ २-४॥

तस्यां विभ्राजमाणायां समृद्धायां महर्द्धिभिः।
व्यचक्षतावितृप्ताक्षाः कृष्णमद्भुतदर्शनम्॥ ५॥

हे राजन्! अनन्तर वे ब्रह्मादि देवता परम ऐश्वर्यसे परिपूर्ण, महासमृद्धिशाली एवं अति शोभामयी द्वारका नगरीमें प्रविष्ट होकर सुरम्य दर्शन भगवान् श्रीकृष्णका अतृप्त नयनोंसे दर्शन करने लगे॥ ५॥

स्वर्गोद्यानोपगैर्माल्यैश्छादयन्तो यदूत्तमम्।
गीर्भिश्चित्रपदार्थाभिस्तुष्टुवुर्जगदीश्वरम्॥ ६॥

उस समय वे सभी नन्दनवन-जात (स्वर्ग राज्यके उद्यानसे लायी हुई) पुष्पमालाओं द्वारा यादव-प्रवर, जगदीश्वर श्रीकृष्णको विभूषित करके लालित्यमय पद-विन्यास एवं अर्थ-विन्यास युक्त गीतोंसे उनका स्तव करने लगे॥ ६॥

श्रीदेवा ऊचुः—

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दं
बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः ।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदिभावयुक्तै-
र्मुमुक्षुभिःकर्ममयोरुपाशात् ॥ ७॥

देवताओंने स्तुति करते हुए कहा—हे नाथ! योगीगण संसारके कर्ममय दृढ़ बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये अपने हृदयमें जिनका ध्यान मात्र कर पाते हैं, दर्शन नहीं; हमलोग आपकी कृपासे उन्हीं श्रीपादपद्मयुगलका साक्षात् दर्शनकर बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन एवं वचनके द्वारा उनको प्रणाम करते हैं। (बाहुद्वय, पदद्वय, जानुद्वय, वक्ष, मस्तक, दृष्टि, मन एवं वचन द्वारा किया गया प्रणाम अष्टाङ्ग प्रणाम कहा जाता है।)॥ ७॥

त्वं मायया त्रिगुणयात्मनि दुर्विभाव्यं
व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः।
नैतैर्भवानजित कर्मभिरज्यते वै
यत् स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः॥ ८॥

हे अजित! आप सात्त्विकादि मायिक गुणोंके नियन्ताके रूपमें अवस्थित रहकर अपनी त्रिगुणमयी मायाशक्तिके द्वारा अपने अचिन्त्य प्रभावसे स्वस्वरूपमें ही महत्तत्त्वादि प्रपञ्चकी सृष्टि, पालन एवं संहार-लीलाका सम्पादन करते हैं, परन्तु इन कर्मजनित पाप-पुण्यादि फलोंमें आप लिप्त नहीं होते। आप अविद्यादि दोषोंके सम्पर्कसे रहित आवरणात्मिका एवं विक्षेपात्मिका वृत्तियोंसे समन्वित माया शक्तिसे अनावृत एवं अविक्षिप्त रहकर सर्वदा (निरवच्छिन्नरूपसे) आत्मानन्दमें विराजमान रहते हैं॥ ८॥

शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां
विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः ।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध-
सच्छ्रद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात्॥ ९॥

हे जगद्-वन्दनीय! हे पुरुषोत्तम! सात्वत (तत्त्वज्ञ) भक्तोंके श्रीमुखसे आपके विमल यश-श्रवणसे उत्पन्न दृढ़ एवं प्रबल श्रद्धासे साधुओंकी चित्तवृत्ति जिस प्रकारसे विशुद्ध होती है, उस प्रकारसे विषय-वासनामें आविष्ट तथा राग-द्वेषसे कलुषित मनुष्योंकी चित्तवृत्ति देवान्तर-उपासना, आध्यक्षिक ज्ञान हेतु वेदार्थ श्रवण एवं अन्यान्य शास्त्रोंके अध्ययन, अनित्य वस्तुके दान एवं जड़भोग हेतु तपस्याके द्वारा शुद्ध नहीं हो सकती॥ ९॥

स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः
क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः।
यः सात्त्वतैः समविभूतय आत्मवद्भि-
र्व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय॥ १०॥

हे प्रभो! परममङ्गलकी अभिलाषा करनेवाले मुनिजन प्रेमसे आर्द्र (द्रवित) अपने हृदयके द्वारा आपका सतत चिन्तन (ध्यान) करते हैं, आपके आश्रित भक्तजन पञ्चरात्र आदि विधियोंसे आपके समान ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिये वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस चतुर्व्यूहके रूपमें आपकी आराधना करते हैं (महत्-स्रष्टा आदिपुरुष, ब्रह्माण्डव्यापी समष्टि विष्णु, सर्वभूतोंमें अवस्थित व्यष्टि विष्णु—जो 'पुरुषावतार' रूपमें कथित हैं, वे वासुदेवादि-व्यूह-चतुष्टय प्रपन्न जीवको स्वर्लोक-भोगाभिमानसे विमुक्त करके भगवद्-भक्तिमें प्रतिष्ठित करते हैं) और कतिपय भगवत्-तत्त्वज्ञ धीर, जितेन्द्रिय पुरुष स्वर्ग लोकको भी तुच्छ जानकर सालोक्यरूप वैकुण्ठ प्राप्तिके लिये तीनों कालोंमें (प्रातः, दोपहर एवं सायं) आपका अर्चन-पूजन करते हैं, आपके वे ही सर्वाभीष्टप्रद श्रीचरणकमल हमारी समस्त अशुभ कामनाओं—विषय वासनाओंको भस्म करनेके लिये धूमकेतु अर्थात् अग्नि स्वरूप हों॥ १०॥

यश्चिन्त्यते प्रयतपाणिभिरध्वराग्नौ
त्रय्या निरुक्तविधिनेश हविर्गृहीत्वा।
अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्ममायां
जिज्ञासुभिः परमभागवतैः परीष्टः॥ ११॥

हे जगत्पते! याज्ञिक ब्राह्मण तीनों वेदोंमें निर्दिष्ट विधिके अनुसार अपने संयत हाथोंमें यज्ञीय हवि लेकर यज्ञकुण्डमें आहुति देते हुए जिनके अधिष्ठानका चिन्तन करते हैं (कि आपकी बाहु आदि रूपमें इन्द्रादि आपके विभूतिस्वरूप हैं), जिसकी आत्मस्वरूपिणी मायाके जिज्ञासु योगीजन अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियोंको पानेकी कामनासे अध्यात्म योगसे (आत्माकी अनुभूति हेतु योग-पद्धतिसे) जिनका ध्यान करते हैं, एवं निष्किञ्चन परम महाभागवतजन सर्वत्र पूजित जिनको अपना परम इष्ट आराध्यदेव मानकर सेवा करते हैं, ऐसे आपके

श्रीचरणकमल हमलोगोंकी अशुभ विषय वासनाओंको भस्म करनेके लिये अग्निस्वरूप हों॥ ११॥

पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं
संस्पर्द्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः।
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो
भूयात् सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः॥ १२॥

हे विभो! आपके वक्षःस्थलपर विलास (निवास) करनेवाली भगवती लक्ष्मीदेवी अपने निवास-स्थलपर मुरझायी हुई बासी वनमालाको देखकर सपत्नीवत् (सौतकी तरह) ईर्ष्या करती हैं (कि मैं जिस वक्षःस्थलपर निवास करती हूँ, वहाँ बासी माला शोभा प्राप्त कर रही है?) फिर भी आप लक्ष्मीदेवीके प्रति अनादर दिखाते हुए भक्तोंके द्वारा माला-अर्पण द्वारा सम्पादित उस अर्चनको प्रेमसे स्वीकार करते हैं। हे देव! ऐसे भक्तवत्सल आपके श्रीचरणकमल हमारी विषय-वासनाओंको दग्ध करनेके लिये सर्वदा अग्निस्वरूप हों॥ १२॥

केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत्पताको
यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेवचम्वोः।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन्
पादः पुनातु भगवन् भजतामघं नः॥ १३॥

हे भूमन्! हे भगवन्! त्रिविक्रम अवतारमें दैत्यराज बलिके बन्धनकालमें उनके द्वारा प्रदत्त तीन पग पृथ्वी मापने हेतु जब आपने अपना एक पादपद्म उठाया, तब वह त्रिलोकीमें व्याप्त होकर ब्रह्माण्ड-कटाह तक पहुँच गया था। उस समय उसकी शोभा अत्युच्च विजय-ध्वजके समान प्रतीत हो रही थी। ब्रह्माजीके द्वारा चरण-पद्मको पखारनेके बाद उस पादपद्मसे निःसृत त्रिलोक-विहारिणी भगवती गङ्गाकी तीन धाराएँ तीनों लोकोंमें गिरती हुईं उस विजय-ध्वजकी पताकाओंकी भाँति जान पड़ती थीं। (तीन धाराओंमें प्रवाहित यह पवित्र वारि मन्दाकिनी, भोगवती एवं

गङ्गा नामसे प्रसिद्ध है।) आपके श्रीचरणकमल असुरोंके लिये भयप्रद, देवताओंके लिये अभयप्रद, साधुओंके लिये मङ्गलप्रद तथा असाधुओं (दुष्टों) के लिये ध्वंसप्रद हैं। हे भगवन्! हम आपके महाविभूतियुक्त इन्हीं चरण-कमलोंका भजन करते हैं। आप हमारे दुष्कृतोंका शोधन कर हमें पवित्र करें॥ १३॥

नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति
ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य
शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य॥ १४॥

हे देव! ब्रह्मा आदि जितने भी तनुभृत (शरीरधारी) जीव हैं, वे सभी प्रकृति-पुरुषसे अतीत (श्रेष्ठ), कालस्वरूप, सर्वनियन्ता आपके अधीन नाकमें नथे हुए बैलोंके समान रहकर मत्सरादि दोषोंसे पीड़ित रहते हैं एवं परस्पर युद्ध-विग्रहादि किया करते हैं। हे पुरुषोत्तमस्वरूप! आपके श्रीचरण हमारा मङ्गल-विधान करें। (इस कथनसे देवताओंकी अनीश्वरता व्यक्त हुई है)॥ १४॥

अस्यासि हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-
मव्यक्तजीवमहतामपि कालमाहुः।
सोऽयं त्रिनाभिरखिलापचये प्रवृत्तः
कालो गभीररय उत्तमपूरुषस्त्वम्॥ १५॥

हे प्रभो! श्रुतियाँ आपको प्रकृति, पुरुष और महत्तत्त्वके नियन्तारूपमें वर्णन करती हैं, इसलिये आप ही इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कारणस्वरूप हैं। हे नाथ! आप ही शीत, ग्रीष्म और वर्षाकालरूप तीन नाभियोंवाले (चातुर्मास्य-त्रयसे युक्त) सम्वत्सरके रूपमें सबको क्षय (ह्रास) की ओर ले जानेवाले महावेगशाली कालस्वरूप हैं। आप गभीररय हैं अर्थात् आपकी गति अबाध और गम्भीर है; अतएव आप ही स्वयं पुरुषोत्तम हैं। (द्वादश मासमें सूर्य-भ्रमणके पथको ज्योतिष शास्त्रमें 'त्रिनाभिः' कहा

गया है अर्थात् मेष, वृष, मिथुन एवं कर्कट, सिंह, कन्या, तुला एवं वृश्चिक तथा धनु, मकर, कुम्भ एवं मीन—ये सूर्यभ्रमण-पथकी तीन नाभियाँ हैं।) भगवान् परमवेगशाली कालके रूपमें अखिल जगत्का संहार करते हैं॥ १५॥

त्वत्तः पुमान् समधिगम्य ययास्य वीर्यं
धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्यः।
सोऽयं तयानुगत आत्मन आण्डकोशं
हैमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम्॥ १६॥

हे देव! आदिपुरुषावतार-कारणाब्धिशायी-अमोघवीर्य-महाविष्णु आपसे ही भगवत्-वीर्य अर्थात् सर्जक-शक्ति प्राप्त करके इस जगत्के बीजस्वरूप (वीर्य-स्वरूप) महत्-तत्त्वकी सृष्टि करते हैं अर्थात् महत्-तत्त्वको विश्वके गर्भके समान धारण करते हैं। यह महत्-तत्त्व भगवत्-मायासे युक्त होकर हिरण्यगर्भरूपमें अपनेमें-से सप्त-व्याहृति (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्) रूप सप्तावरण-मण्डित (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार एवं मन तत्त्वोंसे युक्त) बहिर्जगतके अभ्यन्तरमें ब्रह्माण्डरूप सुवर्ण अण्डकोषकी सृष्टि करता है॥ १६॥

तत् तस्थूषश्च जगतश्च भवानधीशो
यन्मायययोत्थगुणविक्रिययोपनीतान् ।
अर्थान् जुषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो
येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म॥ १७॥

हे हृषीकेश! (हे इन्द्रिय-नियन्ता!) आप अपनी मायासे प्रकाशित इन्द्रियवृत्तिके द्वारा उपनीत (प्राप्त) शब्द, स्पर्शादि विभिन्न विषयोंका उपभोग करके भी (अनन्त इन्द्रिय-विषय-कार्योंके अधीक्षणके समय) उनसे अनासक्त रहते हैं—उनमें लिप्त नहीं होते हैं; इसलिये आप ही स्थावर-जङ्गमके एकमात्र अधीश्वर हैं। अन्यान्य जीव अथवा योगीगण तो स्वयंके द्वारा ही परित्यक्त विषय-भोगोंसे सर्वदा ही भयभीत रहते हैं॥ १७॥

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः॥ १८॥

हे विभो! रुक्मिणी आदि सोलह हजारसे अधिक महिषियाँ अपनी मृदु-मन्द मुस्कान एवं तिरछी चितवनसे विलसित मनोहर भौंहोंके सङ्केतोंसे अपने हृद्गत अभिप्रायको व्यक्त करती हैं, सौरत-मन्त्रोंसे (सुरत-आलापोंसे) सुनिपुण एवं सम्मोहक काम-बाणोंका निक्षेप करती हैं, कामकलाकी विविध रीतियोंसे आपका मन आकर्षित करना चाहती हैं, परन्तु वे आपके चित्तको क्षुभित नहीं कर पातीं (डिगा नहीं पातीं), असफल ही रहती हैं॥ १८॥

विभ्व्यस्तवामृतकथोदवहास्त्रिलोक्याः
पादावनेजसरितः शमलानि हन्तुम्।
आनुश्रवं श्रुतिभिरङ्घ्रिजमङ्गसङ्गै-
स्तीर्थद्वयं शुचिषदस्त उपस्पृशन्ति॥ १९॥

हे देव! आपकी कीर्त्ति-सुधा (लीलामृत) प्रवाहिनी कथा-नदी एवं पाद-प्रक्षालन-जनित गङ्गा (चरणामृत) इत्यादि नदियाँ त्रिलोकीके पापोंका विनाश करनेमें समर्थ हैं। अतः शुद्ध चित्तके अभिलाषी मनुष्य श्रवणेन्द्रिय द्वारा वेदवर्णित आपके प्रकीर्त्ति-तीर्थकी एवं अङ्ग-स्पर्श द्वारा आपके पादपद्म-प्रसूत तीर्थकी (गङ्गादेवीकी) सेवा करते हैं॥ १९॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

इत्यभिष्टूय विबुधैः सेशः शतधृतिर्हरिम्।
अभ्यभाषत गोविन्दं प्रणम्याम्बरमाश्रितः॥ २०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजेन्द्र! श्रीशङ्कर और समस्त देवताओंके साथ शतधृति (ब्रह्मा) श्रीकृष्णकी इस प्रकार स्तव-स्तुति

और उन्हें प्रणामकर आकाश-मार्गमें स्थित हो गये और पुनः भगवान् श्रीगोविन्दसे कहने लगे॥ २०॥

श्रीब्रह्मोवाच—

भूमेर्भारावताराय पुरा विज्ञापितः प्रभो।
त्वमस्माभिरशेषात्मन् तत् तथैवोपपादितम्॥ २१॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—हे सर्वान्तर्यामी! प्रभो! हमलोगोंने पूर्व समयमें पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये आपसे प्रार्थना की थी। आपने वह कार्य हमारी प्रार्थनाके अनुसार ही यथोचितरूपमें सम्पूर्ण कर दिया। (प्रार्थना क्षीरोदशायी विष्णुसे की गयी थी, कार्य श्रीकृष्ण द्वारा सम्पन्न हुआ। श्रीकृष्ण समस्त अवतारोंके अवतारी स्वरूप हैं—क्षीरोदशायी विष्णु उनका एक स्वरूप हैं।)॥ २१॥

धर्मश्च स्थापितः सत्सु सत्यसन्धेषु वै त्वया।
कीर्त्तिश्च दिक्षु विक्षिप्ता सर्वलोकमलापहा॥ २२॥

हे देव! आपने सत्यपरायण साधुओंके लिये सद्धर्मकी स्थापना की है और सम्पूर्ण दिक्मण्डलमें ऐसी कीर्त्तिका विस्तार किया है, जिसे सुनकर समस्त प्राणियोंका कल्मष दूर होता है और चित्त शुद्ध होता है॥ २२॥

अवतीर्य यदोर्वंशे बिभ्रद्रूपमनुत्तमम्।
कर्माण्युद्दामवृत्तानि हिताय जगतोऽकृथाः॥ २३॥

हे प्रभो! आपने यह सर्वोत्तम विग्रह धारण करके यदुवंशमें अवतार लिया और जगत्के मङ्गलके लिये अप्रतिहत (जिसे रोका न जा सके) विक्रमयुक्त लीलाओंका अनुष्ठान किया॥ २३॥

यानि ते चरितानीश मनुष्याः साधवः कलौ।
शृण्वन्तः कीर्त्तयन्तश्च तरिष्यन्त्यञ्जसा तमः॥ २४॥

हे प्रभो! कलियुगमें जो सदाचारसम्पन्न साधु पुरुष हैं, वे आपके चरित एवं लीलाओंका श्रवण और कीर्त्तन करेंगे और अनायास ही इस अज्ञानरूपी अन्धकारको पार कर जायेंगे

(ये साधु अन्यान्य मनुष्योंको भी भगवान्‌की नाम-कथाके प्रति उन्मुख करेंगे।)॥ २४॥

यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम।
शरच्छतं व्यतीताय पञ्चविंशाधिकं प्रभो॥ २५॥

हे नाथ! हे पुरुषोत्तम! हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! यदुवंशमें आपका अवतार होनेके बाद एक सौ पच्चीस वर्ष बीत गये हैं॥ २५॥

नाधुना तेऽखिलाधार देवकार्यावशेषितम्।
कुलञ्च विप्रशापेन नष्टप्रायमभूदिदम्॥ २६॥
ततः स्वधाम परमं विशस्व यदि मन्यसे।
सलोकान् लोकपालान्नः पाहि वैकुण्ठकिङ्करान्॥ २७॥

हे निखिल जगत्‌के आश्रय! हे भगवन्! अब आपका भूभार-हरण-रूप कार्य समाप्त हो गया है और यह यदुवंश भी ब्रह्मशापसे एक प्रकारसे विनष्ट ही हो चुका है। इसलिये यदि आपकी इच्छा हो अर्थात् यदि आप उचित समझें, तो अब आप अपने परमधाममें पधारिये और मेरे जैसे वैकुण्ठके सेवक लोकपालोंका एवं हमारे लोकोंका भी पालन-पोषण कीजिए। (द्वारका धाममें कृष्ण स्वरूपमें प्रवेश करें एवं वैकुण्ठ श्वेतद्वीपादिमें नारायणादि स्वरूपमें प्रवेश करें, क्योंकि आप सभी अंशोंको लेकर अवतीर्ण हुए हैं।)॥ २६-२७॥

श्रीभगवानुवाच—

अवधारितमेतन्मे यदात्थ विबुधेश्वर।
कृतं वः कार्यमखिलं भूमेर्भारोऽवतारितः॥ २८॥

ब्रह्माजीके वचनोंको सुनकर श्रीभगवान्‌ने कहा—हे देवश्रेष्ठ ब्रह्माजी! आपने इस लोकमें जो मेरे समस्त कार्योंकी समाप्तिकी बात कही है, उसे मैं यथार्थ समझता हूँ, क्योंकि पृथ्वीका भार हरण हो चुका है और आपलोगोंके भी सभी कार्य सम्पादित हो चुके हैं॥ २८॥

तदिदं यादवकुलं वीर्यशौर्यश्रियोद्धतम्।
लोकं जिघृक्षद्रुद्धं मे वेलयेव महार्णवः॥ २९॥

परन्तु सम्प्रति यह यादवकुल अतुलनीय वीर्य, शौर्य एवं ऐश्वर्यसे प्रमत्त होकर महासमुद्रकी उद्वेलित जलराशिके समान लोगोंका विनाश करनके लिये उद्यत हो रहा है, मैंने समुद्रकी तट-भूमिके समान इसको रोक रखा है (अब मैं स्वयं ही निज-कुलके संगोपनकी व्यवस्था उसी प्रकार कर रहा हूँ, जिस प्रकार दृढ़ बेलाभूमि समुद्रकी उद्वेलित जलराशिको अवरुद्ध कर लेती है।)॥ २९॥

यद्यसंहृत्य दृप्तानां यदूनां विपुलं कुलम्।
गन्तास्म्यनेन लोकोऽयमुद्वेलेन विनङ्क्ष्यति॥ ३०॥

अतः यदि मैं मदसे गर्वित इस विशाल यादवकुलका संहार किये बिना अपने धाममें गमन करूँ, तो मेरे पश्चात् मर्यादाका लङ्घन करनेवाले उच्छृङ्खल ये यादवगण निश्चय ही सारे लोकोंका संहार कर डालेंगे॥ ३०॥

इदानीं नाश आरब्धः कुलस्य द्विजशापजः।
यास्यामि भवनं ब्रह्मन् त्रतदन्ते तवानघ॥ ३१॥

हे निष्पाप ब्रह्मन्! ब्राह्मणोंके शापसे इस विशाल यदुवंशका विनाश (अदर्शन) पहले ही आरम्भ हो चुका है। इसका विनाश होनेपर जब मैं वैकुण्ठ लोकमें प्रस्थान करूँगा तब आपलोगोंके वास-स्थान ब्रह्मलोकादिमें भी मैं अवश्य आऊँगा॥ ३१॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्तो लोकनाथेन स्वयम्भूः प्रणिपत्य तम्।
सह देवगणैर्देवः स्वधाम समपद्यत॥ ३२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—जब अखिल लोकोंके अधिपति भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा, तब ब्रह्माजीने उन्हें प्रणाम किया एवं देवताओंके साथ अपने धाममें चले गये॥ ३२॥

अथ तस्यां महोत्पातान् द्वारवत्यां समुत्थितान्।
विलोक्य भगवानाह यदुवृद्धान् समागतान्॥ ३३॥

इसके बाद द्वारकापुरीमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्वयंकी इच्छासे विविध महोत्पात उठने लगे, जिन्हें देखकर यादव-श्रेष्ठ (यदु-वृद्ध) वहाँ उपस्थित हुए। भगवान् उनसे इस प्रकार कहने लगे॥ ३३॥

श्रीभगवानुवाच—

एते वै सुमहोत्पाता व्युत्तिष्ठन्तीह सर्वतः।
शापश्च नः कुलस्यासीद्ब्राह्मणेभ्यो दुरत्ययः॥ ३४॥
न वस्तव्यमिहास्माभिर्जिजीविषुभिरार्यकाः।
प्रभासं सुमहत्पुण्यं यास्यामोऽद्यैव मा चिरम्॥ ३५॥

भगवान्ने कहा—हे यदुकुलके वृद्धजनो! आजकल द्वारकापुरीमें सर्वत्र ही विविध प्रकारके प्रबल उत्पात देखे जा रहे हैं। विशेषतः आपलोग जानते हैं कि ब्राह्मणोंने हमलोगोंके वंशको ऐसा अभिशाप दिया है, जिसका निराकरण बहुत ही कठिन है। अतएव हे आर्यगण! यदि हमलोग अपने जीवनकी रक्षा चाहते हैं, तो अब यहाँपर वास करना उचित नहीं है। ऐसी स्थितिमें हम आज ही परम पवित्र प्रभास क्षेत्रमें चलेंगे। इस विषयमें आपलोग विलम्ब न करें॥ ३४-३५॥

यत्र स्नात्वा दक्षशापाद्गृहीतो यक्ष्मणोडुराट्।
विमुक्तः किल्बिषात् सद्यो भेजे भूयः कलोदयम्॥ ३६॥

प्राचीनकालमें चन्द्रदेव दक्षके शापके कारण क्षयरोगसे (राजयक्ष्मा रोगसे) पीड़ित हो गये थे। तब उन्होंने इस प्रभास-तीर्थमें स्नान करके अविलम्ब क्षयरोगसे मुक्ति प्राप्त की थी तथा पुनः कलावृद्धिको प्राप्त हो गये थे॥ ३६॥

वयञ्च तस्मिन्नाप्लुत्य तर्पयित्वा पितॄन् सुरान्।
भोजयित्वोशिजो विप्रान् नानागुणवतान्धसा॥ ३७॥

तेषु दानानि पात्रेषु श्रद्धयोप्त्वा महान्ति वै।
वृजिनानि तरिष्यामो दानैर्नौभिरिवार्णवम्॥ ३८॥

अतः हम उक्त प्रभास तीर्थमें चलकर स्नान करेंगे, देवता एवं पितरोंके लिये तर्पण करेंगे। विविध गुणोंसे युक्त एवं स्वादिष्ट भोजन बनाकर शुभ लक्षणोंसे युक्त श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भोजन करायेंगे। तदनन्तर उन सत्पात्र ब्राह्मणोंको श्रद्धापूर्वक प्रचुर दान-दक्षिणा देंगे। इस दान-दक्षिणासे अपनी प्रचुर पापराशिको हम वैसे ही पार कर जायेंगे, जैसे कोई नौकाके द्वारा समुद्रको उत्तीर्ण कर जाता है॥ ३७-३८॥

श्रीशुक उवाच—

एवं भगवतादिष्टा यादवाः कुरुनन्दन।
गन्तुं कृतधियस्तीर्थं स्यन्दनान् समयूयुजन्॥ ३९॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—हे कुरुनन्दन! भगवान् श्रीकृष्णके इस आदेशके अनुसार यदुवंशियोंने एक मतसे प्रभास-तीर्थ जानेका निश्चय किया और सब अपने-अपने रथोंमें घोड़े आदि वाहन जोतने लगे॥ ३९॥

तन्निरीक्ष्योद्धवो राजन् श्रुत्वा भगवतोदितम्।
दृष्ट्वारिष्टानि घोराणि नित्यं कृष्णमनुव्रतः॥ ४०॥
विविक्त उपसङ्गम्य जगतामीश्वरेश्वरम्।
प्रणम्य शिरसा पादौ प्राञ्जलिस्तमभाषत॥ ४१॥

हे परीक्षित्! उस समय भयानक अपशकुनों और उत्पातोंको देखकर, श्रीकृष्णके पूर्वोक्त वचनोंको सुनकर तथा यादवोंके प्रभास तीर्थमें जानेका उद्योग देखकर श्रीकृष्णकी सेवामें नित्य-निरन्तर अनुरक्त रहनेवाले उद्धव निर्जनमें जगदीश्वर श्रीकृष्णके निकट उपस्थित हुए। हे राजन्! उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके पादपद्मोंमें अपना सिर रखकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना करने लगे॥ ४०-४१॥

श्रीउद्धव उवाच—

देवदेवेश योगेश पुण्यश्रवणकीर्त्तन।
संहृत्यैतत् कुलं नूनं लोकं सन्त्यक्ष्यते भवान्।
विप्रशापं समर्थोऽपि प्रत्यहन् न यदीश्वरः॥ ४२॥

उद्धवजीने कहा—हे देवोंके अधीश्वर! हे पुण्य श्रवण-कीर्त्तन! हे योगेश्वर श्रीकृष्ण! आप समस्त जगत्के ईश्वर हैं। सब प्रकारसे समर्थ होनेपर भी आपने जिस कारणसे ब्राह्मणके शापमें बाधा प्रदान नहीं की, उस कारणसे मैं समझता हूँ कि आप निश्चय ही यादवकुलका संहार करवाके मर्त्त्यलोकका परित्याग कर देंगे॥ ४२॥

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्द्धमपि केशव।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि॥ ४३॥

परन्तु हे केशव! मैं आधे क्षण भी आपके श्रीचरणकमलोंका परित्याग करनेमें समर्थ नहीं हूँ। अतएव हे नाथ! मुझे भी अपने धाममें ले चलें॥ ४३॥

तव विक्रीड़ितं कृष्ण नृणां परममङ्गलम्।
कर्णपीयूषमासाद्य त्यजन्त्यन्यस्पृहां जनाः॥ ४४॥

हे श्रीकृष्ण! आपकी लीलाएँ मनुष्योंके लिये परम मङ्गलकारी और कर्ण-रसायन अर्थात् कानोंके लिये अमृतस्वरूप हैं। आपका लीला-चरितामृत सुनकर मनुष्य इस लोककी समस्त विषय-वासनाओंका परित्याग कर देते हैं॥ ४४॥

शय्यासनाटनस्थानस्नानक्रीडाशनादिषु ।
कथं त्वां प्रियमात्मानं वयं भक्तास्त्यजेम हि॥ ४५॥

हे देव! हमलोग चिरकालसे उठते-बैठते, सोते-जागते, घूमते-फिरते सब समय आपके साथ रहे हैं, आपके साथ ही हम लोगोंने स्नान किया, क्रीड़ाएँ कीं, भोजन इत्यादि सम्पूर्ण कार्य किये; इस प्रकार हमने अपने प्राणप्रिय एवं आत्मस्वरूप आपकी निरन्तर सेवा की है। आपके प्रेमीभक्त हम अब आपको कैसे छोड़ सकते हैं?॥ ४५॥

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि॥ ४६॥

हे देव! हम आपको छोड़नेमें असमर्थ हैं। अतः आपके साथ चलनेकी प्रार्थना कर रहे हैं। आपकी मायासे भयभीत होकर हम ऐसा नहीं कह रहे; हम तो आपके सेवक हैं। हम आपके द्वारा धारण की हुई मालाको पहनते रहे हैं, आपके पहने हुए परिधानोंसे स्वयंको सुसज्जित करते रहे हैं, चन्दनादि गन्धको प्रसादीरूपमें ग्रहण किया है, विभूषित आभूषणोंसे अपने आपको अलङ्कृत किया है। हम आपके उच्छिष्टभोजी हैं। हम आपकी मायापर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे॥ ४६॥

वातवसना य ऋषयः श्रमणा ऊर्द्ध्वमन्थिनः।
ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः सन्न्यासिनोऽमलाः॥ ४७॥

हे प्रभो! बड़े-बड़े ऋषि-मुनि दिगम्बर रहकर तथा आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए भजनादि कठिन परिश्रम करते हैं। ऐसे शान्त, निर्मलचित्त ऋषि-संन्यासी ब्रह्मचर्य आदि महाकठोर साधनोंके द्वारा ब्रह्मलोकको प्राप्त करते हैं॥ ४७॥

वयन्त्विह महायोगिन् भ्रमन्तः कर्मवर्त्मसु।
त्वद्वार्त्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः॥ ४८॥
स्मरन्तः कीर्त्तयन्तस्ते कृतानि गदितानि च।
गत्युत्स्मितेक्षणक्ष्वेलि यन्नृलोकविडम्बनम्॥ ४९॥

किन्तु हे महायोगिन्! हमलोग तो इस संसारमें भ्रमण करते हुए भी आपके प्रेमी भक्तोंके साथ आपकी लीला-कथाओंका कीर्त्तन और मनुष्य लीलाके अनुरूप आपका चाल-चलन, मन्द-मुसकान, हास-परिहास, तिरछी चितवन आदि विविध प्रकारके विचित्र कर्म और उपदेशोंका श्रवण और कीर्त्तन करते हुए इस दुःखमय संसार-सागरको सहज ही पार कर लेंगे॥ ४८-४९॥

श्रीशुक उवाच—

एवं विज्ञापितो राजन् भगवान् देवकीसुतः।
एकान्तिनं प्रियं भृत्यमुद्धवं समभाषत॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धेभगवदुद्धवसंवादे षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! जब भक्त उद्धवजीने देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार प्रार्थना की, तब श्रीकृष्णने अपने अनन्यचित्त, परमप्रेमी सखा और सेवकको सम्बोधित करते हुए इस प्रकार कहा॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके छठे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

अवधूत-उपाख्यान

श्रीभगवानुवाच—

यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे।
ब्रह्मा भवो लोकपालाः स्ववासं मेऽभिकाङ्क्षिणः॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे महाभाग उद्धव! तुमने यदुकुल-संहार एवं वैकुण्ठ-लोक-गमनके विषयमें मेरी अभिलाषाकी जो बात व्यक्त की है, वह वस्तुतः मेरा ही अभिप्रेत (वांछित) है; क्योंकि ब्रह्मा, शिव एवं अन्यान्य लोकपाल मुझसे अब वैकुण्ठवासके लिये प्रार्थना कर रहे हैं॥ १॥

मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषतः।
यदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन ब्रह्मणार्थितः॥ २॥

विशेषतः मैं ब्रह्माकी प्रार्थना अनुसार जिस कार्यका सम्पादन करनेके लिये अपने अंशरूपी बलदेवके सहित पृथ्वीतलपर अवतीर्ण हुआ था, वह भूभार हरणरूप—देवताओंका कार्य सब प्रकारसे सम्पन्न हो गया है॥ २॥

कुलं वै शापनिर्दग्धं नङ्क्ष्यत्यन्योन्यविग्रहात्।
समुद्रः सप्तमेऽह्न्येनां पुरीञ्च प्लावयिष्यति॥ ३॥

अब ब्रह्मर्षियोंके शापसे दग्ध यह यदुकुल परस्पर विवाद एवं युद्ध करके विनष्ट हो जाएगा और आजसे सप्तम दिवस समुद्र इस द्वारकापुरीको डुबो देगा॥ ३॥

यर्ह्येवायं मया त्यक्तो लोकोऽयं नष्टमङ्गलः।
भविष्यत्यचिरात् साधो कलिनापि निराकृतः॥ ४॥

हे साधो उद्धव! मैं जिस क्षण इस पृथ्वीतलका त्याग करूँगा, उसी क्षण यहाँ भयङ्कर कलियुग उपस्थित होगा तथा पृथ्वीके सारे मङ्गल शीघ्र ही नष्ट हो जाएँगे। (जिस स्थलपर श्रीकृष्णसे सम्बन्ध नहीं है, उस स्थलपर मनोधर्मके सङ्कल्प-विकल्प आकर कलिधर्म रूप विवाद एवं तर्क-वितर्क उपस्थित करा देते हैं और आम्नाय श्रौतपथ आक्रान्त होने लगता है।)॥ ४॥

न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले।
जनोऽभद्ररुचिर्भद्र भविष्यति कलौ युगे॥ ५॥

हे भद्र! मेरे इस भूतलसे चले जानेपर तुम्हारा इस स्थानपर रहना उचित नहीं है, क्योंकि कलियुगमें अधिकांश लोगोंकी रुचि अधर्ममें ही होगी॥ ५॥

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग्विचरस्व गाम्॥ ६॥

अब तुम अपने आत्मीय स्वजन, बन्धु-बान्धवोंका स्नेह-सम्बन्ध सम्पूर्णरूपसे परित्याग करो और सम्यक् रूपसे चित्त मुझमें समर्पण करके समदृष्टि-सम्पन्न होकर पृथ्वीपर सर्वत्र स्वच्छन्द रूपमें विचरण करो। [कृष्ण-सम्बन्धसे (प्रत्येक वस्तुमें कृष्ण हैं और कृष्णमें प्रत्येक वस्तु है) सम्बन्धयुक्त होकर तथा शरीर, वाणी एवं मनके वेगका परित्याग करके पृथ्वीपर जो विचरण करते हैं, वे भगवद्भक्त 'गोस्वामी' कहलाते हैं।]॥ ६॥

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
नश्वरं गृह्यमाणञ्च विद्धि मायामनोमयम्॥ ७॥

हे उद्धव! तुम मन, वचन, नेत्र, कर्ण आदि इन्द्रियोंके विषयीभूत इस विश्वको माया-कल्पित, कालक्षोभ्य और नश्वर समझो॥ ७॥

पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक्।
कर्माकर्म-विकर्मेति गुणदोषधियो भिदा॥ ८॥

विक्षिप्तचित्त (माया-मोहित एवं मनोधर्मी) मनुष्योंको ही इस जगत्में नाना प्रकारकी वस्तुएँ होनेका भ्रम उत्पन्न होता है और उनका वह भ्रम ही वस्तुतः गुण और दोषयुक्त होता है। जिस व्यक्तिका अन्तःकरण वैसे गुण-दोषोंमें (क्या उत्कृष्ट है, क्या निकृष्ट है) आबद्ध है, उन्हींके लिये कर्म, अकर्म और निषिद्ध कर्मरूप भेदोंका प्रतिपादन हुआ है॥ ८॥

तस्माद्युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत्।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे॥ ९॥

इसलिये तुम अन्तःकरण और इन्द्रियोंको वशीभूत करके सुखदुःखमय इस भोग्य जगत्को आत्मामें (भोक्ता जीवमें) अवस्थित जानो एवं आत्माको परमात्मारूपी मुझ नियन्ताके अधीन (मेरे अधिष्ठितरूपमें अर्थात् मेरे नियन्त्रणमें) दर्शन करो॥ ९॥

ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम्।
आत्मानुभव-तुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे॥ १०॥

इस प्रकार जब तुम आत्म-ज्ञान (वेद-तात्पर्य-निर्णय) एवं विज्ञानसे (उसके अर्थके अनुभवसे) सम्पन्न हो जाओगे तथा आत्मानुभवके द्वारा (कृष्णसेवानुभवके द्वारा प्रसन्नात्मा होकर देह-देहीके भेदकी कल्पनासे मुक्त होनेपर) तुम्हारा चित्त परितृप्त हो जाएगा, उस समय तुम देवता आदि सभीकी प्रीतिके पात्र हो जाओगे। तब तुम्हारे लिये कोई भी विघ्न-बाधा नहीं रहेगी॥ १०॥

दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्त्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥ ११॥

जो लोग गुण और दोष दोनों प्रकारकी बुद्धिसे अतीत हो जाते हैं, उनकी बालकके समान निषिद्ध कर्मोंसे निवृत्ति और वेदविहित कर्मोंमें प्रवृत्ति देखी जाती है, परन्तु वे निवृत्ति-प्रवृत्ति, गुण विचारकी दृष्टिसे नहीं, परन्तु स्वभावकी प्रेरणासे होती हैं। पूर्वोक्त विवेकी पुरुष भी उसी प्रकार गुण-दोष विचारसे रहित

होकर केवल पूर्व संस्कारके वशीभूत होकर ही निषिद्ध कर्मोंसे निवृत्त तथा विहित कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। ये जान सकते हैं कि कृष्ण ही एकमात्र सेव्य हैं॥ ११॥

सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः।
पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः॥ १२॥

ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न, शान्त और समस्त भूतोंमें समदर्शी उक्त विवेकी पुरुष (बुद्धिमान् पुरुष) विश्वको मेरा स्वरूप जानकर पुनः संसार-बन्धनसे ग्रस्त नहीं होते अर्थात् जन्म-मरणके चक्रमें नहीं पड़ते॥ १२॥

श्रीशुक उवाच—

इत्यादिष्टो भगवता महाभागवतो नृप।
उद्धवः प्रणिपत्याह तत्त्वजिज्ञासुरच्युतम्॥ १३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार आदेश करनेपर महाभागवत उद्धवजीने उन्हें प्रणाम किया और तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छासे यह प्रश्न किया—॥ १३॥

श्रीउद्धव उवाच—

योगेश योगविन्यास योगात्मन् योगसम्भव।
निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्यागः संन्यासलक्षणः॥ १४॥

उद्धवजीने कहा—हे योगेश (कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोगके ईश्वर अथवा युक्त-वैराग्य-सम्पन्न भक्तियोगमें अवस्थित भक्तोंके स्वामी)! हे योगविन्यास (अभक्तोंको भी भक्तियोगकी शक्ति प्रदान करनेवाले)! हे योगात्मन् (भक्तियोगसे ही आत्मवृत्ति सुष्ठुरूपसे प्राकट्य प्राप्त करती है, अतः आप (भगवद् वस्तु) ही योगात्मा हैं)! हे योगसम्भव (समस्त योग आपसे ही सम्भव हैं)! आपने मेरे परम-कल्याण-प्राप्तिके लिये ही संन्यासरूप त्यागविधिका (भक्तियोग नामक पारमहंस्य धर्मका) वर्णन किया है॥ १४॥

त्यागोऽयं दुष्करो भूमन् कामानां विषयात्मभिः।
सुतरां त्वयि सर्वात्मन्नभक्तैरिति मे मतिः॥ १५॥

हे भूमन्! (अनन्त) हे सर्वात्मन्! विषयोंमें आसक्त चित्तवाले पुरुष विशेषतः जो आपके भक्त नहीं हैं, उनके लिये इस प्रकार कामनाओंका त्याग करना—मैं अत्यन्त दुष्कर (कठिन कार्य) समझता हूँ॥ १५॥

सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ-
स्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहं
संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम्॥ १६॥

हे भगवन्! मैं आपकी मायाके द्वारा रचित इस मायिक नश्वर देहमें, पुत्र, कलत्र आदि विषयोंमें तथा 'मैं' और 'मेरे'की बुद्धिमें अत्यन्त निमग्न हो रहा हूँ, मैं अत्यन्त मूढ़मति हूँ। अतएव मैं आपके द्वारा दिये गये उपदिष्ट विषयोंका अनायास ही साधन कर सकूँ, अपने इस सेवकको ऐसी शिक्षा प्रदान करें॥ १६॥

सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं
वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे।
सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे
ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः॥ १७॥

हे देव! आप स्वप्रकाशतत्त्व एवं सत्यस्वरूप हैं। मुझे इस स्वयंप्रकाश सत्य एवं परमात्मवस्तुके विषयमें उपदेश देनेवाला आपके अतिरिक्त देवताओंमें भी कोई दिखायी नहीं देता, क्योंकि ब्रह्मा इत्यादि समस्त जीवोंका चित्त आपकी मायासे मोहित है। वे देह, पुत्रादि बाह्य विषयोंको ही सत्य मानकर उनमें परमार्थ बुद्धि कर लेते हैं॥ १७॥

तस्माद्भवन्तमनवद्यमनन्तपारं
सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम्।
निर्विण्णधीरहमु हे वृजिनाभितप्तो
नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये॥ १८॥

हे भगवन्! इसलिये मैं दुःख-सन्तप्त तथा वैराग्य-युक्त होकर इस समय देश, काल आदि परिच्छेदोंसे रहित, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, काल आदिसे पराभव-रहित अर्थात् कालादिके वशीभूत नहीं रहनेवाले, वैकुण्ठ लोकमें अवस्थित, सब प्रकारके दोषोंसे रहित, जीवोंके कल्याणमें सदा निरत एवं नरके नित्य सखा नारायणरूपी आपके श्रीचरणोंमें शरणागत हो रहा हूँ (आपके अतिरिक्त मेरी और कोई गति नहीं है।)॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात्॥ १९॥

यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव! इस संसारमें लोक-तत्त्व-विशारद (मङ्गल-अमङ्गलका विचार करनेवाले) मनुष्य प्रायः विवेक-बुद्धिके बलसे अपने चित्तको अशुभ विषय-वासनाओंसे बचा लेते हैं॥ १९॥

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते॥ २०॥

हे उद्धव! मनुष्योंका आत्मा ही अपना विशेषरूपसे गुरु होता है, क्योंकि मनुष्य (जीवन्मुक्त पुरुष) स्वयं ही प्रत्यक्ष एवं अनुमानके आधारपर अपना परम-मङ्गल प्राप्त कर लेते हैं (यह परम-मङ्गल कुछ प्रत्यक्ष रूपमें प्राप्त होता है और कुछ अनुमानके द्वारा।)॥ २०॥

पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम्॥ २१॥

इस मनुष्यजन्ममें सांख्य-योग विशारद विवेकी (धीर एवं निर्मत्सर) मनुष्य साक्षात् आविर्भूतरूपमें मेरा (प्रत्यक्ष) दर्शन करते हैं। (शुद्ध भक्तोंकी शरण ग्रहण करनेमें दक्ष एवं आत्म-तत्पर व्यक्तिको सांख्य-योग विशारद कहा जाता है।)॥ २१॥

एकद्वित्रिचतुष्पादो बहुपादस्तथापदः।
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया॥ २२॥

इस जगत्में एकपद, द्विपद, त्रिपद, चतुष्पद, बहुपद और पदहीन नाना प्रकारके शरीरोंकी सृष्टि हुई है, उनमें मनुष्य शरीर ही पुरुषार्थका (प्रयोजनका) साधक होनेके कारण मुझे प्रिय है॥ २२॥

अत्र मां मृगयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम्।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः ॥ २३॥

मेरा स्वरूप इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष अगोचर (न ग्रहण किये जाने योग्य) है, तथापि मनुष्य-देहमें अवस्थित जीव अपनी बुद्धि आदि गुणोंके आश्रयसे प्रकाश (प्रत्यक्ष) एवं अप्रकाश (अप्रत्यक्ष) लक्षणों (चिह्नों) के द्वारा उन सबके प्रवर्त्तक प्रत्यक्ष एवं अनुमानके आधारपर मेरा सन्धान करते हैं (यह सन्धान सदसत्के हेतुमूलमें जड़-जगत्में प्रकाशित बाह्य कार्य एवं अन्तरस्थ कारणके रूपमें होता है।) भक्तियोगमें लगा मानव बुद्धिके अनुमानादि गुणोंसे भगवान्की खोज करता है। अप्रत्यक्षरूपसे उसे प्रतीत होता है कि उसकी बुद्धि आदि गुणोंका कोई स्रष्टा है जो सभीका नियमन करता है। भगवान्के नाम तथा यशके कीर्त्तन तथा श्रवण द्वारा भगवान्की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। भक्तियोगसे इन्द्रियाँ जब दिव्य एवं परिष्कृत हो जाती हैं, तब भगवान्की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। भगवान् कल्पनाकी वस्तु नहीं हैं॥ २३॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः॥ २४॥

इस विषयमें (अनुमानगम्य अन्तर्यामीरूपमें प्राप्तिके विषयमें) प्राचीन लोग अमित तेजस्वी (परम विवेकी) एक अवधूत एवं महाराज यदुके संवादका पुरातन इतिहास उदाहरणके रूपमें कहा करते हैं॥ २४॥

अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम्।
कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित्॥ २५॥

महाराज यदु धर्मवित् थे। वे एक बार निर्भय होकर विचरण कर रहे थे कि उन्होंने परम विवेकी, तरुण वयस्क एक अवधूत ब्राह्मणको देखा और उनसे प्रश्न पूछने लगे॥ २५॥

श्रीयदुरुवाच—

कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्त्तुः सुविशारदा।
यामासाद्य भवाँल्लोकं विद्वांश्चरति बालवत्॥ २६॥

महाराज यदुने कहा—हे ब्रह्मन्! आप किसी सत्कर्मका अनुष्ठान तो करते नहीं, फिर भी सर्वलोक-विलक्षण ऐसी बुद्धि आपको कैसे प्राप्त हुई कि जिस बुद्धिके बलपर आप विद्वान् होकर भी बालककी भाँति पृथ्वीपर निर्भयतापूर्वक विचरण कर रहे हैं?॥ २६॥

प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायाञ्च मानवाः।
हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः॥ २७॥

इस संसारमें मनुष्य प्रायः आयु, यश एवं ऐश्वर्यकी कामनासे ही धर्म, अर्थ, काम एवं आत्म-तत्त्वके विचारोंमें प्रवृत्त हुआ करते हैं॥ २७॥

त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः।
न कर्त्ता नेहसे किञ्चिज्जडोन्मत्तपिशाचवत्॥ २८॥

आप समर्थ, ज्ञानी, निपुण, सुन्दर और मधुरभाषी हैं, तथापि जड़, उन्मत्त और पिशाचकी भाँति रहकर किसी भी कार्यके लिये कोई चेष्टा नहीं करते, उसके आचरणकी तो बात ही क्या?॥ २८॥

जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदावाग्निना।
न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गाम्भःस्थ इव द्विपः॥ २९॥

इस जगत्में अधिकांश मनुष्य काम एवं लोभके दावानलमें निरन्तर सन्तप्त हो रहे हैं, परन्तु आप तो गङ्गाकी प्रचुर जलराशिमें

स्थित हाथीकी भाँति इस दावानलकी ज्वालाओंके सन्तापसे रहित होकर मुक्तरूपमें अवस्थित हैं॥ २९॥

त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम्।
ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः॥ ३०॥

हे ब्रह्मन्! आप स्त्री-पुत्र इत्यादिसे रहित हैं। विषयभोगोंमें आपकी कोई स्पृहा नहीं है, तब भी आपके हृदयमें इतना आनन्द किस प्रकार स्फुरित हो रहा है? कहाँसे आ रहा है? मैं उसका कारण जानना चाहता हूँ। कृपया आप उसका वर्णन करें॥ ३०॥

श्रीभगवानुवाच—

यदुनैवं महाभागो ब्रह्मण्येन सुमेधसा।
पृष्टः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं द्विजः॥ ३१॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव! ययाति-पुत्र महाराज यदु परम बुद्धिमान् थे। वे ब्राह्मण-हित-परायण थे। उन्होंने महाभाग ब्राह्मणसे (अवधूतसे) अति सम्मानके साथ इस प्रकार जिज्ञासा की और विनयसे अवनत होकर उनके समक्ष स्थित हो गये। अवधूत दत्तात्रेय महाराज यदुसे कहने लगे॥ ३१॥

श्रीब्राह्मण उवाच—

सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः।
यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह तान् शृणु॥ ३२॥

दत्तात्रेयजीने कहा—हे राजन्! मैंने अपनी बुद्धिसे इस जगत्में विद्यमान बहुतोंको गुरुके रूपमें स्वीकार किया है, जिनसे ज्ञान प्राप्त करके (उपदेश प्राप्त करके नहीं) मैं संसार-तापसे मुक्त होकर इस पृथ्वीपर विचरण करता हूँ। मैं उन गुरुओंके नाम और उनसे ग्रहण की हुई शिक्षा तुम्हें बतला रहा हूँ, सुनो॥ ३२॥

पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद्गजः॥ ३३॥

मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः।
कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत्॥ ३४॥
एते मे गुरवो राजन् चतुर्विंशतिराश्रिताः।
शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः॥ ३५॥

हे राजन्! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, भ्रमर या मधुमक्खी, हाथी, मधु-हरणकारी व्याध, हिरन, मछली, पिङ्गला नामक वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुँआरी, बाण बनानेवाला कोई एक लुहार, सर्प, मकड़ी और भृङ्गी कीट इन चौबीसोंको मैंने अपने हृदयमें गुरुरूपसे स्वीकार किया है, इनका आचरण देखकर मैंने स्वयं शिक्षणीय विषय ग्रहण किये हैं॥ ३३-३५॥

यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज।
तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते॥ ३६॥

हे वीर ययातिनन्दन! पुरुषश्रेष्ठ! मैंने इन लोगोंसे—इनके आचरणसे जो शिक्षाएँ प्राप्त की हैं, उन्हें बतला रहा हूँ, आप श्रवण करें॥ ३६॥

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः।
तद्विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम्॥ ३७॥

दुःख-सहिष्णु मनुष्य दैवाधीन प्राणियों द्वारा उत्पीड़ित होकर भी यह दैव-प्रेरणावश है—यह जानकर धर्मपथसे विचलित नहीं होते; मैंने प्राणियोंके पदसे आहत निश्चला पृथ्वीसे क्षमाव्रतकी शिक्षा ग्रहण की है। (आधिभौतिक दुःखोंके द्वारा अभिभूत होनेपर जीवमें सहिष्णुता धर्म नहीं रहता, पृथ्वीका धर्म है—सहनशीलता। पृथ्वीको गुरु मानकर मुझे भी सहिष्णु होना चाहिए।)॥ ३७॥

शश्वत् परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः।
साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम्॥ ३८॥

पृथ्वी दो प्रकारकी है—एक पर्वतरूपा और दूसरी वृक्षरूपा। साधु व्यक्ति वृक्ष, तृण, निर्झरादि प्रसव करनेवाले पर्वतोंसे परोपकारकी शिक्षा ग्रहण करे तथा वृक्षोंसे उनका शिष्य बनकर परोपद्रव-सहिष्णुता एवं पराधीन-जीवनकी शिक्षा ग्रहण करे। (एक स्थानसे दूसरे स्थान पर ले जाकर रोपण एवं सेचन करनेपर वृक्ष विरुद्ध आचरण नहीं करते।) पर्वतवत् अचलता एवं वृक्षवत् सहिष्णुताके बिना भगवान्‌की सेवा सम्भव नहीं है॥ ३८॥

प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः।
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः॥ ३९॥

वायु दो प्रकारकी है—शरीरमें स्थित प्राणवायु और बहिर्जगतकी वायु। प्राणवायु जिस प्रकार रूप-रसादि विषयोंकी अपेक्षाके बिना जीवन-रक्षाके उपयोगीरूपमें केवल आहारादि प्राप्त करके प्रवाहित होती है (इन्द्रियोंके समान भिन्न-भिन्न रूप, रसादिके भोगकी अपेक्षा नहीं रखती), मनस्वी पुरुष भी उसी प्रकार, जिससे ज्ञान विनष्ट न हो और वाणी एवं मन विक्षिप्त न हों, उतनी ही जीविका मात्रसे सन्तुष्ट रहें, इन्द्रियोंकी अभीष्ट वृत्तियों द्वारा सन्तुष्ट रहनेका प्रयास नहीं करें। [अतिशय रुक्ष (रूखा) एवं असंस्कृत आहार द्वारा वाणी एवं मन विक्षिप्त होते हैं। अति स्निग्ध भोजन द्वारा भी आलस्यकी वृद्धि होती है एवं मनमें क्षोभ होता है।]॥ ३९॥

विषयेष्वाविशेन् योगी नानाधर्मेषु सर्वतः।
गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत्॥ ४०॥

योगी पुरुष सुख-दुःख आदि चिन्ताओंसे रहित होकर स्थिर चित्तसे नाना धर्म युक्त (लघु, गुरु, उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट गुणोंसे युक्त) विषयोंका भोग करके भी बहिर्वायुकी भाँति सर्वत्र अनासक्त रहे। वायु न तो बन्द गृहमें प्रवेश करती है और न ही दाह-कार्योंमें आसक्त होती है, उसी प्रकार योगी-मुनि सर्वत्र अनासक्त रहें॥ ४०॥

पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः।
गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक्॥ ४१॥

वायु जिस प्रकार गन्ध द्वारा लिप्त नहीं होती, आत्म-तत्त्वज्ञ योगी पुरुष भी उसी प्रकार पार्थिव देहोंमें प्रवेश करके और उसके बाल्यादि धर्मोंको ग्रहण करके उसमें आसक्त नहीं होता। वायु जिस प्रकार गन्धको वहन मात्र करती है, गन्ध द्वारा बाध्य होकर अपने धर्मका परित्याग नहीं करती, उसी प्रकार आत्म-तत्त्वज्ञ स्थूल एवं सूक्ष्म देहोंके विषयोंमें (देहाभिराम एवं मनोभिराम क्रियाओंमें) लिप्त न होकर अनासक्त भावसे उनको ग्रहण करते हुए भगवत्-सेवामें तत्पर रहें॥ ४१॥

अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु
ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन।
व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो
मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत्॥ ४२॥

साधक पुरुष देहमें अवस्थित रहनेपर भी अपने ब्रह्म-स्वरूपत्वकी भावना करते हुए आकाशकी भाँति स्थावर-जङ्गम सभी पदार्थोंमें (प्राणियोंमें) अधिष्ठातृरूपसे अनुगमन-हेतु सर्वगत (सर्वव्यापी) आत्माके अपरिच्छिन्नत्व एवं असङ्गत्वका चिन्तन करे। तात्पर्य यह है कि परमात्मा देहके भीतर रहकर भी बाहरमें सर्वव्यापी हैं। अतः योगी विशेषज्ञान द्वारा परमात्माके सर्वव्यापकत्वकी आकाशकी भाँति भावना करे। आत्मा व्यापक होनेके कारण स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंमें ब्रह्मस्वरूपसे व्याप्त है, कोई व्यवधान नहीं है। आकाश सर्वव्यापकत्वके कारण घटादिमें रहकर भी घटादिसे जैसे परिच्छिन्न नहीं है, वैसे ही परमात्मा देहमें रहकर भी देह द्वारा परिच्छिन्न नहीं हैं॥ ४२॥

तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः ।
न स्पृश्यते नभस्तद्वत् कालसृष्टैर्गुणैः पुमान्॥ ४३॥

जिस प्रकार मेघ आदि वायु द्वारा प्रेरित होकर आकाशमें विचरण करते हैं, परन्तु आकाश उनसे लिप्त नहीं होता, उन्हें स्पर्श भी नहीं करता (उनमें तात्कालिक मिश्रता दिखती अवश्य है, परन्तु दोनोंका संमिश्रण कभी नहीं होता), उसी प्रकार पुरुष (आत्मा) भी कालरचित पृथ्वी, जल एवं तेजोमय देहादिमें प्रवेश तो करता है, परन्तु इन पदार्थोंसे लिप्त नहीं होता। (आत्मा अथवा पुरुष स्थूल एवं सूक्ष्म कोष-द्वयसे तात्कालिकरूपमें आबद्ध दिखायी देता है, किन्तु है इन दोनोंसे अछूता ही।)॥ ४३॥

स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम्।
मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्त्तनैः॥ ४४॥

हे राजन्! जिस प्रकार स्वच्छ जलका स्पर्श सभी वस्तुओंको स्वच्छ कर देता है, उसी प्रकार साधकको भी जलके समान स्वभावसे ही शुद्ध, स्निग्ध (सभी प्राणियोंमें दया एवं मित्रतासे युक्त), मधुर भाषी तथा लोकपावन होना चाहिए। वह तीर्थ-स्वरूप होकर अपने दर्शन, स्पर्श और भगवत्-नाम-कीर्त्तनके द्वारा लोगोंको पवित्र करे॥ ४४॥

तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्द्धर्षोदरभाजनः।
सर्वभक्ष्योऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत्॥ ४५॥

तेजस्वी, तपप्रभावसम्पन्न (तपस्यासे दीप्त), दुर्द्धर्ष (अचल, जिसे कोई क्षुभित नहीं कर सकता), अपरिग्रहशील (भोक्ष्य-द्रव्यका संग्रह न करनेवाले) मुक्तस्वभाव मुनि समस्त प्रकारकी वस्तुओंका भक्षण (अर्थात् दैवात् कोई निषिद्ध द्रव्य-भक्षण) करनेपर भी अग्निके समान किसी भी प्रकारकी मलिनतासे ग्रस्त नहीं होते। ऐसे परम चेतनामय साधु समस्त विषयोंमें अधिकार प्राप्त करके भी तद्-तद् विषयोंका भोग नहीं करते। नश्वर पदार्थोंमें अभिनिवेश न होनेके कारण वे युक्तात्मा रहते हैं। अपरिग्रह वृत्तिविशिष्ट ये साधु अनासक्त भावसे जितना प्रयोजनीय है, उतना ग्रहण करते

हैं। दृश्यमान् जगत्की किसी भी वस्तुसे आकर्षित न होकर वे सभी आकर्षणोंको पराभूत कर देते हैं॥ ४५॥

क्वचिच्छत्रः क्वचित् स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम्।
भुङ्क्ते सर्वत्र दातृणां दहन् प्रागुत्तराशुभम्॥ ४६॥

अग्नि जिस प्रकार किसी स्थलपर (काष्ठादिमें) गूढ़-रूपसे अप्रकट रहती है, तो किसी स्थलपर प्रकाशित, उसी प्रकार साधु भी कहीं तो तमोच्छादित अग्निके समान निज माहात्म्य प्रकाशित नहीं करते और कहीं प्रज्वलित अग्निके समान लोकशिक्षाके लिये अपना विस्तार करते हैं। ये साधु मङ्गल चाहनेवाले बद्ध जीवोंके उपास्यरूपमें उनकी स्तुति आदिको उसी प्रकार स्वीकार करते हैं, जिस प्रकार अग्नि याज्ञिकों द्वारा प्रदत्त घी आदि हवन सामग्रीको लील जाती है। ऐसे साधुगण दाताओंके भूत एवं भविष्यकी पापराशिको अग्निके समान दग्ध करते हुए सर्वत्र उपहार-द्रव्य ग्रहण करते हैं॥ ४६॥

स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः।
प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि॥ ४७॥

सर्वव्यापी परमात्मा अपनी मायाके द्वारा रचित देव, मनुष्य, विप्र, शूद्र, तिर्यक् आदि विविध शरीरोंमें प्रविष्ट होकर भी, लकड़ीमें प्रविष्ट अग्निकी भाँति उनके समानरूपकी ही भाँति प्रतीत होते हैं। (अग्नि जिस प्रकार काष्ठमें प्रविष्ट रहती है, मन्थनके द्वारा प्रकट होती है, उसी प्रकार भगवान् इस जगत्में प्रविष्ट रहते हैं, श्रवण-कीर्त्तनादि भक्ति-अभ्याससे प्रकट होते हैं।)॥ ४७॥

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना॥ ४८॥

जिसकी गति लक्ष्य नहीं की जा सकती, उस कालके प्रभावसे चन्द्रमाकी पन्द्रह कलाएँ घटती-बढ़ती हैं, किन्तु षोडशकलारूप चन्द्रमाके किसी भी प्रकारसे ह्रास एवं वृद्धि नहीं होते, उसी प्रकार

जन्मसे मरण तक जितने भी विकार (अवस्थाएँ) हैं, सब शरीरके ही हैं, आत्माकी कोई विकृति नहीं है, क्योंकि आत्माका शरीरसे सम्बन्ध ही नहीं है—मैंने चन्द्रमासे यही शिक्षा ग्रहण की है॥ ४८॥

कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ।
नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम्॥ ४९॥

अग्निकी ज्वालाएँ जिस प्रकार कालके वेगके प्रभावसे किसी क्षण ऊँची-ऊँची उठती हैं और किसी क्षण लुप्त हो जाती हैं; अर्थात् वायुके समान किसीको भी दिखायी नहीं देतीं (अर्थात् ज्वालाओंकी उत्पत्ति एवं विनाश है, अग्निका नहीं), उसी प्रकार कालके प्रबल वेगसे नदीके प्रवाहकी भाँति प्राणियोंके शरीर क्षण-क्षण उत्पत्ति एवं विनाश आदि अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं, दिखायी नहीं देते। (आत्मा क्षय-वृद्धिके वशीभूत नहीं है। आत्माके सम्बन्धसे देहकी उत्पत्ति एवं विनाश हैं। इस प्रकार अग्निसे मैंने वैराग्यकी शिक्षा ग्रहण की है।)॥ ४९॥

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः॥ ५०॥

सूर्य जिस प्रकारसे ग्रीष्मकालमें अपनी किरणोंसे पृथ्वीका जल आकर्षण कर लेते हैं और समय आनेपर उसे विसर्जन कर देते हैं, उसी प्रकार योगी पुरुष भी इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण करता है और समय आनेपर अर्थात् याचक आदिके उपस्थित होनेपर उसे दान कर देता है, उन वस्तुओंमें वह कभी भी आसक्त नहीं होता अर्थात् योगीका हृदय रूप-रसादि विषयोंसे कभी कलुषित नहीं होता। ('मुझे प्राप्त हुआ, मैंने दान दे दिया'—ऐसा अभिनिवेश उसमें कभी नहीं होता।) यह शिक्षा मैंने सूर्यसे ग्रहण की है॥ ५०॥

बुध्यते स्वे न भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः।
लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत्॥ ५१॥

जलके द्वारा परिच्छिन्न न होनेपर भी सूर्य अपने किरणमण्डलके सहित अभिन्नरूपमें दिखायी देनेपर भी जिस प्रकार भिन्न-भिन्न जलपात्रोंमें प्रतिबिम्बित होकर स्थूलबुद्धिविशिष्ट मनुष्योंको अनेक रूपोंमें प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार व्यक्तिगत उपाधि द्वारा अविच्छिन्न आत्मा स्वरूपमें स्थित रहनेके समय अभिन्नरूपमें ही परिलक्षित होता है, किन्तु भिन्न-भिन्न देहरूप उपाधिमें प्रवेश करनेपर प्रतिबिम्बित सूर्यकी भाँति स्थूलबुद्धिपरायण पुरुष उसे पृथक्‌रूपमें देखते हैं। (जीवकी जब स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रकारकी उपाधि परित्यक्त हो जाती हैं, तब जीव वैकुण्ठमें भगवत्-सेवामें निरन्तर नियुक्त रहता है। सेव्य-सेवकका भेद भगवान् एवं भक्तमें नित्य वर्तमान है, इसमें किसी प्रकारकी गुणगत तामसिकता नहीं है अथवा आनन्दके व्याघातकी सम्भावना नहीं है।)॥ ५१॥

नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्त्तव्यः क्वापि केनचित्।
कुर्वन् विन्देत सन्तापं कपोत इव दीनधीः॥ ५२॥

किसी भी विषयमें या किसीके साथ अत्यन्त अधिक प्रीति या लालन-पालनादिके कारण उनमें आसक्ति रखना उचित नहीं है। ऐसा होनेपर विवेकहीन (विरहकातर) कबूतरकी भाँति दुःखी होना पड़ता है। कबूतरसे मैंने यह शिक्षा ली है। (नश्वर वस्तुमें स्नेह या आसक्ति क्लेशका कारण होती है।)॥ ५२॥

कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ।
कपोत्या भार्यया सार्द्धमुवास कतिचित् समाः॥ ५३॥

एक कबूतरने जंगलमें एक वृक्षके ऊपर अपना घोंसला बना रखा था। अपनी पत्नी कबूतरीके साथ कई वर्षों तक वह उसी घोंसलेमें रहा॥ ५३॥

कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ।
दृष्टिं दृष्ट्याङ्गमङ्गेन बुद्धिं बुद्ध्या बबन्धतुः॥ ५४॥

गृहधर्ममें आसक्त उस कबूतर और कबूतरीके हृदयमें निरन्तर एक-दूसरेके प्रति स्नेहकी वृद्धि होती जाती थी। उन्होंने एक-दूसरेको दृष्टि-से-दृष्टि, अङ्ग-से-अङ्ग और मन-से-मनको बाँध रखा था। (भगवद्-विस्मृति ही जड़ स्नेह एवं आसक्तिका कारण है।)॥ ५४॥

शय्यासनाटनस्थानवार्त्ताक्रीडाशनादिकम्।
मिथुनीभूय विश्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु॥ ५५॥

हे राजन्! वे विश्वस्त-चित्त होकर एक साथ वनमें साथ शयन करते, साथ उठते-बैठते, साथ ही घूमते-फिरते, साथ रहते, बातचीत करते, खेलते और खाते-पीते थे। (सच्चिदानन्द भगवत्-वस्तुसे पृथक् होनेपर जीवकी इन्द्रिय-तर्पण-वासनारूपी दुर्गति होती है।)॥ ५५॥

यं यं वाञ्छति सा राजन् तर्पयन्त्यनुकम्पिता।
तं तं समनयत् कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः॥ ५६॥

हे राजन्! कबूतरी अपनी मुसकानभरे दृष्टिपात और मधुर आलाप आदिके द्वारा कपोतकी प्रीतिको बढ़ाते हुए उसकी कृपा-पात्री बनकर उससे जो कुछ चाहती, अजितेन्द्रिय कबूतर अत्यन्त कष्टप्रद होनेपर भी उसे लाकर उसकी कामनाएँ पूर्ण करता॥ ५६॥

कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णती काल आगते।
अण्डानि सुषुवे नीडे स्वपत्युः सन्निधौ सती॥ ५७॥

इसके बाद पतिव्रता कबूतरीने पहला गर्भ धारण किया। प्रसवकाल आनेपर उसने घोंसलेमें अपने पतिके समक्ष ही कतिपय अण्डे प्रसव किये॥ ५७॥

तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरेः।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलाङ्गतनूरुहाः॥ ५८॥

समय आनेपर उन अण्डोंमें-से भगवान् श्रीहरिकी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे सुन्दर अङ्ग-प्रत्यङ्ग सहित बच्चे उत्पन्न हुए। बच्चोंके अङ्ग अति कोमल थे तथा रोमावलि स्निग्ध थी॥ ५८॥

प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ।
शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितैः॥ ५९॥

अनन्तर पुत्रवत्सल कबूतर-कबूतरी अपने शावकोंका कूजन एवं मधुर बोली सुन-सुनकर आनन्दमें मग्न हो जाते। वे बड़े प्रेम और आनन्दसे बच्चोंका पालन-पोषण करने लगे॥ ५९॥

तासां पतत्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः।
प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः॥ ६०॥

जब वे कपोत-शावक हर्षितभावसे अपने सुकुमार पंखोंसे माता-पिताका सुस्पर्श करते, कूजते, सुरम्य चेष्टाएँ करते और फुदक-फुदककर उड़नेका प्रयास करते, तब कबूतर-कबूतरी अतिशय आनन्दमें मग्न हो जाते॥ ६०॥

स्नेहानुबद्धहृदयावन्योन्यं विष्णुमायया।
विमोहितौ दीनधियौ शिशून् पुपुषतुः प्रजाः॥ ६१॥

इस प्रकार विष्णुकी मायासे मोहित होकर कपोत दम्पतिका हृदय परस्पर आसक्त (मोहग्रस्त) रहता। सन्तान-पालनकी व्यग्रताके कारण वे दुःखार्त्त अर्थात् दीनधिय (विवेकशून्य) हो गये थे, परन्तु उनका पालन करते रहे॥ ६१॥

एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थं तौ कुटुम्बिनौ।
परितः कानने तस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम्॥ ६२॥

कुटुम्ब पालनमें आसक्त कबूतर-कबूतरी एक दिन अपने बच्चोंके लिये भोजन संग्रह करने हेतु वनमें गये और उसकी खोजमें जंगलमें चारों ओर बहुत समय तक विचरण करते रहे॥ ६२॥

दृष्ट्वा तान् लुब्धकः कश्चिदुद्यदृच्छातो वनेचरः।
जगृहे जालमातत्य चरतः स्वालयान्तिके॥ ६३॥

उसी समय एक बहेलिया वनमें भ्रमण करते-करते संयोगवशतः उनके घोंसलेके समीप चला आया। वहाँ घोंसलेके आसपास उसने

कबूतरके बच्चोंको विचरते हुए देखा, तो जाल फैलाकर उन्हें पकड़ लिया॥ ६३॥

कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ।
गतौ पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः॥ ६४॥

तदनन्तर सन्तान-पोषणमें सदैव उत्सुक रहनेवाले कपोत-कपोती उनके आहार-संग्रहके लिये वनमें गए थे। वहाँ उन्होंने आहारका संग्रह किया और अपने वास-स्थानपर लौट आए॥ ६४॥

कपोती स्वात्मजान् वीक्ष्य बालकान् जालसंवृतान्।
तानभ्यधावत् क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता॥ ६५॥

तदनन्तर वहाँ कबूतरीने अपने शावकोंको जालमें आबद्ध देखा, जो लौट आयी माताको देखकर जोर-जोरसे रोदन कर रहे थे। तब वह बहुत दुःखी हो गयी और रोते-रोते उनकी ओर दौड़ी॥ ६५॥

सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताजमायया।
स्वयञ्चाबध्यत शिचा बद्धान् पश्यन्त्यपस्मृतिः॥ ६६॥

भगवान्‌की मायाके प्रभावसे कबूतरीका चित्त स्नेहके प्रगाढ़ बन्धनमें बँधा था। वह शावकोंकी व्यथासे कातर हो उठी और अपनी चेतनता खो बैठी। उन बच्चोंको जालमें आबद्ध देख स्वयं भी उसी जालमें आबद्ध हो गयी॥ ६६॥

कपोतः स्वात्मजान् बद्धानात्मनोऽप्यधिकान् प्रियान्।
भार्याञ्चात्मसमां दीनो विललापातिदुःखितः॥ ६७॥

प्राणोंसे भी प्रिय बच्चोंको तथा आत्म-तुल्य (प्राणोंके समान प्रिय) पत्नीको जालमें बँधे देखकर कबूतर अत्यन्त दुःखी हो गया और दीन-हीन होकर विलाप करने लगा॥ ६७॥

अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः।
अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हतः॥ ६८॥

हे जीवो! मैं अल्पपुण्यवान् (अभागा) हूँ—मैं ऐहिक (लौकिक) सुखोंसे अतृप्त हूँ तथा पारलौकिक सुखोंके प्रयासोंसे भी विमुख हूँ। मुझ अल्पपुण्यवान् दुर्मतिकी (महामूर्खकी) दुर्गतिको तो देखो, आज त्रिवर्गसाधनभूत (धर्म, अर्थ, कामका मूल) मेरा यह गृहस्थाश्रम ही नष्ट हो गया॥ ६८॥

अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता।
शून्य गृहे मां सन्त्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः॥ ६९॥

अहो! मेरी पतिव्रता (मुझ पतिको ही पूज्य देवताके समान माननेवाली), अत्यन्त अनुगता (स्वामी-भक्त अर्थात् मेरी हर आज्ञा माननेवाली) एवं प्राणोंसे अधिक प्रिय भार्या आज शून्यगृहमें मुझे अकेला छोड़कर अपने सीधे-साधे निश्छल बच्चोंके साथ स्वर्ग जा रही है॥ ६९॥

सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः।
जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः॥ ७०॥

हाय! मैं अति दीन-दुःखी हूँ, मेरी पत्नी मर गयी, मेरे पुत्र मर गये, मैं विरह-वेदनासे व्यथित हूँ, इतना कष्टप्रद जीवन मैं किसलिये धारण कर रहा हूँ? मैं जीवित रहनेकी इच्छा भी क्यों करूँ?॥ ७०॥

तांस्तथैवावृतान् शिग्भिर्मृत्युग्रस्तान विचेष्टतः।
स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत्॥ ७१॥

अनन्तर इस प्रकारसे वह मूर्ख, कातरचित्त कबूतर अपने बच्चोंको जालमें आबद्ध, मरणोन्मुख और मृत्युसे छुटकारा पानेका यत्न करते हुए देख करके स्वयं भी जालमें कूद पड़ा॥ ७१॥

तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम्।
कपोतकान् कपोतीञ्च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम्॥ ७२॥

अनन्तर हे यदुराजजी! निष्ठुर, लोभी-चित्त व्याध (बहेलिया) इस प्रकार गृहमेधी (गृहमें आसक्त) कबूतर, कबूतरी और उनके

बच्चोंके प्राप्त हो जानेसे बड़ा ही प्रसन्न हुआ और अपनेको सिद्ध-मनोरथ मानकर घरकी ओर चल दिया॥ ७२॥

एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्रिवत्।
पुष्णन् कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति॥ ७३॥

पूर्वोक्त कबूतर-कबूतरीकी भाँति मैथुन सुखमें निमग्न, दीन, अजितेन्द्रिय व्यक्ति इसी प्रकार अपने कुटुम्बके भरण-पोषणमें ही आसक्त रहता है, उसे कभी शान्ति नहीं मिलती। वह गृहमेधी कबूतरके समान अपने परिजनोंके साथ मोह-जालमें बँधकर बड़ा कष्ट पाता है॥ ७३॥

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥ ७४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धेभगवदुद्धवसंवादे सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

जो पुरुष विमुक्त अर्थात् अर्गला-रहित, मुक्तिके द्वार-स्वरूप (मुक्तिकी साधनभूत) मनुष्य-देह प्राप्त करके भी कपोतके समान गृहधर्ममें (गृहस्थ-सुख-दुःखमें) आसक्त (लिप्त) हो जाते हैं, पण्डितगण उन्हें 'आरूढ़च्युत' (श्रेयःपथपर आरोहण करके भी पतित होनेवाले) के रूपमें जानते हैं। (मनुष्य इस संसारमें रहते हुए ही नित्य-मङ्गलकी प्राप्तिका प्रयत्न करे—इन आठों—पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य एवं कपोतको गुरुयोग्य मानकर कृष्णोन्मुख हो जाए। कृष्णोन्मुखी बुद्धि व्यक्तिको मुक्त होनेका अधिकार प्रदान करती है।)॥ ७४॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके सातवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

अवधूत-उपाख्यान

श्रीब्राह्मण उवाच—

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद्बुधः॥ १॥

अवधूत ब्राह्मण श्रीदत्तात्रेयजी कहते हैं—हे राजन्! प्राणियोंको स्वर्ग और नरकमें प्रारब्धके अनुसार बिना माँगे ही जिस प्रकार दुःख उपस्थित होता है, उसी प्रकारसे इन्द्रिय-जन्य सुख भी बिना माँगे उपस्थित हुआ करते हैं। इसलिये विवेकी पुरुष, ऐसे सुखकी प्राप्तिके लिये किसी प्रकार भी प्रयत्न नहीं करे। जिस प्रकार दुःख न चाहने पर भी आ ही जाते हैं, उसी प्रकार सुख भी बिना इच्छाके आ ही जाएँगे। इनके लिये चेष्टा करनेकी क्या आवश्यकता है?॥ १॥

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः॥ २॥

अजगरके समान निश्चेष्ट भावसे (बिना किसी प्रयत्नके) रहते हुए अनायास ही जो भी आहार मिल जाए—स्वादिष्ट हो अथवा स्वाद-रहित (रुखा-सूखा), बहुत मात्रामें हो अथवा अल्प परिमाणमें—भोजन करके अपने जीवनका निर्वाह कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि 'यथा-लाभ' सन्तुष्ट रहना चाहिए॥ २॥

शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः।
यदि नोपनयेद्ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक्॥ ३॥

यदि कभी दैव-इच्छासे भोजन प्राप्त न हो, तो उसे भी प्रारब्ध-भोग (दैव ही इसका कारण है) समझकर विवेकी पुरुष

अजगरकी भाँति निश्चेष्ट रहकर बहुत दिनों तक धैर्यपूर्वक अनाहार ही रहे॥ ३॥

ओजःसहोबलयुतं विभ्रद्देहमकर्मकम्।
शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि॥ ४॥

शरीरमें इन्द्रियबल, मनोबल एवं देह बल—इन तीनोंके रहते हुए भी सर्वदा निश्चेष्ट रहे। जीवन-निर्वाहके लिये व्यर्थके प्रयासोंसे विरत रहे—इससे समय व्यर्थ ही चला जाता है। इन्द्रियोंसे युक्त रहने पर भी बाह्य-विषयोंको ग्रहण करनेके लिये यत्न न करे। (निद्रादिका त्याग करके) भगवत्-चिन्तन इत्यादि स्वार्थ-सम्बन्धी विषयोंमें सर्वदा मनको नियुक्त रखे—यह शिक्षा मैंने अजगरसे ग्रहण की है॥ ४॥

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः।
अनन्त पारो ह्यक्षोभ्यस्तिमितोद इवार्णवः॥ ५॥

मुनि बाहरसे सर्वदा प्रसन्न रहे एवं अन्तरदेशमें (हृदयमें) समुद्रके समान गम्भीर (जिससे कोई उसके अभिप्रायको न जान सके), दुर्विगाह्य (अगाध अर्थात् उसके मनोभाव दूसरेके लिये अलक्षित हों), दुरत्यय (आध्यात्मिक तेजस्विताके कारण वह अलंघ्य हो), अनन्तपार (स्वरूपाविर्भाव होनेके कारण काल-देशकी सीमाओंसे परिच्छिन्न न हो अर्थात् कभी भी, कहीं भी परिस्थितियोंसे विवश न हो), अक्षोभ्य (कामजयी होनेके कारण अन्यों द्वारा क्षोभसे रहित) एवं रागद्वेषादि विकारोंसे रहित (ज्वार-भाटे एवं तरङ्गोंसे रहित) होकर सलिलपूर्ण समुद्रके समान शान्त रहे॥ ५॥

समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः॥ ६॥

वर्षाकालमें समुद्र नदियोंका सङ्गम प्राप्त करके भी मर्यादाको नहीं लाँघता और ग्रीष्म ऋतुमें उनके (नदियोंके) अभावमें शुष्क नहीं होता। वैसे ही भगवत्परायण साधकको भी सांसारिक काम्य

पदार्थोंकी प्राप्तिसे न तो प्रसन्न होना चाहिए और न उनके अभावसे दुःखी ही होना चाहिए। ये शिक्षाएँ मैंने समुद्रसे प्राप्त की हैं। श्रीहरि-परायण भक्त तो श्रीहरिके माधुर्यका अनुभव करके हर्षित होते हैं और अनुभवके अभावमें दुःखी होते हैं॥ ६॥

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः।
प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत्॥ ७॥

पतिङ्गा जिस प्रकार अग्निके रूप-विलाससे मोहित होकर उसकी ओर दौड़ते हुए उसमें जा गिरता है, उसी प्रकार अजितेन्द्रिय पुरुष दैवमाया द्वारा रचित स्त्रियोंको और उनकी विलासमयी चेष्टाओंको देखकर लुब्ध एवं मोहित हो जाता है और पतिङ्गेके समान नरकमें पतित होकर बड़ा कष्ट भोगता है। [पतिङ्गा रूपसे आकर्षित होकर, भौंरा गन्धसे आकर्षित होकर, हाथी शिकारी द्वारा बन्दिनी हथिनीके स्पर्श पानेके लोभसे आकर्षित होकर और मछली रससे (काँटेमें लगे चारेको खानेकी इच्छासे) अपनेको नष्ट कर डालते हैं। मनुष्यको इन पाँचोंसे शिक्षा ग्रहण करके किसी भी प्रकारके आकर्षणसे बचना चाहिए।]॥ ७॥

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषू मायारचितेषु मूढ़ः।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः॥ ८॥

अविवेकी पुरुष दैवमाया-रचित कामिनी, काञ्चन, भूषण, वसन आदि द्रव्योंकी भोगवासनामें प्रलुब्ध और विवेकबुद्धिरहित होकर पतिङ्गेकी भाँति विनाशको प्राप्त हो जाता है। भोगबुद्धिमें पतित, कर्मकाण्डमें रत एवं अन्याभिलाषीके लिये एकमात्र शिक्षक है—अग्न्यालोक मोहान्ध पतिङ्गा॥ ८॥

स्तोकं स्तोकं ग्रसेद्ग्रासं देहो वर्तेत यावता।
गृहानहिंसन्नातिष्ठेद्वृत्तिं माधुकरीं मुनिः॥ ९॥

भ्रमर विशेष प्रकारकी गन्धके लोभसे एक ही कमल-पुष्पमें बैठा रह जाता है। सूर्यास्तके समय जब वह कमल-पुष्प मुकुलित (बन्द) हो जाता है, तो वह भ्रमर भी उसीमें कैद हो जाता है। इसी प्रकार साधक भी भोजनादि द्रव्योंके लिये किसी व्यक्तिके गुणसे आकर्षित होकर उसीपर आश्रित हो जाता है, तो वह मोहमें बँध जाता है। साधक जितने परिमाणमें भोज्य वस्तु द्वारा जीवन-यात्राका निर्वाह हो सके, उतने ही परिमाणमें किसी एक गृहस्थीको कष्ट दिये बिना कई घरोंसे थोड़ा-थोड़ा भोज्य-द्रव्य संग्रह कर ले। भ्रमर जैसे विभिन्न पुष्पोंसे उनका मकरन्द ग्रहण करता है, उसी प्रकार साधक भी एक घरसे दूसरे घर जाते हुए (माधुकरी वृत्तिका आश्रय लेकर) देहके निर्वाहके लिये अल्प-अल्प भोज्य करे॥ ९॥

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥ १०॥

जिस प्रकार भौंरा क्षुद्र, बृहत् आदि नाना पुष्पोंसे मधु संग्रह करता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि वह छोटे और बड़े सभी प्रकारके शास्त्रोंसे उसका सार अंश ग्रहण करे। कई स्थलोंपर देखा जाता है कि मनुष्य श्रीगौरसुन्दरके "लीलावसान" एवं "द्वारकाभ्रमण" इत्यादि बहिर्जगतके विषयों पर चर्चा करके आत्म-वञ्चना करते हैं तथा कोई-कोई मन्दिरके जीर्ण-संस्कारादि कार्योंमें फँसे रहकर समय व्यतीत करते हैं। सार ग्रहण न करनेपर भक्तकी चतुरता सिद्ध नहीं होती॥ १०॥

सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षितम्।
पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न सङ्ग्रही॥ ११॥

'यह सायंकालमें भोजन कर लूँगा, यह दूसरे दिन ग्रहण कर लूँगा'—यह सङ्कल्प करके भिक्षासे प्राप्त अन्नादिका सञ्चय करके नहीं रखना चाहिए, हस्त-पात्रमें जितने परिमाणमें अन्न ग्रहण

किया जा सके अथवा उदर-भाण्डमें एक बारमें जितना रखा जा सके, उतना ही भिक्षाके द्वारा संग्रह करना चाहिए। मधुमक्खीकी तरह सञ्चय-प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। प्रयोजनके अतिरिक्त सञ्चय आत्म-विनाशका कारण होता है। अधिक संग्रह करनेपर आसक्तिके कारण मधुमक्खी अपने छत्तेमें ही अटक जाती है। (भगवद्-भजन करने अथवा दूसरोंको करानेके लिये भिक्षाका संग्रह करना तो चाहिए।)॥ ११॥

सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षुकः।
मक्षिका इव संगृह्णन् सह तेन विनश्यति॥ १२॥

भिक्षुक सायंकालके लिये अथवा दूसरे दिनके लिये कदापि संग्रह न करे, संग्रह करनेपर उसे मधुमक्खियोंकी भाँति सञ्चित द्रव्योंके साथ ही विनष्ट हो जाना पड़ेगा। (अत्यावश्यक होनेसे यहाँ वाक्यकी पुनरावृत्ति है।)॥ १२॥

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।
स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः॥ १३॥

स्पर्श-विषयमें आसक्ति नाशका कारण है। यह शिक्षा हाथीसे प्राप्त हुई है। साधक मुनि काष्ठमयी स्त्रीमूर्त्तिको देख भी ले, तो पैरसे भी उसका स्पर्श न करे। स्त्रीमूर्त्तिके स्पर्शसे उसे अङ्ग-संसर्गवश हथिनी द्वारा प्रलोभित हाथीके समान विषय-गर्त्तमें पतित एवं बद्ध होना पड़ता है। हाथीका शिकार करनेवाला हस्तिनीको दिखाकर उसे घाससे ढके गड्ढेमें गिराकर अपना कार्य साध लेता है॥ १३॥

नाधिगच्छेत् स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः।
बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा॥ १४॥

विवेकी पुरुष कभी भी अपनी मृत्यु-स्वरूप कामिनियोंके संसर्गकी प्रार्थना अथवा कामना न करे, क्योंकि हथिनीमें आसक्त वह बलवान् हाथी उसी हथिनीमें आसक्त दूसरे अधिक बलवान् हाथियों द्वारा मार दिया जाता है। उसी प्रकार वह स्त्री-संसर्गी पुरुष

भी उक्त स्त्रीमें आसक्त और उसके द्वारा आनीत दूसरे अधिक बलवान् जार पुरुषों द्वारा मार दिया जाता है॥ १४॥

न देयं नोपभोग्यञ्च लुब्धैर्यद्दुःखसञ्चितम्।
भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थवित्मधु॥ १५॥

संसारके लोभी पुरुष कष्टसे धनका सञ्चय तो करते रहते हैं, परन्तु उस सञ्चित धनका वे न तो स्वयं उपभोग करते हैं और न ही किसीको दान देते हैं। मधु निकालनेवाला मनुष्य जिस प्रकार वृक्षके कोटरकी आस-पासकी मधुर ध्वनिसे अवगत होकर तथा मधुमक्खियोंके आवागमनको देखकर उन मधुमक्खियोंके द्वारा सञ्चित मधुको निकाल ले जाता है, उसी प्रकार लोभी मनुष्य द्वारा सञ्चित धनकी टोह रखनेवाला मनुष्य उस लोभीके विविध रूप-लक्षण देखकर एवं भू-गर्भादिमें स्थित गुप्त धनकी वार्त्तासे अवगत होकर उस धनका उपभोग करने लगता है। अतः बुद्धिमान्के लिये संग्रह करना उचित नहीं है—यह शिक्षा मैंने मधुमक्खीसे ग्रहण की है॥ १५॥

सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः।
मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम्॥ १६॥

निज उद्यम बिना भोग सम्भव है—इस विषयमें मधुहरणकारी मेरा गुरु है। मधुहरणकर्त्ता व्याध जिस प्रकार दूसरेका सञ्चित मधु हरण कर लेता है, उसी प्रकार यति पुरुष भी सुख-भोग-ऐश्वर्यके अभिलाषी गृहस्थोंके कष्टसे अर्जित अर्थ द्वारा निष्पादित अन्नादि भक्ष्य द्रव्योंका पहले भोजन करते हैं अर्थात् बद्ध जीवों द्वारा संग्रहीत एवं सञ्चित वित्तके प्रथम भागको भिक्षाके रूपमें ग्रहण करते हैं। (यह बाह्य दृष्टि है, वस्तुतः वे तो इस भिक्षाको भगवत्-सेवाके लिये स्वीकार करते हैं। कहा गया है कि गृहस्थ व्यक्ति पक्व अन्नको ब्रह्मचारी एवं यतिको न देकर स्वयं भोग करता है, तो उसे चान्द्रायण प्रायश्चित करना पड़ता है।)॥ १६॥

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद् यतिर्वनचरः क्वचित्।
शिक्षेत हरिणाद् बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात्॥ १७॥

वनवासी संन्यासीको कभी भी विषयभोग-सम्बन्धी (ग्राम्य) सङ्गीत नहीं सुनना चाहिए, वह इस बातकी शिक्षा हिरनसे ग्रहण करे, जो व्याधके संगीतसे मोहित होकर बँध जाता है तथा असमय मृत्युको प्राप्त होता है। अतः हिरनोंसे सङ्गीत-आसक्तिरूप दोषकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। जड़कर्ण-रसायन ग्राम्यगीत सुनकर संन्यासी भोगपरायण हो सकता है॥ १७॥

नृत्यवादित्रगीतानि जुषन् ग्राम्याणि योषिताम्।
आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः॥ १८॥

हिरनीके गर्भसे पैदा हुए ऋष्यशृङ्ग मुनि स्त्रियोंके विषय-सम्बन्धी नृत्य, गीत और वाद्य देख-सुनकर उनके वशीभूत हो गये थे और उनके हाथकी कठपुतली बन गये थे॥ १८॥

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा॥ १९॥

जिस प्रकार आहार्य-रस-विमोहिता मछली काँटेमें लगे हुए माँसके टुकड़ेके लोभसे काँटेको भी निगल जाती है और मृत्युके मुखमें जा पड़ती है, वैसे ही स्वादका लोभी दुर्बुद्धि मनुष्य भी अपनी दुर्जय जिह्वाके रसमें आसक्त होकर मारा जाता है। यह शिक्षा मैंने मछलीसे सीखी है। जिह्वा-वेगका दास होनेपर कृष्णका भजन नहीं होता॥ १९॥

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते॥ २०॥

विवेकी पुरुष उपवासी (निराहार) रहकर प्रायः दूसरी सभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु इससे उनकी जिह्वा वशमें नहीं होती। उपवासीका जिह्वा-वेग तो पहलेसे और भी प्रबल हो जाता है। (षड्-रस-सेवन स्थूलरूपसे जिह्वाका कार्य

है।) श्रीव्रजमण्डलके द्वादश वनोंके भ्रमणसे द्वादश प्रकारके सूक्ष्म (भौतिक) रस-संग्रहसे मुक्ति मिल जाती है तथा कृष्णानुशीलनसे श्रीव्रजमण्डलके बारह रसों (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य, हास्य, वीभत्स, वीर, रौद्र, भय, आश्चर्य, दया) का रसिक हुआ जा सकता है। प्रिय वस्तुसे वञ्चित होने पर जिह्वा अत्यन्त लुब्ध हो जाती है, अतः विवेकी रुचि परिवर्तन करते हुए इन्द्रियों पर सदैव जय प्राप्त करें, रसके वशीभूत होकर प्रेयःपथपर अग्रसर न हों॥ २०॥

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥ २१॥

मनुष्य जब तक रसनेन्द्रिय (जिह्वा) को जय नहीं कर लेता, तब तक दूसरी सभी इन्द्रियोंको वशीभूत कर लेनेपर भी वह जितेन्द्रिय नहीं हो सकता। जिह्वाके वेगको जय कर लेनेपर सभी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त हो सकती है। जिह्वा वेगको जीतनेके लिये उच्चस्वरसे भगवान्‌के नामका कीर्त्तन एवं भगवत्-प्रसाद-सेवन ही साधन है॥ २१॥

पिङ्गला नाम वेश्यासीद् विदेहनगरे पुरा।
तस्या मे शिक्षितं किञ्चिन्निबोध नृपनन्दन॥ २२॥

हे नृपनन्दन! प्राचीन कालमें विदेहनगरीमें पिङ्गला नामक एक वेश्या रहती थी। मैंने उससे कुछ शिक्षा ग्रहण की है, उसे श्रवण करो॥ २२॥

सा स्वैरिण्येकदा कान्तं सङ्केत उपनेष्यती।
अभूत् काले बहिर्द्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम्॥ २३॥

एक दिन वह स्वेच्छाचारिणी वेश्या सायंके समय किसी पुरुषको (उपपतिको) अपने रमणस्थानमें लानेके लिये उत्तम रूप धारण करके (अपने हाव-भाव दिखाती हुई) बहुत देर तक अपने घरके दरवाजेके बाहर खड़ी रही॥ २३॥

मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान् पुरुषर्षभ।
तान् शुल्कदान् वित्तवतः कान्तान्मेनेऽर्थकामुकी॥ २४॥

हे पुरुषवर! उस वेश्याको धनकी आकाङ्क्षा थी। मार्गमें प्रत्येक पुरुषको आते देखकर सोचती कि यह व्यक्ति धनवान् एवं मूल्यदाता है। यही रतिशुल्कदायी मेरा कान्त होगा अर्थात् धन देकर मेरा उपभोग करेगा॥ २४॥

आगतेष्वपयातेषु सा सङ्केतोपजीविनी।
अप्यन्यो वित्तवान् कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः॥ २५॥
एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती।
निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं समपद्यत॥ २६॥

मार्गमें आते पुरुषोंको आँखोंसे दूर जाते वह सङ्केत-उपजीवनी (वेश्यावृत्ति ही जिसके जीनेका साधन था) यही सोचती कि कोई धनवान् आएगा और मुझे प्रचुर मात्रामें धन देगा—इस दुराशामें उसे नींद भी नहीं आती, वह घरके द्वारका सहारा लेकर बहुत समय तक खड़ी रहती। वहाँसे वह कभी घरमें प्रवेश कर जाती और कभी पुनः बाहर आ जाती। इसीमें अर्द्ध रात्रि उपस्थित हो गयी॥ २५-२६॥

तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः।
निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः॥ २७॥

राजन्! तदनन्तर धनकी आशामें धनी लोगोंकी बाट जोहते-जोहते पिङ्गलाका मुख सूख गया, चित्त व्याकुल हो गया। अब उसे इस वृत्तिसे तीव्र वैराग्य हो गया। अर्थका चिन्तन करते-करते उसमें जो परम वैराग्य उत्पन्न हुआ, वही परिणाममें प्रकृत (वास्तव) सुखकारी हो गया॥ २७॥

तस्या निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम।
निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः॥ २८॥

इस प्रकारसे जब पिङ्गलाके हृदयमें वैराग्यकी भावना उत्पन्न हुई, तब उसने एक गीत गाया। उस गीतको मुझसे सुनिए। वैराग्य ही पुरुषोंके आशारूपी बन्धनको खण्ड-खण्ड करनेके लिये एक तीव्र धारवाली तलवारके समान है॥ २८॥

न ह्यङ्गाजातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति।
यथा विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप॥ २९॥

हे राजन्! मनुष्योंके हृदयमें जब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता, तब तक वह शरीर और उसके बन्धनको परित्याग करनेकी इच्छा उसी प्रकार नहीं करता, जिस प्रकार विज्ञान-रहित अज्ञानी पुरुष ममताके बन्धनको त्यागना नहीं चाहता॥ २९॥

पिङ्गलोवाच—

अहो मे मोहवितर्तिं पश्यताविजितात्मनः।
या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशा॥ ३०॥

पिङ्गलाने यह गीत गाया था—अहो! हाय! हाय! मैं अपनी इन्द्रियोंके वशीभूत हो गयी। मुझे कैसा प्रबल मोह उत्पन्न हुआ है! सभी लोग देखें कि इस मोहके कारण मैं विवेकरहित होकर तुच्छ मनुष्योंके निकट काम्य-प्राप्तिकी आशा कर रही हूँ, यह कितने दुःखकी बात है! मैं सचमुच मूर्ख हूँ। (अर्जन-प्रवृत्ति अजितेन्द्रिय मनुष्योंके मोह-विस्तारका कारण है। विवेक उपस्थित होनेपर ही जीवका प्रेयःपथानुगमन श्रेयःपथानुगमनमें परिणत होता है।)॥ ३०॥

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं
वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय।
अकामदं दुःखभयाधिशोक-
मोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा॥ ३१॥

मेरी मूर्खताकी चरम-सीमा तो देखो! मेरे निकट ही मेरे हृदयमें रति सुख प्रदान करनेवाले, प्रचुर धन देनेवाले, नित्यकालस्थायी मेरे

प्रियतम जगदीश्वर सर्वदा वर्तमान हैं, तो भी मैं उनकी सेवाका परित्याग करके ऐसे तुच्छ पुरुषोंकी सेवा कर रही हूँ, जो मेरी कामना पूर्ण करनेमें असमर्थ हैं, दुःख-भय-दुश्चिन्ताओंसे ग्रस्त हैं तथा शोक-मोह ही देनेवाले हैं॥ ३१॥

अहो मयात्मा परितापितो वृथा
साङ्केत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्त्तया ।
स्त्रैणान्नराद् यार्थतृषोऽनुशोच्यात्
क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती॥ ३२॥

हाय! हाय! मैंने स्त्री-लम्पट, अर्थ-लोलुप (अर्थकी तृष्णासे युक्त), शोचनीय और निन्दनीय लोगोंके निकट रतिसुख और धनकी आशामें अपने शरीरको बेच दिया है। (भोगके उद्दीपक कौशलको साङ्केत्य वृत्ति कहा जाता है। इस कौशलसे उपार्जित वित्त असद् जीविकाके अन्तर्भुक्त माना जाता है।) बड़े दुःखकी बात है, मैंने अत्यन्त निन्दनीय वेश्या-वृत्तिका अवलम्बनकर अपने शरीर और मनको व्यर्थ ही कष्ट दिया है। मुझे धिक्कार है!॥ ३२॥

यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्य-
स्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम्।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्
विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या॥ ३३॥

हाय! जीवका यह स्थूल शरीर गृहवत् है। यह शरीर अस्थियोंसे निर्मित है तथा वंश (रीढ़की हड्डी), वंश्य (पसलियों) और खम्भों (हाथ-पैरों) से युक्त है अर्थात् यह शरीररूपी घर आड़ी-पड़ी शहतीरों, थूनियों तथा खम्भोंसे बना हुआ है। यह शरीर चाम, रोएँ और नाखूनोंसे आच्छादित है और इसके नौ द्वार हैं, जिनसे निरन्तर मलादि क्षरित होते रहते हैं। आश्चर्य है, मुझे छोड़कर अन्य कौन-सी ऐसी स्त्री होगी, जो मल-मूत्रसे परिपूर्ण इस मनुष्य शरीरको अपना प्रिय कान्त समझकर सेवा करेगी?॥ ३३॥

विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढ़धीः।
यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात् काममच्युतात्॥ ३४॥

इस विदेह नगरमें मेरे समान और कौन विवेकशून्या (महामूर्खा) है, जो आत्मस्वरूप-प्रदाता अखिलरसामृतमूर्त्ति भगवान् श्रीहरिका परित्याग करके अन्य मनुष्योंके निकट भोग्यवस्तुओंकी कामना करती हो। (अनित्य वस्तुका सेवन-मूर्खताका परिचायक है।)॥ ३४॥

सुहृत् प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम्।
तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा॥ ३५॥

केवल भगवान् अच्युत ही जीवोंके एकमात्र प्रियतम, स्वामी, हितकारी, प्रभु और अन्तर्यामी हैं। मैं आत्मनिवेदन-मूल्यके बदले उन्हें खरीद लूँगी और उनके साथ लक्ष्मीदेवीकी भाँति (लक्ष्मीदेवीके शरणापन्न होकर) विहार करूँगी॥ ३५॥

कियत् प्रियं ते व्यभजन् कामा ये कामदा नराः।
आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः॥ ३६॥

कालके प्रभावसे निरन्तर आद्यन्तवन्त (आदि एवं अन्तसे युक्त) अर्थात् उत्पत्ति और विनाशशील ये समस्त जागतिक विषय भला क्या सुख प्रदान कर सकते हैं, कामप्रद मनुष्य और देवता अपनी पत्नियोंको सुख प्रदान करनेमें किञ्चित् भी समर्थ नहीं हो सके हैं। वे तो स्वयं कर्मफलसे प्राप्त जन्म-मृत्युरूप कालके शिकार बने हुए हैं। (अतएव इस लोकमें अथवा परलोकमें परमात्मासे बढ़कर कोई सेवनीय नहीं है।)॥ ३६॥

नूनं मे भगवान् प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा।
निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः॥ ३७॥

मैं समझती हूँ कि अवश्य ही मेरे किसी (अज्ञात) शुभ कर्मसे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हैं, तभी तो मेरे दुराशा-ग्रस्त हृदयमें परम कल्याणकारी एवं सुखप्रद वैराग्यका उदय हुआ है॥ ३७॥

मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति॥ ३८॥

मनुष्य वैराग्य उदित होनेपर गृहादि बन्धनोंका परित्याग करके शान्ति प्राप्त करते हैं—आज मेरे हृदयमें भी विरक्तिका उदय हो रहा है। मैं भाग्यशालिनी हूँ, जो मुझे भगवान्‌का अनुग्रह प्राप्त हो रहा है। यदि भगवान् मुझसे प्रसन्न न होते, तो मुझ मन्दभागिनी वेश्याका यह कष्ट इस प्रकार से निर्वेदका कारण न बनता। महान् कष्ट पानेवाला संसारसे विरक्त हो जाता है॥ ३८॥

तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गताः।
त्यक्त्वा दुराशाः शरणं ब्रजामि तमधीश्वरम्॥ ३९॥

इसलिये मैं भगवान् श्रीहरिका यह उपकार आदरपूर्वक सिर झुकाकर स्वीकार करती हूँ और ग्राम्य-विषय-सम्बन्धिनी दुराशाओंका परित्याग करके उन्हीं जगदीश्वर श्रीहरिकी शरण ग्रहण करती हूँ॥ ३९॥

सन्तुष्टा श्रद्दधत्येतद्यथालाभेन जीवती।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै॥ ४०॥

उनके शरणागत होनेके बाद उनके उपकारों पर विश्वास रखकर, उनके प्रति भाग्यक्रमसे श्रद्धावती होकर जो कुछ भी वस्तु प्राप्त हो जाए, उसीसे सन्तुष्ट होकर जीवन धारण करूँगी एवं अपने हृदयमें विद्यमान रतिप्रद श्रीहरिके साथ विहार करूँगी॥ ४०॥

संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम्।
ग्रस्तं कालाहिनात्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः॥ ४१॥

इस भवकूपमें पड़े हुए रूप, रस आदि विषयोंके द्वारा अपहृत-विवेक (जिनकी बुद्धिको विषयोंने अन्धा बना दिया है), काल सर्पके मुखमें कवलित जीवोंको उद्धार करनेमें श्रीहरिके अतिरिक्त और कौन समर्थ है? कोई भी नहीं॥ ४१॥

आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात्।
अप्रमत्त इदं पश्येद्ग्रस्तं कालाहिना जगत्॥ ४२॥

जब मनुष्य समग्र जगत्को इस प्रकारसे काल सर्पके कवलमें कवलित देखता है, तो वह स्वयं विवेकवान् होकर सब प्रकारके विषय-भोगोंसे विरक्त होकर स्वयं ही अपनी रक्षा करनेमें समर्थ हो जाता है॥ ४२॥

श्रीब्राह्मण उवाच—

एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम्।
छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा॥ ४३॥

अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी कहते हैं—पिङ्गला वेश्याने ऐसा निश्चयकर उपपति समागमरूप तृष्णा-जनित दुराशाका परित्याग कर दिया और शान्त-चित्त होकर अपनी शय्यापर सो गयी॥ ४३॥

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे पिङ्गलोपाख्यानेऽष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

इस संसारमें आशा ही मनुष्योंका परम दुःख है और निराशा ही परम सुख है; क्योंकि पिङ्गला वेश्याने जब कान्त-समागमकी आशाको परित्याग कर दिया, तभी वह सुख-निद्राको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकी॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके आठवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

नवमोऽध्यायः

अवधूत-उपाख्यान

श्रीब्राह्मण उवाच—

परिग्रहो हि दुःखाय यद्यत् प्रियतमं नृणाम्।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद्विद्वान् यस्त्वकिञ्चनः॥ १॥

अवधूत ब्राह्मण श्रीदत्तात्रेयजीने कहा, हे राजन्! मनुष्योंको जो वस्तुएँ अतिशय प्रिय लगती हैं, उन सबकी आसक्ति ही दुःखका कारण होती है। अतः जो आसक्तिका परिणाम जानकर अकिञ्चन हो जाए, वही परमानन्दकी प्राप्तिमें समर्थ हो सकता है॥ १॥

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनोऽन्ये निरामिषाः।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत॥ २॥

एक बार एक कुरर पक्षी अपनी चोंचमें माँस लिये हुए था कि अलब्ध-माँसवाले कुरर पक्षी माँस प्राप्त करनेके लिये उसपर टूट पड़े, तब इस पक्षीने उस माँसका परित्याग कर दिया और शान्ति प्राप्त की। (भगवत्-प्रेम प्राप्त करनेके लिये उत्सुक व्यक्ति हिंसा-नीतिका अवलम्बन नहीं करता तथा उसके सुखमें बाधा डालनेवाला उसका कोई शत्रु भी नहीं रहता। कुरर पक्षीका माँस-त्याग यही सिखाता है।)॥ २॥

न मे मानापमानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम्।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत्॥ ३॥

मुझे अपने मान या अपमानका कोई ध्यान नहीं है। गृहस्थ लोगोंकी भाँति अपने घर और परिवार आदिके विषयमें भी मुझे कोई चिन्ता नहीं है, इसलिये मैं बालककी भाँति अपने साथ ही

क्रीड़ा करता हूँ और आत्मतृप्त होकर भूमण्डलमें विचरण करता हूँ। वस्तुतः आत्मा ही एकमात्र लभ्य वस्तु है॥ ३॥

द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ।
यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः॥ ४॥

इस जगत्में अज्ञ (भोला-भाला) एवं निश्चेष्ट (उद्यम-रहित) बालक तथा गुणातीत एवं तत्त्वज्ञ पुरुष—ये दो प्रकारके लोग ही चिन्तासे रहित होते हैं और परमानन्दमें निमग्न रहते हैं। (अज्ञ एवं सर्वज्ञ दोनों ही निश्चिन्त होते हैं।)॥ ४॥

क्वचित् कुमारी आत्मानं वृणानान् गृहमागतान्।
स्वयं तानर्हयामास क्वापि यातेषु बन्धुषु॥ ५॥

(कुमारीसे शिक्षाके विषयमें बता रहे हैं) एक बार एक विवाह-योग्य बालिका थी, जिसके पितादि बान्धव घरसे कहीं बाहर गये थे, उसका वरण करनेके लिये कुछ लोग उसके घरमें उपस्थित हुए। उसने स्वयं ही कुश, आसन, जलादि द्वारा उनका आतिथ्य सत्कार किया॥ ५॥

तेषामभ्यवहारार्थं शालीन् रहसि पार्थिव।
अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शङ्खाः स्वनं महत्॥ ६॥

हे पार्थिव! वह बालिका उन अतिथियोंको भोजन करानेके लिये घरके भीतर एकान्तमें शालिधान कूटने लगी। उस समय उसकी कलाईमें पहने हुए शङ्खके कङ्कन परस्पर टकराकर जोर-जोरसे शब्द करने लगे॥ ६॥

सा तज्जुगुप्सितं मत्वा महती व्रीडिता ततः।
बभञ्जैकैकशः शङ्खान् द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत्॥ ७॥

धान कूटना दरिद्रताका परिचायक है, इसलिये अतिथियोंके निकट यह अत्यन्त निन्दाकी बात होगी—यह विचार करके उस बुद्धिमती बालिकाने लज्जाके कारण दोनों हाथोंकी कलाइयोंमें शङ्खके दो-दो कङ्कन छोड़कर क्रमशः समस्त कङ्कन तोड़ दिये॥ ७॥

उभयोरप्यभूद्घोषो ह्यवघ्नन्त्याः स्वशङ्खयोः।
तत्राप्येकं निरभिददेकस्मान्नाभवद्-ध्वनिः॥ ८॥

तत्पश्चात् उक्त बालिका पुनः धान कूटने लगी। उस समय वे शङ्खके दोनों कङ्कन भी परस्पर आघातके कारण पुनः शब्द करने लगे। अब उसने अपने हाथोंसे एक-एक कङ्कन और उतार दिया। एक-एक कङ्कन बचे रहनेसे धान कूटनेपर कोई शब्द नहीं हुआ॥ ८॥

अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिन्दम।
लोकाननुचरन्नेतान् लोकतत्त्वविवित्सया॥ ९॥

हे रिपुदमन! उस समय लोक-तत्त्वकी शिक्षा-ग्रहणके लिये समस्त पृथ्वीपर परिभ्रमण करते हुए उस दिन मैं भी वहाँ पहुँच गया था। मैंने अपनी आँखोंसे स्वयं उस कुमारीको देखकर यह शिक्षा प्राप्त की है—॥ ९॥

वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्त्ता द्वयोरपि।
एक एव वसेत् तस्मात् कुमार्या इव कङ्कणः॥ १०॥

हे यदु महाराज! जब बहुत लोग एकत्र वास करते हैं, तब उनमें नाना विषयोंपर परस्पर कलह होता है। दो व्यक्तियोंके साथ रहने पर भी परस्पर वृथा बातचीतमें ही काल अतिवाहित होता है। इसलिये कुमारी कन्याके शङ्ख-वलयके समान अकेले ही विचरण करना चाहिए। (स्निग्ध स्वजातीयाशयोंके साथ भजन करना चाहिए तथा विरुद्ध भावाश्रितोंको छोड़ देना चाहिए, अन्यथा विरोध अवश्यम्भावी है।)॥ १०॥

मन एकत्र संयुञ्ज्याज्जितश्वासो जितासनः।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः॥ ११॥

मैंने बाण बनानेवालेसे यह सीखा है कि आसन और श्वासको जीतकर सावधानीपूर्वक वैराग्य और भक्ति-मिश्रित अभ्यासयोगके द्वारा अपने मनको वशीभूत कर ले और फिर

बड़ी सावधानीसे उस मनको एक मात्र लक्ष्य-वस्तुमें संयोग कर दे॥ ११॥

यस्मिन्मनो लब्धपदं यदेतत्
शनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून्।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च
विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम्॥ १२॥

लय-विक्षेपात्मक चित्तके भगवत्-वस्तुमें प्रतिष्ठित होनेपर कर्मवासनाका अर्थात् रजोगुण एवं तमोगुणका क्रमशः परिहार (त्याग) हो जाता है और सत्त्वगुणकी वृद्धि होने लगती है, जिससे चित्त लय एवं विक्षेपसे रहित हो जाता है और सत्त्वगुण भी क्रमशः क्षीण होता हुआ ईंधनरहित अग्निके समान निर्वाण अर्थात् परमानन्दको प्राप्त करता है। (प्रकृतिके गुणरूपी ईंधनके निवृत्त होनेपर संसाररूपी अग्नि बुझ जाती है। गुण-मुक्त होनेका एकमात्र उपाय है—'मनका निग्रह'। अतः जगदीश्वरमें मनका संयोग कर लेना चाहिए॥ १२॥

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किञ्चिद्बहिरन्तरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न विवेद पार्श्वे॥ १३॥

जिसका चित्त परमात्मामें स्थिर हो जाता है, उसे बाहरी और भीतरी किसी भी पदार्थका भान नहीं होता। एक बाण बनानेवाला कारीगर बाणको सीधा एवं तीव्र बनानेमें इतना तन्मय हो गया था कि उसके पासके मार्गसे ही भेरी-ध्वनिके साथ राजाकी सवारी निकल गयी और उसे पता तक नहीं चला। उसी प्रकार साधक पुरुष भी भगवान्में आत्म-समर्पणके समय बाण बनानेवालेके समान चित्तको इस प्रकार तन्मय कर दे कि बाह्य अथवा आभ्यन्तरिक किसी भी विषयको वह जान ही न पाये॥ १३॥

एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः।
अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः॥ १४॥

सर्पसे शिक्षाके विषयमें कहते हैं कि साधकको निर्दिष्ट वासस्थानसे रहित अर्थात् स्थिर एवं सुनिश्चित आवासके बिना अकेले ही सर्पके समान भ्रमण करना चाहिए, सावधानीपूर्वक एकान्त-वासी होकर गुहा इत्यादिमें पड़े रहना चाहिए, अलक्ष्यगतिसे (अनदेखा तथा अनजाना) रहकर ऐसा आचरण करना चाहिए कि कोई उसे पहचान न सके। उसे असहाय (किसीकी सहायता लिये बिना) एवं अल्पभाषी होना चाहिए॥ १४॥

गृहारम्भो हि दुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते॥ १५॥

नश्वरदेहयुक्त प्राणियोंके लिये गृह-निर्माण दुःखकर एवं व्यर्थ ही है। सर्प दूसरोंके द्वारा बनाये गये गड्ढेमें प्रवेश करके सुखपूर्वक वृद्धिको प्राप्त होता है। (अतः भक्तगण भौतिक प्रगतिके लिये प्रयास न करें तथा प्राप्त ऐश्वर्यको भगवान्‌की सेवामें लगावें।)॥ १५॥

एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया।
संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः
एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः॥ १६॥

मैंने मकड़ीसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जगत्पति, सर्वाराध्य, सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायण अकेले ही अर्थात् किसी दूसरे पदार्थकी सहायताके बिना ही अपनी माया शक्तिके द्वारा सृष्टिकालमें इस विश्वकी सृष्टि करते हैं तथा पूर्वसृष्ट इस विश्वको प्रलयकालमें कालरूप अपने अंश (शक्ति) के द्वारा अपने भीतर ही समेट लेते हैं (संहार कर देते हैं)। वे स्वयं ही स्वयंके आधार, अखिल शक्तियोंके आधार, एक (सजातीय चिद्‌रूपी जीव-भेदसे रहित), अद्वितीय (विजातीय प्रधानादि भेदसे रहित) होकर अवस्थित हैं। [महाप्रलयके बाद महासमष्टि (सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों) एवं व्यष्टि जीवोंका

विनाश होनेके कारण वे अद्वितीय हैं, एक हैं, अन्य कोई ईश्वर नहीं है। भगवान् स्वयं अपने ही आश्रय पर रहते हैं।]॥ १६॥

कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु।
सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः॥ १७॥
परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः।
केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः॥ १८॥

कल्पके अवसानमें भगवान् अपने प्रभावसे कालशक्तिके द्वारा सत्त्वादि अपनी शक्तियोंको निरपेक्ष साम्यावस्था तक पहुँचा देते हैं, तो भी वे प्रकृति (प्रधान), ब्रह्मादि देवगण, उच्च-नीच, मुक्त एवं बद्ध जीवोंके एकमात्र आश्रय (परमाराध्य अथवा नियन्ता) बने रहते हैं। प्रलयकालमें जगत्-पालनादि व्यापार न रहनेके कारण वे एकमात्र सनातन पुरुष अनुभव एवं परमानन्दरूपमें विद्यमान रहते हैं। किसी भी उपाधिधारी सम्बन्धसे रहित होनेके कारण वे निरुपाधिक कहे जाते हैं; प्रलय कालमें उनकी माया आदि शक्तियाँ निद्रित अवस्थामें रहती हैं (वे स्वयं निद्रित नहीं होते), इसलिये भी वे निरुपाधिक कहे जाते हैं। केवल मात्र अवशिष्ट रहनेके कारण उनका नाम कैवल्य (मोक्ष) है। जीव जब गुणत्रयसे मुक्त होकर भगवान्‌की नित्यसेवामें निरत रहता है, तब वह केवलानुभवानन्द-सन्दोह (अनुभव एवं आनन्दकी समग्रता) एवं उपाधि-रहित व्रजवासरूप कैवल्य पदको प्राप्त होता है अर्थात् उनका साकार दर्शनकर आनन्दके सागरमें लीन रहता है॥ १७-१८॥

केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम्।
संक्षोभयन् सृजत्यादौ तया सूत्रमरिन्दम॥ १९॥

हे शत्रुदमन! वे भगवान् ही सृष्टिकालमें सर्वप्रथम आत्मानुभवरूप अपनी कालशक्तिके द्वारा अपनी त्रिगुणात्मिका मायाको क्षुब्ध करते हैं और उसीसे क्रिया-शक्ति-प्राधान्य-युक्त महत्तत्त्वकी अर्थात् प्रधानसूत्रकी रचना करते हैं॥ १९॥

तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विश्वतोमुखम्।
यस्मिन् प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान्॥ २०॥

सब प्रकारकी सृष्टिका मूल कारण जिससे यह सारा विश्व सूतमें ताने-बानेकी तरह ओतप्रोत (ग्रथित) है और जिसके द्वारा जीव संसार-दशाको प्राप्त होता है, शास्त्रकार त्रिगुणात्मक विचित्र विश्वको अहङ्कार द्वारा प्रकट करनेवाले उस सूत्ररूप महत्तत्त्वको ही त्रिगुणका कार्य कहा करते हैं। वायु ही सूत्र है। सूत्रसे ही ये लोक-परलोक तथा सभी भूत बँधे हुए हैं। इसी वायुरूप प्राणके द्वारा जीव संसरण करता है॥ २०॥

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः॥ २१॥

जिस प्रकार मकड़ी अपने हृदयसे मुखके द्वारा सूत्र जाल फैलाती है, उसी सूत्रपर विहार करती है और पुनः स्वयं ही उसे निगल जाती है, उसी प्रकार परमेश्वर भी अपनेसे इस विश्वका सृजन करते हैं, स्वयं ही उसमें विहार (लीला-विलास) करते हैं और प्रलयकालमें पुनः अपनेमें ही उसका संहार कर लेते हैं—लीन कर लेते हैं॥ २१॥

यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद्द्वेषाद्भयाद्वापि याति तत्तत्स्वरूपताम्॥ २२॥

मैंने भृङ्गी कीटसे यह शिक्षा ग्रहण की है—देही जीव अनुराग, विद्वेष अथवा भयपूर्वक जिन-जिन वस्तुओं या विषयोंके प्रति बुद्धि सहित एकाग्ररूपसे अपने मनको लगा देता है, उसे उसी वस्तुका स्वरूप प्राप्त हो जाता है॥ २२॥

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसन्त्यजन्॥ २३॥

हे राजन्! जिस प्रकार एक बलवान् कीड़ा (भृङ्गी) किसी दुर्बल कीड़ेको अपने घरमें (छत्तेमें) ले आता है और उसे बन्दी

कर देता है, तो वह दुर्बल कीड़ा भयके कारण अपनेको आबद्ध करनेवाले बलवान् कीटका निरन्तर चिन्तन करता रहता है। परिणामतः अपनी पूर्व देहका त्याग किये बिना ही क्रमशः वह भृङ्गीके स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार मृत्युके समय जीव जिस ध्येय वस्तुमें एकाग्ररूपसे अपने मनका निवेश कर देता है, वह उसी ध्येय वस्तुकी स्वरूपताको प्राप्त करता है, इस विषयमें कहना ही क्या है? जीव इसी शरीरमें रहते ही अपने स्वरूप-सिद्धिक्रमसे आश्रयजातीय विचारमें प्रतिष्ठित होकर चिन्मयी बुद्धिके प्रभावसे चिन्मय स्वरूप प्राप्त कर सकता है। (भगवान्‌का ध्यान करते-करते भगवत्-स्वरूप ही हो जाता है।)॥ २३॥

एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिता मतिः।
स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो॥ २४॥

हे राजन्! इस प्रकार मैंने अपनी मतिके अनुसार इन सभी गुरुओंसे ये सभी शिक्षाएँ प्राप्त की हैं, अब मैंने अपने शरीरसे जो कुछ सीखा है, वह तुम्हें बतला रहा हूँ। उसे तुम सावधानीसे सुनो। (इस शरीरको धारण किये रहनेका फल है—एक दुःखके बाद दूसरे दुःखकी प्राप्ति।)॥ २४॥

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु-
र्बिभ्रत् स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम्।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि
पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः॥ २५॥

सर्वदा परिणाममें दुःखप्रद, उत्पत्ति और विनाशशील यह शरीर वैराग्य और विवेककी शिक्षा प्रदान करता है—इसलिये यह मेरा गुरु है; तथापि यह शृगाल-कुत्ते आदिकी भक्ष्य सम्पत्ति अर्थात् भोजन है। (शरीरको 'पारक्यम्'—'दूसरोंके द्वारा खा लिया जानेवाला' इसीलिये कहा गया है।) यह निश्चयकर इस देहके प्रति आसक्ति-रहित होकर केवलमात्र इसके आश्रयमें यथायथ तत्त्वोंका अनुसन्धान करते हुए मैं इस संसारमें विचरण कर रहा हूँ॥ २५॥

जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान्
पुष्णाति यत्प्रियचिकीर्षया वितन्वन्।
स्वान्ते सकृच्छ्रमवरुद्धधनः स देहः
सृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मः॥ २६॥

जीव नाना प्रकारके कष्टोंको सहकर अर्थ सञ्चय करता है और उस अर्थसे शरीरके सुख एवं भोगादि सम्पादनके लिये उक्त अर्थके द्वारा स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति, पशु, भृत्य, गृह एवं आत्मीय स्वजन इत्यादिका विस्तार एवं पालन करता है। आयुष्काल शेष हो जानेपर वही शरीर वृक्षकी भाँति (वृक्ष जिस प्रकार दूसरा वृक्ष उत्पन्न करनेके लिये बीजकी सृष्टि करता है एवं कालके प्रभावसे अपने काष्ठका विनाश कर डालता है) दूसरे शरीरकी सृष्टिके बीजस्वरूप कर्मका सृजन करके स्वयं ही अपने लिये दुःखकी व्यवस्था करके संसार-प्रवाहमें चल देता है॥ २६॥

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥ २७॥

किसी गृहस्थकी अनेक स्त्रियाँ हों, तो जिस प्रकार प्रत्येक ही पतिको अपनी-अपनी ओर आकर्षित करनेकी चेष्टा करती है, उसी प्रकार जिह्वा, पिपासा, जननेन्द्रिय, त्वचा, उदर, कर्ण, नासिका, चञ्चल दृष्टि एवं कर्मेन्द्रियाँ उस देहाभिमानी जीवको अपने-अपने विषयोंकी ओर खींचते हैं। अतएव इस गुरुरूपी देहको प्राण धारण मात्रके लिये ही उपयोगी भोजन दान करे, वह भी अनासक्त भावसे, यही देह रूपी गुरुकी सेवा है। जीभ स्वादिष्ट पदार्थोंकी ओर खींचती है, प्यास जलकी ओर, जननेन्द्रिय स्त्री-सम्भोगकी ओर, त्वचा, उदर और कर्ण क्रमशः—कोमल स्पर्श, भोजन और मधुर शब्दकी ओर खींचते हैं। नासिका कहीं सुन्दर गन्ध सूँघनेके लिये ले जाना चाहती है, तो चञ्चल नेत्र सुन्दर-सुन्दर

रूप देखनेके लिये। इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ देहासक्त पुरुषको अधःपतनके लिये आकर्षित करती हैं॥ २७॥

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदन्दशूकान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥ २८॥

भगवान्ने अपनी अचिन्त्य माया-शक्तिके द्वारा वृक्ष, साँप आदि रेंगनेवाले (जन्तु) पशु, पक्षी, कीट-पतङ्ग एवं हिंस्र प्राणी रूप विविध प्रकारके शरीरोंकी—योनियोंकी रचना की, परन्तु उन्हें सन्तोष न हुआ। अन्ततः उन्होंने ब्रह्म-साक्षात्कारके लिये उपयोगी बुद्धिसे युक्त इस मनुष्य शरीरकी सृष्टि की। तब वे उससे सन्तुष्ट व आनन्दित हुए॥ २८॥

लब्ध्वा सुदुर्ल्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्
निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥ २९॥

अतएव बहुत जन्मोंके बाद जगत्में भाग्यवश पुरुषार्थ-साधक इस अनित्य एवं परम दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर निरन्तर मरणशील इस देहका जबतक पतन हो, उससे पहले ही विवेकी पुरुष त्वरित ही निःश्रेयस (परममङ्गल) की प्राप्तिके लिये यत्नवान् हो जाए, क्योंकि विषयभोग तो अन्यान्य अश्व आदि निकृष्ट शरीरोंमें (योनियोंमें) भी सम्भव होते हैं, परमार्थकी प्राप्ति अन्य देहोंमें कदापि सम्भव नहीं है। (शरीरको मरणशील कहनेसे तात्पर्य है कि मृत्यु सदैव इसके पीछे पड़ी रहती है। अतः हे यदु महाराज! आप ही विचार कीजिये कि क्या हेय है और क्या उपादेय।)॥ २९॥

एवं सञ्जातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि।
विचरामि महीमेतां मुक्तसङ्गोऽनहङ्कृतः॥ ३०॥

हे राजन्! इस प्रकार बहुत-से गुरुओंके निकटसे शिक्षा प्राप्त करके विज्ञान-प्रदीप मेरे हृदयमें प्रज्वलित रहता है, जिसके आलोकसे मैं परमात्माकी साक्षात्-अनुभवरूप-दृष्टि उपलब्ध करता हूँ। मेरे अन्तःकरणमें वैराग्य उत्पन्न हो गया है, मैं आसक्ति-रहित (मुक्त-सङ्ग) हो गया हूँ, अहङ्कारका मुझमें लेशमात्र भी नहीं रह गया है। अब मैं परमात्म-वस्तुमें प्रतिष्ठित होकर इस भूमण्डलमें सर्वत्र स्वच्छन्दरूपसे विचरण करता हूँ॥ ३०॥

नह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम्।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः॥ ३१॥

ऋषियोंने एक ही अद्वितीय ब्रह्म-वस्तुका भिन्न-भिन्न रूपोंमें वर्णन किया है। इसलिये केवल एक गुरुसे ही प्राप्त ज्ञान सुप्रचुर और सुदृढ़-सुस्थिर नहीं होता। (मनुष्य अपने गुरु द्वारा दिये गये उपदेशों एवं प्राप्त शिक्षाओंको सर्वत्र व्यावहारिक उदाहरणके रूपमें देखते हुए पुष्ट करे। वह भक्तिके मार्गमें प्रकाश देनेवाली किसी भी वस्तुका आदर कर सकता है अर्थात् भगवत् सेवा-शिक्षा हेतु व्यावहारिक पदार्थ-ज्ञानकी आवश्यकता हो, तो शिक्षागुरु कई ग्रहण किये जा सकते हैं। मन्त्र-उपदेष्टा गुरु एक ही होना चाहिए।)॥ ३१॥

श्रीभगवानुवाच—

इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः।
वन्दितः स्वर्चितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथागतम्॥ ३२॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा, हे उद्धव! अगाध बुद्धिसम्पन्न अवधूत ब्राह्मण दत्तात्रेयजीने सम्भाषणपूर्वक महाराज यदुके लिये पूर्वोक्त तत्त्वोंका वर्णन किया। तदनन्तर महाराज यदुने उनकी पूजा एवं वन्दना की। दत्तात्रेय उनसे अनुमति लेकर प्रसन्नतापूर्वक जैसे आये थे, वैसे ही चले गये॥ ३२॥

अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः।
सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे भगवदुद्धवसंवादे अवधूतगीतं नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

हे प्रिय उद्धव! हमारे पूर्वजोंके भी पूर्वज महाराज यदु अवधूत दत्तात्रेयजीके उक्त वचनोंको सुनकर सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त होकर सर्वत्र समबुद्धि हो गये। (इसी प्रकार तुम्हें भी सारी आसक्तियोंको छोड़कर समबुद्धि हो जाना चाहिए।)॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके नवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दशमोऽध्यायः

जैमिनिके पूर्व-मीमांसाके मतका खण्डन, ज्ञानका साधन और देहके सम्बन्धमें आत्माकी बद्धताका वर्णन

श्रीभगवानुवाच—

मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः।
वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत्॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्यारे उद्धव! मैंने पञ्चरात्र आदि शास्त्रोंमें कहे गये जिस वैष्णव धर्मके विषयमें वर्णन किया है, मेरे शरणागत व्यक्तिको विशेष सावधानीसे समस्त प्रकारकी इतर कामनाओंसे रहित होकर अर्थात् मनोयोगी एवं निष्काम होकर पालन करना चाहिए तथा उस धर्मके अविरोधी वर्ण, आश्रम और कुल-धर्मोंके अनुसार सदाचारका भी अनुष्ठान करना चाहिए॥ १॥

अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनाम्।
गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारम्भविपर्ययम्॥ २॥

विषयोंमें आसक्त मनुष्य विषयोंको सत्य मानकर उन्हें प्राप्त करनेके लिये सुखाभिलाषी होकर जो समस्त प्रयत्न करते हैं, उनका विपरीत फल अर्थात् दुःखादिकी प्राप्ति देखकर विशुद्धचित्त पुरुषोंको निष्काम हो जाना चाहिए॥ २॥

सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः।
नानात्मकत्वाद्विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैः॥ ३॥

(व्यावहारिक फलोंकी नश्वरताके कारण उन फलोंकी प्राप्ति होना भी अप्राप्तिके समान ही है—यही कहते हैं) विषयोंके चिन्तनमें रहनेवाला निद्रित व्यक्ति स्वप्नमें अथवा जाग्रतावस्थामें

मनःकल्पित जिन विषयोंका (मनोरथोंका) मन-ही-मन साक्षात्कार करता है, वे सभी विषय नाना-वस्तु-विषयक एवं ऐन्द्रियक होनेके कारण जिस प्रकार विफल अर्थात् पारमार्थिक फलसे रहित अर्थात् असत्य (वस्तुशून्य) होते हैं, उसी प्रकार शब्द, रसादि भिन्न-भिन्न विषयोंमें परस्पर भिन्न इन्द्रियोंके द्वारा जिस बाह्य भेदात्मक ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, वह विफल (व्यर्थ) ही है। गुणमय वस्तुओंकी भेदात्मक पृथक्-पृथक् बुद्धि पारमार्थिक फलसे रहित है। हाँ जो बुद्धि परमेश्वरके आश्रयमें रहती है, वही पारमार्थिक फल प्रदान करती है॥ ३॥

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत्।
जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्म्मचोदनाम्॥ ४॥

मेरे परायण मनुष्यको प्रवृत्तिरूप काम्य-कर्मोंका सम्पूर्णरूपसे परित्याग कर देना चाहिए, उसे अन्तर्मुख करनेवाले निष्काम तथा नित्य-नैमित्तिक कर्म ही करना चाहिए (निषिद्ध कर्म तो कदापि नहीं)। अनन्तर आत्मतत्त्वके विषयोंमें भलीभाँति निविष्ट होनेपर निष्काम कर्म सम्बन्धी शास्त्रीय विधि-विधानोंका (विधि वाक्योंका) भी आदर नहीं करना चाहिए। भगवत्-सेवा ही प्रकृत निष्काम कर्म है। जड़भोग लालसासे प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों ही दोषावह हैं, क्योंकि इनमें नित्य भगवत्-सेवाकी कोई बात ही नहीं है॥ ४॥

यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित्।
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम्॥ ५॥

मद्गतचित्त होकर अहिंसादि यम-नियमोंका निर्वाह करे। शौच आदिके नियम यदि आत्मज्ञानके विरोधी न हों, तो उनका यथाशक्ति पालन करे। अनन्तर यम-नियमोंके लिये विशेष आग्रह न रखते हुए मेरे तत्त्व एवं स्वरूपको जाननेवाले मेरी ही मूर्त्ति-स्वरूप, शान्त गुरुदेवकी सेवामें नियुक्त हो जाए। हरि-गुरु-वैष्णवकी सेवामें उदासीन रहनेवालेका कभी मङ्गल नहीं हो सकता॥ ५॥

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढ़सौहृदः।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥ ६ ॥

(गुरुसेवकका धर्म बतलाते हैं) गुरुसेवकको निरभिमान, ईर्ष्या-रहित, लौकिक-विषयोंसे अहंता-ममता रहित, निरालस, गुरुदेवके प्रति अति विश्रम्भ (विश्वास) एवं दृढ़ प्रीतियुक्त, व्यग्रता अर्थात् भौतिक कार्योंमें मोहसे रहित, तत्त्वज्ञानका अभिलाषी, दूसरोंके दोष-अनुसन्धानसे रहित और वृथालाप न करनेवाला होना चाहिए॥ ६॥

जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु ।
उदासीनः समं पश्यन् सर्वेष्वर्थमिवात्मनः॥ ७॥

वह पत्नी, पुत्र, गृह, खेत, स्वजन और धन-सम्पत्ति आदि सम्पूर्ण पदार्थोंमें एक समान प्रयोजनीयता देखकर कि ये सभी मेरे समान ही भगवान्‌की सेवाके उपकरण हैं—अतः इनमें स्वामित्वकी भावना न रखकर इनसे उदासीन ही रहे तथा स्वयंको नित्य-निरन्तर गुरुकी सेवामें नियुक्त रखे। धन, स्वर्णादि जबतक अपने प्रभुत्वमें होते हैं, तभी तक ममतास्पद हैं, सर्वदा नहीं॥ ७॥

विलक्षणः स्थूलसूक्ष्मादेहादात्मेक्षिता स्वदृक्।
यथाग्निर्दारुणो दाह्याद्दाहकोऽन्यः प्रकाशकः॥ ८॥

जिस प्रकार दाह्य अर्थात् जलाये जाने योग्य अग्नि प्रकाश्य अर्थात् प्रकाशन होने योग्य अग्निसे सर्वथा पृथक् है, उसी प्रकार यह आत्मा पाञ्चभौतिक जड़ एवं दृश्य स्थूल-शरीर तथा मन-बुद्धि-अहङ्कार आदिसे निर्मित सूक्ष्म-शरीरसे विलक्षण (भिन्न), द्रष्टा, स्वप्रकाशवान् (परापेक्षारहित), नित्य और चेतन है॥ ८॥

निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान् गुणान्।
अन्तःप्रविष्ट आधत्ते एवं देहगुणान् परः॥ ९॥

दाह्य-पदार्थोंके अन्तर्गत अग्नि जिस प्रकार तद्-तद् पदार्थकृत (ईंधनकी दशाके अनुसार) आवरण (प्रसुप्ति), प्रकाश (प्राकट्य),

अणुत्व, बृहत्त्व इत्यादि नाना प्रकारके भावोंको (गुणोंको) ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार देहमें प्रविष्ट जीवात्मा भी देहके विविध धर्मोंको स्वीकार कर लेती है। जिस प्रकार काष्ठका ही विनाश है, अग्निका नहीं, उसी प्रकार देहका विनाश है, आत्माका नहीं। अज्ञानके कारण ही हम नित्यस्वरूप आत्मापर शरीरके स्थूलतादि अनित्य लक्षणोंको आरोपित कर लेते हैं कि आत्मा उत्पन्न हो गया, आत्मा मर गया। जिस प्रकार अग्निका ईंधनसे कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार शरीरके किसी भी धर्मका आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है॥ ९॥

योऽसौ गुणैर्विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि।
संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसो विद्याच्छिदात्मनः॥ १०॥

ईश्वरके अधीन उनकी अचिन्त्य शक्ति मायाके गुणोंके द्वारा ही इस परोक्ष सूक्ष्म देहकी तथा प्रत्यक्ष स्थूल देहकी रचना हुई है। जीवका इन देहोंसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तथापि देहाध्यासकृत अविद्याके कारण जीवकी जन्म-मृत्युरूप संसार-दशा उत्पन्न होती है। अतएव ईश्वरानुग्रहसे प्राप्त चिन्मय आत्म-ज्ञान ही इस संसार-दशाका छेदन करनेमें समर्थ है॥ १०॥

तस्माज्जिज्ञासयात्मानमात्मस्थं केवलं परम्।
सङ्गम्य निरसेदेतद्वस्तुबुद्धिं यथाक्रमम्॥ ११॥

जीवात्मा इस स्थूल-शरीरके अन्तर्गत होनेपर भी विशुद्ध है और शरीर आदिसे विलक्षण है, इसलिये अपने यथार्थ आत्माके स्वरूपको—आत्माको जाननेकी इच्छा करनी चाहिए। कार्य-कारण समष्टि-स्थित शुद्ध परमात्म-तत्त्वको विचारपूर्वक जानकर स्थूल-शरीर और सूक्ष्म-शरीर आदिमें जो सत्यबुद्धि हो रही है, उसका क्रमशः परित्याग करना चाहिए॥ ११॥

आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः।
तत्सन्धानं प्रवचनं विद्यासन्धिः सुखावहः॥ १२॥

विद्यारूप अग्निकी उत्पत्तिके लिये आचार्य निम्न-स्थित अरणि अर्थात् मन्थनकाष्ठ और शिष्य ऊपर-स्थित अरणि अर्थात् मन्थनकाष्ठ अर्थात् सन्धान हैं, उपदेश-वाक्य मध्यमें स्थित मन्थनकाष्ठ है और उनके संयोगसे उत्पन्न ज्ञानकी प्राप्ति ही सान्धि अर्थात् अग्नि तुल्य है, जो अज्ञान राशिको दग्धकर विलक्षण सुख देनेवाली होती है। गुरु-पदाश्रयसे ही शिष्यके स्वरूप-ज्ञानका उदय होता है, क्योंकि यह स्वरूप-ज्ञान अविद्याग्रस्त जीव एवं विद्यावान् श्रीगुरुदेवके मध्यवर्त्ती स्थानपर स्थित है॥ १२॥

वैशारदी सातिविशुद्धबुद्धि-
र्धुनोति मायां गुणसम्प्रसूताम्।
गुणांश्च सन्दह्य यदात्ममेतत्
स्वयञ्च शाम्यत्यसमिद्यथाग्निः॥ १३॥

इस यज्ञमें निपुण शिष्य गुरुसे उपदिष्ट विशुद्ध आत्म-विषयिणीरूप विद्यारूपी अग्निको प्राप्त करके प्रकृतिके त्रिविध गुणोंसे निर्मित विषयोंकी मायाको दग्ध करके भस्मसात् कर देता है। इस विश्वके कारणस्वरूप मायिक गुणोंको दग्ध करनेपर विषयाभावमें (आत्मासे अतिरिक्त कोई भी वस्तु अवशिष्ट न रहने पर) वह उसी प्रकारसे शान्त हो जाता है, जिस प्रकार समिधाके अभावमें हुताशन। इसी विद्याके बलपर वह भगवल्लोकको भी प्राप्त करता है॥ १३॥

अथैषां कर्मकर्त्तृणां भोक्तृणां सुखदुःखयोः।
नानात्वमथ नित्यत्वं लोककालागमात्मनाम्॥ १४॥
मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा।
तत्तदाकृतिभेदेन जायते भिद्यते च धीः॥ १५॥
एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगतः।
कालावयवतः सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत्॥ १६॥

हे उद्धव! यद्यपि पूर्वोक्त सिद्धान्त ही यथार्थ है, जो मैंने तुम्हें बतलाया था, तथापि यदि जैमिनिके मतका अनुसरण करते हुए तुम

कर्म-कर्त्ता एवं सुख-दुःखभोक्ता (अपने सकाम कर्मोंके फलस्वरूप सुख-दुःखका भोग करनेवाले) जीवोंका बहुत्व (नानात्व), स्वर्गादि भोग-लोक, भोग-काल अर्थात् उनके द्वारा भोगा गया काल, भोग-प्रतिपादक-शास्त्र (भोग प्राप्त करनेके साधन बतलानेवाले शास्त्र) तथा भोक्ता पुरुषका नित्यत्व (सूक्ष्म शरीरका शाश्वतत्व), माला, चन्दन, सुन्दर स्त्री आदि भोग्य-विषयोंकी सम्पूर्ण सामग्रीकी प्रवाहरूपमें यथार्थ नित्यसत्ता एवं घट-पटादि आकारोंके भेदसे विषय-ज्ञानकी उत्पत्ति एवं भेद स्वीकार करते हो, तो बड़ा अनर्थ हो जाएगा। ऐसा माननेसे आत्माकी नित्य सत्ताका ज्ञान न हो सकेगा और न ही जन्म-मृत्युके प्रवाहसे मुक्तिकी सिद्धि सम्भव होगी। इस मतको माननेसे जन्म, मरण, जरावस्था एवं रोग सर्वदा वर्तमान रहेंगे। तुम देहादि पदार्थ एवं खण्ड-कालको नित्य मानते हो, तो सम्पूर्ण प्राणियोंके देहसे सम्बन्ध एवं सम्वत्सरादि खण्ड-कालसे सम्बन्धके कारण अति कष्टप्रद जन्म-मरणादि विकारोंकी निरन्तरताको अवश्य ही स्वीकार करना होगा। इस प्रकारसे मीमांसकोंके मतका सार यह है कि जीव स्वभावतः एवं मूलतः कर्मोंका कर्त्ता है और अपने कर्मोंके फलानुसार ही उसे सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। जीव बहुत हैं। उनके द्वारा भोग प्राप्त किये जानेवाला यह जगत्, भोगा गया समय, भोग-प्राप्तिका साधन बतलानेवाला शास्त्र, सूक्ष्म शरीर जिससे जीव भोगोंका अनुभव करता है—ये सभी नानारूपोंमें शाश्वतरूपसे विद्यमान रहते हैं। जीवको पदार्थों एवं स्थितिकी नश्वरता तथा मायाके प्रभावको देखकर विरक्त होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे सृष्टि एवं संहारके प्राकृतिक प्रवाहमें सदैव विद्यमान रहते हैं। जगत् सत्य है, मायामय नहीं। आत्म-ज्ञान शाश्वत नहीं, परिवर्त्तनशील है क्योंकि यह जागतिक वस्तुओंके भेदसे उत्पन्न होता है। उनका मानना है कि मुक्तिकी अपरिवर्त्तनशील स्थिति जीवकी सहज क्रियाशीलताको पंगु बना देती है, जो उसके हितमें नहीं है अतः निवृत्ति-मार्ग रोचक नहीं है, इन्द्रिय-तृप्ति ही एकमात्र लक्ष्य

होना चाहिए। भगवान्‌ने इस दर्शनको भौतिक एवं मिथ्या बतलाते हुए कहाकि यह सिद्धान्त जीवके हितमें नहीं है।॥ १४-१६॥

तत्रापि कर्मणां कर्त्तुरस्वातन्त्र्यञ्च लक्ष्यते।
भोक्तुश्च दुःखसुखयोः कोन्वर्थो विवशं भजेत्॥ १७॥

विशेषतः इस मतके अनुसार कर्म करनेवाले पुरुषका एवं सुख-दुःख आदि भोग करनेवाले जीवका पारतन्त्र्य ही दिखायी देता है। यदि जीव स्वतन्त्र होता, तो दुःखका फल क्यों भोगता? पराधीन व्यक्तिका निश्चय ही कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता, कालकी अधीनतासे जन्म, मृत्यु होते रहते हैं। अधीन पुरुषके विषय सुख प्राप्तिकी अपनी कोई योग्यता नहीं है॥ १७॥

न देहिनां सुखं किञ्चिद्विद्यते विदुषामपि।
तथाच दुःखं मूढानां वृथाहङ्करणं परम्॥ १८॥

तर्क हो सकता है कि जो सम्यक्‌रूपेण कर्म करना जानते हैं, वे सुखी हैं और जो नहीं जानते, वे दुःखी हैं; तो इसपर कहते हैं कि किसी स्थलपर बड़े-बड़े पण्डितोंको भी दुःख प्राप्त होते देखा जाता है और किसी स्थलपर मूर्खोंको भी सुख प्राप्त होते देखा जाता है। अतएव 'मैं कर्ममें कुशल हूँ, इसलिये मैं सुखी रहूँगा'—इसे व्यर्थका अहङ्कार ही समझना चाहिए। (कृष्ण-विमुख जीव पण्डित हो या मूर्ख—दोनों ही अवस्थाओंमें सुख प्राप्त नहीं कर सकता।)॥ १८॥

यदि प्राप्तिं विघातञ्च जानन्ति सुखदुःखयोः।
तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद् यथा॥ १९॥

यद्यपि जीवोंके लिये सुख प्राप्त करने और दुःखको दूर करनेका उपाय जानना सम्भव हो सकता है, तथापि मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, उसके प्रभाव क्षेत्रसे अपनी रक्षा करनेका उपाय सम्भव ही नहीं है॥ १९॥

को न्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके।

आद्यातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः॥ २०॥

जब तक जिऊँगा, तब तक सुखपूर्वक रहूँगा—यदि ऐसा तर्क है, तो मरणासन्न व्यक्तिको कौन-सी भोग-सामग्री अथवा भोग-कामना सन्तुष्ट कर सकती है? जिस व्यक्तिको फाँसीपर लटकानेके लिये वध्य-स्थान पर ले जाया जाता है, उस समय खीर, पकवान अथवा यथेष्ट वस्तुएँ (चन्दन, माला, स्त्री) उसे किस प्रकार सुख प्रदान कर सकते हैं? उसी प्रकार विषय एवं विषयोंसे प्राप्त सुख भी मरणशील पुरुषको सन्तोष प्रदान नहीं कर सकते॥ २०॥

श्रुतञ्च दृष्टवद्दुष्टं स्पर्द्धासूयात्ययव्ययैः।
बह्वन्तरायकामत्वात् कृषिवच्चापि निष्फलम्॥ २१॥

इस लोकमें सुख न हो, तो दूसरे लोकोंमें तो होगा—इसपर कहते हैं—स्वर्गादि सुख भी स्पर्द्धा, असूया, नाश एवं क्षयरूप दोषोंसे दूषित होनेके कारण ऐहिक सुखके समान वस्तुतः दुःखजनक ही हैं। विशेषरूपसे उसको प्राप्त करानेवाले यज्ञादि कर्म प्रभूत (बहुत अधिक) विघ्नोंके कारण उसी प्रकार विफल हो जाते हैं, जिस प्रकार कृषि-कर्म (कीट-दंशन-दोष, औसर भूमि, सूखा, बीज-दोष, पशु-पक्षी आदिके उपद्रव आदि विघ्नोंके कारण) निष्फल हो जाता है॥ २१॥

अन्तरायैरविहतो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः।
तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु॥ २२॥

मान लो, यदि यज्ञ आदि धर्म विघ्न एवं वैगुण्य आदिसे रहित होकर अच्छी तरहसे अनुष्ठित हो भी जायें, तो भी पहले कहे गये धर्मके अनुष्ठान द्वारा प्राप्त स्वर्गादि पद (भोगपरायण भूमि) जिस तरहसे विनष्ट होते हैं, उस विषयमें मैं बतलाता हूँ, श्रवण करो॥ २२॥

इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः।
भुञ्जीत देववत् तत्र भोगान् दिव्यान् निजार्जितान्॥ २३॥

यज्ञ करनेवाले मनुष्य इस जगत्में यज्ञोंके द्वारा इन्द्र आदि

देवताओंकी आराधना करके स्वर्गपद प्राप्त करते हैं और बादमें वहाँ अपने पुण्य फलसे अर्जित दिव्य भोग्य वस्तुओंका देवताओंकी भाँति उपभोग करते हैं॥ २३॥

स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते।
गन्धर्वैर्विहरन् मध्ये देवीनां हृद्यवेषधृक्॥ २४॥

उसे उसके पुण्यके अनुसार बड़ा ही सुन्दर शरीर मिलता है। वह मनोहर वेश धारण करके सर्वभोगसम्पन्न शुभ्र विमानमें स्वर्गकी अप्सराओंके साथ क्रीड़ा करता है और गन्धर्व लोग भी उसकी स्तुति करते हैं॥ २४॥

स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किणीजालमालिना।
क्रीडन् न वेदात्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः॥ २५॥

वह किङ्किणियोंसे (बजती घंटियोंसे) सुशोभित स्वेच्छा-विहारी विमानमें बैठकर उसे जहाँ भी ले जाना चाहता है, वहीं ले जाता है। उस विमानमें आसीन अप्सराओंके साथ प्रसन्नचित्त होकर नन्दनवन आदि देवताओंकी विहार-स्थलियोंमें क्रीड़ाएँ करते-करते इतना मुग्ध हो जाता है कि वह यह सोच ही नहीं पाता कि मेरे पुण्य अब समाप्त होनेवाले हैं और भोगोंके अन्तमें यहाँसे मेरा पतन अवश्यम्भावी है॥ २५॥

तावत् स मोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः॥ २६॥

जब तक भोगोंके द्वारा उसके पुण्यकी समाप्ति नहीं होती, तब तक स्वर्गमें गया हुआ व्यक्ति वहाँ देवताओंके समान स्वर्ग-सुखका भोग करता है। अनन्तर पुण्य क्षय होनेपर इच्छा नहीं रहते हुए भी कालकी गतिसे परिचालित होकर उसका अधःपतन होता ही है॥ २६॥

यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वाऽजितेन्द्रियः।

कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः॥ २७॥
पशूनविधिनालभ्य प्रेतभूतगणान् यजन्।
नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः॥ २८॥
कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्त्यधर्मिणः॥ २९॥

(काम्य कर्मवान्‌की गतिके बाद अब अधर्म-प्रवृत्तिवान्‌की गति बतलाते हैं) जीव यदि असत्-सङ्गके प्रभावसे अधर्ममें निरत हो जाए अथवा अजितेन्द्रिय हो जाए, तो उसके कारण वह कामुक, कृपण, लुब्ध (विषय-तृष्णाओंसे आकुल), स्त्री-लम्पट हो पड़ता है। वह प्राणी हिंसक होकर वेद-शास्त्रके विरुद्ध अविधिपूर्वक पशु-वध (बाज-यज्ञ आदि) करता हुआ भूत-प्रेतोंकी आराधना करने लग जाता है। ऐसी कर्माधीनताके परिणामस्वरूप वह अति घोर अन्धकारमय नरकको प्राप्त होता है। वहाँसे उसे तमोगुणमय स्थावर शरीर प्राप्त होता है और ऐसे स्थावर शरीरसे परिणाममें दुःख देनेवाले कर्मोंका वह पुनः आचरण करता है तथा उन कर्मोंका भोग करनेके लिये उसे तदुपयोगी दूसरा शरीर प्राप्त होता है। इस तरह घोर अन्धकारमय प्रवृत्ति मार्गमें भटकते हुए उसे बार-बार जन्म पर जन्म और मृत्यु पर मृत्यु प्राप्त होते हैं। ऐसी स्थितिमें मरणशील पुरुषको क्या सुख प्राप्त हो सकता है?॥ २७-२९॥

लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम्।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्द्धपरायुषः॥ ३०॥

स्वर्गादि सारे लोक और लोकपालोंकी आयु भी केवल एक कल्पतक (एक हजार चतुर्युग) है। ऐसे कल्पकालजीवी देवतागण यहाँ तक कि दो परार्द्ध (३१,१०,४०,००,०००००००) सौर वर्ष समय तक जीवित रहनेवाले स्वयं ब्रह्मा भी कालरूपी मुझसे

अपनी पद-च्युतिके कारण भयभीत रहते हैं॥ ३०॥

गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान्।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ॥ ३१॥

इन्द्रियाँ परस्त्री-गमनादि पाप एवं देवपूजादि कर्मोंका अनुष्ठान करके अदृष्ट एवं दृष्ट फलोंका सृजन करती हैं। सत्त्व, रजः एवं तम—ये तीनों गुण इन्द्रियोंको उनके कार्योंमें प्रेरित करते हैं, किन्तु जीव सत्-असत् इन्द्रियों एवं सत्त्वादि गुणोंसे संयुक्त होकर इन इन्द्रियों एवं गुणोंको ही अपना स्वरूप मान बैठता है और इनसे किये गये मङ्गल एवं अमङ्गल कर्मोंका फल—सुख-दुःख भोगता है॥ ३१॥

यावत् स्याद्गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः।
नानात्वमात्मनो यावत् पारतन्त्र्यं तदैव हि॥ ३२॥

जिस काल-पर्यन्त अहङ्कारादि सृष्टि-क्रममें सत्त्वादि गुणोंका वैषम्य घटित होता है, तब तक इन्द्रियों द्वारा कृतकर्मोंके फलसे उच्च-नीच गति प्राप्तिरूप वैषम्य होता है अर्थात् एक ही जीवात्माको देवता, पक्षी आदि विविध रूपोंकी प्राप्ति होती है। जीव जबतक नाना देह धारण करता रहेगा, तबतक वह कर्मके अधीन रहेगा ही। (कर्माधीन जीवका 'मैं-मेरा' छूटता नहीं है, इसीसे वह पञ्चोपासक होकर विविध वासनाओंका दास हो जाता है तथा भगवान्की अचित्-शक्तिसे प्रकटित यह जगत् उसका भोग्य-स्थान बन जाता है।)॥ ३२॥

यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम्।
य एतत् समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः॥ ३३॥

जो प्रवृति मार्गको ही मङ्गलका कारण मानते हैं, उनका तिरस्कार करते हुए भगवान् कहते हैं—जबतक जीव कर्मके अधीन रहता है, उस काल-पर्यन्त उसे कर्मफलदाता मुझसे संसार-भय रहेगा ही। जो जीव इस गुण-वैषम्य, उसके द्वारा कृत भोग एवं

बहिर्मुख कर्मोंकी सेवा करते हैं, वे शोक-मोहसे ग्रस्त होकर मोहको प्राप्त होते हैं। उन पर मायाकी आवरणी एवं विक्षेपात्मिका दोनों शक्तियाँ आधिपत्य कर लेती हैं और गुणोंसे प्रताड़ित वे 'मूढ़' कहे जाते हैं॥ ३३॥

काल आत्मागमो लोकः स्वभावो धर्म एव च।
इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति॥ ३४॥

जब प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंमें क्षोभ होता है, उस अवस्थामें पुरुषोत्तम वस्तुका अभिज्ञान पूर्णरूपसे विलुप्त हो जाता है और मानव मेरा काल (समस्त गुणोंका उद्रेक एवं नियन्त्रण मुझसे ही होता है), आत्मा (सर्वसाक्षी, सम्पूर्ण), आगम (ज्ञानकी साक्षात् मूर्त्ति), लोक (ब्रह्माण्ड-स्वरूप), स्वभाव (स्ववश होनेके कारण), धर्म (प्रत्येक वस्तुको धारण करनेवाला) इत्यादि विविध नामोंसे वर्णन करते हैं तथा विभिन्न मतवादोंका प्रचार करते हैं॥ ३४॥

श्रीउद्धव उवाच—

गुणेषु वर्त्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृतः।
गुणैर्न बद्ध्यते देही बद्ध्यते वा कथं विभो॥ ३५॥

श्रीउद्धवजीने कहा—हे विभो! जीव गुणोंमें वर्तमान रहकर भी किस हेतुसे गुणों द्वारा सुखादिमें आबद्ध नहीं होता, अथवा अनावृत्त (निर्लिप्त) दशामें किस हेतुसे गुणों द्वारा बद्ध हो जाता है? (उद्धवजीका तात्पर्य यह है कि मुक्तात्मामें भी खाना-पीना, सुनना-बोलना आदि पाये जाते हैं, जो कि स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरोंके कार्य हैं, तो ये दत्तात्रेय, भरतादि प्रकृतिके गुणोंसे क्यों बद्ध नहीं होते और आकाश तुल्य चिन्मय जीव किस हेतुसे भौतिक प्रकृतिके गुणों द्वारा बद्ध हो जाते हैं?)॥ ३५॥

कथं वर्त्तेत विहरेत् कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः।

किं भुञ्जीतोत विसृजेच्छयीतासीत याति वा॥ ३६॥
एतदच्युत मे ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदां वर।
नित्यबद्धो नित्यमुक्त एक एवेति मे भ्रमः॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे दशमोऽध्यायः॥ १०॥

बद्ध अथवा मुक्त पुरुष किस प्रकार रहता है? वह कैसे विहार करता है? अथवा वह किन लक्षणोंसे पहचाना जाता है, कैसे भोजन करता है? वस्तु-परित्याग (मल-त्याग) आदि कैसे करता है? वह कैसे सोता-बैठता और कैसे चलता है? हे प्रश्नोंके उत्तरोंको जाननेवाले श्रेष्ठ अच्युत श्रीकृष्ण! आप मेरे इन सभी विषयोंसे सम्बन्धित प्रश्नोंका उत्तर दीजिए तथा एक ही आत्मा किस प्रकारसे नित्य बद्ध और नित्य मुक्त हो सकता है, इसके सम्बन्धमें मुझे जो भ्रम हो रहा है, उसका भी उत्तर देकर मुझे कृतार्थ कीजिए। (बाहरी शारीरिक क्रियाएँ नित्यबद्ध एवं नित्यमुक्त जीवकी समान होती हैं—इनका पार्थक्य समझसे परे है, अतः स्पष्ट कीजिए।)॥ ३६-३७॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके दसवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकादशोऽध्यायः

बद्ध और मुक्त जीवोंका भेद, भक्तोंके लक्षण और भक्तिके अङ्गोंका विवेचन

श्रीभगवानुवाच—

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायामूलत्वाद् न मे मोक्षो न बन्धनम्॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! मेरे सत्त्व, रज और तम—तीन गुणरूप उपाधिके (संज्ञाओंके) वशीभूत होनेपर आत्माको बद्ध अथवा मुक्त कहा जाता है। वस्तुतः—(तात्त्विक दृष्टिसे) आत्माके बन्धन और मुक्तिकी सम्भावना नहीं है। गुण मायामूलक हैं—मायाके कार्य हैं, इसलिये स्वरूपतः मेरा कोई बन्धन अथवा मुक्ति नहीं है—मैं इन दोनोंसे परे हूँ। (भौतिक जगत्के साथ गुणोंका सम्बन्ध मिथ्या कल्पना है। भौतिक शरीर आत्मा नहीं है। अतएव मेरे मतमें बन्धन नहीं है, बन्धनके अभावमें मोक्ष भी नहीं है।)॥ १॥

शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिश्च मायया।
स्वप्नो यदात्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी॥ २॥

स्वप्न जिस प्रकार बुद्धिका विवर्त्त (सृजन) मात्र है, वास्तविक नहीं है, उसी प्रकार शोक, मोह, सुख, दुःख एवं देह-सम्बन्धरूप (देह-ग्रहण एवं देह-पातरूप) संसारको मायिकरूपमें (मायाकी सृष्टिके रूपमें) जानना चाहिए, वस्तुतः इसकी कोई सत्ता नहीं है। 'जागर' एवं स्वाप' दोनों ही कालोंमें बद्धजीव अहङ्कार-विमूढ़ अस्मितामें त्रिगुणसे आकर्षित होकर शोक, मोह, भयादि अथवा देह एवं विपद् इत्यादिके विचारोंमें अवस्थित रहता है। इसके

विपरीत वास्तविक जगत्में तो भक्तिके दो ही तत्त्व हैं—विषय एवं आश्रय॥ २॥

विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते॥ ३॥

हे उद्धव! विद्या एवं अविद्या—ये दोनों ही मेरी माया द्वारा रचित, अनादि, मेरी शक्तिकी अंशस्वरूपा हैं। विद्या मोक्षकारिणी है एवं अविद्या बन्धनकारिणी है। इनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। इन दोनोंका स्वातन्त्र्य भी नहीं है। ये दोनों वस्तु भी नहीं हैं और वस्तुसे पृथक् भी नहीं हैं॥ ३॥

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः॥ ४॥

हे महामते! मैं अद्वितीयस्वरूप हूँ। मेरे अंशसे (विभिन्नांशसे) अनादि जीवको अविद्याके द्वारा बन्धन प्राप्त होता है और विद्याके द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। (भगवान्की शक्ति तीन प्रकारकी है—परा स्वरूपशक्ति, क्षेत्रज्ञा जीवशक्ति एवं अविद्या शक्ति—इसे 'कर्म' भी कहते हैं। विभिन्नांशपर विद्या एवं अविद्याका प्रचुर प्रभाव रहता है।)॥ ४॥

अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते।
विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि॥ ५॥

हे उद्धव! अनन्तर एक धर्मी शरीरमें परमात्मा नियम्य (स्वाधीन) रूपसे और जीव नियन्त्रित (पराधीन) रूपसे अवस्थित हैं। जीव शोकसे युक्त एवं परमात्मा आनन्द धर्मसे युक्त हैं—इस विरुद्धधर्मद्वयविशिष्ट बद्धजीव एवं मुक्त ईश्वर वस्तुका वैलक्षण्य मैं तुम्हें बतला रहा हूँ॥ ५॥

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।

एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥ ६॥

चित् धर्ममें ऐक्यमतके कारण अथवा चेतनस्वरूप होनेसे परस्पर सादृश्ययुक्त एवं कभी भी वियुक्त न होनेवाले जीव एवं ईश्वररूपी दो पक्षी स्वेच्छापूर्वक (क्रमशः आसक्त एवं अनासक्त भावसे) देहरूप अश्वत्थवृक्षके हृदयरूपी घोंसलेमें सख्यभावसे आलिङ्गित होकर अवस्थान करते हैं। उनमें-से एक अर्थात् जीव कर्मफलका भोग करता है और दूसरा अर्थात् ईश्वर कर्मफलका भोग न करके अपने आनन्दमें तृप्त रहकर ज्ञानादि-शक्तिके प्रभावसे सुख-दुःखसे अतीत एवं जीवके साक्षीके रूपमें विराजमान रहता है। ईश्वर भोक्ता जीवसे अधिक बलवान है। (इस प्रकार चेतन होनेके कारण जीव और ईश्वर एक समान हैं, परन्तु ईश्वर विभु-चित् हैं और जीव अणु-चित् है। जीव कर्मफलोंका भोक्ता है और ईश्वर उसके साक्षी हैं, अतएव ज्ञानशक्ति एवं आनन्दके आधार पर दोनों कदापि एक नहीं हैं, इन दोनोंमें नित्य भेद है।)॥ ६॥

आत्मानमन्यञ्च स वेद विद्वा-
नपिप्पलादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो
विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः॥ ७॥

साथ ही और भी एक भेद यह है कि कर्मफलका अभोक्ता, नित्य ज्ञानका आश्रय सर्वज्ञ ईश्वर तो अपने वास्तविक स्वरूप और जीव तत्त्वको भी जानते हैं, परन्तु कर्मफल भोक्ता अनभिज्ञ जीव न तो अपने वास्तविक स्वरूपको जानता है और न अपनेसे अतिरिक्तको। इन दोनोंमें-से अविद्यासे युक्त होनेके कारण जीव अनादि कालसे ही नित्यबद्ध है और विद्याप्रधान होनेके कारण ईश्वर अनादिकालसे ही नित्य मुक्त हैं, इन दोनोंमें यह नित्य भेद है। पाप-पुण्यसे मुक्त जीव सम्पूर्णरूपसे भक्तिमान् होनेपर पाप-पुण्यरूप कर्मफलका भोक्ता नहीं होता॥ ७॥

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः।
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग् यथा॥ ८॥

हे उद्धव! ज्ञान-सम्पन्न मुक्त पुरुष संस्कारके (स्वरूपसिद्ध होनेके) कारण देहस्थ होकर भी स्वप्नसे जगे हुए पुरुषकी भाँति स्वप्न-देहके सुख-दुःख फलोंका भोगी नहीं होता; परन्तु अविद्या-ग्रस्त अर्थात् अज्ञ बद्धजीव स्वरूपतः देहगत सुख और दुःखरूपी फलोंका भोगी न होनेपर भी स्वप्न देखनेवाले व्यक्तिकी भाँति काल्पनिक अथवा स्वप्न-देहके सुख और दुःखका भोगी हुआ करता है॥ ८॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च।
गृह्यमाणेष्वहं कुर्यान्न विद्वान् यस्त्वविक्रियः॥ ९॥

रागादि दोषोंसे रहित अर्थात् विषयोंमें आसक्तिसे मुक्त विद्वान् व्यक्ति गुणोंसे उत्पन्न इन्द्रियोंके उन्हीं गुणोंसे उत्पन्न शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करनेपर भी 'मैं ग्रहण कर रहा हूँ' इस प्रकार अहङ्कार नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि गुण ही गुणोंको ग्रहण करते हैं, आत्मा नहीं। इसके विपरीत भौतिक इच्छाओंके कारण जिसका हृदय विकारोंसे भरा पड़ा है तथा इन्द्रियाँ गुणजात विषयोंको ग्रहण करनेमें रत हैं, ऐसा व्यक्ति यदि कहता है कि "मैं कुछ नहीं करता, मैं कुछ ग्रहण नहीं करता", वह कपटी, अधम, वग्चक एवं महाबद्ध है॥ ९॥

दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा।
वर्त्तमानोऽबुधस्तत्र कर्त्तास्मीति निबध्यते॥ १०॥

अज्ञानी व्यक्ति प्राक्तन अर्थात् पूर्वकृत कर्मोंके अधीन शरीरमें अवस्थित रहकर 'मैं करनेवाला हूँ'—इस प्रकार मिथ्या अभिमानके वशीभूत होकर गुणोंसे उत्पन्न कर्मोंके द्वारा मोहग्रस्त होकर देह आदिमें आबद्ध रहता है॥ १०॥

एवं विरक्तः शयने आसनाटनमज्जने।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु
न तथा बध्यते विद्वान् तत्र तत्रादयन् गुणान्॥ ११॥

हे उद्धव! विषयोंसे विरक्त विवेकी पुरुष सोने, बैठने, भ्रमण करने, स्नान करने, देखने, स्पर्श करने, सूँघने, भोजन करने और सुनने आदि सभी क्रियाओंमें इन्द्रियोंको विषय भोग कराके भी स्वयं साक्षीके रूपमें वर्त्तमान रहता है। अतः ऐसा व्यक्ति अविवेकी पुरुषकी भाँति इन कर्मोंसे बँधता नहीं है। अविवेकी पुरुष इन सभी विषयोंको आसक्तिके साथ करता है, इसलिये सुख-दुःखके बन्धनमें बँध जाता है॥ ११॥

प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः
वैशारद्येक्षयासङ्गशितया छिन्नसंशयः।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद् विनिवर्त्तते॥ १२-१३॥

जिस प्रकार आकाश सर्वत्र अवस्थित रहकर, सूर्य जलमें प्रतिबिम्बित रहकर एवं वायु सर्वत्र प्रवाहित होकर भी कहीं आसक्त नहीं होते, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष प्रकृतिमें अवस्थित रहकर भी उससे अनासक्त रहते हैं, वैराग्यकृत अति तीक्ष्ण तलवारसे सुनिपुण स्वरूप-ज्ञान द्वारा समस्त संशयोंका छेदन कर डालते हैं तथा स्वप्न-दर्शनसे जगे हुए पुरुषकी भाँति इस देहादि प्रपञ्चसे निवृत्त एवं विरक्त हो जाते हैं॥ १२-१३॥

यस्य स्युर्वीतसङ्कल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम्।
वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः॥ १४॥

जिनके प्राण, इन्द्रिय, मनः एवं बुद्धिकी वृत्तियाँ—ये सभी सङ्कल्पसे (भौतिक इच्छाओंसे) रहित हैं, जो देहमें रहकर भी शोक, मोहादि देह-धर्मसे मुक्त हैं, ऐसे पुरुष देहमें रहकर भी स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरोंसे पूर्णतया मुक्तरूपमें अवस्थित रहते हैं।

(भक्तोंके प्राण, इन्द्रिय भगवत्-सेवा तात्पर्यमय होते हैं, अभक्त वासनाके दास होनेसे आबद्ध रहते हैं।)॥ १४॥

यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किञ्चिद्यदृच्छया।
अर्च्यते वा क्वचित् तत्र न व्यतिक्रियते बुधः॥ १५॥

हिंसा-परायण दुर्जन व्यक्ति अथवा उग्र पशु उनके शरीरको पीड़ा पहुँचाए अथवा दैवयोगसे किसी स्थानपर कोई व्यक्ति उनका सम्मान करे—ये पुरुष इन कारणोंसे न तो दुर्जनोंपर अथवा हिंसा-परायण पशुओंपर क्रोध करते हैं और न ही सम्मान करनेवालोंसे सन्तुष्ट होकर आसक्त होते हैं—इसलिये ये 'मुक्तपुरुष' के रूपमें गण्य होते हैं॥ १५॥

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः॥ १६॥

जो लौकिक-व्यवहारसे विमुख हैं, समदर्शी हैं, जिनके लिये कोई सत्कर्म करे अथवा असत्कर्म या सत्-वचनोंका उच्चारण करे अथवा असत्-वचनोंका—वे किसीकी स्तुति (प्रशंसा) अथवा निन्दा नहीं करते—ऐसे ही व्यक्ति मुक्त पुरुषके रूपमें गण्य हैं। इनकी अच्छे या बुरे किसी भी कार्यके करने या कहनेमें चेष्टा नहीं देखी जाती॥ १६॥

न कुर्यान्न वदेत् किञ्चिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥ १७॥

जीवन्मुक्त पुरुष शरीरके लिये सत् या असत् विषयोंका आचरण, अनुष्ठान, उच्चारण और चिन्तन नहीं करते। सभी कर्मोंसे उदासीन रहकर केवलमात्र आत्माराम स्वरूपमें स्थित होकर जड़की भाँति विचरण करते हैं॥ १७॥

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥ १८॥

जो व्यक्ति शब्द-ब्रह्ममें अर्थात् वेदादि शब्द-शास्त्रोंमें पारङ्गत (पारदर्शी) होकर भी परब्रह्म अर्थात् भगवान्‌की भक्तिमें सुनिपुण न होनेसे ध्यानादिके द्वारा भक्तियोगका सन्धान नहीं करता, तो उसका परिश्रम उसी प्रकार व्यर्थ है, जिस प्रकार बिना दूधवाली अथवा दीर्घकालमें प्रसव करनेवाली अथवा वन्ध्या गायके पालन करनेवालेका परिश्रम व्यर्थ होता है। शास्त्र-अभ्यास-जनित परिश्रम भगवत्-सेवामें निष्ठा न होनेके कारण पुरुषार्थप्रद नहीं होता॥ १८॥

गां दुग्धदोहामसतीञ्च भार्यां
देहं पराधीनमसत्प्रजाञ्च।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं
हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी॥ १९॥

हे उद्धव! दूध न देनेवाली गाय, व्यभिचारणी स्त्री, पराधीन शरीर, अधम पुत्र, सत्पात्रके प्राप्त होनेपर भी दान न किया हुआ धन एवं मेरी लीलादिके वर्णनसे रहित शास्त्र-वाणियोंकी रक्षा करनेवाला उत्तरोत्तर दुःख-पर-दुःख ही भोगता रहता है॥ १९॥

यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म
स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य ।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्
वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः॥ २०॥

हे उद्धव! जिन वाणियोंमें जगत्‌के विशुद्धि-जनक, मेरे सृष्टि-स्थिति-प्रलयात्मक चरित और उनसे भी उत्कृष्ट जगत्-प्रेमास्पद राम, नृसिंह आदि अवतार एवं उत्कृष्टतमरूपमें वर्णित सर्वजगत्-मङ्गलकारी मेरे जन्म एवं बाल्य लीलादिका वर्णन नहीं है, बुद्धिमान् पुरुष ऐसी निष्फल वाणियोंको धारण नहीं करते। मेरी चरित-कथासे रहित तो वेद-वाणी भी निष्फल अथवा वन्ध्या है॥ २०॥

एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्वभ्रममात्मनि।
उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे॥ २१॥

इस प्रकार निश्चयपूर्वक विचारके (विश्लेषणात्मक बुद्धिके) द्वारा आत्म-विषयमें देहाध्यासका (स्थूल-सूक्ष्म देहाभिमान तथा देव, मनुष्यत्वादिमें नानात्वरूप भेदकी मिथ्या धारणाका) निरास (त्याग) करके मुझमें श्रद्धायुक्त होवे। अनन्तर भक्तिजात विज्ञान द्वारा मुझमें अपना शुद्ध सत्त्वमय चित्त समर्पण करके उपरत हो जाये अर्थात् शान्ति प्राप्त करे॥ २१॥

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर॥ २२॥

हे उद्धव! यदि परब्रह्ममें निश्चल (विषय-रहित) चित्तको स्थिर न कर सको, तो फलकी कामनासे रहित होकर नित्य और नैमित्तिक सभी कर्म एवं उनके फलको मेरे उद्देश्यसे समर्पण करके निरपेक्ष भावसे रहो॥ २२॥

श्रद्धालुर्मत्कथाः शृण्वन् सुभद्रा लोकपावनीः।
गायन्ननुस्मरन् कर्म जन्म चाभिनयन् मुहुः॥ २३॥
मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने॥ २४॥

हे उद्धव! श्रद्धालु पुरुष (भक्तिमें श्रद्धावान् ही अधिकारी होता है) मेरे मङ्गलमय, लोकपावनकारी चरित यथा—दधि-चोरी, नवनीत-चोरी, वेणुगीत एवं रासादिका श्रवण, कीर्त्तन एवं निरन्तर ध्यान करे, मेरे जन्मोत्सव, नन्दोत्सव एवं कालिय-दमनादि लीलाओंका नाटक आदि द्वारा बार-बार अभिनय करे। मेरे शरणागत होकर मेरी प्रीतिके लिये धर्म (ब्राह्मण, वैष्णवोंको अन्न एवं वस्त्रादि दान), अर्थ (विष्णु-वैष्णव सेवाके लिये धनका संग्रह), काम (महाप्रसादका सेवन, भगवान्के माला, चन्दन, वस्त्रादिको धारण)

इत्यादिका अनुष्ठान करता है, तो सनातन पुरुष मुझमें सनातनी अर्थात् निश्चल प्रेममयी भक्ति प्राप्त करता है॥ २३-२४॥

सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता।
स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम्॥ २५॥

सत्सङ्गसे (परम वैष्णवसे नाम, मन्त्र इत्यादि ग्रहण करनेसे) भक्ति प्राप्त करके भक्त पुरुष मेरा ध्यान (नैष्ठिकी उपासना) करते हैं अर्थात् भजन-परायण होते हैं। अनन्तर ध्यानयोगसे महाजनों (साधुओं) द्वारा प्रदर्शित मेरे धाम (परमपद) को अनायास ही प्राप्त करते हैं। (भक्त मेरे ध्यानसे अति शीघ्र ही रुचि, आसक्ति, रति एवं प्रेम भूमिकामें आरूढ़ होकर मेरे धामको प्राप्त करते हैं।)॥ २५॥

श्रीउद्धव उवाच—

साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः प्रभो।
भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृता॥ २६॥
एतन्मे पुरुषाध्यक्ष लोकाध्यक्ष जगत्प्रभो।
प्रणतायानुरक्ताय प्रपन्नाय च कथ्यताम्॥ २७॥

श्रीउद्धवने कहा, हे उत्तमःश्लोक! हे प्रभो! (लोग अपनी-अपनी मतिसे साधुओंकी कल्पना करते हैं) आप किस प्रकारके पुरुषको साधु (अपना सच्चा भक्त) मानते हैं? (लोगों द्वारा बहुत प्रकारकी भक्ति दिखायी देती है) आपकी भक्ति कैसी होनी चाहिए, जिसका सन्त (नारदादि) समादर करते हैं? हे पुरुषाध्यक्ष! (महत्-तत्त्वके स्रष्टा प्रथम पुरुष आदिके अध्यक्ष)! हे लोकाध्यक्ष! (परम ऐश्वर्यशाली महावैकुण्ठादि लोकोंके अध्यक्ष)! हे जगत्प्रभो! (मायिक जगत्के लोगों पर अपार करुणा करने हेतु आपका प्राकट्य हुआ है)! मैं प्रणत (शरणागत), अनुरक्त (परम अनुरागी) एवं प्रपन्न (आपके अतिरिक्त अन्य किसीका उपासक नहीं) हूँ, आप मेरे प्रश्नोंका उत्तर दें॥ २६-२७॥

त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः।
अवतीर्णोऽसि भगवन् स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः॥ २८॥

हे भगवन्! आप प्रकृतिसे परे, आकाशतुल्य निर्लिप्त, परम ब्रह्मस्वरूप होकर भी स्वेच्छासे पृथक्-पृथक् रूप धारण करते हैं और अपने भक्तोंके प्रेमके वशीभूत होकर उनपर करुणाके लिये उनकी इच्छासे भिन्न-भिन्न अवतार लेते हैं॥ २८॥

श्रीभगवानुवाच—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥ २९॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥ ३०॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्यो मैत्रः कारुणिकः कविः॥ ३१॥
आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स तु सत्तमः॥ ३२॥

श्रीभगवान्ने कहा, हे उद्धव! जो कृपालु (दूसरोंके दुःखको न सहन करनेवाला, कृष्ण-भक्ति-वितरणकारी), अकृतद्रोह (स्वयंके साथ द्रोह करनेवालेसे भी द्वेष न करनेवाला), तितिक्षु (अपने प्रति किये गये अपराधको क्षमा करनेवाला), सत्यनिष्ठ (आनन्दकन्द भगवान्की सेवाके अतिरिक्त वृथा कार्योंमें अपनेको नहीं लगानेवाला), अनवद्यात्मा (असूयादि दोषोंसे रहित), समचित्त (सुख-दुःख एवं मान-अपमानमें समान भावसे रहनेवाला तथा बाह्य घटनाओंसे प्रभावित हुए बिना नित्य-वस्तुके प्रति दृष्टिसम्पन्न), सर्वहितरत (यथाशक्ति सबका उपकार करनेवाला), कामसे अक्षुब्धचित्त (विषयवासनाओंसे जिसका चित्त क्षुभित न होता हो), दान्त (इन्द्रियों पर संयम रखनेवाला), मृदु स्वभाव (जिसके चित्तमें कठोरता नहीं होती), शुचि अथवा सदाचारी (पवित्र एवं सम्यक् आचरण करनेवाला), अकिञ्चन

(अपरिग्रहशील), अनीह अर्थात् लौकिक क्रियारहित, मितभोजी, शान्त (अन्तःकरणको नियन्त्रित रखनेवाला), स्थिर (अपने धर्ममें स्थैर्य धारण करनेवाला), मच्छरणः (मुझे ही एकमात्र शरण माननेवाला), मननशील (मेरे ही आश्रयमें रहनेवाला), अप्रमत्त (सावधान), गभीरात्मा (निर्विकार), धैर्ययुक्त (विपत्में धैर्य धारण करनेवाला), जितषड्गुण (भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा एवं मृत्यु रूप षड् धर्मोंको जीतनेवाला), अमानी (मानकी आकाङ्क्षासे रहित), मानद (दूसरोंको सम्मान देनेवाला), कल्प अर्थात् पर-प्रबोधदक्ष (दूसरोंसे हरिभजन करानेमें निपुण), मैत्र अर्थात् अवञ्चक (धोखा न देकर सबसे मित्रता रखनेवाला), कारुणिक (परदुःखमें दुःखी) एवं कवि (सम्यक् ज्ञानी) है, वह मेरे शरणागत रहता है। वेद शास्त्रोंमें मेरे द्वारा उपदिष्ट स्वधर्मोंके अनुष्ठानसे चित्त शुद्धि इत्यादि गुण होते हैं और उनका आचरण न करनेसे दोष होता है—यह जानकर भी उन साधारण धर्मोंको मेरी उपासनामें (ध्यानमें) विघ्नदायक मानकर यही निश्चय करता है कि मेरी भक्तिके बलसे समस्त सिद्धि हो जाएगी। अतः वह समस्त धर्मोंका परित्याग करके मेरी सेवा करता है। ऐसा व्यक्ति भी पूर्वोक्त पुरुषोंकी भाँति उत्तम साधु (भक्त) रूपमें गण्य होता है॥ २९-३२॥

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः॥ ३३॥

जो मेरे सच्चिदानन्दादिगुण-विशिष्ट, असीम (देशकालादिसे अपरिच्छिन्न), सर्वान्तर्यामी-स्वरूपसे अवगत होकर अथवा अज्ञानतापूर्वक ही ऐकान्तिक भावसे मेरी सेवा करता है, मैं उन्हें उत्तम भक्त मानता हूँ॥ ३३॥

मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम् ।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्त्तनम्॥ ३४॥
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम्॥ ३५॥

मज्जन्मकर्म्मकथनं मम पर्वानुमोदनम्।
गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥ ३६ ॥
यात्राबलिविधानञ्च सर्ववार्षिकपर्वसु।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम्॥ ३७ ॥
ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः।
उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि ॥ ३८ ॥
सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्त्तनैः।
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया॥ ३९ ॥
अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्त्तनम्।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम्॥ ४० ॥
यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते॥ ४१ ॥

हे उद्धव! मेरे श्रीविग्रह तथा मेरे प्रिय भक्तोंका दर्शन, स्पर्श, सेवन-पूजन एवं स्तवन करे और उन्हें प्रणाम करे। मेरे गुण एवं लीलादिका कीर्त्तन करे, उनका श्रद्धापूर्वक श्रवण करे, निरन्तर मेरा ध्यान करे, जो कुछ प्राप्त हो, वह सब तथा ममतास्पद वस्तुओंको मुझे समर्पण करे, मेरा दासत्व स्वीकार करते हुए आत्मनिवेदन करे, मेरे दिव्य जन्म, चरित एवं लीलाओंका अनुकीर्त्तन करे, जन्माष्टमी आदि पर्वोंका अनुमोदन करे, इष्ट-गोष्ठीके साथ मेरे मन्दिरमें गीत, वाद्य एवं नृत्यके द्वारा उत्सव करे-करावे। सभी प्रकारके वार्षिक पर्वोंके दिन जैसे फाल्गुन पूर्णिमा आदि पर आयोजित दोलयात्रा आदि उत्सवोंमें भाग ले और उसमें विविध वस्त्र, अलङ्कार, मिठाई, माला, चन्दन, पुष्पादि पूजाके उपहार प्रदान करे। वैदिकी एवं तान्त्रिकी दीक्षा-संस्कार ग्रहण करे। एकादशी इत्यादि मेरे व्रतोंका पालन करे। मेरे श्रीविग्रहकी प्रतिष्ठामें अनुराग एवं श्रद्धा रखे, मेरे उद्देश्यसे फल-दान करे। मेरे लिये उद्यान, उपवन, विहार-क्षेत्र

मन्दिर इत्यादिका निर्माण करे तथा सामर्थ्य न होवे, तो दूसरोंके साथ मिलकर प्रयास करे। निष्कपट होकर सेवककी भाँति धूलादिका मार्जन करे, जलसे लेपन करे एवं शुष्क स्थानों पर गुलाबजलादिसे छिड़काव करे। सर्वतोभद्रमण्डलादिका निर्माण करके मेरे मन्दिरकी सेवा करे। कंजूसी न करे। दम्भ एवं मानका परित्याग करे, अपने द्वारा की गयी भक्तिका प्रचार न करे। मेरे लिये निवेदित किये गये दीपकके आलोकको अपने व्यवहारमें न लावे। दूसरोंके उद्देश्यसे निवेदित वस्तुको मेरे लिये अर्पण न करे। जगत्में जो वस्तुएँ अभीष्ट हों, जो स्वयंको अति प्रिय हों, वे सभी वस्तुएँ मुझे समर्पण कर दे। ऐसा करनेसे दानका अक्षय फल प्राप्त होता है। सुखैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा, पुत्रैषणाका त्याग करे। इन्हीं आचरणोंसे युक्त पुरुष मेरे विचारसे उत्तम भक्त है॥ ३४-४१॥

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणा गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम्।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे॥ ४२॥

हे भद्र! सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गाय, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, भूमि, जीव और सम्पूर्ण प्राणियोंको मेरी पूजाका अधिष्ठान समझना चाहिए॥ ४२॥

सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम्।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवसादिना॥ ४३॥
वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरःसरैः॥ ४४॥
स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम्॥ ४५॥

हे प्रिय उद्धव! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदके मन्त्रोच्चार, सूक्तपाठ एवं नमस्कार द्वारा सूर्यादि अधिष्ठानोंमें मेरी पूजा करनी चाहिए। घृताहुति अर्थात् हवनके द्वारा अग्निमें, आतिथ्य सत्कार द्वारा श्रेष्ठ

ब्राह्मणमें, हरी-हरी घास, उपयुक्त अन्न एवं कण्डुयन आदिके द्वारा गायोंमें, आसक्तिपूर्वक सत्कारके द्वारा बन्धु-बान्धवोंके समान वैष्णवोंमें (उपदेशकको नित्य बन्धु जानकर उसके आदेश-पालन द्वारा), सहृदय एवं प्राणयुक्त होकर ध्यान-निष्ठाके द्वारा हृदयाकाशमें, विष्णु-बुद्धि द्वारा मुख्य प्राण-वायुमें, पुष्प, तुलसी-दल एवं द्रव्य जल (द्रव्यके मालिन्यका परिष्कार करते हुए जल प्रयोग द्वारा) जलमें, बीज (रहस्य अर्थात् गुह्य) मन्त्रोंके न्यास द्वारा (लेपनादि द्वारा, संस्कृत भूमि पर यन्त्र अङ्कन करके रहस्यमन्त्र लिखकर) भूमिमें, जीवात्माको शास्त्रविहित भोग-प्रदान द्वारा (यह मेरी आत्मा मेरे प्रभुका अधिष्ठान है, इस बुद्धिसे भोग प्रदान) द्वारा निजदेहमें, समदर्शन द्वारा अर्थात् समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीस्वरूपसे क्षेत्रज्ञ परमात्मा विराजमान हैं—इस बुद्धिसे मेरी आराधना करे। (इन सबको भगवत्-सम्बन्धसे ही पूज्य मानना चाहिए।) ॥ ४३-४५ ॥

धिष्ण्येष्वित्येषु मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत् समाहितः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त अधिष्ठानोंमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मसे सुशोभित मेरी चतुर्भुज, शान्त मूर्त्तिका ध्यान करते हुए एकाग्रचित्त होकर मनोयोगके साथ मेरा पूजन करे। (अद्वय-ज्ञान अथवा एकाग्रताके अभावमें भगवद्-अर्चन नहीं होता, बल्कि विषय-भोग मात्र ही होता है।) ॥ ४६ ॥

इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया ॥ ४७ ॥

जो इष्ट (अपने शुभके लिये यागादि) एवं पूर्त्त (परोपकारार्थ कूप-खनन) इत्यादि विधियों द्वारा एकाग्रचित्त होकर मेरी पूजा करते हैं, वे मेरी स्थिर-भक्ति प्राप्त करते हैं। तदनन्दतर साधु-सेवाके कारण मद्-विषयक ज्ञानका उदय होता है। (ज्ञातव्य है कि भगवान्की सेवाके उद्देश्यका परिहार करके जो इष्टापूर्त्त कार्योंमें

आत्मनियोग करते हैं, वे वञ्चित होते हैं। तपस्या आत्म-मङ्गलका कारण नहीं है, परन्तु शुद्ध भगवदनुशीलन ही परम-चरम कल्याणका एकमात्र कारण है।)॥ ४७॥

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव।
नोपायो विद्यते सम्यक् प्रायणं हि सतामहम्॥ ४८॥

हे उद्धव! क्योंकि मैं साधु-वैष्णव अर्थात् भक्तोंका परम आश्रयस्वरूप हूँ, इसलिये साधु-सङ्गसे उत्पन्न भक्ति-योगके अतिरिक्त संसार-सागरको पार करनेका और कोई उत्कृष्ट उपाय नहीं है। (सत्सङ्गके प्रभावसे भगवत्-सेवा धर्ममें अवस्थित होनेपर सम्पूर्णरूपसे अभिधेयकी सिद्धि होती है।)॥ ४८॥

अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

हे यदुनन्दन उद्धव! तुम मेरे सेवक, सुहृत्, प्रिय एवं सखा-स्वरूप हो। इसलिये अब मैं तुम्हें अत्यन्त गोपनीय होनेपर भी एक परम गुह्य तत्त्व बतलाऊँगा, तुम उसे सावधान होकर सुनो॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके ग्यारहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

साधुसङ्गकी महिमा और व्रजवासियोंके प्रेमकी सर्वोत्कर्षताका विवेचन

श्रीभगवानुवाच—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा॥ १॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुद्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥ २॥

श्रीभगवान्‌ने कहा, हे उद्धव! सत्सङ्ग (भगवान् पुरुषोत्तमके भक्तोंका सङ्ग) समस्त विषयोंकी आसक्तिका विनाश करनेवाला है, इसलिये यह मुझे जिस प्रकारसे वशीभूत करता है, उस प्रकारसे आसन, प्राणायामादि अष्टाङ्ग योग, आत्मा-अनात्माका पार्थक्यज्ञानरूप सांख्य, अहिंसादि साधारण धर्मोंका अनुष्ठान, वेदपाठादि स्वाध्याय, कष्टसाध्य तपस्या, संन्यासरूप त्याग, अग्निहोत्र यागादि इष्टकर्म, कूप-खननादि पूर्त्तकर्म, दक्षिणारूप सामान्य दान, चातुर्मास्यादि व्रत, देवपूजारूप यज्ञ, सरहस्य मन्त्र, तीर्थ, नियम अथवा यम—ये सब मुझे वशीभूत नहीं कर सकते॥ १-२॥

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना खगाः मृगाः।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः॥ ३॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगे युगे॥ ४॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः।
वृषपर्वा बलिर्वाणो मयश्चाथ विभीषणः॥ ५॥

सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे॥ ६॥

हे उद्धव! सत्य, त्रेता, द्वापर एवं कलि—सभी युगोंमें, केवल मात्र सत्सङ्गके प्रभावसे ही रजः, तमः स्वभाववाले तथा अन्य लोगोंने भी मुझे प्राप्त किया था। यातुधान (असुर) यथा वृत्रासुर, प्रह्लादको पूर्व जन्ममें श्रीनारदका सङ्ग प्राप्त था। वृषपर्वा माताके द्वारा परित्यक्त होकर मुनि-पालित विष्णु-भक्त हुए, बलिको प्रह्लाद महाराजका सङ्ग, बाणासुरको बाण-छेदनके समय कृपालु महादेवका सङ्ग, मयदानवको सभा-निर्माणके समय पाण्डवोंका सङ्ग, विभीषणको हनुमान्‌का सङ्ग, सुग्रीवादिको लक्ष्मणका सङ्ग, गजराजको पूर्वजन्ममें नारदादिका सङ्ग तथा जटायु पक्षीको गरुड़ एवं दशरथका सङ्ग प्राप्त हुआ था। वणिक् तुलाधारकी कथा महाभारतमें प्रसिद्ध है। धर्म व्याध पहले ब्रह्मराक्षस था, (वराहपुराण) जिसे किसी वैष्णवराजाका सङ्ग प्राप्त हुआ था। कुब्जाको पूर्वजन्ममें नारद-सङ्ग प्राप्त था (हरिवंश-पुराण)। मुनिचरी गोपियोंको पूर्वजन्ममें साधु-सङ्ग एवं इस जन्ममें नित्यसिद्ध गोपियोंका सङ्ग, यक्षपत्नियोंको क्रय-विक्रयके लिये मथुरा-गमनकालमें श्रीकृष्णकी दूतियों (माली एवं ताम्बूली) व्रजस्त्रियोंका सङ्ग प्राप्त हुआ था। यथार्थतः सत्सङ्गके प्रभावसे सभीकी अयोग्यता दूर हुई है तथा पुरुषोत्तम भगवान्‌की सेवा प्राप्त हुई है॥ ३-६॥

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसः मत्सङ्गान्मामुपागताः॥ ७॥

उन सबने न तो वेदका अध्ययन किया था, न विधिपूर्वक महत्पुरुषोंकी सेवा या उपासना की थी। अत्यन्त कष्टपूर्ण चान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी, मात्र सत्सङ्गके प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये (साधुओंका सङ्ग ही मेरा सङ्ग है।)॥ ७॥

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा॥ ८॥

इनमें-से वृत्रासुर आदि अन्यान्यका शुद्ध भावमें कुछ साधनान्तर रहे हों (दूसरे कोई साधन अपनाये गये हों), परन्तु गोपियोंने मधुर रससे, व्रजकी गौओंने वात्सल्य रससे, गोवर्द्धन आदि पर्वत एवं हिरनोंने सख्य रससे, वृन्दावनीय तरु-गुल्मादि (झाड़ियों) एवं कालियनाग आदिने साध्य-साधनादि विषयमें अज्ञ होनेपर भी दास्य रससे मुझे प्राप्त किया है। यमलार्जुन आदिने सत्सङ्गसे प्राप्त अनन्यभावके कारण अनायास ही सिद्धि प्राप्त कर ली। ये सभी शुद्ध प्रेमसे अर्थात् ज्ञान, कर्मादिसे अमिश्रा निष्काम भक्ति-भावके कारण कृत्कृत्य हुए हैं॥ ८॥

यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्यायसन्न्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि॥ ९॥

किन्तु अन्यान्य साधक योग, सांख्य, दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, श्रुति-व्याख्या, वेद-पाठ तथा संन्यास आदि कष्टपूर्ण साधनोंका सुष्ठुरूपसे प्रयत्न करके भी मुझे प्राप्त नहीं कर सके॥ ९॥

रामेण सार्द्धं मथुरां प्रणीते
श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः।
विगाढभावेन न मे वियोग-
तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय॥ १०॥

उद्धव! जिस समय अक्रूरजी भैया बलरामजीके साथ मुझे व्रजसे मथुरा ले आये, उस समय मुझमें प्रगाढ़रूपसे अनुरक्त प्रेमकी षष्ठी भूमिकामें (चरणावस्थामें) स्थित गोपियोंका हृदय तीव्र एवं दुःसह विरह-तापसे सन्तप्त हो रहा था। उन्हें मेरे मिलनके अतिरिक्त और कोई भी वस्तु सुखकर प्रतीत नहीं होती थी॥ १०॥

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण।

क्षणार्द्धवत् ताः पुनरङ्ग तासां
हीना मया कल्पसमा बभूवुः॥ ११॥

हे उद्धव! जब मैं वृन्दावनमें रहता था, तब इन गोपियोंने अपने प्रियतमस्वरूप मेरे साथ रासके समय बहुत-सी रात्रियाँ आधे क्षणके समान सुखपूर्वक व्यतीत कर दीं और मेरी विरह-दशामें वे ही रात्रियाँ उन्हें कल्पके समान सुदीर्घ प्रतीत होने लगी। (गोचारणके लिये जाता था, तब भी वे एक-एक क्षणको शत-शत युगके समान मानती थीं और मेरे विरहमें चार प्रहरकी रातको बहुत कल्पोंके समान मानती थीं।)॥ ११॥

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥ १२॥

जैसे मुनि समाधियोगमें आत्मवस्तुमें चित्तके लय होनेके कारण (मेरी अनुभूतिके फलस्वरूप) नाम-रूप आदि उसी प्रकार विस्मृत कर देते हैं, जिस प्रकार नदियाँ समुद्रमें मिलकर अपना नाम-रूप सब खो देती हैं। इसी तरह गोपियाँ भी मुझमें दृढ़ भावसे आसक्त-चित्त होनेके कारण अहङ्कारास्पद निज देह, ममतास्पद पति, पुत्र इह लोक अथवा परलोक कुछ भी नहीं जानती थीं। (ज्ञातव्य है कि विस्मरण अंशके लिये ही मुनियोंका दृष्टान्त है, भगवत्-प्राप्तिके सन्दर्भमें नहीं।)॥ १२॥

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः॥ १३॥

वे सैकड़ों-हजारों गोप-रमणियाँ मेरे वास्तविक स्वरूपसे अनभिज्ञ थीं (मेरे महामाधुर्यका अनुभव उनको होता था, परन्तु मेरे परम ऐश्वर्यका ज्ञान उनको नहीं था) तथा रतिप्रद (रमण)—जार (उपपति) —भावसे मेरी कामना करती थीं। उद्धव! मेरे सङ्गके प्रभावसे वे

मुझ परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो गयीं। (परम पुरुषका एकमात्र आश्रय ग्रहण करनेके कारण उनकी सभी क्रियाएँ सर्वोत्तम एवं सर्वोत्कृष्टरूप-से, सबसे ऊपर अवस्थित हैं।)॥ १३॥

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥ १४॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥ १५॥

इसलिये हे उद्धव! तुम श्रुति-स्मृति, विधि-निषेध (प्रवृत्ति-निवृत्ति), सुनने योग्य और सुने हुए सभी विषयोंका परित्यागकर समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामीस्वरूप मुझ एककी ही सर्वात्मभावसे शरण ग्रहण करो। ऐसा होनेसे ही तुम मेरे द्वारा सर्वथा अभय हो जाओगे। (न तो तुम्हें संसारका भय रहेगा और न ही कर्म, ज्ञानमें अधिकारका।)॥ १४-१५॥

श्रीउद्धव उवाच—

संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर।
न निवर्त्तत आत्मस्थो येन भ्राम्यति मे मनः॥ १६॥

यह सुनकर उद्धवने कहा—हे योगेश्वरेश्वर! आपके द्वारा कहे गये वचनोंको सुन तो रहा हूँ, फिर भी मेरे हृदयका संशय अभी तक दूर नहीं हो रहा है; इसलिये मेरा मन भटक रहा है। (समस्त कर्मोंसे निरपेक्ष होना कर्मका अधिकार प्राप्त होना है, श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्के अधीश्वर हैं—यह जानना ज्ञानका अधिकार है एवं उनके पूर्णरूपसे शरणागत हो जाना भक्तिका अधिकार है। श्रीकृष्णने उद्धवको ये तीनों अधिकार प्रदान किये हैं।) (उद्धवके संशयका कारण है कि सनकादि योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें कई प्रकारके उपदेश दिये हैं, यथा—मनुष्यको एकमात्र भगवान्की शरण ग्रहणकर वर्णाश्रम प्रणालीके अन्तर्गत निष्काम भावसे अपने कर्त्तव्य करने चाहिए—उद्धवने इसे ज्ञान-मिश्रा

भक्तका उपदेश माना), इसके बाद भगवान्ने क्रमशः कहा—भक्तिके बिना मनन-चिन्तन पूर्ण नहीं हो सकता; मनुष्यको श्रद्धाके साथ भगवान्की महिमाका श्रवण एवं कीर्त्तन करना चाहिए, भक्तोंका सङ्ग करना चाहिए, भक्तिके बिना मोक्षका प्रयास व्यर्थ है, भक्तोंका आनुगत्य करे, सकाम कर्मों एवं मनोकल्पनाओंका त्याग करके मेरी शरण ग्रहण करे। अतः उद्भव मोहग्रस्त हो रहे हैं।)॥ १६॥

श्रीभगवानुवाच—

स एष जीवो विवरप्रसूतिः
प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं
मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥ १७॥

श्रीभगवान्ने कहा, हे प्रिय सखा उद्धव! (वेदके रूपमें चतुर्मुख ब्रह्माके चार मुखोंसे मैं ही आविर्भूत हुआ हूँ। इस स्थलपर 'जीव' शब्दका अर्थ है, जो सबको जीवन दान करते हैं—ऐसे परमेश्वर।) आधार चक्रमें अभिव्यक्तिशील ये अपरोक्ष परमेश्वर परा नामक नादयुक्त प्राणके साथ गुहा अर्थात् आधार चक्रमें प्रविष्ट होते हैं। (परमात्माके अपरोक्ष होनेका कारण है आधार आदि चक्रोंमें जिनकी प्रसूति अर्थात् अभिव्यक्ति होती है।) उसके बाद 'पश्यन्ति' नामक मणिपुर चक्रमें तथा मध्यमा नामक विशुद्ध चक्रमें मनोमय सूक्ष्मरूपको प्राप्त होते हैं। उसके बाद मुख-विवरमें ह्रस्वादि मात्रा, उदात्तादि स्वर एवं अकारादि वर्ण-क्रमसे अति स्थूल भावमें (वैखरी वाणीके रूपमें) नाना वेद-शाखारूपमें प्रकाशित होते हैं। तात्पर्य यह है कि परा, पश्यन्ती एवं मध्यमा नामसे प्राण, मन एवं बुद्धि स्थानीय आधार चक्र, नाभिचक्र एवं हृदयचक्रमें स्फूर्त्ति प्राप्त होनेपर भी बाहरसे प्रकाशित नहीं होते, 'वैखरी' नामक वाक् इन्द्रियमें आकर ही वचन नाम धारण करके मुखसे प्रकाशित होते हैं।

वैखरी—मुख विवरमें शब्दोंके उच्चारणसे जो व्यक्त होती है, इसे दूसरा भी सुन सकता है। यह अत्यन्त स्थूल वैखरी वाणी

वेदोंकी अनेक शाखाओंका रूप धारण कर लेती है। मनुष्य इसी चौथे प्रकारकी वाणीका प्रयोग करते हैं।

मध्यमा—विशुद्ध चक्रमें ऐसे शब्द—जिनका उच्चारण कोई दूसरा नहीं सुन सके यथा नाम-जप।

पश्यन्ती—इसमें शब्दोंको देखा जाता है अर्थात् वायुके सङ्गसे उत्पन्न होनेवाले बुद्धिगत प्रत्यक्षरूप इन्द्रियोंके द्वारा जो भीतर देखती है उच्चारण नहीं करती है, इस वाणीका नाम पश्यन्ती है, यथा मन्त्रद्रष्टा ऋषि-महर्षियोंने मन्त्रोंको देखा। इसमें ऐसा विचार रहता है कि मैं पश्यन्तीका उच्चारण कर रहा हूँ।

परा—यह परमसे सम्बन्धित है। शब्दरूप परमेश्वरको अर्थात् शब्द ब्रह्मको जानना, देखना परा कहलाता है। परा वाणी इन्द्रियोंसे परे शाश्वत एवं सर्वोत्कृष्ट है॥ १७॥

यथानलः खेऽनिलबन्धुरुष्मा
बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः।
अणुः प्रजातो हविषा समेधते
तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी॥ १८॥

(क्रमपूर्वक प्रकाशके दृष्टान्तके विषयमें कहते हैं) जिस प्रकार आकाशमें अर्थात् काष्ठगत आकाशमें 'उष्मा' (विद्युत) रूपमें स्थित अग्नि पहले अव्यक्त होनेपर भी मन्थन (अरणिमन्थन) द्वारा प्रकाशित होती है, बादमें और अधिक मन्थन करने पर वायुकी सहायतासे (उसी काष्ठसे) सूक्ष्म चिनगारियाँ प्रकाशित होती हैं, तत्पश्चात् वही स्थूल अग्निरूपमें प्रकाश प्राप्त करती हुई घीके द्वारा प्रचण्ड वृद्धिको प्राप्त होती हैं (अर्थात् यज्ञ साधित होता है), उसी प्रकार मेरी यह वेदवाणी भी सूक्ष्म-स्थूल क्रमसे मेरी ही अभिव्यक्तिके रूपमें ज्ञात होती है। (यह वेदवाणी मेरा ही स्वरूप है, इसके अति गूढ़ अर्थको मेरे अतिरिक्त कौन जान सकता है? मैं शब्द ब्रह्मरूप-से क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी वाणीके रूपमें प्रकट होता हूँ। कृष्णनामसे (सङ्कीर्तनसे) क्रमशः

कृष्णरूप, कृष्णगुण एवं कृष्णलीलादि एवं कृष्णधाम आदि सम्यक् प्रकटित होते हैं।)॥ १८॥

एवं गदिः कर्मगतिर्विसर्गो
घ्राणो रसो दृक् स्पर्शः श्रुतिश्च।
सङ्कल्पविज्ञानमथाभिमानः
सूत्रं रजःसत्त्वतमोविकारः॥ १९॥

समष्टि एवं व्यष्टि रूपमें समस्त इन्द्रियोंका व्यापार मेरा ही प्राकृत प्रकाश है, ऐसा समझो वाक् इन्द्रियोंका कार्य बोलना, हाथोंकी वृत्ति कर्म, पदकी वृत्ति गति, पायुकी वृत्ति मलमूत्र आदि परित्याग, नासिकाकी वृत्ति सूँघना, रसनाकी वृत्ति रस-ग्रहण, नेत्रोंकी वृत्ति दर्शन, त्वक्की वृत्ति स्पर्श, कर्णकी वृत्ति श्रवण, मनकी वृत्ति सङ्कल्प, बुद्धिकी वृत्ति विज्ञान, अहङ्कारकी वृत्ति अभिमान, प्रधान अर्थात् प्रकृतिकी वृत्ति—सत्त्व, रज और तमोगुणके विकारसे उत्पन्न अधिदैव आदि त्रिविध प्रकारके मायिकी प्रपञ्च मेरे ही अभिव्यक्ति-स्वरूप हैं, इस प्रकार समझो (इसलिये विवेकी व्यक्ति इस जगत्में व्यामोहको प्राप्त नहीं होते।)॥ १९॥

अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनि-
रव्यक्त एको वयसा स आद्यः।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति
बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत्॥ २०॥

बीज जिस प्रकार क्षेत्रको प्राप्तकर एक होकर भी अनेक रूपोंमें (वृक्ष, शाखा, पत्र एवं पुष्पादिके रूपोंमें) प्रकाशित (उद्गत) होता है, उसी प्रकार त्रिगुणोंके आश्रय, सनातन, लोकपद्मके कारण-स्वरूप वे परमेश्वर भी पहले एक अव्यक्त स्वरूपमें (विराट् जगत्के क्षेत्रके बाहर) अवस्थित होकर काल गतिसे वाक्-इन्द्रिय आदि भौतिक शक्तिके विभाजनके द्वारा देव, मनुष्यादि बहुत प्रकारसे प्रकाशित होते हैं॥ २०॥

यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं
पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः।
य एष संसारतरुः पुराणः
कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते॥ २१॥

पट (वस्त्र) जिस प्रकार विस्तृत तन्तुओंमें ओतप्रोतरूपसे अवस्थित रहता है, उसी प्रकार यह निखिल जगत् उन परमेश्वरमें ओतप्रोतरूपसे अवस्थित है। अनादि, प्रवृत्तिशील (कर्म-प्रवाहमय) यह संसार-वृक्ष भोग एवं मुक्तिरूप पुष्प एवं सुख-दुःखरूप फलको प्रसव करता रहता है। (तात्पर्य यह है—जिस प्रकार सूत्र द्वारा निर्मित वस्त्र सूत्रसे पृथक् नहीं है, उसी प्रकार ईश्वरकी मायासे विलसित, ईश्वरका आश्रय यह जगत् ईश्वरसे पृथक् नहीं है)॥ २१॥

द्वे अस्य बीजो शतमूलस्त्रिनालः
पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीड-
स्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः॥ २२॥
अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा
ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यै
र्मायामयं वेद स वेद वेदम्॥ २३॥

इस संसार वृक्षके पुण्य-पाप ये दो बीज हैं, अपरिमित वासनाएँ इसकी जड़ (मूल) हैं, सत्त्व आदि तीनों गुण इसके तने हैं, पञ्चभूत इसके स्कन्ध हैं, ग्यारह इन्द्रियाँ इसकी शाखाएँ हैं, शब्द आदि विषय-पञ्चक इससे उत्पन्न रस-स्वरूप हैं; वात, पित्त और कफ इसके तीन बल्कल हैं, सुख-दुःख इसके फल-द्वय हैं, जीव और परमात्मा रूप दो पक्षी इसमें घोंसला बनाकर विराजमान हैं। यह विशाल वृक्ष (बहिर्जगत्) सूर्यमण्डल तक व्याप्त है (इस अर्क-मण्डलका भेदन करनेवाला मुक्त पुरुष इस संसारमें पुनः नहीं

आता), गीध अर्थात् कामी गृहस्थ व्यक्ति इसके दुःखरूप फलका भोग करते हैं तथा हंस और विवेकी अरण्यवासी संन्यासीगण इसके सुखरूप फलका भक्षण करते हैं। जो लोग पूजनीय गुरुवर्गकी सहायतासे इस संसार-वृक्षको एक परमानन्द पुरुषकी ही मायाशक्तिके प्रभावसे नाना रूपोंमें प्रकट देखते हैं, वे यथार्थतः वेदके तत्त्वार्थको समझनेवाले हैं (भगवत्-उपलब्धिसे ही जड़जगत्की नश्वर-प्रतीति एवं भगवत्-ज्ञानसे ही सम्बन्ध ज्ञानका उदय होता है।)॥ २२-२३॥

एवं गुरुपासनयैकभक्त्या
विद्याकुठारेण शितेन धीरः।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः
सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम्॥ २४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

अतएव हे उद्धव! तुम भी विवेकवान् एवं सावधान होकर पहले कहे गये क्रमसे श्रीगुरुदेवकी सेवा जनित ऐकान्तिकी (अव्यभिचारिणी) भक्तिके साथ अत्यन्त तीक्ष्ण ज्ञान-कुठारके द्वारा जीवकी उपाधि—त्रिगुणात्मक लिङ्ग-शरीरको (सूक्ष्म-शरीरको) छेदनकर परमात्म-वस्तुके प्राप्त होनेपर ज्ञानरूप साधन-अस्त्रका भी परित्याग कर देना॥ २४॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके बारहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

हंसरूपसे सनकादिको दिये हुए उपदेशका वर्णन

श्रीभगवानुवाच—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्नचात्मनः।
सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात् सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! सत्त्व, रज और तम—ये तीनों बुद्धिके (अविद्याके) ही गुण हैं, आत्माके गुण नहीं, क्योंकि आत्मा गुण, धर्मसे युक्त नहीं है। सत्त्व वृत्तिके द्वारा रज एवं तमोगुणकी वृत्तिको जय करना चाहिए। तदनन्तर विशुद्ध सत्त्व गुणकी उपशमात्मिका (शान्त) वृत्तिके द्वारा सत्य, दया आदि सात्त्विक वृत्तियोंको भी जय कर लेना चाहिए॥ १॥

सत्त्वाद्धर्मो भवेद्वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः।
सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्त्तते॥ २॥

सत्त्व गुणके प्रबल होनेपर जीवको मेरे भक्तिरूप स्वधर्मकी प्राप्ति होती है। निरन्तर सात्त्विक वस्तुओंका सेवन करनेसे ही सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और उसीके द्वारा धर्ममें प्रवृत्ति होने लगती है॥ २॥

धर्मो रजस्तमो हन्यात् सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते॥ ३॥

सत्त्व-वृद्धिके समान अन्य कोई उत्तम गुण नहीं है। सत्त्व-वृद्धिरूप इस उत्कृष्ट धर्मसे ही रजः एवं तमोगुणका विनाश होता है और इनके विनाश होनेपर तन्मूलक (रजो एवं तमो गुणका आकर) अधर्म (धर्मके प्रतिबन्धक राग, द्वेष, प्रमाद एवं आलस्यादि) भी नष्ट हो जाता है॥ ३॥

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः॥ ४॥

शास्त्र, जल, प्रजाजन, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दस वस्तुएँ यथायोग्यरूपसे गुणका कारण होती हैं। ये दस वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो सत्त्वगुणकी, राजसिक हों तो रजोगुणकी और तामसिक हों तो तमोगुणकी वृद्धि करती हैं॥ ४॥

तत्तत् सात्त्विकमेवैषां यद्यद्वृद्धाः प्रचक्षते।
निन्दन्ति तामसं तत्तद्राजसं तदुपेक्षितम्॥ ५॥

इनमें-से श्रीव्यास इत्यादि प्राचीन तत्त्वज्ञानी जिन-जिन (परम कल्याणप्रद एवं गुण समृद्धिकारक) वस्तुओंकी प्रशंसा करते हैं, वे सात्त्विक हैं, जिन-जिन वस्तुओंकी निन्दा करते हैं, वे तामसिक हैं तथा जिनकी उपेक्षा (न ही प्रशंसा तथा न ही निन्दा) करते हैं, उन्हें राजसिक समझो॥ ५॥

सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत् स्मृतिरपोहनम्॥ ६॥

जबतक आत्माका साक्षात्कार एवं स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीर तथा उनके कारण तीनों गुणोंका परिहार न हो जाये, तबतक मनुष्यको सत्त्वगुणकी वृद्धिके लिये सात्त्विक विषयोंका अर्थात् सात्त्विक शास्त्र आदिका ही सेवन करना चाहिए। सत्त्वगुण बढ़ने पर धर्म एवं धर्म उत्पन्न होनेपर परमात्म विषयक ज्ञान प्राप्त होता है। (दस सात्त्विक वस्तुओंका सेवन इस प्रकारसे है—तीर्थका जल, निवृत्ति मार्गपरक शास्त्रका सेवन, निवृत्ति-प्राप्त मनुष्योंका साथ, निर्जन देशमें वास, ब्राह्ममुहूर्त्तमें उपासना, नित्य-नैमित्तिक विधि-विधानोंका पालन, प्रणव-दीक्षा (हरे कृष्ण महामन्त्र-दीक्षा) रूप दूसरा जन्म ग्रहण, भगवान् एवं भक्तोंका ध्यान, महामन्त्रादिकी सेवा एवं आत्मशोधक संस्कार।)

इसके विपरीत प्रवृत्तिपरक पाखण्ड शास्त्र, गन्धोदक, मदिरा, दुराचारीपुत्र, द्यूत, प्रदोष तथा अर्द्धरात्रि, काम्य एवं अभिचार कर्म, शाक्तवंश, कामिनी एवं काम्य मन्त्रोंका सेवन सर्वथा ही त्याज्य है॥ ६॥

वेणुसङ्घर्षजो वह्निर्दग्ध्वा शाम्यति तद्वनम्।
एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः॥ ७॥

वनमें स्थित बाँसोंकी रगड़से उत्पन्न अग्नि जिस प्रकार अपने आश्रयभूत (स्रोत) बाँसके वनको दग्धकर डालती है और तब स्वयं ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार अग्निके समान क्रियाशील यह गुण-वैषम्य जात (गुणोंकी परस्पर विवदमान क्रियाके द्वारा उत्पन्न) शरीर भी स्वभावजात ज्ञान (विचार-मन्थन) द्वारा अर्थात् ज्ञानाग्निके प्रज्वलित होनेपर अपने शरीरके आश्रयभूत गुणोंको भस्मसात् करते हुए स्वयं भी शान्त हो जाता है; उस समय शरीरकी स्थूल-सूक्ष्म-उपाधि नहीं रहती है। (गुणोंके द्वारा गठित देह वनाग्निकी क्रियाके समान गुणोंके ध्वंस होनेपर स्वयं ही विनष्ट हो जाती है।)॥ ७॥

श्रीउद्धव उवाच—

विदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान् पदमापदाम्।
तथापि भुञ्जते कृष्ण तत् कथं श्वखराजवत्॥ ८॥

इसे सुनकर श्रीउद्धवजीने पूछा—हे श्रीकृष्ण! प्रायः सभी मनुष्य विषयको आपद्का कारण समझते हैं, तथापि (भविष्य-दृष्टि-रहित) कुत्ता जिस प्रकार कुतियाके द्वारा तिरस्कृत होकर भी, गधा गधीकी दुलत्ती खाकर भी और निर्लज्ज बकरा वधके स्थानमें वधके लिये ले जाये जानेपर भी स्त्री-सङ्गकी (बकरीकी) कामना करता है, उसी प्रकार मनुष्य भी विषयोंके कारण विपद्ग्रस्त होकर भी उन्हीं विषयोंकी ही सेवा करते हैं। इसका कारण क्या है, बतलाइए॥ ८॥

श्रीभगवानुवाच—

अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः॥ ९॥

रजोयुक्तस्य मनसः सङ्कल्पः सविकल्पकः।
ततः कामो गुणध्यानाद् दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः॥ १०॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! विवेकरहित व्यक्तिके हृदयमें पहले तो देह-विषयक अहंबुद्धि-रूप (मैं-मेरा) मिथ्या ज्ञानका उदय होता है, जिससे दुःखात्मक रजोगुण (प्रचण्ड राजसी प्रवृत्ति) सत्त्व-प्रधान मनको व्याप्त कर लेता है अर्थात् वह हृदयपर अपना अधिकार कर लेता है। इसके पश्चात् रजोगुणयुक्त मनमें सङ्कल्प और विकल्प उदित होने लगते हैं, जिसके कारण वह दुर्बुद्धि विषयोंके चिन्तनमें निमग्न हो जाता है तथा दुःसह विषय-वासनाकी सृष्टि करता रहता है, जिससे पार पाना दुष्कर है॥ ९-१०॥

करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः।
दुःखोदर्काणि संपश्यन् रजोवेगविमोहितः॥ ११॥

तदनन्तर विषय-वासनाओंके वशीभूत एवं रजोगुणसे मोहित अजितेन्द्रिय पुरुष कर्मोंका प्रत्यक्ष परिणाम दुःखप्रद देखकर भी उन कर्मोंको करता रहता है॥ ११॥

रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान् विक्षिप्तधीः पुनः।
अतन्द्रितो मनो युञ्जन् दोषदृष्टिर्न सज्जते॥ १२॥

किन्तु विवेकवान् मनुष्यका चित्त रजोगुण और तमोगुणके द्वारा विक्षिप्त होनेपर भी सावधानीपूर्वक मनको संयत कर लेता है तथा विषय-भोगोंमें दोष देखकर उन विषयोंमें पुनः आसक्त नहीं होता॥ १२॥

अप्रमत्तोऽनुयुञ्जीत मनोमय्यप्रयन् शनैः।
अनिर्विण्णो यथाकालं जितश्वासो जितासनः॥ १३॥

साधक सावधान, आलस्य-रहित, श्वासजयी (प्राण-वायुपर विजय प्राप्त करनेवाला) एवं जितासन होकर त्रिकाल मेरे प्रति मन अर्पण करके क्रमशः (शनैः-शनैः) एकाग्रताका अभ्यास करे (सम्पूर्णरूपेण भगवत्परायण हो जाए।)॥ १३॥

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा॥ १४॥

सनकादि मेरे भक्तोंने योगका यही स्वरूप निर्दिष्ट किया है कि साधक अपने मनको समस्त विषयोंसे हटाकर उसे यथारूप साक्षात् मुझमें आविष्ट कर दे, मेरे विराट् स्वरूपमें नहीं॥ १४॥

श्रीउद्धव उवाच—

यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केशव।
योगमादिष्टवानेतद्रूपमिच्छामि वेदितुम्॥ १५॥

श्रीउद्धवजीने कहा—हे केशव! आपने जिस समय और जिस रूपसे अपने भक्त सनकादि ऋषियोंको योग-विषयक उपदेश प्रदान किया था, मैं उसी काल और उसी रूपके विषयमें जानना चाहता हूँ, कृपा करके बतलाइए॥ १५॥

श्रीभगवानुवाच—

पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः।
पप्रच्छुः पितरं सूक्ष्मां योगस्यैकान्तिकीं गतिम्॥ १६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—एक समय ब्रह्माके मानस पुत्र सनकादि मुनियोंने ब्रह्माजीके निकट योगकी दुर्ज्ञेय (सूक्ष्म एवं ऐकान्तिक गतिकी) पराकाष्ठा—अन्तिम सीमाके सम्बन्धमें इसी प्रकार प्रश्न किया था॥ १६॥

श्रीसनकादय ऊचुः—

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो।
कथमन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः॥ १७॥

सनकादि ऋषियोंने जिज्ञासा की—हे प्रभो! रागादि (गुणों) के वशीभूत होकर मनुष्योंका चित्त स्वभावतः विषयोंके प्रति आकृष्ट रहता है और विषय भी वासनाके रूपमें चित्तमें प्रवेश प्राप्त कर लेते हैं। अतः जो उन विषयोंसे पार होनेकी अभिलाषा रखते हैं, ऐसे मुमुक्षुओंका विषय एवं चित्तका परस्पर सम्बन्ध कैसे विनष्ट हो सकता है? विषय एवं चिन्तनको एक-दूसरेसे पृथक् कैसे कर सकते हैं, कृपा करके यह बतलाइए॥ १७॥

श्रीभगवानुवाच—

एवं पृष्टो महादेवः स्वयम्भूर्भूतभावनः।
ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः॥ १८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे प्रिय उद्धव! ब्रह्माजी समस्त देवताओंके शिरोमणि, स्वयम्भू (स्वयं कारण-रहित) एवं निखिल प्राणियोंके कारण स्वरूप हैं, तो भी कर्मोंमें (सृष्टि-कार्यमें) निरन्तर विक्षिप्त-चित्त होनेके कारण वे अत्यन्त विचार करके भी पूर्वोक्त प्रश्नके मूलतत्त्वका निरूपण नहीं कर सके॥ १८॥

स मामचिन्तयद्देवः प्रश्नपारतितीर्षया।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा॥ १९॥

तब ब्रह्माजीने उनके प्रश्नका उत्तर जाननेके लिये भक्तिभावसे मेरा ध्यान किया। तब मैं हंसरूप धारण करके उनके समक्ष प्रकट हुआ। (हंस जिस प्रकार जल एवं दुग्धको पृथक् करनेमें समर्थ है, उसी प्रकार मैं विषय एवं चित्तको पृथक् करनेमें समर्थ हूँ।)॥ १९॥

दृष्ट्वा मां त उपव्रजय कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा पप्रच्छुः को भवानिति॥ २०॥

उस समय सनकादि मुनिगण मेरे हंसरूपका दर्शनकर ब्रह्माको आगेकर मेरे समीप आये और मेरे चरणोंकी वन्दना करके यह प्रश्न किया कि 'आप कौन हैं?'॥ २०॥

इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा।
यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव निबोध मे॥ २१॥

हे उद्धव! योग-तत्त्वके जिज्ञासु सनकादि कुमारोंके ऐसा पूछनेपर मैंने उनसे जो कुछ कहा, वह सब मैं तुम्हें बतला रहा हूँ, तुम सुनो—॥ २१॥

वस्तुनो यद्यनानात्व आत्मनः प्रश्न ईदृशः।
कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः॥ २२॥

हे विप्रगण! यदि आपलोग मुझे जीव समझकर 'आप कौन हैं'—यह प्रश्न कर रहे हैं, तो वस्तुगत जीवोंके एकत्व (आत्माके चित्कणत्व तथा नानात्वसे सर्वथा रहित) होनेके कारण जीवके सम्बन्धमें आप लोगोंका यह प्रश्न (बहुतोंमें निर्धारणरूप) कैसे युक्तिसङ्गत हो सकता है? पक्षान्तरमें आत्माका किसी प्रकार जाति, गुण एवं क्रिया आदि विशेषत्व न रहनेके कारण मैं किस विषयका आश्रयकर उत्तर दूँ?॥ २२॥

पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः।
को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः॥ २३॥

यदि यह प्रश्न देह-विषयक है, तो देव, मनुष्य आदि सभी पञ्चभूतात्मक हैं अर्थात् पञ्चभूतोंसे निर्मित हैं और एक परमात्म-वस्तुके अधीन होनेके कारण (परस्पर भिन्न होनेपर भी) सभी समान अर्थात् अभिन्न हैं। ऐसी स्थितिमें 'आप कौन हैं'—यह प्रश्न निरर्थक है, वाणीका व्यवहारमात्र (वाणीका विलास मात्र) है। ऐसे विचार-रहित प्रश्नोंका कोई फल अथवा प्रयोजन भी नहीं है॥ २३॥

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥ २४॥

जगत्में मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्यान्य इन्द्रियोंसे भी जो विषय ग्रहण किये जाते हैं, वह सर्वस्व मेरा ही स्वरूप है,

मैं सर्वात्मक हूँ, मुझसे भिन्न कुछभी नहीं है—तुम्हें यह सिद्धान्त तत्त्व विचारके द्वारा समझना होगा॥ २४॥

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः॥ २५॥

हे पुत्रो! मनुष्योंका चित्त विषयोंमें प्रविष्ट हो अथवा विषय चित्तमें प्रविष्ट हो—चित्त एवं विषय—ये दोनों ही ब्रह्मस्वरूप मदात्मक जीवकी उपाधि (आत्मतत्त्वको प्रच्छन्न करनेवाले) हैं, स्वरूप नहीं; अतएव आत्माका चित्त एवं विषयके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। (भगवद्-भक्तको अपनी मनोवृत्तिको विषयोंसे अछूता रखना चाहिए।)॥ २५॥

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत्॥ २६॥

अतएव जप-ध्यानकारी मनुष्य मेरे स्वरूपको प्राप्त करके (मेरा साक्षात्कार करके) (कि वह मुझसे भिन्न नहीं है अर्थात् मुझ परमात्मासे अभिन्न है) पुनः-पुनः विषय-सेवनके फलस्वरूप विषयोंमें आविष्ट चित्तका तथा संस्कारवश चित्तमें उद्भूत विषय-वासनाओंका परित्याग कर दे। वस्तुतः निर्लिप्त जीवके चित्तका विषयोंसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। विषय एवं चित्त दोनों ही मद्रूप हैं। इनमें आविष्ट न हो॥ २६॥

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तञ्च गुणतो बुद्धिवृत्तयः।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः॥ २७॥

सत्त्वगुणसे जागरण, रजोगुणसे स्वप्न एवं तमोगुणसे सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा)—बुद्धिकी ये तीनों वृत्तियाँ सत्त्वादि गुणोंके अनुसार उत्पन्न होती हैं और जीव इन सबके साक्षीके (द्रष्टा) रूपमें इनसे सर्वथा विलक्षण है—यही सिद्धान्त विशेषरूपसे निरूपित हुआ है। तात्पर्य यह है कि निर्गुण मुक्त जीव इन तीनों अवस्थाओंसे पृथक् रहनेके कारण गुणाधीन नहीं होता, द्रष्टारूपसे गुणादिका दर्शन मात्र करता है॥ २७॥

यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात् त्यागस्तद् गुणचेतसाम्॥ २८॥

चूँकि यह बुद्धि-बन्धन ही जीवको त्रिगुणात्मक विषय-वृत्ति प्रदान करता है, इसीलिये तुरीय चैतन्यस्वरूप मुझमें प्रतिष्ठित होकर गुण-जात इस बुद्धि-बन्धनका (संसार-बन्धनका) परित्याग कर दे, ऐसा करने पर तत्काल ही विषय (गुण) एवं चित्तके परस्पर सम्बन्धका स्वाभाविक ही त्याग हो जाता है। गुणातीत ही विषय-वासनासे मुक्त हो सकता है॥ २८॥

अहङ्कारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम्।
विद्वान् निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत्॥ २९॥

अहङ्कार कृत (देहमें अहं बुद्धि द्वारा) बन्धन ही जीवके परिपूर्णतम सत्य, अखण्ड ज्ञान एवं आनन्दादि गुणोंका आवरण कर देता है, इसीसे अनर्थ होता है—यह जानकर वैराग्यके साथ मुझ तुरीय वस्तुमें अवस्थान करते हुए बुद्धि जनित अभिमान, भोग-चिन्तन एवं अज्ञान तथा दुःखस्वरूप संसारका परित्याग कर दे। (भोग-वासना-राहित्य प्रबल होनेपर भगवदनुशीलनका सुयोग उपस्थित होता है, वही तुरीयावस्थामें अवस्थान कहा जाता है।)॥ २९॥

यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्त्तेत युक्तिभिः।
जागर्त्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा॥ ३०॥

जिस समय तक जीवका भेद-ज्ञान (यह अच्छा है अथवा यह बुरा है—बुद्धिसे नानात्व ग्रहण) युक्ति-विचार द्वारा (कि यह मेरा नहीं है) निवृत्त नहीं हो जाता, तबतक जीव जाग्रत अर्थात् विषय-कर्ममें सचेष्ट देखा जाता है, वस्तुतः उस अज्ञका यह जागरण स्वप्न-द्रष्टाके जागरणके समान अवास्तव ही है (स्वप्नद्रष्टाको स्वप्नावस्थामें प्रतीत होता है कि मैं जाग रहा हूँ), अर्थात् स्वप्नावस्था मात्र ही है। संसार-मोचनका उपाय जानकर भी जीव संसारासक्तिका ही संरक्षण करता है॥ ३०॥

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा॥ ३१॥

परमात्मासे अन्य (भिन्न) नामरूपात्मक देहादिमें विभिन्न भावनाओंके (वस्तुओंके) असत्त्व (अभाव) के कारण देहादिकृत (देहाभिमानाश्रित) वर्णाश्रमादि भेद, स्वर्गादि कर्म-फल एवं कर्म-समूह—यह सारा प्रपञ्च सभी स्वप्नदर्शी पुरुषके स्वप्नदृष्ट विषयोंके समान वस्तुतः मिथ्या ही हैं। स्वप्नकालमें दृष्ट वस्तुओंका कर्तृत्व जिस प्रकार जागरणकालमें प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार जीवन्मुक्तावस्थामें वर्णाश्रमादि, स्वर्गादि भोग एवं अन्यान्य अवस्थाएँ प्रतीत नहीं होतीं॥ ३१॥

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान्।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः॥ ३२॥

जो जाग्रत अवस्थामें चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंके द्वारा क्षणभङ्गुर धर्मविशिष्ट देहादिके स्थूल विषय—बाल्य, तारुण्यादि बहिर्व्यापारका उपभोग करता है, स्वप्नावस्थामें हृदयमें ही जाग्रतकालमें देखे गये पदार्थोंके समान वासनामय अस्थायी विषयोंका सेवन करता है, सुषुप्ति अवस्थामें (स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रामें) किसी पदार्थको देखता नहीं, किसी विषयका अनुभव नहीं करता—इस अवस्थामें सभी अनुभव परमात्म-वस्तुके द्वारा अज्ञानमें लीन हो जाते हैं, तब जीव यह समझ सकता है कि चेतनाकी तीनों अवस्थाओंमें वह एक ही है। वही जाग्रत अवस्थामें समस्त इन्द्रियोंका अधीश्वर है, स्वाप्कालका मन भी वही है और संस्कारयुक्त बुद्धिका स्वामी भी वही है। वही जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्तिकी सरणि—जिसमें मैंने स्वप्न देखा, जो मैं सोया, वही मैं जाग रहा हूँ—की स्मृति द्वारा अनुसन्धानवश सभी अवस्थाओंमें संयोग (सम्बन्ध) रहनेके कारण अवस्था-त्रयका साक्षी है॥ ३२॥

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम्॥ ३३॥

हे उद्धव! विचार-बुद्धिपूर्वक यह निश्चय कर लो कि सत्त्वादि गुणकृत जागरणादि तीनों मानसिक अवस्थाएँ मेरे द्वारा सृष्ट अविद्या (मायाशक्ति) द्वारा मुझमें कल्पित (विद्यमान) मानी गयी हैं (आत्मामें ये सर्वथा असत्य है)। इसके बाद तुम अनुमान, साधुओंके सदुपदेश एवं शास्त्ररूप तीक्ष्ण-ज्ञानकी खड्ग द्वारा अहङ्कारको छेदन करके अखिल संशयोंके विनाशकरूपमें मेरा भजन करो। मिथ्या अभिमान सभी संशयोंको प्रश्रय देनेवाला है। (भगवान्‌की सेवासे सभी संशयोंका विनाश हो जाता है)॥ ३३॥

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम्।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः॥ ३४॥

मनोकल्पित, विनाशशील, अलातचक्र (लुकारियोंकी बनेठी अर्थात् लकड़ीको घुमानेसे बने लाल रङ्गके गोले) के समान अति चञ्चल (अत्यन्त क्षणिक) एवं मनके कौतुकास्पद इस दृश्य जगत्‌को तुम भ्रम-युक्त समझो। विज्ञानस्वरूप परमात्म चैतन्य एक ब्रह्म ही नाना रूपों एवं अवस्थाओंमें प्रकाशित हो रहे हैं—वे विभिन्न प्रकारके नहीं हैं। गुणोंके परिणामस्वरूप जागरणादि भेदत्रय स्वप्नवत् हैं; ये मायाके विलास अर्थात् तात्कालिक प्रतीति मात्र हैं (प्रकृतिके गुण आत्माकी चेतनाको जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें बाँट देते हैं। वस्तुतः ऐसी विविधताएँ मायामात्र हैं, इनका अस्तित्व स्वप्नके समान है)॥ ३४॥

दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात्॥ ३५॥

अतएव वास्तव ज्ञानके द्वारा (कि बहिर्जगत् भ्रममय एवं अनित्य है) दृश्य प्रपञ्चसे दृष्टि हटाकर विषय-तृष्णासे रहित, मौनी (निश्चेष्ट अर्थात् मन एवं वाणीके व्यापारसे रहित), निरीह (कायिक प्रयासोंसे रहित) होकर आत्मानन्दके अनुभवका सन्धान करे। कभी-कभी प्राण-धारण हेतु नितान्त आवश्यक आहारादि कार्योंमें जगत्-सम्पर्क यद्यपि होता हो, तथापि यह सम्पर्क मोहको (भ्रमात्मिका बुद्धिको) उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि पूर्व ही इस जगत्को अवास्तव (आत्मवस्तुसे पृथक् एवं मिथ्या) जानकर परित्यक्त कर दिया गया है। (इस स्थितिमें देहनिपात पर्यन्त मात्र संस्काररूपमें इस जगत्का आभास होता है। स्वरूपसिद्ध अवस्थामें भोग्य वस्तुओंकी तुच्छताकी उपलब्धि हो ही जाती है।)॥ ३५॥

देहञ्च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमथ दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥ ३६॥

मदिरासे अन्ध व्यक्ति जिस प्रकार यह नहीं जान पाता कि पहना हुआ वस्त्र शरीरसे गिर गया है अथवा दैववश पुनः संलग्न हो गया है (किसीने पहना दिया है), उसी प्रकार सिद्ध पुरुष भी स्वरूप-ज्ञान प्राप्त होनेके कारण यह जान नहीं पाता कि यह नश्वर शरीर आसनपर स्थित है, वहाँसे उठ गया है अथवा पुनः कहीं चला गया है, वहाँसे आ गया है। ब्रह्मानुभव-प्राप्त किसी भी अवस्थामें क्यों न रहे, वह यह सब नहीं जान पाता। (स्वरूपसिद्ध व्यक्ति जड़भोगके प्रति सर्वदा ही उदासीन एवं विस्मृति युक्त रहते हैं।)॥ ३६॥

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रति समीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥ ३७॥

दैवाधीन (दैवके वशीभूत) यह गतिशील देह भी अपने आरम्भक कर्मके स्थितिकालतक (जबतक प्रारब्ध कर्म रहता है) प्राण एवं इन्द्रियोंके सहित अवश्य ही जीवित रहता है, परन्तु समाधि-योगमें आरूढ़ होनेपर (कृष्ण-स्मृतिकी निरन्तरताको प्राप्त होनेपर) तथा परमार्थ तत्त्वके ज्ञात होनेपर वह प्रबुद्ध व्यक्ति स्वप्नके समान सप्रपञ्च (अर्थात् इन्द्रिय-विषय-भोगादि सहित) इस देहमें पुनः आसक्त नहीं होता अर्थात् योगारूढ़ मनुष्य प्रपञ्चके साथ पुनः इस शरीरको स्वीकार नहीं करता॥ ३७॥

मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत् सांख्ययोगयोः।
जानीत मागतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया॥ ३८॥

हे विप्रगणो! मैंने सांख्य (आत्म-अनात्म-विवेक) एवं योग (ब्रह्मसे सम्बन्धित अष्टाङ्ग योग) विषयमें जो गोपनीय तत्त्व (सांख्य एवं योगकी असत् व्याख्यारूप बाह्य विचारका खण्डन) है, वह तुम लोगोंको बतलाया। मैं स्वयं विष्णु ही धर्मोपदेश प्रदान करनेके लिये इस स्थानपर उपस्थित हुआ हूँ, ऐसा समझो॥ ३८॥

अहं योगस्य सांख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः।
परायणं द्विजश्रेष्ठाः श्रियः कीर्त्तेर्दमस्य च॥ ३९॥

हे द्विजश्रेष्ठो! मैं सांख्य, योग, सत्य, ऋत (मधुर भाषण), प्रभाव, श्री, कीर्त्ति और दम (इन्द्रिय निग्रह)—इन सबकी परम-गति या आश्रय-स्वरूप हूँ॥ ३९॥

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः॥ ४०॥

मैं अनित्य प्राकृत गुणोंसे रहित, निरपेक्ष (मायिक गुणोंकी अपेक्षासे रहित), सर्व-हितकारी, सर्व-प्रेमास्पद, सर्व-अन्तर्यामी, सर्व-आश्रयस्वरूप हूँ। साम्य (समत्व), नित्यत्व एवं सङ्ग-राहित्य इत्यादि सद्गुण मुझमें नित्य अवस्थित रहते हैं॥ ४०॥

इति मे छिन्नसन्देहा मुनयः सनकादयः।
सभाजयित्वा परया भक्त्यागृणत संस्तवैः॥ ४१॥

हे उद्धव! इस प्रकार मेरे उपदेशसे सनकादि मुनि संशय-मुक्त हो गये और उस समय उन्होंने प्रेमलक्षणा भक्तिके साथ मेरी पूजा करके दिव्य स्तोत्रके द्वारा मेरी स्तुति की॥ ४१॥

तैरहं पूजितः सम्यक् संस्तुतः परमर्षिभिः।
प्रत्येयाय स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

उन परमर्षियोंके द्वारा पूजित और वन्दित होकर मैं साक्षात्कारी ब्रह्माजीके समक्ष ही अदृश्य होकर अपने धाममें लौट आया॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके तेरहवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः

भक्तियोगकी महिमा तथा ध्यानविधिका विवेचन

श्रीउद्धव उवाच—

वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः।
तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता॥ १॥

उद्धवजीने कहा—हे श्रीकृष्ण! ब्रह्मवादी ऋषिगण आत्मकल्याणके विविध साधनोंका वर्णन अपने-अपने दृष्टिकोणोंसे करते हैं। अपनी-अपनी दृष्टिसे सभी श्रेष्ठ हैं अथवा उनमें-से किसी एककी प्रधानता है? आप अनुग्रहकर मुझे बतलाइए॥ १॥

भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः।
निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मनः॥ २॥

हे प्रभो! जिस निष्काम भक्तियोग द्वारा समस्त आसक्तियोंका परित्याग करके चित्त आपमें निविष्ट होता है, आपके द्वारा उपदिष्ट वह निष्काम (अहैतुक) भक्तियोग सर्वसम्मतरूपसे श्रेष्ठ है अथवा केवल आपके द्वारा ही सम्मत है, यह निर्धारण करके बतलावें॥ २॥

श्रीभगवानुवाच—

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥ ३॥

भगवान्ने कहा—जिस वेद-वाणीमें मेरे स्वरूपभूत धर्मका—भागवत धर्मका वर्णन हुआ है, वह प्रलयमें कालके प्रभावसे लुप्त हो गयी थी। सृष्टिके प्रारम्भमें मैंने ही वाणीरूप वेदका (वेद नामक वाणीका) उपदेश अपने सत्यसङ्कल्पसे ब्रह्माको प्रदान किया था। भक्तियोग ही सर्वोत्कृष्ट है। इसके अतिरिक्त किसी और पथमें

मङ्गल ही नहीं है, तब किसी एककी प्रधानताके विषयमें पूछनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है॥ ३॥

तेन प्रोक्ता स्वपुत्राय मनवे पूर्वजाय सा।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः॥ ४॥

ब्रह्माने अपने ज्येष्ठ पुत्र स्वायम्भुव मनुको उसका उपदेश प्रदान किया और उनसे भृगु, अङ्गिरा, मरीचि, पुलह, अत्रि, पुलस्त्य और क्रतु—इन सात ब्रह्म-महर्षियोंने ग्रहण किया। ये सभी प्रजापति भी कहलाते हैं॥ ४॥

तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः॥ ५॥
किंदेवाः किन्नरा नागा रक्षः किंपुरुषादयः।
बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः॥ ६॥
याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां पतयस्तथा।
यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि॥ ७॥

भृगु इत्यादि पितरोंसे उनके पुत्र देव, दानव, गुह्यक (यक्षके समान देवयोनि), मनुष्य, सिद्ध गन्धर्व, विद्याधर, चारण, किंदेव (जिनके शरीरसे पसीनेकी दुर्गन्ध नहीं आती अथवा द्वीपान्तरवासी मनुष्य), किन्नर (नरके समान किञ्चित् मुख अथवा शरीर), किंपुरुष (किञ्चित् पुरुषके समान वानरादि), नाग एवं राक्षसादिने प्राप्त किया। इन सभी जीवोंमें रजो एवं तमोगुणसे उत्पन्न विविध वासनाएँ रहती हैं। इन वासनाओंके कारण देव, असुर, मनुष्यादि भूतगण एवं भूतपतिगण विभिन्न प्रकारके होते हैं और उनके वासना-वैचित्र्यके कारण धर्मकी विविध प्रकारकी व्याख्याएँ हैं। जीवोंकी भगवद्-विमुखताके तारतम्यक्रमसे वेदमन्त्र भी विभिन्न आकार धारण करके भोगी जीवोंकी वासना तृप्त करते हैं॥ ५-७॥

एवं प्रकृतिवैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो नृणाम्।
पारम्पर्येण केषाञ्चित् पाषण्डमतयोऽपरे॥ ८॥

इस प्रकार मनुष्योंकी कामनाओंके भेदसे विभिन्न प्रकारकी मतिका उदय होता है। कोई-कोई वेद पढ़े बिना ही उपदेश-परम्परा क्रमसे लोगोंको विभिन्न मतोंसे ग्रस्त कर देते हैं और अन्यान्य कुछ मनुष्य भक्तिहीन वेद-विरुद्ध पाखण्ड-मतमें प्रवृत्त हो जाते हैं। इन लोगोंके व्याख्यान-प्रवचनसे वेदका अर्थ विरस एवं विरुद्ध फलप्रद होता है। ऐसे मतोंको ग्रहण करना दुर्भाग्यका परिचायक है॥ ८॥

मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि॥ ९॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! मनुष्य मेरी मायासे मोहित होकर रुचि-भेद एवं कर्म-भेदसे नाना प्रकारके श्रेयः साधन बतलाते हैं। साधु-सङ्गका अभाव ऐसे लोगोंको अनर्थ-सागरमें पतित कर देता है। श्रद्धाके अभावके कारण ही उनकी भगवद्-भक्तिमें रुचि नहीं होती, आसक्ति तो दूरकी बात है॥ ९॥

धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम्।
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम्।
केचिद् यज्ञं तपो दानं व्रतानि नियमान् यमान्॥ १०॥

उनमें-से कर्ममीमांसक धर्मको, काव्य, अलङ्कार-कर्त्ता यशको (इनकी मान्यता है कि जबतक मनुष्यके यशका गायन पुण्य लोकोंमें किया जाता है, तबतक वह मनुष्य सहस्रवर्षों तक स्वर्गलोकमें पूजित होता है), कामशास्त्री (वात्सायनादि) कामको, योग-शास्त्रकारी सत्य-दम-शमको तथा दण्डनीतिकार ऐश्वर्यको ही स्वार्थ-परमार्थ मानते हैं। चार्वाकादि दान-भोगको, वैदिकगण यज्ञको तो कोई तप-दान-व्रत-नियम-यम इत्यादिको श्रेयःका साधन बतलाते हैं॥ १०॥

आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रा मन्दाः शुचार्पिताः॥ ११॥

पूर्वोक्त मनुष्योंको तद्-तद् कर्मजनित जो लोक प्राप्त होते हैं, वे अनित्य, परिणाममें दुःखद, मोहजनक, क्षुद्र, हीन एवं शोकमय होते हैं। कर्मकाण्डके फलकी आशासे जो यहाँ-वहाँ भागते हैं, उनके लिये फल उदित होता ही नहीं, उदित हो भी जाए, तो नष्ट हो जाता है। कर्म-भोगके समयमें वे असूया आदि दोषोंके कारण शोकसे भरे रहते हैं। कर्मकाण्डकी अन्तिम गति घोर अज्ञान है॥ ११॥

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयात्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद्विषयात्मनाम्॥ १२॥

हे साधो! जो अपने अन्तःकरणको सब प्रकारसे मुझे ही समर्पित कर चुका है, ऐसे विषय-वासना रहित निरपेक्ष व्यक्तिके हृदयमें मेरे परमानन्द स्वरूपकी स्फूर्ति होनेसे जैसा सुख होता है, विषयोंमें आसक्त पुरुषोंको वैसा सुख किसी प्रकारसे सम्भव नहीं है॥ १२॥

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः॥ १३॥

जो अकिञ्चन (सर्वत्र स्पृहारहित), दान्त (इन्द्रिय-दमनमें समर्थ), शान्त (किसी प्रकारकी कामनासे अविचलित), सर्वत्र समचित्त (किसीको भी अपनेसे तुच्छ नहीं माननेवाले) एवं आत्मपरितृप्त हैं तथा भगवत्-प्रदत्त सभी अवस्थाओंमें सन्तुष्ट-चित्त हैं अर्थात् विश्वकी किसी वस्तुमें उनका अभिनिवेश नहीं है, उनको समस्त दिशायें सुखमय प्रतीत होती हैं॥ १३॥

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥ १४॥

जिन्होंने अपना चित्त मुझमें समर्पण कर दिया है, ऐसे साधक मुझसे अतिरिक्त ब्रह्माकी पदवी, इन्द्रपद, सार्वभौमपद अर्थात् समग्र

जगत्का आधिपत्य, पातालराज्याधिपत्य, अणिमादि योग-सिद्धि, मोक्ष-पद प्राप्ति अथवा जन्म-राहित्य इत्यादि क्षुद्र कामनाएँ नहीं करते॥ १४॥

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥ १५॥

हे उद्धव! तुम मेरे भक्त होनेके कारण मुझे जिस रूपसे प्रियतम हो, मेरे पुत्र ब्रह्मा, स्वरूपभूत सखा शङ्कर, भ्राता सङ्कर्षण, भार्या लक्ष्मीदेवी, यहाँतक कि अपना स्वरूप भी मुझे उतना प्रिय नहीं है (वैष्णव सिद्धान्तानुसार सभी भक्तोंमें उद्धव श्रेष्ठ हैं, उनसे भी गोपियाँ श्रेष्ठ हैं और गोपियोंसे भी उनकी चरण-धूलि श्रेष्ठ है—जिसकी स्वयं उद्धवजीने प्रार्थना की है।)॥ १५॥

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥ १६॥

मैं अपने भक्तोंकी चरणधूलिके द्वारा सारे ब्रह्माण्डको पवित्र करूँगा, इस भावसे मैं सर्वदा निष्काम, मेरे ही मनन-चिन्तनमें तल्लीन, शान्त, वैरभावरहित, समदर्शी भक्तोंके पीछे-पीछे अलक्षितभावसे निरन्तर घूमा करता हूँ। भक्तिसे ही मेरे माधुर्यका अनुभव होता है॥ १६॥

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति ते
यत्रैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम॥ १७॥

जो निष्किञ्चन (समस्त विषयोंसे निःस्पृह), शान्त, निरभिमान, अखिल जीववत्सल (समस्त प्राणियोंमें दयायुक्त), विषय-रागके सम्पर्कसे रहित मनुष्य मेरी एकाग्रचित्त होकर सेवा करते हैं, वे ही निरपेक्ष-भक्तों द्वारा लभ्य-परमसुखको प्राप्त करते हैं, अन्य कोई उस सुखको प्राप्त नहीं कर सकता। भक्तोंकी निरपेक्षताको जाननेकी क्षमता विश्वके किसी पण्डिताभिमानीमें सम्भव नहीं है॥ १७॥

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥ १८॥

हे उद्धव! जो लोग सब प्रकारसे अपनी इन्द्रियोंको जय करनेमें समर्थ नहीं हैं, वैसे प्राकृत भक्त भी विषयोंके द्वारा आकृष्ट होनेपर भी भक्ति-सामर्थ्यके कारण प्रायः विषयोंसे अभिभूत नहीं होते। साधन भक्ति और तत्पश्चात् भावभक्तिकी कथामें जिनका अनुराग हो गया है, उनको विषय बाधित नहीं कर सकते॥ १८॥

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥ १९॥

हे उद्धव! अग्नि जिस प्रकार पाकादि कार्योंके उद्देश्यसे प्रज्वलित होनेपर प्रवृद्ध शिखायुक्त होकर (धधककर) काष्ठ-राशिको (लकड़ियोंके ढेरको) भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार मेरे उद्देश्यसे की गयी भक्ति पापराशिको सम्पूर्णरूपेण विनाश कर डालती है॥ १९॥

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥ २०॥

हे उद्धव! दिनों-दिन बढ़नेवाली साधनात्मिका, प्रबल एवं अनन्य प्रेममयी भक्ति जिस प्रकार मुझे वशीभूत करती है, योग, सांख्य, धर्म, वेद-पाठ, तपस्या अथवा दान-क्रिया आदि मुझे उस प्रकार वशीभूत करनेमें समर्थ नहीं हैं॥ २०॥

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥ २१॥

मैं साधु भक्तोंका परमात्मा एवं प्रियस्वरूप हूँ। श्रद्धाजनित अनन्य भक्तिके प्रभावसे मेरी प्राप्ति होती है। एकाग्रभावसे की गयी मेरी भक्ति चण्डालको (कुकुर-भोजीको) भी पवित्र कर देती है

(स्पष्ट है कि भक्ति जिस प्रकारसे प्रारब्ध-पाप-नाशक है, ज्ञानादि उस प्रकारसे नहीं। निष्ठायुक्त भक्ति चाण्डालादिको जाति-दोषसे पवित्र कर देती है।)॥ २१ ॥

धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् पुनाति हि॥ २२॥

सत्य एवं दयासे (परदुःख दूर करनेके यत्नसे) युक्त धर्म एवं तपस्यात्मिका विद्या (यज्ञादि तथा दानादिमूलक ज्ञान) मेरी भक्तिसे रहित होनेपर मनुष्यके अन्तःकरणको सम्यक्रूपेण पवित्र करनेमें समर्थ नहीं हैं॥ २२॥

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनानन्दाश्रुकलया शुद्ध्योद्भक्त्या विनाशयः॥ २३॥

जबतक अनुभवगम्य भक्तिके कारण रोमहर्ष (रोंगटे खड़े होना अथवा पुलकित होना) नहीं होता, चित्त नहीं पिघलता एवं आनन्दसे अश्रुपात नहीं होता, तबतक भक्तिका आविर्भाव कैसे जाना जा सकता है? जबतक भक्तिका आविर्भाव न हो—भक्तिके प्रवाहमें अन्तःकरण सराबोर न हो, तबतक चित्त कैसे शुद्ध हो सकता है?॥ २३॥

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥ २४॥

जिनकी वाणी प्रेमसे गद्गद (अस्पष्ट) हो रही है, चित्त सर्वकाल द्रवीभूत रहता है, जो आनन्दानुभूतिके कारण पुनः-पुनः रोदन करते हैं, कभी खिलखिलाकर हँसते हैं, कभी निर्लज्ज होकर उच्च स्वरसे गाते हैं तथा कभी नृत्य करने लगते हैं—ऐसे भक्तिमान् पुरुष त्रिभुवनको पवित्र कर देते हैं॥ २४॥

यथाग्निना हेममलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥ २५॥

आगमें तपानेपर सोना जिस प्रकार अन्तर्मलका त्याग करके निर्मल हो जाता है एवं अपनी स्वाभाविक उज्ज्वलताको धारण कर लेता है (अपने शुद्ध रूपमें स्थित हो जाता है), उसी प्रकार मनुष्योंका चित्त मेरे भक्तियोगके द्वारा कर्मवासनाओंका परित्यागकर मुक्त हो जाता है। भक्तियोगके प्रभावसे हृदयमें महाप्रेमका आविर्भाव होता है और ऐसा व्यक्ति मेरी नित्य सेवा-पद्धतिको प्राप्त करता है॥ २५॥

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥ २६॥

(भक्तिका तारतम्य दिखाते हैं) मेरी परम-पावन लीला-कथाओंका श्रवण करनेसे चित्त जिस परिमाणमें परिमार्जित होता है, उतने ही परिमाणमें सूक्ष्म-वस्तु अर्थात् अधोक्षज-तत्त्वके (मेरे रूप, लीलादिके) दर्शन होने लगते हैं (मेरे माधुर्यका अधिकाधिक अनुभव होने लगता है), जिस प्रकार आँखोंमें अञ्जन लगानेसे निर्मल दृष्टि प्रकटित होती है और अति सूक्ष्म वस्तु भी दिखायी देने लगती है॥ २६॥

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥ २७॥

जिस प्रकार विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषका चित्त विषयोंमें अत्यन्त आसक्त हो जाता है, उसी प्रकार नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले भक्तोंका चित्त परमात्मरूपी मुझमें (मेरी माधुरीमें) ही निमग्न हो जाता है॥ २७॥

तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम्।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम्॥ २८॥

इसलिये तुम स्वप्न-मनोरथकी भाँति कल्पित दूसरे-दूसरे असत् साधनोंका और उनके फलोंके चिन्तनका त्याग करके मेरे भजनके प्रभावसे अपने विशुद्ध अन्तःकरणको (भक्ति-सुसंस्कृत मनको) मुझमें ही समाहित कर दो (अवस्था-त्रयका अतिक्रम करके केवलाभक्तिके प्रभावसे जीवका नित्य मङ्गल साधित होता है।)॥ २८॥

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः॥ २९॥

विवेकी व्यक्तिको स्त्रियों और स्त्री-सङ्गियोंका सङ्ग दूरसे ही त्याग करके निर्भय, निर्जन और पवित्र स्थानमें बैठकर सावधानीसे मेरा ही ध्यान करना चाहिए। (इनका सङ्ग करनेसे धैर्यवान् व्यक्तियोंका धैर्य नष्ट हो सकता है।) श्रीधर स्वामीपादने अपनी 'भाव प्रकाशिका' टीकामें कहा है कि वात्सल्ययनादि द्वारा उक्त काम-मार्ग सर्वथा परित्याज्य है॥ २९॥

न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसस्तथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥ ३०॥

स्त्रीसङ्ग और स्त्रियोंका सङ्ग करनेवाले पुरुषोंके सङ्गसे जीवको जिस प्रकार क्लेश और संसार-बन्धन प्राप्त होता है, अन्य किसी भी विषयके सङ्गसे वैसा नहीं होता। (आनन्द जीवका परम प्रयोजनीय है, इस कारण परमोच्च शिखर पर आरूढ़ होकर भी मनुष्य स्त्री-सङ्गमें आबद्ध हो द्वितीयाभिनिवेशमें (जड़-बन्धनमें) पतित हो जाता है।)॥ ३०॥

श्रीउद्धव उवाच—

यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं यावदात्मकम्।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं मे वक्तुमर्हसि॥ ३१॥

श्रीउद्धवजीने पूछा—हे कमलनयन श्रीकृष्ण! जो मुक्तिकी कामना करते हैं, ऐसे पुरुषोंको आपका जो रूप है, जो स्वरूप है, उसका ध्यान किस प्रकारसे (भावसे) करना चाहिए, यह मुझे बतलाइए। (हाथ जोड़कर श्रीकृष्णके चरणकमलोंको देखते हुए) मैं सर्वदा आपके इन पादपद्म-युगलका ही ध्यान करता हूँ—मेरे लिये तो आपकी दासता ही पुरुषार्थ है। प्रस्तुत श्लोक ध्यानाङ्ग विषयक है॥ ३१॥

श्रीभगवान् उवाच—

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम्।
हस्तावुत्सङ्गे आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः॥ ३२॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः॥ ३३॥

भगवान्ने कहा—प्रिय उद्धव! समतल आसनपर शरीरको सीधा रखकर सुखपूर्वक आसीन हो जाए, गोदमें दोनों हाथोंको उत्तान भावसे (फैलाकर) एकके ऊपर एक रखकर अपनी दृष्टि नाकके अग्रभाग पर रखे। अन्तरमें ध्येयका ध्यान करे। बाहर दृष्टि न रखे। इन्द्रियोंका निग्रह करते हुए पुरुष पूरक-कुम्भक-रेचक क्रमसे प्राणवायुके मार्गका (इडा-पिङ्गला नाड़ियोंका) शोधन करे, उसके बाद रेचक-कुम्भक-पूरक इस प्रकार विपरीत क्रमसे प्राणायामका अभ्यास करे॥ ३२-३३॥

हृद्यविच्छिन्नमोङ्कारं घण्टानादं विसोर्णवत्।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः सम्वेशयेत् स्वरम्॥ ३४॥

मूलाधरसे आरम्भ करके अविच्छिन्नरूपसे (अर्थात् ताँता न टूट जाये) मृणालसूत्रके समान (कमल-नालके मध्य स्थित सूत्रके समान) हृदयमें अवस्थित घण्टानादवत् ॐकार ध्वनिको प्राणवायुके सहित ऊर्ध्वदेशमें द्वादश अङ्गुल पर्यन्त ले जाए और वहाँ उस ॐकार ध्वनिको पन्द्रह बिन्दुओंसे (संस्कृत स्वरोंसे) संयोजित करे

अर्थात् जोड़ दे। उसके बाद पुनः हृदयमें उसी स्वर-नाद अथवा बिन्दुको स्थिर करे॥ ३४॥

एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत्।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः॥ ३५॥

इस प्रकार प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओंमें दस-दस बार ॐकार सहित प्राणायामका अभ्यास करे। ऐसा करनेसे एक महीनेके भीतर प्राण-वायुको जय किया जा सकता है॥ ३५॥

हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्द्ध्वनालमधोमुखम् ।
ध्यात्वोर्द्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम्।
कर्णिकायां न्यसेत् सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम्॥ ३६॥
वह्निमध्ये स्मरेद्रूपं ममैतद्ध्यानमङ्गलम्।
समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम्॥ ३७॥
सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम्।
समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३८॥
हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम्।
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालविभूषितम् ॥ ३९॥
नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम्।
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम् ॥ ४०॥
सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम्।
सुकुमारमभिध्यायेत् सर्वाङ्गेषु मनो दधत्॥ ४१॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥ ४२॥

मनुष्य हृदयमें स्थित ऊर्ध्वनाल विशिष्ट (जिसकी डण्डी ऊपरकी ओर है), मुकुलित, कर्णिकायुक्त, अष्टदल पद्मके विकसित रूपका अधखुली आँखोंसे ध्यान करे। उस पद्मकी कर्णिकामें उत्तरोत्तर क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा एवं अग्निको स्थापित करके अग्निमें ध्यानके

शुभ विषयीभूत मेरे उस रूपका चिन्तन करे, जो मैं बतलाने जा रहा हूँ। मेरा यह रूप सम (अनुरूप अवयव विशिष्ट) प्रशान्त एवं सुप्रसन्न है। सुन्दर, लम्बी चार भुजाएँ हैं, ग्रीवा सुघड़ एवं कपोल-द्वय सुचारु हैं, विशुद्ध हास्यकी सुन्दर छवि मुखमण्डलपर विद्यमान है, दोनों कानोंमें मकराकृति कुण्डल सुशोभित हैं, श्रीविग्रह सुवर्णसम पीतवस्त्रोंका परिधान किये हुए हैं, नवीन नीरदसम (वर्षाके मेघके समान) श्यामल कान्ति है, सुविस्तृत वक्षःस्थल पर दाएँ-बाएँ श्रीवत्स एवं लक्ष्मीके निवास-स्थानका असाधारण चिह्न-विशेष एवं वन्य पुष्पोंसे निर्मित वनमाला अलङ्कृत है, कर-कमलोंमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म विद्यमान हैं—चरण-युगलमें नूपुर सुशोभित हो रहे हैं, ग्रीवापर दीप्तिमय कौस्तुभ मणि, श्रीमस्तक पर किरीट (मुकुट) श्रीकरोंमें कङ्कन एवं अङ्गद (बाजुबन्द) सम्यक् रूपसे विभूषित हैं। सभी अङ्ग अतिशय सुन्दर, अभिराम, मनोरम एवं मनोहर हैं, सुशोभन मुख-कमलपर मृदु मन्द मुस्कान छिटक रही है तथा चितवन कृपा-वर्षण कर रही है—प्रिय उद्धव! मेरे इस सुकोमल रूपका चिन्तन करे और अपने मनको मेरे अङ्ग-अङ्गमें संन्यस्त कर दे। विवेकी पुरुष अपने चित्तके द्वारा अपनी इन्द्रियोंको समस्त विषयोंसे हटा ले एवं बुद्धि रूप सारथि द्वारा उस चित्तको मेरे दिव्य अङ्गोंमें स्थिर कर दे। इस प्रकार करने पर एकाग्ररूपसे मेरा निविड़ (गहन) ध्यान सम्भव होगा॥ ३६-४२॥

तत् सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद्भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम्॥ ४३॥

तदनन्तर चित्तको सर्वाङ्ग वितरणकारी चिन्तनसे आकृष्ट करके, किसी एक अङ्गमें निविष्ट करे। उस समय अन्यान्य अङ्गोंके चिन्तनका परित्याग करके केवल सुरम्य मुस्कान युक्त मेरे मुखमण्डलका ही ध्यान करे॥ ४३॥

तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ ४४॥

तदनन्तर मुखमण्डलमें सुप्रतिष्ठित चित्तको वहाँसे आकृष्ट करके सर्वकारणभूत आकाशमें धारण (ध्यानपूर्वक भक्ति) करे। अनन्तर उस आकाशके चिन्तनका भी परित्याग करके मुझमें प्रतिष्ठित होकर ध्यान विधिका भी परित्याग कर दे (ब्रह्मरूप मुझमें चित्तको आरूढ़ कराके अन्य किसीका चिन्तन न करे। भक्ति-कणिका युक्त जीव ब्रह्मका ही अनुभव करे।)॥ ४४॥

एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि।
विचष्टे मयि सर्वात्मन् ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम्॥ ४५॥

चित्त समाहित होनेपर मनुष्य जीवात्मामें ब्रह्मका दर्शन करे और ब्रह्मवस्तुमें ज्योतिः संयुक्त ज्योतिके समान जीवात्माका दर्शन करे—जीवात्माको सर्वात्मा मुझमें संयुक्त कर दे। (एक ज्योतिसे जैसे दूसरी ज्योति मिलती है, उसी प्रकारसे अपनेमें मुझे और मुझ सर्वात्मामें अपना अनुभव करे।) जीव ब्रह्मज्योतिःका कणमात्र है—यह जान ले॥ ४५॥

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

जो योगी इस प्रकार सुतीव्र ध्यानयोगके द्वारा मुझमें ही अपने चित्तको संलग्न कर देता है, उस युञ्जान योगी पुरुषका द्रव्य-ज्ञान-क्रियाविषयक अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक त्रिविध-अध्यास रूप भ्रम शीघ्र ही निवृत्त (शान्त) हो जाता है। केवल भक्तियोगसे जो ध्यान है, वह कीर्त्तन नामक भक्तिके प्रतिपाद्य श्रीभगवन्नामके अन्तर्भुक्त रूप, गुण, परिकर-वैशिष्ट्य एवं लीलाका मेरुदण्ड है। साधनराज्यमें भक्तिके अनुकूल अनुष्ठान न रहनेपर ध्यान फलदायी नहीं होता। द्रव्यभ्रान्ति, ज्ञानभ्रान्ति एवं क्रियाभ्रान्ति क्रममें ही जीवकी हठयोग एवं राजयोगमें प्रवृत्ति है।

इन सभी यौगिक अनुष्ठानोंकी समाप्ति पर निवृतिका उदय होता है—यही भक्तियोग नामसे कथित है। भ्रम अथवा विवर्त्तके हाथोंसे पूरी तरह परित्राण प्राप्त कर लेनेपर स्वरूप-सिद्धि एवं बादमें वस्तुसिद्धि होती है॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके चौदहवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

अणिमा आदि अष्ट प्रधान एवं दस गौण-सिद्धियोंके विघ्न-स्वरूपका विवेचन

श्रीभगवानुवाच—

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! जितेन्द्रिय, जितश्वास (प्राण वायुको जीतनेवाला) स्थिरचित्त योगी पुरुष जब अपने चित्तमें मेरी धारणा करने लगता है, तब उसके निकट धारणाका अनुगम करनेवाली अणिमादि बहुत-सी सिद्धियाँ स्वयं ही उपस्थित होती हैं॥ १॥

श्रीउद्धव उवाच—

कया धारणया कास्वित् कथं वा सिद्धिरच्युत।
कति वा सिद्धयो ब्रूहि योगिनां सिद्धिदो भवान्॥ २॥

इसे सुनकर श्रीउद्धवजीने कहा—हे अच्चुत! आप ही योगियोंके सिद्धिप्रदाता हैं, इसलिये कौन-सी धारणा करनेपर कौन-सी सिद्धि प्राप्त होती है, उनकी संख्या कितनी है, उनकी धारणा तथा सिद्धि भी कितने प्रकारकी है, आप कृपाकर उनका वर्णन करें॥ २॥

श्रीभगवानुवाच—

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणा योगपारगैः
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः॥ ३॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! योगमें पारदर्शी ऋषियोंने धारणा और उसके द्वारा प्राप्त सिद्धियोंको अठारह प्रकारकी बतलाया है। उनमें-से आठ प्रकारकी सिद्धियाँ प्रधानरूपसे मुझको आश्रय

करके उत्पन्न होती हैं (दूसरोंमें न्यूनमात्रामें रहती हैं) और दूसरी दस सत्त्वगुणके उत्कर्षके कारण आविर्भूत होती हैं।॥ ३॥

अणिमा महिमा मूर्त्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता॥ ४॥
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति।
एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका मताः॥ ५॥

अणिमा (छोटे-से-छोटा हो जाना), महिमा (बड़े-से-बड़ा होना) तथा लघिमा (हल्के-से-हल्का हो जाना)—ये तीनों सिद्धियाँ देहकी हैं, इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंके साथ सम्बन्ध 'प्राप्ति' नामकी सिद्धि है, अदृष्ट पारलौकिक अथवा अदृष्ट ऐहिक (श्रुत विषयमें अर्थात् दर्शनके अयोग्य विषयमें, दृष्ट विषयमें—दर्शन-योग्य विषयमें एवं भूमिके नीचे आच्छादित गड़े हुए पदार्थोंके विषयोंमें) भोग-दर्शनकी जो सामर्थ्य है, उसका नाम 'प्राकाम्य सिद्धि' है। मायिक कार्योंमें स्वच्छापूर्वक अपनी शक्तिका सञ्चार करके जीवोंमें ऐश्वर्य विस्तारका नाम 'ईशिता सिद्धि' है। विषयभोगोंमें अनासक्तिका नाम 'वशिता' है। यथेच्छ कामनानुसार सुखकी सीमाकी सर्वोत्कृष्टताकी प्राप्ति 'कामवशायिता' नामकी आठवीं सिद्धि है। हे सौम्य! ये आठों सिद्धियाँ स्वाभाविकी एवं निरतिशय हैं॥ ४-५॥

अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम्।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम्॥ ६॥
स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम्।
यथासङ्कल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहता गतिः॥ ७॥

गौण दस सिद्धिका वर्णन करते हैं—शारीरिक क्षुधा, तृष्णादि वेगोंसे रहित होना, दूर स्थित वस्तुका श्रवण अथवा दर्शन कर लेना, मनके वेगके साथ शरीरकी द्रुत गति होना, इच्छानुसार रूप धारण कर लेना, पर देहमें प्रवेश, स्वेच्छा मृत्यु, अप्सराओंके साथ देवताओंकी क्रीड़ाका दर्शन प्राप्त होना, सङ्कल्पके अनुरूप

पदार्थोंकी प्राप्ति, अप्रतिहत गति—जिसके आदेश एवं गतिको कोई बाधा न दे सके अर्थात् सर्वत्र गति एवं त्वरित आज्ञा-पालन—ये दस गुण-जात (गौण सिद्धि) हैं॥ ६-७॥

त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः॥ ८॥
एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः।
यया धारणया या स्याद्यथा वा स्यान्निबोध मे॥ ९॥

त्रिकालज्ञता, शीत-उष्णादि द्वन्द्व-सहिष्णुता, परचित्तादि विषयक ज्ञान (दूसरेके मनकी बात जान लेना), अग्नि, सूर्य, जल, विष इत्यादिके प्रभावका स्तम्भन कर देना और सर्वत्र अपराजय—ये पाँच क्षुद्र सिद्धियाँ हैं। हे उद्धव! पूर्वोक्त योग धारण करनेसे जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनके मैंने नाम एवं लक्षण तुम्हें बतला दिये, अब जिस धारणा द्वारा, जिस प्रकारसे, जिस सिद्धिकी प्राप्ति होती है, वह सुनो॥ ८-९॥

भूतसूक्ष्मात्मनि मयि तन्मात्रं धारयेन्मनः।
अणिमानमवाप्नोति तन्मात्रोपासको मम॥ १०॥

जो सूक्ष्मभूतरूप (तन्मात्रात्मक) उपाधिके अभ्यन्तरमें (भीतरमें) स्थित मेरे प्रति अपने चित्तको तदाकार (सूक्ष्मभूताकार) बनाकर उसमें सन्निविष्ट कर देते हैं और मेरे उस तन्मात्रात्मक स्वरूपकी उपासना करते हैं, वे मेरी 'अणिमा' सिद्धिकी प्राप्ति करते हैं। अणिमा नामक योगशक्तिसे पत्थर जैसे ठोस पदार्थमें प्रवेश करनेकी अणुता-शक्ति प्राप्त हो जाती है। पञ्चभूतोंकी सूक्ष्मतम मात्राएँ मेरा ही शरीर हैं। तन्मात्राके उपासक भगवान्‌की सूक्ष्म उपाधिकी सेवा करके इस सिद्धिको प्राप्त करते हैं। भगवान्‌के अतिरिक्त ये किसी और वस्तुका चिन्तन नहीं करते॥ १०॥

महत्तत्त्वात्मनि मयि यथासंस्थं मनो दधत्।
महिमानमवाप्नोति भूतानाञ्च पृथक् पृथक्॥ ११॥

जो साधक ज्ञानशक्ति प्रधान महत्तत्त्वरूप उपाधिके अभ्यन्तर स्थित मुझमें अपने मनको महत्तत्त्वाकार करके तन्मय कर देता है, उसे 'महिमा' नामक सिद्धिकी प्राप्ति होती है; इसी प्रकार आकाशादि अन्यान्य भौतिक उपाधि-पञ्चभूतोंमें—जो मेरे ही शरीर हैं—उनमें मन लगानेसे उनके अनुरूप ही महिमा (महत्ता) प्राप्त होती है अर्थात् महत्तत्त्वके साथ कृष्णका सम्बन्ध अवगत होनेपर जीव भोग्य क्षिति, अप्, तेजः, मरुत् एवं व्योमादि भूतोंके यथार्थ सम्बन्धको जान सकते हैं। यही 'महिमा' नामकी सिद्धि है। यह सृष्टि भगवान्‌से अभिन्न है, हर तत्त्वमें भगवान्‌की उपस्थिति है। इसका अनुभव होनेपर योगी प्रत्येक भौतिक तत्त्वकी महानताको प्राप्त कर लेता है॥ ११॥

परमाणुमये चित्तं भूतानां मयि रञ्जयन्।
कालसूक्ष्मार्थतां योगी लघिमानमवाप्नुयात्॥ १२॥

वायु इत्यादि भूत सम्बन्धित परमाणुरूप उपाधिके अभ्यन्तरमें स्थित (प्रत्येक वस्तुके अभ्यन्तरमें स्थित होनेसे भगवान् भौतिक तत्त्वोंके पारमाणविक घटकोंके सारभूत हैं) मुझ परमाणु उपाधिके प्रति अपने मनको लगाते हैं—ऐसे योगी पुरुष अपने चित्तको तदाकार बना लेनेके कारण कालके सूक्ष्मांश पारमाणविक वस्तुके समान हलका (सूक्ष्म) बननेकी 'लघुता' शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। (पाँचों स्थूल तत्त्व परमाणुओंसे बने हैं, अतएव पारमाणविक कण सूक्ष्म वस्तु कालकी अभिव्यक्ति हैं, कालको परमाणु कहा गया है। कालका भोग करनेवाला परमाणुरूपताको प्राप्त कर लेता है।)॥ १२॥

धारयन् मय्यहंतत्त्वे मनो वैकारिकेऽखिलम्।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं प्राप्तिं प्राप्नोति मन्मनाः॥ १३॥

जो वैकारिक (सात्त्विक) अहङ्काररूप उपाधिके अभ्यन्तर स्थित मुझमें अपने मनको एकाग्ररूपसे संलग्न कर देता है, वह समस्त इन्द्रियोंकी अधिष्ठातृरूपा 'प्राप्ति' नामक सिद्धिको प्राप्त करता है

अर्थात् सभी इन्द्रियोंके अभीष्ट विषयोंके ग्राहक भोक्तृत्वको प्राप्त कर लेता है। वैकुण्ठ भगवान्‌के साथ सम्बन्धयुक्त होनेपर सभी इन्द्रियाँ हृषीकेशकी सेवामें नियुक्त हो जाती हैं॥ १३॥

महत्यात्मनि यः सूत्रे धारयेन्मयि मानसम्।
प्राकाम्यं पारमेष्ठ्यं मे विन्दतेऽव्यक्तजन्मनः॥ १४॥

जो योगी सूत्रमें अर्थात् क्रियाशक्ति-प्रधान महत्तत्त्वरूप उपाधिसे युक्त मुझमें अपने मनको लगा देता है, वह अव्यक्तजन्मा मुझसे 'प्राकाम्य' नामक सर्वोत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त करता है। इस सिद्धिसे उसे इच्छानुसार सभी भोग प्राप्त हो जाते हैं॥ १४॥

विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत् कालविग्रहे।
स ईशित्वमवाप्नोति क्षेत्रज्ञक्षेत्रचोदनाम्॥ १५॥

जो त्रिगुणमायाधीश्वर, कालस्वरूप (सभीको काल-कवलित करनेवाले कालविग्रह), द्रष्टा, अन्तर्यामी, सर्वव्यापक, विष्णुरूपी मुझे अपने चित्तमें धारण करते हैं, वे क्षेत्रज्ञ जीव एवं क्षेत्ररूप देहोंकी उपाधियोंको अपनी इच्छानुसार प्रेरण करनेकी (नियन्त्रित करनेकी) सामर्थ्य प्राप्त कर लेते हैं अथवा उनमें अपनी शक्तिका सञ्चारण कर लेते हैं—इसे 'ईशित्व' नामक सिद्धि कहते हैं॥ १५॥

नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दिते।
मनो मय्यादधद्योगी मद्धर्मा वशितामियात्॥ १६॥

जो योगी षडैश्वर्यसमृद्ध, तुरीय संज्ञक, नारायणरूप (सच्चिदानन्दवस्तुरूप) मुझमें अपना चित्त तन्मय कर देते हैं, उसमें मेरे स्वाभाविक गुण प्रकटित होने लगते हैं तथा उन्हें 'वशिता' (वशीकरण) नामक सिद्धि प्राप्त होती है। इस सिद्धिसे उनकी गुणोंमें अनासक्ति हो जाती है॥ १६॥

निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन् विशदं मनः।
परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते॥ १७॥

जो साधक मेरे निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप मुझमें अपना निर्मल चित्त स्थित कर लेता है, उसे परमानन्द-स्वरूपिणी 'कामवसायिता' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है। इसके प्राप्त होनेपर उसकी सारी कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं और वह मेरे जैसे ही परमानन्दको प्राप्त हो जाता है॥ १७॥

श्वेतद्वीपपतौ चित्तं शुद्धे धर्ममये मयि।
धारयन् श्वेततां याति षड्भिरहितो नरः॥ १८॥

सात्त्विक धर्मके अधिष्ठाता, शुद्ध-सत्त्वात्मक, श्वेत-द्वीपके अधिपति, मुझमें चित्तकी धारणा करनेसे साधक भूख, प्यास, क्षय, मृत्यु, शोक एवं मोह षड्विध ऊर्मियोंसे रहित हो जाते हैं तथा उनका हृदय परम शुभ्रताको प्राप्त होता है॥ १८॥

मय्याकाशात्मनि प्राणे मनसा घोषमुद्वहन्।
तत्रोपलब्धा भूतानां हंसो वाचः शृणोत्यसौ॥ १९॥

जो व्यक्ति आकाशात्मक प्राणरूप (समष्टि एवं व्यष्टिरूप) उपाधिविशिष्ट मुझमें अपने मनके द्वारा ॐकार नादका चिन्तन करते हैं, वे आकाशमें अभिव्याप्त समस्त प्राणियोंके शब्दोंको दूरसे सुन लेते है। यह 'दूरश्रवण' सिद्धि है॥ १९॥

चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि।
मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति दूरतः॥ २०॥

जो सूर्यमण्डलमें चक्षुका संयोग एवं चक्षुओंमें सूर्यका संयोग करता है एवं दोनोंमें संयोगसे युक्त चित्त द्वारा मेरा ध्यान करता है, वह दूरसे ही समस्त वस्तुओंका दर्शन कर सकता है, इसे 'दूरदर्शन' नामक सिद्धि कहते हैं॥ २०॥

मनो मयि सुसंयोज्य देहं तदनुवायुना।
मद्धारणानुभावेन तत्रात्मा यत्र वै मनः॥ २१॥

मनका मुझमें संयोग करके और तदनुगामी (मनका अनुसरण करनेवाली) प्राणवायुके साथ देहका सम्यक्रूपेण मुझमें संयोग

करके जो मेरी धारणा करता है, उस धारणाके (ध्यान शक्तिके) प्रभावसे उसका मन जहाँ जाता है, उसकी स्थूल देह भी वहाँ चली जाती है, अर्थात् मनके सङ्कल्पके साथ ही उसका शरीर वहाँ पहुँच जाता है, इसे 'मनोगति' या 'मनोजव' सिद्धि कहते हैं॥ २१॥

यदा मन उपादाय यद्यद्रूपं बुभूषति।
तत्तद्भवेन्मनोरूपं मद्योगबलमाश्रयः॥ २२॥

जिस समय योगी मनको उपादान-कारण बनाकर देवादि जिस-जिस रूपको धारण करनेकी इच्छा करता है, उस समय वह मनोभीष्ट तद्-तद् रूपको प्राप्त हो जाता है। अचिन्त्यशक्तिमय विविधमूर्त्तियुक्त मेरे प्रति चित्त धारणके प्रभावसे यह 'कामरूप (इच्छारूपी)' सिद्धि प्राप्त होती है॥ २२॥

परकायं विशन् सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत्।
पिण्डं हित्वा विशेत् प्राणो वायुभूतः षडङ्घ्रिवत्॥ २३॥

दूसरी देहमें प्रवेशका अभिलाषी योगी पुरुष परदेहमें आत्म-चिन्तन (मैं उस शरीरमें हूँ) करता है, तब भ्रमर जिस प्रकार एक पुष्पसे दूसरे पुष्पमें अनायास ही प्रवेश करता है, उसी प्रकार प्राणप्रधान लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीररूप उपाधियुक्त आत्मा निज स्थूल देहका त्याग करके बाह्य वायुमार्गसे दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है, इसीको 'परकाय प्रवेश' सिद्धि कहते हैं॥ २३॥

पाष्ण्यार्पीड्य गुदं प्राणं हृदुरःकण्ठमूर्द्धसु।
आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत् तनुम्॥ २४॥

एड़ी द्वारा गुदाद्वारका निरोध करके प्राणोपहित (प्राण उपाधि द्वारा) आत्माको क्रमशः हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ एवं मस्तक तक ऊपर ले जाये और वहाँसे ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा ब्रह्मवस्तुके निकट ले जाये और तब देहका परित्याग करे, उसे 'स्वच्छन्द मृत्यु' सिद्धि कहते हैं॥ २४॥

विहरिष्यन् सुराक्रीडे मत्स्थं सत्त्वं विभावयेत्।
विमानेनोपतिष्ठन्ति सत्त्ववृत्तीः सुरस्त्रियः॥ २५॥

योगी पुरुष जब देव-विहार-स्थलीपर विहार करनेकी इच्छा करता है, तब वह मेरे मूर्त्तिस्वरूप शुद्धसत्त्वकी भावना करता है। ऐसा करने पर शुद्ध सत्त्वांशसे उत्पन्न देवरमणियाँ दिव्ययान पर चढ़कर उसके निकट उपस्थित होती हैं और उसे स्वर्गस्थित देवस्त्रियोंके साथ देवक्रीड़ाकी प्राप्ति होती है॥ २५॥

यथा सङ्कल्पयेद्बुद्ध्या यदा वा मत्परः पुमान्।
मयि सत्यै मनो युञ्जंस्तथा तत्समुपाश्नुते॥ २६॥

सत्यसङ्कल्प मेरे प्रति मनको सम्पूर्ण रूपसे निविष्ट करके आत्यन्तिक श्रद्धा-सम्पन्न योगी पुरुष अपने मनके द्वारा समय, असमय जिस विषयमें जैसा सङ्कल्प करता है, अभीष्ट वस्तु उसे उसी प्रकारसे प्राप्त हो जाती है, इसे 'सङ्कल्पसिद्धि' कहते हैं॥ २६॥

यो वै मद्भावमापन्न ईशितुर्वशितुः पुमान्।
कुतश्चित्न विहन्येत तस्य चाज्ञा यथा मम॥ २७॥

जो सर्वनियन्ता, सर्ववशीकर्त्ता मुझसे ध्यानातिशयके द्वारा 'ईशितृत्व' शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, उनकी आज्ञा मेरी आज्ञाके समान सर्वत्र अप्रतिहत होती है। इसे 'अप्रतिहत गति' नामकी सिद्धि कहते हैं॥ २७॥

मद्भक्त्या शुद्धसत्त्वस्य योगिनो धारणाविदः।
तस्य त्रैकालिकी बुद्धिर्जन्ममृत्यूपबृंहिता॥ २८॥

मेरी भक्तिसे जिनका चित्त विशुद्ध हो गया है एवं जो त्रिकालज्ञ ईश्वरकी धारणा-विधिको अच्छी प्रकारसे जानता है, ऐसे योगी पुरुषोंमें जन्म, मृत्युके ज्ञानके साथ त्रैकालिक (भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान सम्बन्धित) सम्पूर्ण वस्तुओंका ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसे 'त्रिकालज्ञ' सिद्धि कहते हैं॥ २८॥

अग्न्यादिभिर्न हन्येत मुनेर्योगमयं वपुः।
मद्योगश्रान्तचित्तस्य यादसामुदकं यथा॥ २९॥

जलमें रहनेवाले जन्तुओंका शरीर जिस प्रकार जल द्वारा नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार मेरे भक्तियोगके प्रभावसे शान्तचित्त मुनियोंका योग-परिपक्व देह भी अग्नि, जल आदिके द्वारा अभिहत (नष्ट) नहीं होता। वे अग्नि, जलादिकी शक्तिको स्तम्भित करके उनके साथ क्रीड़ा कर सकते हैं, इसे 'स्तम्भित' सिद्धि कहते हैं॥ २९॥

मद्विभूतीरभिध्यायन् श्रीवत्सास्त्रविभूषिताः।
ध्वजातपत्रव्यजनैः स भवेदपराजितः॥ ३०॥

जो व्यक्ति ध्वजा, छत्र, चामर, श्रीवत्स और अस्त्रके द्वारा विभूषित मेरे अवतारोंका चिन्तन करता है, वह भक्त पुरुष सर्वत्र अजेय हो जाता है, इसे 'अपराजय' सिद्धि कहते हैं॥ ३०॥

उपासकस्य मामेवं योगधारणया मुनेः।
सिद्धयः पूर्वकथिता उपतिष्ठन्त्यशेषतः॥ ३१॥

इस प्रकार पूर्वोक्त योग-धारणाओंके द्वारा जो योगी मेरी उपासना करता है, उसे पहले कही हुई सभी सिद्धियाँ अपने-आप ही समग्ररूपसे प्राप्त हो जाती हैं॥ ३१॥

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः।
मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्ल्लभा॥ ३२॥

जितेन्द्रिय, संयमी, श्वासजयी, चित्तजयी और सर्वदा मेरे चिन्तनमें निरत रहनेवाले मुनियोंके लिये कोई भी सिद्धि सुदुर्लभ नहीं है॥ ३२॥

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः॥ ३३॥

जो साधक उत्तम भक्तियोगके आचरणसे मेरे स्वरूपभूत प्रेम-सम्पत्ति प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, उनके लिये पूर्वोक्त सिद्धियाँ वृथा और विघ्नस्वरूप हैं; क्योंकि इनके कारण व्यर्थ

ही उनके समयका क्षय होता है तथा मेरी प्राप्तिमें विलम्ब होता है॥ ३३॥

जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः।
योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत्॥ ३४॥

इस लोकमें जन्म, ओषधि, तपस्या, मन्त्र आदिके द्वारा जो सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, वे सभी सिद्धियाँ मेरे ध्यानरूप योगके द्वारा अनायास ही सुलभ हो जाती हैं, इसलिये अन्य किसी उपायसे मेरे सालोक्यादि सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये चेष्टा नहीं करनी चाहिए। सालोक्यादि मुक्तिको भी योगगति कहा जाता है॥ ३४॥

सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः।
अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम्॥ ३५॥

हे उद्धव! मैं ही समस्त सिद्धियों, योग, सांख्य (मोक्षका साधनभूत ज्ञान), निष्काम कर्म, धर्म और ब्रह्मवादियोंका कारण, पालक और प्रभुस्वरूप हूँ॥ ३५॥

अहमात्मान्तरो बाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम्।
यथा भूतानि भूतेषु बहिरन्तः स्वयं तथा॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

पञ्चमहाभूत जिस प्रकार पृथ्वी आदि चतुर्विध भौतिक पदार्थोंके अन्तर एवं बहिर्देशमें विराजमान हैं, उसी प्रकार मैं भी समस्त प्राणियोंमें अन्तरात्मारूपसे एवं बाह्य सर्वव्यापकरूपसे विराजमान हूँ॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके पन्द्रहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

षोडशोऽध्यायः

भगवान्‌की विभूतियोंका विवेचन

श्रीउद्धव उवाच—

त्वं ब्रह्म परमं साक्षादनाद्यन्तमपावृतम्।
सर्वेषामपि भावानां त्राणस्थित्यप्ययोद्भवः॥ १॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयमकृतात्मभिः।
उपासते त्वां भगवन् याथातथ्येन ब्राह्मणाः॥ २॥

श्रीउद्धवजीने कहा—हे भगवन्! आप स्वयं अनादि, अनन्त एवं आवरण (सीमा) से रहित परब्रह्म हैं। आप ही समस्त प्राणियों तथा महत्तत्त्वादि पदार्थोंकी सृष्टि, स्थिति, जीवन-रक्षण और प्रलयके कारणस्वरूप हैं। अजितेन्द्रिय व्यक्ति आपको जान नहीं सकते। आप अपनेको उनसे गूढ़ ही रखते हैं। केवल वेद-तात्पर्यको जाननेवाले पुरुष ही उत्कृष्ट एवं निकृष्ट सभी प्राणियोंमें अवस्थित एवं अपुण्यशालियोंके लिये दुर्ज्ञेय आपकी यथोचित आराधना करते हैं अर्थात् जहाँ-जहाँ, जिस-जिस रूपमें आप अवस्थान करते हैं, उस-उस स्थानपर उस-उस रूपमें वे तारतम्यभावसे आपकी उपासना करते हैं॥ १-२॥

येषु येषु च भूतेषु भक्त्या त्वां परमर्षयः।
उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तद्वदस्व मे॥ ३॥

परमर्षिगण जिन-जिन प्राणियोंमें भक्तिके साथ आपके शरणागत होकर आपकी उपासना करके सम्यक् सिद्धि प्राप्त करते हैं, वह आप मुझे बतलाइए॥ ३॥

गूढश्चरसि भूतात्मा भूतानां भूतभावन।
न त्वां पश्यन्ति भूतानि पश्यन्तं मोहितानि ते॥ ४॥

हे भूतभावन (सभी प्राणियोंके जीवनदाता)! आप प्राणियोंके अभ्यन्तरमें अन्तर्यामीरूपसे अस्फुटभावसे (गूढ़रूपसे) विचरण करते हैं, परन्तु आपकी मायासे मोहित होकर वे 'सर्वदर्शी' आपको देखकर भी नहीं देख पाते॥ ४॥

याः काश्च भूमौ दिवि वै रसायां
विभूतयो दिक्षु महाविभूते।
ता मह्यमाख्याह्यनुभावितास्ते
नमामि ते तीर्थपदाङ्घ्रिपद्मम्॥ ५॥

हे महाविभूतिशालिन्! स्वर्ग, मर्त्य, रसातल एवं दिग्-दिगन्तमें आपकी जो विभूतियाँ संयोजित (अभिव्यक्त) हो रही हैं, कृपया उन सबका वर्णन कीजिए। सकल तीर्थोंके आश्रयस्वरूप आपके श्रीचरण-कमलोंको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ५॥

श्रीभगवानुवाच—

एवमेतदहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्नविदां वर।
युयुत्सुना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै॥ ६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे प्रश्नतत्त्वज्ञवर! कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें शत्रुओंके साथ युद्धाभिलाषी अर्जुनने भी मुझसे तुम्हारे ही समान इसी विषयमें प्रश्न किया था॥ ६॥

ज्ञात्वा ज्ञातिवधं गर्ह्यमधर्मं राज्यहेतुकम्।
ततो निवृत्तो हन्ताहं हतोऽयमिति लौकिकः॥ ७॥

"मैं ही अपने बन्धु-बान्धवोंका नाश करनेवाला हूँ और ये बन्धु-बान्धव मेरे द्वारा बध्य हैं"—इस प्रकारकी प्राकृत बुद्धिसे युक्त होकर अर्जुन राज्यके लिये बन्धुओंकी हत्याको निन्दनीय और अधर्मकारी मानकर युद्धसे विरत हो गया था॥ ७॥

स तदा पुरुषव्याघ्रो युक्त्या मे प्रतिबोधितः।
अभ्यभाषत मामेवं यथा त्वं रणमूर्द्धनि॥ ८॥

हे पुरुषप्रवर! उस समय युक्तियुक्त उपदेशोंके द्वारा मैंने उसको यथार्थ तत्त्व समझाया था। उसने भी रणक्षेत्रके अग्रभागमें मुझसे ऐसे ही प्रश्न किये थे, जैसे तुम अब कर रहे हो॥ ८॥

अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वरः।
अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः॥ ९॥

हे उद्धव! मैं समस्त प्राणियोंका परमात्मा, सुहृत् (स्वभावतः हितकारी), ईश्वर (सबका प्रवर्त्तक अर्थात् सबके व्यवहारका सम्पादन करनेवाला), सबका अधिष्ठान एवं सृष्टि, स्थिति तथा संहारका कारणस्वरूप हूँ। (अतः मैं ही सबका उपास्य हूँ। इस तरह सर्वत्र जानना चाहिए)॥ ९॥

अहं गतिर्गतिमतां कालः कलयतामहम्।
गुणानाञ्चाप्यहं साम्यं गुणिन्यौत्पत्तिको गुणः॥ १०॥

मैं ही गतिशील पदार्थोंकी परम गति हूँ, (मैं ही कर्मी, ज्ञानी इत्यादिकी गति अर्थात् प्राप्य फल हूँ), वशीभूत (नियन्त्रण) करनेवालोंमें मैं कालस्वरूप हूँ, सत्त्वादि गुणोंमें मैं साम्यावस्था प्रकृति हूँ तथा गुणीवस्तुओंमें (धर्मियोंमें) मैं स्वाभाविक गुण-स्वरूप हूँ (यथा आकाशमें शब्द)॥ १०॥

गुणिनामप्यहं सूत्रं महताञ्च महानहम्।
सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः॥ ११॥

गुणयुक्त वस्तुओंमें मैं सूत्रात्मा (क्रियाशक्ति प्रधान प्रथम कार्य—सूत्र तत्त्व प्राण) हूँ, महत् पदार्थोंमें अर्थात् अन्तःकरणोंमें ज्ञानशान्तिप्रधान मैं महत्तत्त्व—महान् चित्त हूँ, सूक्ष्म पदार्थोंमें मैं जीव हूँ (श्रुति कहती है—अणु आत्मा चित्तमें प्राण पञ्चरूपोंमें विभक्त होकर प्रवेश करता है—जीवका परिमाण परमाणु तुल्य है, केशके अग्रभागको शत भागोंमें विभाजित करके, उसके एक भागको पुनः शत भागोंमें कल्पना करके जो एक भाग है, वही जीवका परिमाण कहा गया है) एवं दुर्जेय पदार्थोंमें मैं मनःस्वरूप

हूँ। (सूक्ष्मोपाधिसे युक्त जीवात्मा बुद्धिके गुणसे तथा आत्माके गुणसे युक्त है)॥ ११॥

हिरण्यगर्भो वेदानां मन्त्राणां प्रणवस्त्रिवृत्।
अक्षराणामकारोऽस्मि पदानिच्छन्दसामहम्॥ १२॥

मैं वेदके अध्यापकोंमें हिरण्यगर्भ ब्रह्मा हूँ, मन्त्रोंमें मैं त्रिमात्रायुक्त (तीन अक्षरोंवाला) प्रणव हूँ। अक्षरोंमें मैं अकार हूँ और छन्दोंमें मैं त्रिपदा गायत्री-स्वरूप हूँ॥ १२॥

इन्द्रोऽहं सर्वदेवानां वसूनामस्मि हव्यवाट्।
आदित्यानामहं विष्णू रुद्राणां नीललोहितः॥ १३॥

देवताओंमें मैं ही इन्द्र, आठ वसुओंमें अग्नि, द्वादश आदित्योंमें विष्णु और एकादश रुद्रोंमें नीललोहित-स्वरूप (सदाशिव) हूँ॥ १३॥

ब्रह्मर्षीणां भृगुरहं राजर्षीणामहं मनुः।
देवर्षीणां नारदोऽहं हविर्द्धान्यस्मि धेनुषु॥ १४॥

मैं ब्रह्मर्षियोंमें भृगु, राजर्षियोंमें मनु, देवर्षियोंमें नारद और गायोंमें कामधेनु-स्वरूप हूँ॥ १४॥

सिद्धेश्वराणां कपिलः सुपर्णोऽहं पतत्रिणाम्।
प्रजापतीनां दक्षोऽहं पितृणामहमर्यमा॥ १५॥

मैं सिद्धेश्वरोंमें कपिल, पक्षियोंमें गरुड, प्रजापतियोंमें दक्ष प्रजापति और पितरोंमें अर्यमा हूँ॥ १५॥

मां विद्ध्युद्धव दैत्यानां प्रह्लादमसुरेश्वरम्।
सोमं नक्षत्रौषधीनां धनेशं यक्षरक्षसाम्॥ १६॥

हे उद्धव! मैं दैत्योंमें दैत्यराज प्रह्लाद, नक्षत्र एवं ओषधियोंमें उनका स्वामी चन्द्र, यक्ष और राक्षसोंमें उनका अधिपति कुबेर-स्वरूप हूँ॥ १६॥

ऐरावतं गजेन्द्राणां यादसां वरुणं प्रभुम्।
तपतां द्युमतां सूर्यं मनुष्याणाञ्च भूपतिम्॥ १७॥

मैं गजराजोंमें ऐरावत, जल-जन्तुओंमें उनका प्रभु वरुण, तेजस्वी और दीप्तिमान् वस्तुओंमें मैं सूर्य और मनुष्योंमें मैं भूपति अर्थात् राजा-स्वरूप हूँ॥ १७॥

उच्चैःश्रवास्तुरङ्गाणां धातूनामस्मि काञ्चनम्।
यमः संयमताञ्चाहं सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ १८॥

मैं घोड़ोंमें उच्चैःश्रवा, धातुओंमें सोना, दण्डधारियोंमें यम और सर्पोंमें वासुकि-स्वरूप हूँ॥ १८॥

नागेन्द्राणामनन्तोऽहं मृगेन्द्रः शृङ्गिदंष्ट्रिणाम्।
आश्रमाणामहं तुर्यो वर्णानां प्रथमोऽनघ॥ १९॥

हे उद्धव! नागराजोंमें मैं अनन्त (शेषनाग) हूँ, शृङ्गधारियोंमें कृष्णसार मृग, दाढ़वाले अर्थात् हिंसक प्राणियोंमें मैं सिंह, आश्रमोंमें मैं चतुर्थ संन्यास आश्रम एवं वर्णोंमें मैं प्रथम ब्राह्मण हूँ॥ १९॥

तीर्थानां स्रोतसां गङ्गा समुद्रः सरसामहम्।
आयुधानां धनुरहं त्रिपुरघ्नो धनुष्मताम्॥ २०॥

मैं तीर्थ और प्रवाहोंमें गङ्गा, स्थिर जलाशयोंमें समुद्र, शस्त्रोंमें धनुष और धनुर्धरोंमें त्रिपुरारि-शङ्कर-स्वरूप हूँ॥ २०॥

धिष्ण्यानामस्म्यहं मेरुर्गहनानां हिमालयः।
वनस्पतीनामश्वत्थ ओषधीनामहं यवः॥ २१॥

मैं निवासस्थानोंमें सुमेरु, दुर्गम स्थानोंमें हिमालय, वनस्पतियोंमें पीपल वृक्ष और ओषधियोंमें यव-स्वरूप हूँ॥ २१॥

पुरोधसां वशिष्ठोऽहं ब्रह्मिष्ठानां बृहस्पतिः।
स्कन्दोऽहं सर्वसेनान्यामग्रण्यं भगवानजः॥ २२॥

मैं पुरोहितोंमें वशिष्ठ, वेदवेत्ताओंमें बृहस्पति, समस्त सेनापतियोंमें कार्त्तिकेय और सन्मार्गप्रवर्त्तकोंमें (अग्रणियोंमें) मैं ब्रह्मा-स्वरूप हूँ॥ २२॥

यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं व्रतानामविहिंसनम्।
वाय्वग्न्यर्काम्बुवागात्मा शुचीनामप्यहं शुचिः॥ २३॥

सम्पूर्ण यज्ञोंमें मैं वेदपाठरूप यज्ञस्वरूप (स्वाध्याय) हूँ, व्रतोंमें अहिंसाव्रत हूँ और शुद्ध करनेवाले पदार्थोंमें नित्य शुद्ध वायु, अग्नि, सूर्य, जल एवं वाणी-स्वरूप हूँ॥ २३॥

योगानामात्मसंरोधो मन्त्रोऽस्मि विजिगीषताम्।
आन्वीक्षिकी कौशलानां विकल्पः ख्यातिवादिनाम्॥ २४॥

आठ प्रकारके योगोंमें मैं मनोनिरोधरूप समाधि हूँ। विजयकी अभिलाषायुक्त पुरुषोंमें मैं मन्त्र-स्वरूप (कुशल नीतिकार) हूँ, कौशलोंमें मैं आन्वीक्षिकी (आत्म-अनात्म-विवेकरूप कौशल) विद्यास्वरूप और ख्यातिवादियोंमें काठिन्यको जाननेवाला विकल्प-स्वरूप हूँ। (निर्विशेषवादियोंके अख्याति, अन्यथाख्याति, शून्यख्याति, असत्यख्याति तथा अनिवर्चनीयख्यातियोंमें मैं विकल्प हूँ।)॥ २४॥

स्त्रीणान्तु शतरूपाहं पुंसां स्वायम्भुवो मनुः।
नारायणो मुनीनाञ्च कुमारो ब्रह्मचारिणाम्॥ २५॥

मैं स्त्रियोंमें मनुपत्नी शतरूपा, पुरुषोंमें स्वायम्भुव मनु, मुनियोंमें नारायण ऋषि तथा ब्रह्मचारियोंमें सनत्कुमार-स्वरूप हूँ॥ २५॥

धर्माणामस्मि सन्न्यासः क्षेमाणामबहिर्मतिः।
गुह्यानां सुनृतं मौनं मिथुनानामजस्त्वहम्॥ २६॥

मैं धर्मोंमें दान एवं त्याग (संन्यास) स्वरूप, अभय स्थानोंमें अन्तर्निष्ठा-स्वरूप, रहस्यपूर्ण वस्तुओंमें प्रिय वाणी और मौन-स्वरूप, (इनसे मनुष्यका अभिप्राय प्रकाश नहीं होता) तथा स्त्री-पुरुष मिथुनोंमें मैं प्रजापति-स्वरूप हूँ॥ २६॥

संवत्सरोऽस्म्यनिमिषामृतूनां मधुमाधवौ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहं नक्षत्राणां तथाभिजित्॥ २७॥

मैं अनिमिष अर्थात् अप्रमत्त (सदा सावधान रहनेवाले) पदार्थोंमें सम्वत्सररूप काल-स्वरूप हूँ, ऋतुओंमें वसन्त (चैत्र एवं वैशाख)

हूँ, महीनोंमें मैं अग्रहायण (मास) हूँ और नक्षत्रोंमें मैं अभिजित नक्षत्र हूँ॥ २७॥

अहं युगानाञ्च कृतं धीराणां देवलोऽसितः।
द्वैपायनोऽस्मि व्यासानां कवीनां काव्य आत्मवान्॥ २८॥

युगोंमें मैं सत्ययुग हूँ, धीर पुरुषोंमें मैं देवल और असित हूँ, वेद विभाग करनेवालोंमें मैं कृष्णद्वैपायन हूँ और कवियोंमें मैं विवेकी शुक्राचार्यस्वरूप हूँ॥ २८॥

वासुदेवो भगवतां त्वं तु भागवतेष्वहम्।
किम्पुरुषाणां हनुमान् विद्याध्राणां सुदर्शनः॥ २९॥

सृष्टिकी उत्पत्ति एवं लय, प्राणियोंके जन्म तथा मृत्यु और विद्या और अविद्याके जाननेवाले भगवानोंमें (विशिष्ट महापुरुषोंमें) मैं वासुदेव हूँ। भगवत्-प्रेमी-भक्तोंमें मैं तुम अर्थात् उद्धव-स्वरूप हूँ, किम्पुरुषोंमें हनुमत्-स्वरूप और विद्याधरोंमें सुदर्शन-स्वरूप हूँ॥ २९॥

रत्नानां पद्मरागोऽस्मि पद्मकोशः सुपेशसाम्।
कुशोऽस्मि दर्भजातीनां गव्यमाज्यं हविःष्वहम्॥ ३०॥

मैं रत्नोंमें पद्मराग, सुन्दर वस्तुओंमें कमलकोश, दर्भजातीय दूर्वादि पदार्थोंमें कुश और हविष्योंमें गायका घी-स्वरूप हूँ॥ ३०॥

व्यवसायिनामहं लक्ष्मीः कितवानां छलग्रहः।
तितिक्षास्मि तितिक्षूणां सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३१॥

मैं व्यवसायियोंमें लक्ष्मी (सम्पति), छल-कपट करनेवालोंमें द्यूत, सहिष्णुओंमें क्षमा और सात्त्विक पुरुषोंमें मैं सत्त्व-स्वरूप हूँ॥ ३१॥

ओजः सहो बलवतां कर्माहं विद्धि सात्वताम्।
सात्वतां नवमूर्त्तीनामादिमूर्त्तिरहं परा॥ ३२॥

मैं बलवानोंमें ओजः (शारीरिक बल) तथा सहःस्वरूप (मानसिक बल) हूँ, सात्वतोंके (भक्तोंके) सम्बन्धमें भक्तिपूर्वक किये गये

श्रवण, कीर्त्तनादि कर्मस्वरूप हूँ, सात्वतन नवव्यूह अर्चनमें जो वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्ध-नारायण-हयग्रीव-वराह-नृसिंह-ब्रह्मामें मैं सर्वश्रेष्ठ एवं आदिमूर्त्ति वासुदेव-स्वरूप हूँ (किसी महाकल्पमें विष्णु ही उक्त ब्रह्मा हो जाते हैं—ये ब्रह्मा वही हैं।)॥ ३२॥

विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम्।
भूधराणामहं स्थैर्यं गन्धमात्रमहं भुवः॥ ३३॥

मैं गन्धर्वोंमें विश्वावसु और अप्सराओंमें पूर्वचित्ति अप्सरा हूँ। पर्वतोंमें स्थिरता-स्वरूप और पृथ्वीमें मैं गन्ध-तन्मात्र-स्वरूप हूँ, पृथ्वीकी मूल पवित्र गन्ध सभी दुर्गन्धोंका निवारण करती है॥ ३३॥

अपां रसश्च परमस्तेजिष्ठानां विभावसुः।
प्रभा सूर्येन्दुताराणां शब्दोऽहं नभसः परः॥ ३४॥

मैं जलके धर्मोंमें मधुररसस्वरूप, तेजस्वी पदार्थोंमें सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रोंकी प्रभा-स्वरूप और आकाशमें परम (पराख्य) शब्द-स्वरूप हूँ॥ ३४॥

ब्रह्मण्यानां बलिरहं वीराणामहमर्जुनः।
भूतानां स्थितिरुत्पत्तिरहं वै प्रतिसंक्रमः॥ ३५॥

उद्धव! मैं ब्राह्मणभक्तोंमें विरोचन-पुत्र बलिस्वरूप, वीरोंमें अर्जुन-स्वरूप, प्राणियोंके सम्बन्धमें उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय स्वरूप हूँ॥ ३५॥

गत्युक्त्युत्सर्गोपादानमानन्दस्पर्शलक्षणम्।
आस्वादश्रुत्यवघ्राणमहं सर्वेन्द्रियेन्द्रियम्॥ ३६॥

मैं ही गमन (चरण), उक्ति—सम्भाषण (वाणी), उत्सर्ग—मलादि-विसर्जन (गुदा), ग्रहण (हाथ), आनन्द—उपभोग (जननाङ्ग), इन पाँच कर्मेन्द्रियोंका व्यापार-स्वरूप हूँ और मैं ही आस्वाद (जिह्वा), श्रवण (कर्ण), आघ्राण (नासिका), दर्शन (चक्षु), स्पर्श

(त्वक्)—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका कार्य-कलाप हूँ। मैं सभी इन्द्रियोंके विषय-ग्रहणके लिये शक्तिस्वरूप हूँ, जिससे समस्त इन्द्रियाँ तद्-तद् पदार्थोंका अनुभव करती हैं॥ ३६॥

पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान्।
विकारः पुरुषोऽव्यक्तं रजः सत्त्वं तमः परम्।
अहमेतत् प्रसंख्यानां ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयः॥ ३७॥

मैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द—ये पञ्च तन्मात्र, अहङ्कार एवं महत्तत्त्व—ये सात प्रकृतिके विकार, पञ्चमहाभूत, एकादश इन्द्रिय (षोडशसंख्यक), पुरुष (जीव), अव्यक्त प्रकृति—ये पच्चीस तत्त्व, सत्त्व, रजः एवं तमः—ये तीन प्रकृतिके गुण, इन सभी पदार्थोंकी परिगणना (क्रम) इनके लक्षणके अनुसार इनका ज्ञान और उसका फल तथा तत्त्वनिर्णयस्वरूप मैं ही हूँ॥ ३७॥

मयेश्वरेण जीवेन गुणेन गुणिना विना।
सर्वात्मनापि सर्वेण न भावो विद्यते क्वचित्॥ ३८॥

मैं ही ईश्वर, जीव, गुण, गुणी, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ स्वरूप हूँ। मैं ही सबकी आत्मा और सर्व-स्वरूप हूँ। मेरे अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ विद्यमान नहीं रह सकता। (शक्ति एवं शक्तिमान् अभिन्न होनेके कारण आधारस्वरूप भगवान्‌में ही समस्त शक्तियाँ निहित हैं।)॥ ३८॥

संख्यानां परमाणूनां कालेन क्रियते मया।
न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि कोटिशः॥ ३९॥

यद्यपि पृथ्वी आदि परमाणुओंकी गणना मैं महादीर्घकाल पर्यन्त करनेमें समर्थ हो पाऊँ, किन्तु असंख्य ब्रह्माण्ड-रचयिता मैं अपनी विभूतियोंकी गणना करनेमें समर्थ नहीं हूँ। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी जो मैं सृष्टि करता हूँ, उनकी ही संख्या नहीं है, तो इन समस्त ब्रह्माण्डगत वस्तुओंकी विभूतियोंकी संख्या किस प्रकारसे होगी?॥ ३९॥

तेजः श्रीः कीर्त्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः।
वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशकः॥ ४०॥

जिन-जिन वस्तुओंमें प्रभाव (तेज), श्री, कीर्त्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, मन एवं नेत्रोंको आह्लादित करनेवाला सौन्दर्य, सौभाग्य, पराक्रम, तितिक्षा और विज्ञान (स्वरूप-ज्ञान) आदि श्रेष्ठ-गुण दिखायी देते हों, वे सब मेरा ही अंश (विभूति) हैं॥ ४०॥

एतास्ते कीर्त्तिताः सर्वाः संक्षेपेण विभूतयः।
मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते॥ ४१॥

हे उद्धव! मैंने तुम्हारे प्रश्नके अनुसार संक्षेपमें समस्त विभूतियोंका वर्णन किया। ये वाणीमात्रके द्वारा कथित आकाश-कुसुम आदि पदार्थोंकी भाँति मनःकल्पना प्रसूत हैं, वस्तुतः ये यथार्थ (सत्य) नहीं हैं, इसलिये इनमें अभिनिवेश करना उचित नहीं है। (भगवान्‌की निज शक्तिका प्रकृष्ट परिचय उनकी विभूतियोंसे कभी भी समरूपमें दिखायी नहीं देता। समरूपसे दिखनेपर भी अन्तरङ्गा एवं बहिरङ्गा शक्तिकी परिणत वस्तुओंमें वैचित्र्य है। एक मायिक विकारके अन्तर्गत है, दूसरा चिच्छक्ति परिणत। अतः विकारकी तुच्छता उनका स्पर्श नहीं कर सकती।)॥ ४१॥

वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छेन्द्रियाणि च।
आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने॥ ४२॥

इसलिये वाणी, मन, प्राण और इन्द्रियोंका संयम करो और अन्तमें सात्त्विक गुणसम्पन्न बुद्धिके द्वारा द्वेष-बुद्धिको शान्त करो। (न किसीका अपमान करो और न ही किसीसे वैर रखो।) इससे तुम्हें संसारके जन्म-मृत्युरूप मार्गमें पतित नहीं होना पड़ेगा। (तात्पर्य यह है कि वाणीको स्वच्छन्द भाषणसे एवं मनको सङ्कल्प-विकल्प करनेसे रोको, प्राणोंको वशमें करो तथा इन्द्रियोंका दमन करो। सात्त्विक गुणके द्वारा प्रपञ्चाभिमुख बुद्धिको शान्त करो। इससे भवाटवीमें भटकना नहीं पड़ेगा।)॥ ४२॥

यो वै वाङ्मनसी सम्यगसंयच्छन् धिया यतिः।
तस्य व्रतं तपो दानं स्रवत्यामघटाम्बुवत्॥ ४३॥

जो यतिपुरुष अपनी बुद्धिके द्वारा वाणी और मनको पूर्णतया संयत नहीं कर लेता, उसके व्रत, तप और दान इत्यादि सभी प्रकारके अनुष्ठान उसी प्रकार क्षीण हो जाते हैं, जिस प्रकार कच्चे घड़ेमें भरा हुआ जल क्षरित हो जाता है॥ ४३॥

तस्माद्वचोमनःप्राणान् नियच्छेन्मत्परायणः।
मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे महाविभूतिः नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

इसलिये हे प्रिय उद्धव! मेरे प्रिय भक्त भक्तिसे युक्त बुद्धिके द्वारा वाणी, मन और प्राणको संयतकर उनके द्वारा कृतार्थ हो जाया करते हैं, उन्हें कुछ भी करनेके लिये अवशिष्ट नहीं रह जाता॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके सोलहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तदशोऽध्यायः

वर्णाश्रम-धर्मका निरूपण

श्रीउद्धव उवाच—

यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि॥ १॥

यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत्।
स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तन्समाख्यातुमर्हसि॥ २॥

श्रीउद्धवने कहा—हे कमलनयन श्रीकृष्ण! आपने पहले वर्णाश्रम-धर्मके आचारका पालन करनेवालों और वर्णाश्रमाचारहीन मनुष्योंके सम्बन्धमें उस धर्मका उपदेश किया था, जिससे आपकी भक्ति प्राप्त होती है। हे प्रभो! अब जिस प्रकार स्वधर्मका (अपने नियत-कर्त्तव्योंका) अनुष्ठान करनेसे उक्त भक्तिधर्म प्राप्त होता है, उसे मुझे बतलाइए॥ १-२॥

पुरा किल महाबाहो धर्मं परमकं प्रभो।
यत्तेन हंसरूपेण ब्रह्मणेऽभ्यात्थ माधव॥ ३॥

स इदानीं सुमहता कालेनामित्रकर्शन।
न प्रायो भविता मर्त्यलोके प्रागनुशासितः॥ ४॥

वक्ता कर्त्ताविता नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवि।
सभायामपि वैरिञ्च्यां यत्र मूर्त्तिधराः कलाः॥ ५॥

कर्त्रावित्रा प्रवक्त्रा च भवता मधुसूदन।
त्यक्ते महीतले देव विनष्टं कः प्रवक्ष्यति॥ ६॥

तत्त्वं नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
यथा यस्य विधीयेत तथा वर्णय मे प्रभो॥ ७॥

हे महाबाहो! हे प्रभो! हे माधव! पहले आपने हंसरूपसे अवतार ग्रहण करके ब्रह्माजीको अपने जिस परमसुखरूप धर्मका उपदेश किया था, बहुत समय बीत जानेके कारण अब वह पूर्व उपदिष्ट धर्म पृथ्वीसे लुप्तप्राय हो रहा है। हे अच्युत! पृथ्वीमें अथवा जिस स्थानमें मूर्त्तिमान् वेद आदि विराजमान हैं, उन विरिञ्चिकी सभामें भी आपके अतिरिक्त आपके धर्मका दूसरा कोई वक्ता (उपदेश करनेवाला), कर्त्ता (अनुष्ठान करनेवाला) और रक्षक नहीं है। हे देव! हे मधुसूदन! धर्मोंके कर्त्ता, वक्ता और पालकरूप (प्रवर्त्तन करके संरक्षण करनेवाला) आपके द्वारा इस पृथ्वीका परित्याग करनेपर और कोई दूसरा इस धर्मकी व्याख्या करनेमें समर्थ नहीं होगा। इसलिये हे प्रभो! हे सर्वधर्मज्ञ! (सर्वधर्मोंका रहस्य जाननेवाले)! मनुष्योंमें आपका भक्तिरूप धर्म जिस रूपमें विहित (कथित) हुआ है, उसे उसी प्रकारसे मेरे निकट वर्णन करें॥ ३-७॥

श्रीशुक उवाच—

इत्थं स्वभृत्यमुख्येन पृष्टः स भगवान् हरिः।
प्रीतः क्षेमाय मर्त्यानां धर्मानाह सनातनान्॥ ८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीजीने कहा—अपने परम श्रेष्ठ भक्त उद्धवके द्वारा इस प्रकार जिज्ञासा किये जानेपर भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त प्रसन्न होकर मर्त्यजीवोंके कल्याण हेतु उनके लिये सनातन धर्मका वर्णन किया। (सनातन धर्म कहनेसे एकमात्र भक्तिको ही जाना जाता है। निर्मल आत्मा जब उपाधिग्रस्त हो जाता है, तब यही परमधर्म भक्तिसे रहित होकर कर्म, ज्ञान एवं योगादि विषयोंमें रुचि उत्पन्न करा देता है।)॥ ८॥

श्रीभगवानुवाच—

धर्म्य एष तव प्रश्नो नैःश्रेयसकरो नृणाम्।
वर्णाश्रमाचारवतां तमुद्धव निबोध मे॥ ९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! तुम्हारा यह प्रश्न धर्मसङ्गत है, इसीसे वर्णाश्रम-धर्मी एवं अन्यान्य मनुष्योंको परम कल्याणस्वरूप भक्ति प्राप्त होती है। अतएव मैं तुम्हें उस धर्मका उपदेश कर रहा हूँ, श्रवण करो। (होता ऋग्वेदका उच्चारण करता है एवं अग्निमें आहुति डालता है, उद्गाता सामदेवका उच्चारण करता है और मधुर स्वरसे ऋचाओंको गाकर वह देवताओंको प्रसन्न करता है तथा अध्वर्यु यजुर्वेदका उच्चारण व यज्ञशालाकी तैयारी करता है।)॥ ९॥

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः।
कृत्यकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात् कृतयुगं विदुः॥ १०॥

प्रथमतः सत्ययुगमें मनुष्योंका हंस नामक केवल एक ही वर्ण था। (वर्ण विभाजन न होनेके कारण वह एकायन पद्धति नामसे कथित होकर अविभक्त हंस नामसे परिगणित होता है अर्थात् सभी लोग उस वर्णसे सम्बद्ध होकर परमेश्वरके शरणागत होकर सभी कार्य करते थे। परमात्मा 'हंस' थे एवं जीव हंसपाल्य 'भक्त' रूपमें प्रसिद्ध थे।) उस युगमें सब लोग जन्मसे ही अनन्य भक्तिपरायण होनेके कारण कृतकृत्य होते थे; इसलिये उस युगको पण्डित कृतयुग नामसे जानते थे॥ १०॥

वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक्।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः॥ ११॥

उस समय प्रणवात्मक वेद शास्त्र अविभक्तरूपसे विराजमान था। (पहले वेद प्रणवरूपमें (ॐकार रूपमें) अविभाज्य था।) मैं मनोविषयीभूत चतुष्पाद (तपस्या, शौच, दया एवं सत्य) वृषभरूपी धर्ममें विद्यमान था। यज्ञादि कोई विशेष क्रिया नहीं थी। तपोनिष्ठ अर्थात् इन्द्रिय एवं मनकी एकाग्रता-युक्त निष्पाप मनुष्य मेरे विशुद्धरूपका (हंसरूपका) ध्यान करते थे॥ ११॥

त्रेतामुखे महाभाग प्राणान् मे हृदयात् त्रयी।
विद्या प्रादुरभूत् तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः॥ १२॥

हे महाभाग! इसके बाद त्रेतायुगके प्रारम्भमें मेरे प्राणाधार हृदयसे वेदत्रयरूपिणी (ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद रूप) विद्याका आविर्भाव हुआ और उस त्रयी विद्यासे यज्ञरूपी मैं होता, अध्वर्यु एवं उद्गाता—इस त्रिरूपमें प्रादुर्भूत हुआ॥ १२॥

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः॥ १३॥

तत्पश्चात् चतुर्वर्ण विराट्रूपधारी मेरे मुख, बाहु, जंघा और चरणोंसे क्रमशः अपने-अपने स्वभाव और आचरण-सम्पन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णोंकी उत्पत्ति हुई॥ १३॥

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम।
वक्षःस्थलाद्वने वासः सन्न्यासः शिरसि स्थितः॥ १४॥

मेरे ऊरुस्थलसे गृहस्थ आश्रम, हृदयसे (वक्षःस्थलके निम्न भागसे) नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आश्रम, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ आश्रम और उत्तमाङ्ग शिरोभागसे संन्यास आश्रमकी उत्पत्ति हुई है॥ १४॥

वर्णानामाश्रमाणाञ्च जन्मभूम्यनुसारिणीः।
आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः॥ १५॥

उत्पत्ति स्थानके उत्तम-अधम भावोंके अनुसार मानवोंके वर्ण एवं आश्रम हैं, इसीलिये प्रजाएँ उत्तम स्वभावमयी और अधम स्वभावमयी हैं। मुख एवं मस्तककी सर्वोत्तमताके कारण विप्र वर्ण एवं संन्यास आश्रम, बाहु एवं वक्षःस्थलसे वैश्य वर्ण एवं ब्रह्मचर्य आश्रम, चरण एवं कटिदेशसे शूद्रवर्ण एवं गृहस्थ आश्रम उद्भूत हुए हैं। वर्ण एवं आश्रम मनुष्यके प्रकृति-विचारमें संस्थित हैं अर्थात् नीचस्थानजात नीच एवं उत्तमस्थानजात उत्तम—इस प्रकार सभी मनुष्योंकी पृथक्-पृथक् प्रकृति होती है॥ १५॥

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः॥ १६॥

शम, दम, तपस्या, पवित्रता, सन्तोष, सरलता (ऋजुता), क्षमाशीलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य—ये सभी ब्राह्मण वर्णके स्वभाव हैं॥ १६॥

तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यमैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः॥ १७॥

तेज, बल, धैर्य, शौर्य, सहिष्णुता, उदारता, उद्योगशीलता, स्थिरता, ब्राह्मण-हितैषिता और ऐश्वर्य—ये क्षत्रिय वर्णके स्वभाव हैं॥ १७॥

आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम्।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः॥ १८॥

आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मणोंकी सेवा, और अर्थ-संग्रहसे अतृप्त होकर और अधिक अर्थ-वृद्धिकी आकाङ्क्षा—ये वैश्य वर्णके स्वभाव हैं॥ १८॥

शुश्रूषणं द्विजगवां देवानाञ्चाप्यमायया।
तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः॥ १९॥

ब्राह्मण, गौ और देवताओंकी निष्कपट भावसे सेवा और इन सेवाओंसे प्राप्त धनादिके द्वारा सन्तोष-प्राप्ति—ये शूद्र वर्णके स्वभाव हैं॥ १९॥

अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः।
कामः क्रोधश्च तर्षश्च स्वभावोऽन्त्यावसायिनाम्॥ २०॥

अपवित्रता, असत्य, चोरी, ईश्वर एवं वेदधर्ममें अविश्वास, व्यर्थ कलह, काम, क्रोध एवं विषय-तृष्णा—ये सब चतुर्वर्ण एवं चारों आश्रमोंसे बाहर निम्न पदस्थ मनुष्योंके—अन्त्यजोंके स्वभाव हैं॥ २०॥

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥ २१॥

अहिंसा (मन, वाणी एवं कामसे किसीकी हिंसा न करना), सत्य, अस्तेय (परद्रव्य ग्रहण न करना), काम, क्रोध एवं लोभादिमें अप्रवृत्ति (त्याग), प्राणीमात्रसे प्रीति एवं सभीके हितकी कामना—ये सार्ववर्णिक अर्थात् पाँचों वर्णोंमें साधारणरूपसे न्यूनाधिक रूपमें लक्षित होते हैं॥ २१॥

द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः।
वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहूतः॥ २२॥

द्विज अर्थात् त्रैवर्णिक पुरुष (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य—तीन वर्ण) क्रमपूर्वक अर्थात् गर्भाधानादि संस्कारक्रमसे पहले शौक्र जन्म, दूसरा सावित्र अर्थात् उपनयन नामक द्वितीय जन्म प्राप्त करके आचार्य द्वारा आमन्त्रित होकर गुरुकुलमें रहे तथा दम गुणयुक्त चित्तसे अर्थात् इन्द्रियोंका दमन करके वेदाध्ययन करे॥ २२॥

मेखलाजिनदण्डाक्षब्रह्मसूत्रकमण्डलून् ।
जटिलोऽधौतदद्वासोऽरक्तपीठः कुशान् दधत्॥ २३॥

जटा, कुशनिर्मित मेखला, अजिन (मृगचर्म), दण्ड, अक्षसूत्र यज्ञोपवीत, कमण्डलु एवं कुश धारण करे। चमकीले दिखानेके लिये (विलासपूर्ण उत्तेजनाके लिये) दन्त-धावन न करे और न ही क्षार-योगसे वस्त्रोंको धोए। आसनको भी रञ्जित न करे। रक्तवस्त्र न तो पहने और न ही उसपर आसीन हो॥ २३॥

स्नानभोजनहोमेषु जपोच्चारे च वाग्यतः।
न च्छिन्द्यात्नखरोमाणि कक्षोपस्थगतान्यपि॥ २४॥

स्नान, भोजन, हवन, जप (सन्ध्या-वन्दन) और मल-मूत्र त्यागके समय मौन रहे। नख एवं केशका छेदन न करे। कक्ष (काँख) और उपस्थ स्थित लोम-छेदन सभी अवस्थाओंमें ही अविहित है॥ २४॥

रेतो नावकिरेज्जातु ब्रह्मव्रतधरः स्वयम्।
अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदीं जपेत्॥ २५॥

ब्रह्मचारी कभी इच्छापूर्वक वीर्यपात न करे। यदि स्वप्न आदिमें वीर्य स्खलित हो जाय, तो जलमें स्नान करके प्राणायाम करे और त्रिपदा गायत्रीका जप करे॥ २५॥

अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्धसुरान् शुचिः।
समाहित उपासीत सन्ध्ये च द्वै यतवाग् जपन्॥ २६॥

ब्रह्मचारी पवित्र, एकाग्रचित्त और मौनी होकर प्रातःकाल और सायंकाल दोनों सन्ध्याओंमें जपके साथ उपासना करे और अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध और देवताओंकी पूजा भी करे॥ २६॥

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥ २७॥

गुरुदेवको मेरा अभिन्न आश्रय-विग्रह समझे। न तो कभी उनकी अवज्ञा करे और न ही कभी साधारण मनुष्य जानकर उनमें दोष-दर्शन करे, क्योंकि गुरु सर्वदेवस्वरूप हैं। (गुरु मुकुन्द-प्रेष्ठ हैं, भगवान्‌की सब प्रकारसे सेवा करनेवाले तद्वस्तुमय हैं। सामान्य मनुष्य-बुद्धि द्वारा उनका अपमान कदापि न करे।)॥ २७॥

सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत्।
यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः॥ २८॥

प्रातःकाल एवं सायंकालमें भिक्षासे प्राप्त अन्नादि एवं अन्यान्य सम्पूर्ण वस्तुओंको गुरुदेवके समीप लाकर उन्हें निवेदन कर दे। इसके बाद उनकी आज्ञा मिलनेपर उन वस्तुओंको स्वयं संयत भावसे ग्रहण करे। (ऐसा न करनेसे अभक्त हो जाना पड़ता है एवं ब्रह्मविद्याकी स्फूर्त्ति नहीं होती।)॥ २८॥

शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत्।
यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृताञ्जलिः॥ २९॥

गुरुसेवामें तत्पर ब्रह्मचारी गुरुदेवके गमनके समय भृत्यके समान उनका अनुगमन करे, निद्राकालमें उनके सो जानेके बाद बड़ी

सावधानीसे उनसे थोड़ी दूरपर सोवे। विश्राम कालमें पास बैठकर चरण-सम्वाहन आदि अन्य सेवा-कार्य करे और बैठे हों, तो उनके आदेशकी प्रतीक्षामें हाथ जोड़कर पासमें ही खड़ा रहे। इस प्रकार सर्वदा गुरुदेवकी आराधना करे। सभी व्यावहारिक विषयोंमें सेव्य-सेवक भाव रहनेसे शिष्यका आत्ममङ्गल होता है॥ २९॥

एवंवृत्तो गुरुकुले वसेद् भोगविवर्जितः।
विद्या समाप्यते यावद्विभ्रद्व्रतमखण्डितम्॥ ३०॥

जबतक विद्याध्ययन समाप्त न हो जाए, तबतक सब प्रकारके भोगोंसे दूर रहकर पूर्वोक्त आचरणोंका पालन करते हुए पूर्ण (अक्षत अर्थात् अखण्ड) ब्रह्मचर्य-व्रत धारणकर गुरुकुलमें निवास करे। उसे सुख-सुविधाकी इच्छा कभी नहीं रखनी चाहिए॥ ३०॥

यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन् ब्रह्मविष्टपम्।
गुरवे विन्यसेद्देहं स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रतः॥ ३१॥

यदि ब्रह्मचारी महर्लोक तथा वहाँसे ब्रह्मलोक (जहाँ मूर्त्तिमान वेद विराजते हैं) तक आरोहण करनेकी अभिलाषा रखे, तो उसे बृहत् व्रत अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर लेना चाहिए और वेदोंके स्वाध्यायके लिये कायमनोवाक्यसे अपना सारा जीवन आचार्यकी सेवामें ही समर्पित कर देना चाहिए॥ ३१॥

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम्।
अपृथग्धीरुपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः॥ ३२॥

ब्रह्मचारी वेदाभ्याससे ब्रह्मतेज सम्पन्न ब्रह्मवर्चस्वी हो जाता है और कभी भी पापमें निमग्न नहीं होता। वह भोग्य पदार्थोंको नश्वर जानकर स्वयंमें कभी भी भोक्ता अभिमान नहीं करता और अविच्छिन्न सेवामें रत रहता है। ऐसा ब्रह्मचारी अग्नि, गुरु, निज आत्मा एवं समस्त प्राणियोंमें अभेद बुद्धि रखकर मुझ परमात्माकी उपासना करता है। (वह जानता है कि सभीके हृदयमें एक ही परमात्माका निवास है।)॥ ३२॥

स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम्।
प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत्॥ ३३॥

गृहस्थके अतिरिक्त अन्य सभी ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी प्रथम तो स्त्रियोंका दर्शन (भावपूर्ण अवलोकन) ही न करें। (गृहस्थ भी असंयत होनेके कारण गृहव्रती हो पड़ता है।) उनका स्पर्श न करे, न ही उनके साथ परिहास अथवा सम्भाषण करे। उन्हें मैथुनरत कीटादि प्राणियोंके प्रति कभी भी दृष्टिपात नहीं करना चाहिए॥ ३३॥

शौचमाचमनं स्नानं सन्ध्योपास्तिर्ममार्चनम्।
तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासम्भाष्यवर्जनम्॥ ३४॥
सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः॥ ३५॥

हे उद्धव! शौच, आचमन, स्नान, त्रिसन्ध्योपासना, मेरा अर्चन (विष्णु-पुजा), तीर्थ-सेवा, जप, अस्पृश्य, अभक्ष्य एवं असम्भाष्य विषयोंका (एवं मनुष्योंका) वर्जन, समस्त प्राणियोंमें मैं ही अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हूँ—यह ज्ञान, मानसिक, वाचिक एवं कायिक संयम—ये सभी धर्म समस्त आश्रमोंमें ही पालनीय हैं॥ ३४-३५॥

एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्।
मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः॥ ३६॥

नैष्ठिकव्रतावलम्बी ब्रह्मचारी इन नियमोंका पालन करे, तो ब्रह्मतेजसे अग्निके समान तेजस्वी हो जाता है। तीव्र तपस्याके द्वारा उसके सारे कर्म-संस्कार भस्म हो जाते हैं, अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तथा निष्काम होकर वह मेरा भक्त हो जाता है। उत्तरोत्तर कृष्ण-सेवोन्मुखता-चन्द्रिका सेवकके हृदयाकाशको आलोकित करती जाती है॥ ३६॥

अथानन्तरमावेक्ष्यन् यथाजिज्ञासितागमः।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स्नायाद्गुर्वनुमोदितः॥ ३७॥

तदनन्तर ब्रह्मचारी वेदार्थ-विचारका समापन करके यदि गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहता है, तो वह गुरुदक्षिणा प्रदान करे और उनकी अनुमति प्राप्त करके अभ्यङ्गादि स्नान करे (तेल मर्दन करे, अच्छा परिधान करे एवं केश कटवाये आदि)। तत्पश्चात् समावर्त्तन करे। (अपने गृहकी ओर लौटे)। सर्वकाल ही आश्रम विहित क्रियाएँ करनी चाहिए, नहीं तो अमङ्गल हो जाता है। भगवद् भक्तका पतन तो नहीं होता, किन्तु भगवत्-सेवा-वैमुख्य हो जाता है और इस अपराधसे अन्याभिलाषिता होनेपर अधःपतन हो जाता है॥ ३७॥

गृहं वनं वोपविशेत् प्रव्रजेद्वा द्विजोत्तमः।
आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथामत्परश्चरेत्॥ ३८॥

ब्रह्मचारी सकाम होनेपर ब्रह्मचर्य आश्रमसे गृहस्थ आश्रममें अथवा अन्तःकरण-शुद्धिके कारण निष्काम होनेपर वनमें प्रवेश करे अर्थात् वानप्रस्थी हो जाये। निष्काम ब्राह्मण द्विजोत्तम ब्राह्मणसे संन्यास ग्रहण करे अथवा क्रमके अनुसार एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें अर्थात् ब्रह्मचर्यके बाद गृहाश्रम, तदनन्तर वनवासी और शेषमें संन्यास आश्रममें प्रवेश करे। नियमका उल्लङ्घन करके स्वेच्छाचारमें कदापि प्रवृत्त न होवे अर्थात् विपरीत क्रमसे आश्रम-रहित (अनाश्रमी) होकर भ्रमण न करे। किसी भी स्थितिमें मेरी भक्तिसे रहित न होवे॥ ३८॥

गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम्।
यवीयसीन्तु वयसा तां सवर्णामनुक्रमात्॥ ३९॥

गृहाश्रमाभिलाषी ब्रह्मचारीको सवर्णा (अपने समान वर्णकी), अनिन्दिता (आक्षेपोंसे रहित), शास्त्रलक्षणसम्पन्ना, कुलीन एवं वयसमें अपनेसे छोटी कन्यासे विवाह करना चाहिए। यदि कामतः (अपनी

इच्छासे) असवर्णा कन्यासे पाणिग्रहण करना चाहे, तो सवर्णा कन्याके पाणिग्रहणके बाद वर्णक्रमानुसार (सवर्णाके बाद क्षत्रिया, क्षत्रियाके बाद वैश्य कुलकी और उसके बाद शूद्र कन्याके साथ) विवाह करना चाहिए। ब्राह्मण चारों वर्णोंकी कन्याके साथ विवाह कर सकते हैं, क्षत्रिय तीनों वर्णोंके साथ, वैश्य दो वर्णोंके साथ और शूद्र केवल एक वर्णकी कन्याके साथ विवाह कर सकता है, यह स्मृति-शास्त्र सम्मत है॥ ३९॥

इज्याध्ययनदानानि सर्वेषाञ्च द्विजन्मनाम्।
प्रतिग्रहोऽध्यापनञ्च ब्राह्मणस्यैव याजनम्॥ ४०॥

इज्या (यज्ञ, यागादि), अध्ययन, दान—ये त्रैवर्णिक द्विजमात्रके (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यके) आवश्यक धर्म हैं। दान लेना, अध्यापन एवं यज्ञ करना मात्र ब्राह्मणकी ही वृत्तियाँ हैं। (ब्राह्मणोंकी सहायताके बिना अध्ययन सम्भव नहीं है, यज्ञानुष्ठानके लिये उपदेश-प्राप्तिका उपाय नहीं है और दानकी भी सम्भावना नहीं है। ब्राह्मणका आश्रय करके ही क्षत्रिय एवं वैश्य अपने-अपने आश्रमका कर्त्तव्य पालन करनेमें समर्थ होते हैं।)॥ ४०॥

प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम्।
अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा दोषदृक् तयोः॥ ४१॥

अथवा दान लेनेकी वृत्तिको तपस्या, तेज और यशका नाश करनेवाली मानते हो, तो अध्यापन और यज्ञ करानेके द्वारा ही अपने जीवनका निर्वाह करे और यदि इन दोनों वृत्तियोंमें भी परावलम्बन, दीनता आदि दोष दीखते हों—तो शिलोच्छ वृत्तिसे अन्न कटनेके बाद खेतोंमें पड़े हुए दाने बीनकर ही अपनी जीविकाका निर्वाह कर ले। हरिभक्तिपरायण भगवान्‌के शरणागत होकर उनके द्वारा प्रदत्त द्रव्यादिके द्वारा आत्म-निर्वाह करें, अन्योंपर निर्भर रहकर जीवन-यापन न करें॥ ४१॥

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥ ४२॥

प्रिय उद्धव! ब्राह्मणका शरीर अत्यन्त दुर्लभ है; यह शरीर केवल तुच्छ विषयोंके भोगके लिये नहीं है, परन्तु इस लोकमें कष्टपूर्ण तपःसाधन और परलोकमें अनन्त सुख प्राप्तिके उद्देश्यके लिये ही है, ऐसा समझकर क्षुद्र कामको जलाञ्जलि दे देना चाहिए। भगवत्-सेवोन्मुख होना ही एकमात्र कृत्य है॥ ४२॥

शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो
धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः।
मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठन्
नाति प्रसक्तः समुपैति शान्तिम्॥ ४३॥

ब्राह्मण शिलवृत्ति एवं उञ्छवृत्ति द्वारा (फसल कटनेके बाद खेतमें पड़े हुए और मंडीमें गिरे हुए अन्न-कणोंके संग्रह द्वारा) सन्तुष्ट रहकर आतिथ्यादिरूप निष्काम उत्तम (उदात्त) धर्मोंकी सेवा करता हुआ मेरे प्रति अपने चित्तका सम्पूर्णरूपसे समर्पण कर दे। ऐसा ब्राह्मण गृहाश्रममें ही अनासक्त भावसे रहकर मोक्ष अर्थात् परम शान्तिको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है॥ ४३॥

समुद्धरन्ति ये विप्रं सीदन्तं मत्परायणम्।
तानुद्धरिष्ये नचिरादापद्भ्यो नौरिवार्णवात्॥ ४४॥

जो मेरा भक्त ब्राह्मण हो अथवा अन्य कोई भी हो—जो इनको दारिद्र्य-क्लेशसे बचा लेते हैं, मैं ऐसे साधकोंकी समस्त विपत्तिसे अति शीघ्र उसी प्रकार रक्षा करता हूँ, जिस प्रकार नौका समुद्रमें गिरे हुए व्यक्तिकी रक्षा कर लेती है। भगवान् स्वयं शिक्षा अर्थात् उपदेशरूपी नौकाके द्वारा उनको भव-समुद्रमें पतनसे बचा लेते हैं॥ ४४॥

सर्वाः समुद्धरेद्राजा पितेव व्यसनात् प्रजाः।
आत्मानमात्मना धीरो यथा गजपतिर्गजान्॥ ४५॥

(राजाका धर्म)—यूथपति हाथी जिस प्रकार यूथमें स्थित समस्त हाथियोंकी रक्षा करता है और अपनी भी रक्षा करता है, उसी

प्रकारसे धीर राजा भी पिताके समान सारी प्रजाका विपद्से उद्धार करे और स्वयं भी अपना उद्धार करे॥ ४५॥

एवंविधो नरपतिर्विमानेनार्कवर्चसा।
विधूयेहाशुभं कृत्स्नमिन्द्रेण सह मोदते॥ ४६॥

ऐसा राजा (पर-रक्षक और आत्मरक्षक) इस लोकमें समस्त पापोंसे मुक्त होकर स्वर्गलोकमें इन्द्रके साथ सूर्यतुल्य प्रदीप्त विमानमें विहार करता है॥ ४६॥

सीदन् विप्रो वणिग्वृत्त्या पण्यैरेवापदं तरेत्।
खड्गेन वापदाक्रान्तो न श्ववृत्त्या कथञ्चन॥ ४७॥

अपनी वृत्ति अध्यापन अथवा यज्ञ-याग आदिसे अपनी जीविका निर्वाह करनेमें असमर्थ दरिद्र विप्र वैश्य-वृत्तिका आश्रयकर (मद्य एवं लवण छोड़कर) नाना प्रकारके पदार्थोंके क्रय-विक्रयके द्वारा उस विपत्तिसे उद्धार पा ले। वैश्य-वृत्तिमें भी विपद्ग्रस्त होनेपर विप्र राजवृत्ति अर्थात् क्षत्रिय-वृत्ति अवलम्बनकर तलवार उठा ले, परन्तु किसी भी अवस्थामें ब्राह्मण नीच जातिकी सेवा जिसे 'श्वानवृत्ति' कहते हैं—न करे॥ ४७॥

वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगयायापदि।
चरेद्वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथञ्चन॥ ४८॥

क्षत्रिय निज वृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह-करनेमें असमर्थ हो, तो वैश्य वृत्ति अपनाकर व्यापार कर ले अथवा शिकार कर ले अथवा ब्राह्मणवृत्ति स्वीकार करके अध्यापनादि कर ले, किन्तु किसी प्रकारसे शूद्रवृत्ति (नीच जनोंकी सेवा) स्वीकार न करे॥ ४८॥

शूद्रवृत्तिं भजेद्वैश्यः शूद्रः कारुकटक्रियाम्।
कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा॥ ४९॥

वैश्य भी विपत्तिके समय शूद्रोंकी वृत्ति-सेवासे (नौकरीसे) अपना जीवन-निर्वाह कर ले और शुद्र विपत्तिके दिनोंमें कारुजातीय निम्नमानवोंकी चटाई बुनना आदि वृत्तियोंका आश्रय ले और अपने

जीवनका निर्वाह करे, किन्तु विपत्तियोंसे मुक्त हो जानेपर किसी भी निन्दनीय कर्मके द्वारा जीविकाका निर्वाह करनेकी इच्छा न करे। विपद्मुक्त होनेपर इन वृत्तियोंको त्यागकर सभी अपनी-अपनी वृत्तियाँ ग्रहण करें॥ ४९॥

वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम्।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत्॥ ५०॥

गृहस्थ प्रतिदिन अपने वित्तके अनुसार वेद-अध्ययनके द्वारा ऋषियोंको, स्वधा मन्त्र अर्थात् तर्पणके द्वारा पितरोंको, स्वाहा मन्त्र अर्थात् हवनके द्वारा देवताओंको, उपहार वस्तुओंके द्वारा प्राणियोंको और अन्न, जल आदिके द्वारा इन सबको मेरा स्वरूप जानकर उनकी प्रतिदिन यथाशक्ति पूजा करे अर्थात् पञ्चयज्ञ द्वारा यथाशक्ति ऋणशोधन करे। ये सभी मेरी ही अभिव्यक्तियाँ हैं, अतः इनके प्रति ईश्वर दृष्टि रखे॥ ५०॥

यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा।
धनेनापीडयन् भृत्यान् न्यायेनैवाहरेत् क्रतून्॥ ५१॥

गृहस्थ पुरुष अनायास प्राप्त अथवा शास्त्रोक्त अपनी विशुद्ध वृत्तिके द्वारा उपार्जित शुद्ध धनसे अपने भृत्य आदि आश्रित प्रजाओंको पालनकर (उन्हें बिना पीड़ा दिये) न्यायके अनुसार यथाशक्ति पञ्चयज्ञादि एवं धार्मिक उत्सवोंका अनुष्ठान करे॥ ५१॥

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्॥ ५२॥

विद्वान् गृहस्थको अपना बड़ा कुटुम्ब होनेपर भी उनके प्रति आसक्त नहीं होना चाहिए तथा ईश्वर-निष्ठामें सर्वदा सावधान रहना चाहिए। उसे यह भी समझ लेना चाहिए कि जैसे इस लोककी सभी वस्तुएँ नश्वर हैं, वैसे स्वर्ग आदि परलोकोंके भोग भी नाशवान् ही हैं। 'नश्वर' शब्दका अर्थ है अस्थायी एवं तात्कालिक प्रतीति-युक्त अवस्थिति। अपनेको कुटुम्बका पालक

एवं बन्धु जानकर कुटुम्बिता ही जीवका धर्म है—इस प्रकारकी भ्रान्ति भगवत्-वैमुख्य करा देती है॥५२॥

पुत्रदाराप्तबन्धूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा॥५३॥

पुत्र, पत्नी, आप्त (सम्बन्धी), बन्धु इत्यादिके साथ समागमको पानीयशाला (प्याऊ) पर बटोहियोंके समागमके समान क्षणिक जानना चाहिए। निद्राकालमें स्वप्नमें देखे पथार्थ जिस प्रकार निद्राकी समाप्ति पर नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार पुत्रादि सम्बन्ध भी देहके नष्ट होनेके साथ-साथ नष्ट हो जाते हैं॥५३॥

इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद्वसन्।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहङ्कृतः॥५४॥

जो इस प्रकार विचार करके जड़ वस्तुओंमें ममता एवं भोक्ता अभिमानका परित्याग करके अतिथिके समान घरमें वास करते हैं, वे कभी गृहस्थीके बन्धनमें आबद्ध नहीं होते॥५४॥

कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान्।
तिष्ठेद्वनं वोपविशेत् प्रजावान् वा परिव्रजेत्॥५५॥

गृहस्थ भक्त गृहस्थोचित कर्मोंके द्वारा मेरी आराधना करते हुए गृहमें वास करे अथवा वनमें प्रवेश करे अथवा पुत्रवान् हो, तो वनमें चला जाये अथवा संन्यास ग्रहण कर ले॥५५॥

यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते॥५६॥

जो गृहस्थ स्त्रैण, क्षुद्रबुद्धि, विवेकरहित एवं पुत्र वित्तादिके सन्धानमें लगा हुआ गृहमें आसक्त रहता है, वह देहादिमें 'मैं' और पुत्रादिमें 'मेरे' इस प्रकार 'अहं-मम' भावमयी बद्ध-दशामें आबद्ध रहता है॥५६॥

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजात्मजाः।
अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः॥५७॥

आसक्त व्यक्ति यही सोचते हैं कि "हाय! हाय! मेरे वृद्ध माता-पिता, शिशु-सन्तानवती भार्या और मुझसे अभिन्न मेरे पुत्र मेरे बिना अनाथ और दीन-दुःखी होकर किस प्रकार जीवन धारण कर सकेंगे।" (मुझे कर्त्तव्य विचलित जानकर मेरी निन्दा करेंगे।)॥ ५७॥

एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम्।
अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः॥ ५८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे वर्णाश्रमविभागो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

अविवेकी पुरुष गृहवासनासे इस प्रकार विक्षिप्तचित्त एवं अतृप्त रहकर अपने आत्मीयगणोंका चिन्तन करते-करते मर जाता है और मृत्युके बाद अतितामसी योनि प्राप्त करता है अथवा घोर अन्धकारमय नरकमें चला जाता है॥ ५८॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके सत्रहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टादशोऽध्यायः

वानप्रस्थ और संन्यासीके धर्मका विवेचन

श्रीभगवानुवाच—

वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा।
वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः॥ १॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—वानप्रस्थकी इच्छा रखनेवाला व्यक्ति पत्नीकी रक्षाके लिये उसे अपने पुत्रोंको सौंप दे अथवा उसके साथ ही शान्तचित्तसे जीवनके तृतीय भागको वनमें व्यतीत करे॥ १॥

कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत्।
वसीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च॥ २॥

वनमें उत्पन्न होनेवाले पवित्र कन्द-मूल-फल द्वारा जीविकाका निर्वाह करे तथा वल्कल (वृक्षोंकी छाल), घास-पात अथवा मृगचर्मका परिधान करे॥ २॥

केशरोमनखश्मश्रुमलानि बिभृयादतः।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशयः॥ ३॥

केश, रोम, नख, दाढी तथा शरीर-मलको हटानेकी चेष्टा न करे, दाँतोंका शोधन न करे, दिनमें तीनों समय जलमें प्रवेश करके स्नान करे और भूमिपर शयन करे। (इस अवस्थामें क्षौरकारका स्पर्श वर्जित है।)॥ ३॥

ग्रीष्मे तप्येत पञ्चाग्नीन् वर्षास्वासारषाड्जले।
आकण्ठमग्नः शिशिरे एवं वृत्तस्तपश्चरेत्॥ ४॥

ग्रीष्म कालमें चारों ओर अग्नि जलाकर अग्नि-चतुष्टय एवं ऊर्ध्वदेशमें स्थित सूर्यदेवकी पञ्चम अग्निके रूपमें कल्पनाकर इस पञ्चाग्निके उत्तापमें तपे। वर्षा कालमें खुले मैदानमें रहकर वर्षाकी

बौछार सहे (इसे 'आसारसाद्' तपस्या कहते हैं और 'अभ्रावकाश' नामक व्रत भी कहते हैं।) और शीत कालमें आकण्ठ जलमें निमग्न होकर तपस्या करे। (इसे 'उदकवास' व्रत कहते हैं।)॥ ४॥

अग्निपक्वं समश्नीयात् कालपक्वमथापि वा।
उलूखलाश्मकुट्टो वा दन्तोलूखल एव वा॥ ५॥

अग्निमें पकाये हुए अन्नादिका अथवा समयानुसार पके हुए फलादिका भोजन करे। ओखली अथवा सिलपर मुसल अथवा प्रस्तर द्वारा आहार्य पदार्थको कूटा जा सकता है अथवा दाँतोंके द्वारा ही ओखलीका कार्य सम्पन्न करे अर्थात् पर्याप्त मात्रामें चबा-चबाकर भोजन करे॥ ५॥

स्वयं सञ्चिनुयात् सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम्।
देशकालबलाभिज्ञो नाददीतान्यदाहृतम्॥ ६॥

देश-काल एवं बलका (सामर्थ्यका) विचार करके तदनुसार अपनी जीविकाके साधनोपयोगी सभी वस्तुओंका स्वयं संग्रह करे। एक बार सञ्चित की गयी वस्तुको दूसरी बार ग्रहण न करे। यदि स्थान कष्टप्रद है, आपत्काल है, अति दुर्बल शरीर है, तो यह नियम त्यागा जा सकता है। दूसरेसे सेवा ग्रहण करने पर जन्मान्तरमें उसी सेवा द्वारा ऋणका परिशोधन करना होता है॥ ६॥

वन्यैश्चरुपुरोडाशैर्निर्वपेत् कालचोदितान्।
न तु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी॥ ७॥

वानप्रस्थ धर्मका आश्रय करनेवाला पुरुष वनमें उत्पन्न नीवारादि शस्यसे (जंगली अन्नसे) बने हुए चरु-पुरोडाश आदि द्वारा आग्रयण इत्यादि कालोचित वैदिक धर्मोंका आचरण करे अर्थात् अग्रहायण मासमें धान्यादि (अर्थात् वर्षाऋतुके बाद प्रकट होनेवाले पहले फलादि) पकनेपर उससे मेरा यजन करे, किन्तु वानप्रस्थी श्रुति-विहित होनेपर भी पशुमाँस द्वारा मेरी आराधना (यज्ञ) कभी न करे॥ ७॥

अग्निहोत्रञ्च दर्शश्च पूर्णमासश्च पूर्ववत्।
चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः॥ ८॥

वानप्रस्थ धर्मके आश्रय करनेवाले पुरुषके लिये वेदवादी गृहस्थोंके समान ही अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास इत्यादि याज्ञिक कार्य एवं चातुर्मास्य व्रतका विधान है॥ ८॥

एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसन्ततः।
मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकादुपैति माम्॥ ९॥

इस प्रकार जीवनभर तपस्या करते हुए उसकी देह क्षीण हो जाती है, माँस सूखने लगता है, एक-एक नस दिखने लगती है, ऐसी कठिन आराधना करनेवाला वानप्रस्थी मुनि महर्लोकादिको अतिक्रमण करता हुआ मुझे प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है। (ऋषिलोकमें पहुँचनेपर अकिञ्चित्करताकी उपलब्धि होती है और भगवद्भजनमें रुचि होती है। वानप्रस्थ धर्मके सर्वोच्च शिखर पर भजनका प्राचुर्य दिखायी देता है, वहाँ तपस्याकी अतिशयता नहीं है।)॥ ९॥

यस्त्वेतत् कृच्छ्रतश्चीर्णं तपो निःश्रेयसं महत्।
कामायाल्पीयसे युञ्ज्याद्बालिशः कोऽपरस्ततः॥ १०॥

जो व्यक्ति महाकष्टसे सञ्चित इस मोक्षफलजनक उत्तम तपस्याको ब्रह्मलोक अथवा स्वर्गादि तुच्छ कामोपभोगके लिये नियोजित करता है, उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा? भक्तिरहित तपस्या तो कर्मकाण्डमें ही आदर प्राप्त करती है॥ १०॥

यदासौ नियमेऽकल्पो जरया जातवेपथुः।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत्॥ ११॥

संन्यास-कालसे पूर्व वृद्धावस्थाके कारण देह काँपने लगे और अपने नियत धर्मोंके अनुष्ठानमें असमर्थ हो जाए, तो मुनि व्यक्ति ध्यान द्वारा अग्नि-साध्य कर्मोंका (यज्ञ-अग्निका) अपने अन्तःकरणमें आरोप कर ले तथा मद्गतचित्त होकर

अग्निमें प्रवेश करके देहत्याग कर दे। (जिनका चित्त भगवान्‌में अर्पित है, उनकी तो शरीरको विनाश करनेकी प्रवृत्ति होती नहीं; श्रीकृष्णनाम सङ्कीर्तनके द्वारा भव-दावाग्नि स्वयं बुझ जाती है।)॥ ११॥

यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु।
विरागो जायते सम्यङ्न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः॥ १२॥

यदि कर्मफल-जनित, परिणाममें दुःखकर (नरकोंके समान दुःखोंसे परिपूर्ण), ब्रह्मलोक-पर्यन्त सभी लोकोंसे सम्यक्‌रूपसे वैराग्य उत्पन्न हो जाय, तो अग्नियोंका विधिपूर्वक परित्याग करके वानप्रस्थसे संन्यास ग्रहण कर ले॥ १२॥

इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्त्वा सर्वस्वमृत्विजे।
अग्नीन् स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजेत्॥ १३॥

जो वानप्रस्थी संन्यास लेना चाहे, वह पहले वेद-विधिके अनुसार यज्ञ (आठ प्रकारके श्राद्ध एवं प्राजापत्य यज्ञके) द्वारा मेरी आराधना (अर्चन) करके ऋत्विजको अपना सर्वस्व दान कर दे तथा आत्मामें अग्नियोंका आरोपकर निरपेक्ष-चित्त होकर संन्यास (विशुद्ध परिव्राजकका धर्म) ग्रहण करे॥ १३॥

विप्रस्य वै सन्न्यसतो देवा दारादिरूपिणः।
विघ्नं कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात् परम्॥ १४॥

'यह संन्यास धर्माश्रयी पुरुष हमें भी अतिक्रम करके परब्रह्मको प्राप्त करेगा'—ऐसा सोचकर देवता पत्नी, पुत्र तथा मित्र आदिका वेश धारणकर अथवा उनकी देहमें आविष्ट होकर संन्यास-इच्छुक व्यक्तिके लिये विघ्न डालने आ जाते हैं, परन्तु ये विघ्न उनके मार्गको रोक नहीं पाते। ये पत्नी आदि संसारकी प्रयोजनीयताको ही धर्म बतलाकर कृष्ण-भजन-परायण जीवोंको परमार्थसे वञ्चित करते हैं॥ १४॥

बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परम्।
त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत् किञ्चिदनापदि॥ १५॥

संन्यासीको केवल कौपीन (लँगोटी) धारण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि अन्य वस्त्र ग्रहण करना चाहता हो, तो जिस परिमाणके वस्त्रके द्वारा कौपीन ढक जाय, उसी परिमाणमें वस्त्र धारण करे तथा आश्रमोचित दण्ड कमण्डलुके अतिरिक्त संन्याससे पूर्व त्याग की हुई कोई भी दूसरी वस्तु अपने पास नहीं रखे॥ १५॥

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ १६॥

जिससे किसी भी प्रकारसे प्राणियोंकी हिंसा न हो, उस प्रकारसे चारों ओर दृष्टि डालते हुए धरती पर पैर रखे। वस्त्र-खण्डमें छानकर विशुद्ध जलका पान करे। सत्यसे पवित्र की हुई वाणीका वाचन करे एवं मनसे पवित्र किये हुए अर्थात् बुद्धि-विवेकसे विचार करके समस्त कार्योंका सम्पादन करे। मनकी समाधिके द्वारा मोक्ष सम्भव है॥ १६॥

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम्।
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद् यतिः॥ १७॥

हे उद्धव! जो संन्यासी मौन-अवलम्बनके द्वारा वाणीका, व्यर्थकी चेष्टाओंसे रहित होकर शरीरका एवं प्राणायामके द्वारा चित्तका संयम नहीं कर सकता, वह व्यक्ति केवलमात्र त्रिदण्ड धारण करनेसे दण्डी-स्वामी नहीं हो जाता। वाग्दण्ड-रूप मौन, देहदण्डरूप चेष्टा-राहित्य एवं कृष्ण-सेवा-चिन्तन द्वारा चित्तको स्थिर न करनेपर 'गोस्वामी' नहीं हो सकते। त्रिदण्डग्रहणकी सार्थकता कृष्ण-भजनानुकूल जीवन-यापन करनेमें है॥ १७॥

भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान् वर्जयंश्चरेत्।
सप्तागारानसंक्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता॥ १८॥

चारों वर्णोंमें-से अभिशप्त, पतित (जातिच्युत, गोधाती) आदि निन्दनीय व्यक्तियोंके घरोंको छोड़कर बिना निश्चय किये हुए अनिन्दित सात घरोंसे भिक्षा करे तथा इससे जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहे। (भैक्ष्य तीन प्रकारका है—किञ्चित्-किञ्चित्-संग्रह करके अपने प्रयोजनका निर्वाह हो जाय, उसे 'माधुकर भैक्ष्य' कहते हैं, यह भिक्षु जीवनकी सर्वोत्तम वृत्ति है, कोई दाता भिक्षा देगा या नहीं देगा—यह विचार किये बिना जो भिक्षाचर्या है, उसे 'असंक्लृप्त भैक्ष्य' कहते हैं, ये (नियमित) दाता अवश्य ही भिक्षा देंगे—यह 'प्राक्प्रणीत भैक्ष्य' है।)॥ १८॥

बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः।
विभज्य पावितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृतम्॥ १९॥

इसके बाद बस्तीसे बाहर जलाशयमें जाकर स्नान-आचमन करके भिक्षा प्राप्त अन्नका प्रोक्षण (धोकर पवित्र) कर ले। अब इस विशुद्ध अन्नको विष्णु इत्यादिके उद्देश्यसे यथोचित भाग करके (जलाशय-तट पर स्थित प्राणियोंके साथ बिना तर्क-वितर्क किये उन्हें देकर) अवशिष्टका सम्पूर्णरूपेण भक्षण कर ले, भोजन-पात्रमें बचाकर न रखे। भोजन करते समय मौन रहे तथा भगवत्-कृपाका ध्यान करे॥ १९॥

एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः।
आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः॥ २०॥

संन्यासी आत्मक्रीड़ारत (निरन्तर कृष्ण-सेवामें नियुक्त), आत्म-सन्तुष्ट (कृष्ण-कथा कीर्त्तन करते हुए परमात्माका अनुभव करनेवाला), आत्मवान् (धीर एवं स्वरूपस्थ), संयतेन्द्रिय (कृष्णार्थ अखिल-चेष्टा-परायण एवं इन्द्रियोंके वृथा प्रयाससे रहित), निःसङ्ग (कृष्ण-कार्ष्ण-सङ्ग एवं असत्-सङ्गसे दूर रहनेवाला) एवं एकाकी होकर पृथ्वीपर भ्रमण करे॥ २०॥

विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशयः।
आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः॥ २१॥

संन्यासी मङ्गलमय निर्जन, निर्भय एवं एकान्त-स्थानका आश्रय करे। मेरी भावनासे विशुद्ध हुए चित्तमें अपनेको मुझसे अभिन्न मानकर आत्मतत्त्वका (चिदंशके ऐक्यका) चिन्तन करे॥ २१॥

अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षञ्च ज्ञाननिष्ठया।
बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषाञ्च संयमः॥ २२॥

ज्ञाननिष्ठाके द्वारा स्वयंके बन्धन एवं मोक्ष विषयपर पुनः विचार करे। इन्द्रियोंका विषयोंके प्रति अभिमुख (विक्षिप्त) होना बन्धन है और उनका प्रत्याहार करके मेरे प्रति समर्पण मोक्ष है—यह जानना चाहिए॥ २२॥

तस्मान्नियम्य षड्वर्गं मद्भावेन चरेन्मुनिः।
विरक्तः क्षुद्रकामेभ्यो लब्ध्वात्मनि सुखं महत्॥ २३॥

अतएव संन्यासी मुनि काम, क्रोधादि छह वेगोंका संयम कर, तुच्छ विषय-सुखसे विरक्त होकर, आत्मामें ही चिदानन्दका अनुभवकर मेरी भावनासे भरकर पृथ्वीपर सर्वत्र विचरण करे॥ २३॥

पुरग्रामव्रजान् सार्थान् भिक्षार्थं प्रविशंश्चरेत्।
पुण्यदेशसरिच्छैलवनाश्रमवतीं महीम्॥ २४॥

वह पवित्र देश (स्थान), नदी, पर्वत एवं वर्णाश्रमयुक्त भूमिपर विचरण करता रहे, भिक्षाके लिये ही पुर, ग्राम, गोष्ठ (अहीरोंकी बस्ती) एवं यात्रियोंके समीप जाये॥ २४॥

वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत्।
संसिध्यत्याशवसन्मोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्धसा॥ २५॥

संन्यासी वानप्रस्थधर्मावलम्बी मनुष्योंके आश्रमसे ही प्रतिदिन भिक्षा ग्रहण करे, क्योंकि शिलवृत्तिसे प्राप्त उनके अन्न-भोजनसे चित्त सम्पूर्णरूपसे विशुद्ध एवं मोहरहित हो जाता है और शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त होती है॥ २५॥

नैतद्वस्तुतया पश्येद्दृश्यमानं विनश्यति।
असक्तचित्तो विरमेदिहामुत्र चिकीर्षितात्॥ २६॥

जितनी भी वस्तुएँ प्रत्यक्ष दृश्यवान् हैं, वे सभी विनाशशील हैं, अतएव मिष्ठान्नादि समस्त पदार्थोंको ही अवास्तवरूपमें विचार करे तथा ऐहिक एवं पारत्रिक विषयोंसे अनासक्त होकर सकाम कर्मसे (वाञ्छित विषयोंकी प्राप्तिकी चेष्टासे) विरत हो जाए॥ २६॥

यदेतदात्मनि जगन्मनोवाक्प्राणसंहतम्।
सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत् स्मरेत्॥ २७॥

ममताके विषयीभूत इस जगत्को एवं मनः, वाक्य एवं प्राणके संघातरूप अहङ्कारके विषयीभूत इस शरीरको स्वप्नादि-दृष्टान्तके विचार अर्थात् तर्क-वितर्कसे माया-मात्र (मायाका कार्य) जानकर परित्याग कर दे और आत्मनिष्ठ (अपने स्परूपमें स्थित) होकर इस जगत्की किसी वस्तुका पुनः स्मरण न करे॥ २७॥

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥ २८॥

जो बाह्य-विषयोंसे विरक्त होकर मोक्षकी कामनासे केवल ज्ञाननिष्ठ हैं अथवा मोक्ष-विषयमें भी आकाङ्क्षासे रहित होकर मेरे निष्काम भक्त हैं, वे त्रिदण्डादि चिह्नोंके साथ संन्यासके सभी धर्मोंका त्याग करके विधि-निषेधसे (शौच, आचमन, स्नान, ध्यानादिसे) निरपेक्ष होकर यथोचित धर्मका आचरण करे। परिपक्व परमहंस भगवत्परायण ज्ञानी एवं निष्काम भक्त प्रतिष्ठापर्यन्त सभी अपेक्षाओंसे रहित होते हैं, ऐसे ही भक्त आश्रमके चिह्नोंके साथ आश्रमका त्याग कर सकते हैं॥ २८॥

बुधो बालकवत् क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत्।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत्॥ २९॥

विवेकी होकर भी अनभिज्ञ बालकके समान मानापमान बुद्धिसे रहित होकर विहार करे (यश-प्रतिष्ठासे चित्त-विक्षेप हो सकता है

अतः बुद्धि-कौशलको प्रकाश न करे)। निपुण होकर भी उन्मत्तके समान वार्त्तालाप करे (यथोचित वार्त्तालापमें संलग्न न हो) और वेदार्थ-निष्ठ अथवा वैदिक अनुष्ठानमें निपुणता प्राप्त करके भी अनिर्दिष्ट एवं अनियमित आचारका पालन करे। (विशिष्ट वस्त्र, अनुष्ठानादिके नियमोंसे अनियन्त्रित रहे।)॥ २९॥

वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हैतुकः।
शुष्कवादविवादे न कञ्चित् पक्षं समाश्रयेत्॥ ३०॥

आत्मगोपनके लिये वेदकी कर्मकाण्डादि व्याख्यामें रत न हो, पाखण्डी अर्थात् बौद्ध आदि चिह्न धारण न करे, केवल तर्कनिष्ठ न हो और निष्प्रयोजन (शुष्क) विवादमें एकका पक्ष ग्रहण करके दूसरे पक्ष द्वारा निन्दित अथवा प्रशंसित न हो॥ ३०॥

नोद्विजेत जनाद्धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
देहमुद्दिश्य पशुवद्वैरं कुर्यान्न केनचित्॥ ३१॥

दूसरोंके दुर्वचनोंको धर्यपूर्वक सहन कर ले, किसीके भी प्रति अवज्ञाका प्रदर्शन करके उसे उद्विग्न न करे अथवा देहके उद्देश्यसे किसीके भी साथ पशुके समान शत्रुता (क्रूरता) न करे। कायमनोवाक्यसे जीवोंको कष्ट-प्रदान करना निषिद्ध है॥ ३१॥

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च॥ ३२॥

एक चन्द्रमा जिस प्रकार विभिन्न जलाशयोंमें विविध रूपोंमें प्रतिविम्बित होता है, उसी प्रकार एक परमात्मा ही विभिन्न देहों एवं आत्माओंमें अन्तर्यामी सूत्रसे बहुत रूपोंमें विद्यमान रहते हैं। सभी देह एक आत्माके साथ सम्बन्धयुक्त हैं। (अतः किसीसे भी वैर भाव रखकर जीवहिंसामें प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। सभीके शरीर पाञ्चभौतिक होनेके कारण एकात्मक ही हैं।)॥ ३२॥

अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित्।
लब्ध्वा न हृष्येद्धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम्॥ ३३॥

धैर्यवान् मुनिको किसी समय अन्नादि प्राप्त न हो, तो उस अप्राप्ति-कालमें उसे विपन्न नहीं होना चाहिए और किसी समय प्राप्त हो जाए, तो उस प्राप्ति-कालमें उसे सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए क्योंकि प्राप्ति एवं अप्राप्ति—इन दोनोंको ही दैवाधीन जानना चाहिए। ऐसा न होनेपर स्वकर्तृत्वकी भावनासे बद्ध होना पड़ेगा। हर्ष, विषादादि विकारसे मन विकृत हो जाएगा॥ ३३॥

आहारार्थं समीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम्।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय विमुच्यते॥ ३४॥

स्वाभाविकरूपसे भिक्षा न मिले, तो आहारके लिये चेष्टा अवश्य करनी होगी, क्योंकि प्राण-रक्षा अवश्य करणीय है। प्राण-रक्षा करने पर ही तत्त्व-विचार हो सकता है और उसीसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है॥ ३४॥

यदृच्छयोपपन्नामद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम्।
तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः॥ ३५॥

मुनिको उत्तम अथवा अधम अन्न, वस्तु एवं शय्या जो भी अनायास ही प्राप्त हो जाए, उसीको स्वीकार कर लेना चाहिए। यह अन्न सुस्वादु है, यह नीरस है—यह कहकर आदर अथवा अनादर नहीं करना चाहिए॥ ३५॥

शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत्।
अन्यांश्च नियमान् ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः॥ ३६॥

मैं ईश्वर होनेके कारण विधि-निषेधके अधीन नहीं हूँ, तथापि जिस प्रकार स्वेच्छासे कर्मोंका आचरण करता हूँ, उसी प्रकार ज्ञान-निष्ठ पुरुष भी विधि-निषेधके किङ्कर न होकर शौच, आचमन एवं स्नानादि कर्मोंका आचरण करें। भगवत्-सेवाके अनुकूल जीवन-यापन करनेवाले सर्वदा ही जीवन्मुक्त हैं॥ ३६॥

न हि तस्य विकल्पाख्या या च मद्वीक्षया हता।
आ देहान्तात् क्वचित् ख्यातिस्ततः सम्पद्यते मया॥ ३७॥

उस समय ज्ञाननिष्ठ मुनि व्यक्तिको हृदयमें निरन्तर मेरी स्फूर्ति रहनेसे भेद-प्रतीति नहीं रहती (अर्थात् भगवत् इतर कोई विकल्प नहीं रहता), पहले जो भेद-प्रतीति (भ्रामक बुद्धि) होती हो, वह भी मद्विषयक ज्ञानके द्वारा (मेरे साक्षात् अनुभव द्वारा) विनष्ट हो जाती है। अतः देहान्त-काल-पर्यन्त बाधित-ख्यातिका (कृष्णसे पृथक् किसी वस्तुके अनुभवका) कदाचित् उदय हो अर्थात् उनका आचरण साधारण दृष्टिसे अन्यरूप प्रतीत होता हो (देह तथा मनके अभ्यस्त होनेके कारण भौतिक अनुभूतियोंकी पुनरावृत्ति होती दिखती हो), किन्तु देहावसानमें सार्ष्टि नामक मेरे समान ही सम्पत्ति उसे प्राप्त होती है (स्वरूप-सिद्धिके बाद वस्तु-सिद्धि प्राप्त होती है)॥ ३७॥

दुःखोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान्।
अजिज्ञासितमद्धर्मो मुनिं गुरुमुपव्रजेत्॥ ३८॥

(परिपूर्ण विज्ञ व्यक्तिके विषयमें बतलाकर अब ज्ञानेच्छुके विषयमें बतला रहे हैं) जो परिणाममें दुःखद काम्य-विषयोंसे तो विरक्त हो गये हैं, किन्तु अभी भी मद्धर्मविषयक ज्ञानकी जिज्ञासा नहीं कर पाये हैं—वे अपना मङ्गल चाहते हों, तो उन्हें मनका संयम करके परब्रह्मनिष्ठ गुरुदेवके शरणागत होना चाहिए। साथ ही अभक्त-सङ्गका भी त्याग करना चाहिए॥ ३८॥

तावद् परिचरेद्भक्तः श्रद्धावाननसूयकः।
यावद्ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः॥ ३९॥

जिज्ञासु ब्रह्मज्ञान प्राप्त होनेतक श्रद्धावान्, ईर्ष्या-द्वेषसे रहित और भक्तिमान् होकर आदरपूर्वक श्रीगुरुदेवको मेरा स्वरूप जानकर उनकी सेवा-परिचर्या करे॥ ३९॥

यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः।
ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥ ४० ॥
सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते माञ्च धर्महा।
अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते॥ ४१ ॥

जो कामादि षड् रिपुओंको नियन्त्रित नहीं कर पाते, ज्ञान-वैराग्यसे रहित हैं, प्रबल इन्द्रियरूप सारथिके द्वारा परिचालित हैं, फिर भी अपनी जीविकाके लिये त्रिदण्ड-संन्यास ग्रहण करते हैं, संन्यासी दिखानेका अभिनय करते हैं, ऐसे अविपक्व कषाय अर्थात् राग (आसक्ति), द्वेषादि भौतिक कल्मषसे युक्त तथा विषय-वासनाओंसे ग्रस्त आत्मघाती मनुष्य आराध्य देवताओंको, अपनी आत्माको एवं आत्मस्थित मुझको वञ्चित करके स्वयं भी दोनों लोकोंसे वञ्चित हो जाते हैं। लोकवञ्चनाकारी एवं भगवत्वञ्चनाकारी कभी भी भगवत्-भजनमें समर्थ नहीं होता और न ही उसका कोई मङ्गल होता है॥ ४०-४१ ॥

भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः।
गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम्॥ ४२ ॥

संन्यासीके (भिक्षुकके) धर्म हैं—शम (मनका संयम) एवं अहिंसा (कायमनोवाक्योंसे प्राणियोंको उद्वेग न देना), वानप्रस्थीके धर्म हैं—सद्-असद् (आत्म-अनात्म) वस्तुके विवेक-ज्ञानसे युक्त होकर तपस्या करना, गृहस्थके धर्म हैं—सामाजिक प्राणियोंकी सेवा एवं यज्ञ (अपने संसारमें निष्पाप होकर भगवदर्चन करना) तथा ब्रह्मचारीका धर्म है—गुरु-सेवा॥ ४२ ॥

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम्।
गृहस्थस्याप्यृत्यौ गन्तुः सर्वेषां सदुपासनम्॥ ४३ ॥

गृहस्थ ऋतुकालमें ही अर्थात् नियमित समयमें ही सन्तानोत्पत्तिके लिये स्त्री-सहवास करे, वह भी ब्रह्मचर्य, तपः, शौच, सन्तोष एवं समस्त प्राणियोंसे मैत्री धर्मका निर्वाह करे।

परन्तु सभी वर्णाश्रमियोंके लिये एकमात्र मेरी आराधना ही नित्य धर्म है॥ ४३॥

इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक्।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढाम्॥ ४४॥

इस प्रकार जो अनन्य भावसे (अन्य-भजन-रहित) होकर अपने-अपने धर्मानुसार सर्वदा मेरी सेवा करता है और समस्त प्राणियोंमें मैं अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ—इस प्रकार चिन्तन करता है, वह मेरी दृढ़ अर्थात् अविचल (ऐकान्तिक) भक्ति प्राप्त करता है॥ ४४॥

भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम्।
सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः॥ ४५॥

हे उद्धव! वह मनुष्य अनपायिनी (भगवान्‌के श्रीचरणोंसे कभी अलग न होनेवाली) भक्तिके द्वारा समस्त लोकोंकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके हेतुभूत, निखिल लोकोंके महेश्वर तथा जगत्-कारण ब्रह्मरूपी मुझे ही प्राप्त करता है॥ ४५॥

इति स्वधर्मनिर्णिक्तसत्त्वो निर्ज्ञातमद्गतिः।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो न चिरात् समुपैति माम्॥ ४६॥

इस प्रकार स्वधर्मके आचरण द्वारा जो विशुद्धसत्त्वसे सम्पन्न होते हैं, मेरे ऐश्वर्यके सम्बन्धमें जानते हैं एवं ज्ञान-विज्ञानसे (शास्त्र-ज्ञान एवं स्वरूप ज्ञानसे) अवगत होते हैं, वे अति शीघ्र ही मुझे प्राप्त करते हैं। (यही प्रधानीभूता भक्ति है।)॥ ४६॥

वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः।
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः॥ ४७॥

वर्णाश्रमावलम्बी मनुष्योंका जो धर्म पितृलोक-प्राप्तिके साधनरूपमें आचरित होता है—वह मेरी भक्तिसे युक्त होनेपर तथा मुझको ही फल-अर्पण द्वारा अनुष्ठित होनेपर निःश्रेयसकारी और परममुक्तिप्रद हो जाता है। (सभी धर्मोंका भगवद्-अर्पण गुणीभूता भक्ति कहलाती है।)॥ ४७॥

एतत्तेऽभिहितं साधो भवान् पृच्छति यच्च माम्।
यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात् परम्॥ ४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे यतिधर्मनिर्णयोनामअष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

हे साधो! (साधु स्वभाव उद्धव!) स्वधर्माश्रित भक्त जिस प्रकारसे परमात्मारूपी मुझे प्राप्त करते हैं—इस विषयमें तुमने जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर मैंने तुम्हें दे दिया है॥ ४८॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके अठारहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनविंशोऽध्यायः

ज्ञानीके साधनका त्याग, भक्तकी शाश्वती नित्य भक्ति तथा यम आदिके लक्षणोंका निरूपण

श्रीभगवानुवाच—

यो विद्याश्रुतसम्पन्न आत्मवान् नानुमानिकः।
मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्॥ १॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—जो व्यक्ति आत्म-तत्त्वज्ञ है, शास्त्र-ज्ञानसे सम्पन्न है अर्थात् अनुभवकी समाप्ति पर्यन्त श्रवण सम्पन्न है एवं अपरोक्ष ज्ञानवान् है (जो मात्र शास्त्र-ज्ञानवान् न होकर तथा जड़के प्रत्यक्ष एवं अनुमानपर निर्भर न होकर साक्षात् अनुभव करता है कि यह परिदृश्यमान् जगत् मायिक होनेके कारण अस्थिर है), वह इस द्वैत-प्रपञ्चको, इसकी निवृत्तिके ज्ञान-साधनको एवं ज्ञानको भी माया जानकर मेरी प्राप्तिके लिये मुझमें अर्पण करे॥ १॥

ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च सम्मतः।
स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रियः॥ २॥

ज्ञानी पुरुषका अभीष्ट पदार्थ (फल) एकमात्र मैं ही हूँ, उस अभीष्ट फलको प्राप्त करनेके साधन, अभ्युदय (स्वर्ग) एवं संसार-निवृत्ति (मुक्ति) रूपमें मैं ही सम्मत हूँ (परम साध्य और साधनरूपमें मैं ही स्फूर्त्त होता हूँ)। मेरे अतिरिक्त अन्य कोई स्वर्ग अथवा मुक्ति, अन्य कोई वाञ्छनीय प्रिय प्राप्य-वस्तु अथवा साधन नहीं हैं॥ २॥

ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम।
ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्त्ति माम्॥ ३॥

ज्ञान एवं विज्ञानसे सम्यक्-सिद्धि-प्राप्त व्यक्ति मेरे चरणारविन्दको ही परम श्रेष्ठ पदके रूपमें मानता है, ब्रह्म तत्त्वको नहीं। भजनपरायण ज्ञानी व्यक्ति ज्ञान द्वारा मुझे प्रसन्न करता है। (वह ब्रह्म-वस्तुको मुझ कमलनयनकी प्रभाके रूपमें जानता है।) वह मुझे अतिशय प्रिय है। (भुक्ति-मुक्ति ज्ञानीको वांछनीय कैसे हो सकती हैं? ज्ञानी तो अपने अन्तःकरणमें निरन्तर मुझे धारण करता है।)॥ ३॥

तपस्तीर्थं जपो दानं पवित्राणीतराणि च।
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलया कृता॥ ४॥

भगवत्-सम्बन्ध-ज्ञानके लेशमात्र द्वारा (भगवत्-सेवामें इन्द्रियोंको युक्त करके) जिस सिद्धिका उदय होता है, तपः, तीर्थ-भ्रमण, जप, दान एवं अन्यान्य पुण्यकर्म उस सिद्धिको उदय करानेमें उस प्रकारसे समर्थ नहीं होते॥ ४॥

तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः॥ ५॥

अतएव हे उद्धव! तुम ज्ञानके सहित उसके अन्तर्गत आत्मवस्तुको जानो (कि सेव्य-स्वरूप ज्ञानात्मक है एवं सेवक-स्वरूप विज्ञानात्मक है)। ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न चित्तमें भक्तिभावसे भावित होकर मेरी आराधना करो। (तुम्हें सेव्य-सेवक-सम्बन्ध-ज्ञानसे युक्त होकर मेरी सेवा करनी चाहिए।)॥ ५॥

ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्ट्वात्मानमात्मनि।
सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन्॥ ६॥

प्राचीन कालमें ऋषि-मुनियोंने ज्ञान-विज्ञानरूप यज्ञके द्वारा अपने-अपने अन्तःकरणमें समस्त यज्ञोंके अधिपति अन्तर्यामी स्वरूप मेरी पूजाकर मेरी प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त किया था॥ ६॥

त्वय्युद्धवाश्रयति यन्निविधो विकारो
मायान्तरापतति नाद्यपवर्गयोर्यत्।

जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किंस्यु-
राद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये॥ ७॥

हे उद्धव! जिन आध्यात्मिकादि तीन प्रकारके विकारोंने तुम्हारा आश्रय किया है—उसे तुम माया मात्र समझो, क्योंकि वर्तमान कालमें ही रज्जुमें सर्पादिकी प्रतीतिके समान इसकी (देहकी) प्रतीति हो रही है। इसकी पूर्वापर कोई सत्ता नहीं है—न इसका आदि है और न अन्त (यह शरीर पहले भी नहीं था और आगे भी नहीं रहेगा)। मध्य समयमें ही इसकी प्रतीति है। जिस समय इस विकार (असत्) पदार्थके (शरीरादिके) जन्मादि (जन्मना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट होना) होते हैं, उस समयमें उसके अधिष्ठान-स्वरूप तुम्हारी कोई क्षति नहीं है। उससे न तुम्हारा उपकार हो सकता है और न ही अपकार। इस शरीरका एवं मनका तुम्हारी आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है। (नित्य ज्ञान तात्कालिक प्रतीतिसे पृथक् है।) असत् सर्पादि पदार्थोंके पूर्वापरमें जिस प्रकार रज्जुत्व सिद्ध है, उसी प्रकार मध्य अर्थात् प्रतीतिकालमें भी रज्जुत्व ही यथार्थ है। (आदि, अन्त एवं मध्यमें केवल रज्जु ही रहता है।) अतः विकारोंकी भी वस्तुतः कोई सत्ता नहीं है॥ ७॥

श्रीउद्धव उवाच—

ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैतद्-
वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम्।
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्त्ते
त्वद्भक्तियोगञ्च महद्विमृग्यम्॥ ८॥

उद्धवने कहा—हे विश्वेश्वर! वैराग्य-विज्ञान (सत्यकी प्रत्यक्ष अनुभूति करानेवाला) युक्त पुरातन (प्राचीन ज्ञानियों द्वारा सम्मत परम्परागत सनातन) यह विशुद्ध ज्ञान जिस प्रकारसे निर्धारित हो सकता है तथा जो महाजनोंके (ब्रह्मा एवं सनकादिके) द्वारा

अन्वेषणीय ज्ञानादिसे अमिश्र आपका भक्तियोग है, हे विश्वमूर्त्ते! आप उसका सम्यक्रूपसे वर्णन करें॥ ८॥

तापत्रयेणोभिहतस्य घोरे
सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीश।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात्॥ ९॥

हे ईश! इस घोर (भीषण) संसार मार्गमें विचरणशील, तापत्रयसे अभिभूत एवं अति सन्तापग्रस्त मेरे जैसे जीवोंके लिये आपके चरणयुगलको मैं छत्र-छाया एवं (ब्रह्मानन्दसे भी अधिक) आनन्दामृत-वर्षक समझ रहा हूँ। हे स्वामिन! आपके पादपद्मसे भिन्न अन्य कोई आश्रयणीय मुझे दिखायी नहीं दे रहा है॥ ९॥

दष्टं जनं सम्पतितं बिलेऽस्मिन्
कालाहिना क्षुद्रसुखोरुतर्षम्।
समुद्धरैनं कृपयापवर्ग्यै-
र्वचोभिरासिञ्च महानुभाव॥ १०॥

हे महानुभाव! क्षुद्र-सुखोंकी आकाङ्क्षासे अति तृष्णाग्रस्त, संसार-कूपमें पतित एवं कालसर्प द्वारा डसे हुए मेरे जैसे जीवोंका आप उद्धार करें तथा कृपया अपने श्रीमुखचन्द्रसे कथित अपवर्ग-बोधक (वैराग्ययुक्त) वचनामृतसे अभिषिक्त कर कृतार्थ करें॥ १०॥

श्रीभगवानुवाच—

इत्थमेतत् पुरा राजा भीष्मं धर्मभृतांवरम्।
अजातशत्रुः पप्रच्छ सर्वेषां नोऽनुशृण्वताम्॥ ११॥

भगवान्ने कहा—हे उद्धव! पूर्वकालमें अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरने हम श्रोताओंके समक्ष धार्मिक-प्रवर भीष्मसे इसी प्रकार प्रश्न किया था॥ ११॥

निवृत्ते भारते युद्धे सुहृत्रिधनविह्वलः।
श्रुत्वा धर्मान् बहून् पश्चान्मोक्षधर्मानपृच्छत॥ १२॥

कुरुक्षेत्रमें कौरव-पाण्डव युद्धके अवसानपर स्वजन सम्बन्धी-वधसे शोक-विह्वल राजा युधिष्ठिरने भीष्म पितामहसे बहुतसे धर्मोंके विषयमें सुननेके पश्चात् अवशेषमें मोक्ष-धर्मके सम्बन्धमें प्रश्न किया था॥ १२॥

तानाहं तेऽभिधास्यामि देवव्रतमुखाच्छ्रुतान्।
ज्ञानवैराग्यविज्ञानश्रद्धाभक्त्युपबृंहितान् ॥ १३॥

उस समय भीष्म पितामहके मुखसे सुने हुए उन ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, श्रद्धा और भक्तियुक्त धर्मोंकी सारी बात मैं तुम्हारे निकट वर्णन कर रहा हूँ॥ १३॥

नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै।
ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम्॥ १४॥

जिस ज्ञान द्वारा ब्रह्मादिसे लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त विश्वकार्यमें प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्र, ग्यारह इन्द्रिय, पञ्च महाभूत, सत्त्वादि तीन गुण—इन अट्ठाईस तत्त्वोंको श्रीकृष्णके अनुगतरूपमें (श्रीकृष्णके मिलित रूपमें) 'प्रत्यक्ष' किया जाता है। अनन्तर जिस ज्ञान द्वारा इन सभी अट्ठाईस तत्त्वोंमें एक परमात्म तत्त्वका ही अनुगतरूप (मिलितरूप) 'अनुभव' किया जाता है (कि कार्य-कारणरूप यह जगत् परमकारण-स्वरूप उन परमात्मासे भिन्न नहीं हैं, एक ही है), उस मद्विषयक ज्ञानको निश्चित ही मेरे द्वारा सम्मत जानो॥ १४॥

एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत्।
स्थित्युत्पत्त्यप्ययान् पश्येद्भावानां त्रिगुणात्मनाम्॥ १५॥

अब विज्ञान बतलाते हैं—पहले (ज्ञानदशामें) जिस ज्ञान द्वारा विभिन्न पदार्थोंको एक परमात्माके अनुगतरूपमें दर्शन किया था, किन्तु अब वैसा दर्शन न होकर उन पदार्थोंके कारणरूपी एक

ब्रह्मवस्तुका ही दर्शन होता है अर्थात् इस विज्ञान दशामें मात्र परमात्माका ही अनुभव होता है। यह अनुभव ही विज्ञान शब्द द्वारा वाच्य है। त्रिगुणात्मक सावयव (त्रिगुणात्मक) जागतिक पदार्थमात्रको ही उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश धर्मोंसे युक्त जानो—इनकी अनित्यताको समझो, सार्वकालिक न होनेके कारण इनकी असत्यताका बोध करो॥ १५॥

आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यदन्वियात्।
पुनस्तत्प्रतिसंक्रामे यच्छिष्येत तदेव सत्॥ १६॥

जो तत्त्व वस्तु उत्पत्ति (आदि) एवं प्रलय (अन्त) में कारणरूपमें और मध्य (स्थितिकाल) में आश्रयता (कारणता) हेतु सृज्य (कार्य) वस्तुसे सृज्य पदार्थान्तर (कार्यान्तर) में अनुगत होती है (कार्य-कारणकी शृङ्खलासे असंख्य वस्तुओंकी उत्पत्ति होती है) एवं प्रलयके अन्तमें भी अवशिष्ट रहती है, उसे 'सत्' जानो। (एकमात्र परमात्मा ही सत्य हैं, महदादि पदार्थोंकी सत्यता एवं कारणता रहने पर भी उनकी सर्वकालिक सत्यता नहीं है और न ही वे सर्वकारण हैं।)॥ १६॥

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद्विकल्पात् स विरज्यते॥ १७॥

अब वैराग्यके विषयमें कहते हैं—श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य (ऐतिहासिक महाजन-प्रसिद्धि) एवं अनुमान—इन चारों प्रमाणोंसे मनुष्य स्वर्गादि भोगमय विकल्पोंके (भौतिक विविधताओंके) सार्वकालिक अवस्थानके अभावके कारण अर्थात् ये अस्थिर, नश्वर एवं मिथ्या हैं—इस ज्ञानके कारण द्वैत प्रपञ्चसे विरक्त हो जाता है॥ १७॥

कर्मणां परिणामित्वादविरिञ्च्यादमङ्गलम्।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येदृष्टमपि दृष्टवत्॥ १८॥

विद्वान् पुरुषको चाहिए कि ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने भी अदृष्ट स्वर्गादि सुख हैं, उनको यज्ञादि कर्मजनित तथा दृष्ट राज्यादिके

समान स्पर्द्धा एवं असूयादि युक्त, विपद् युक्त, अमङ्गलकारी तथा अनित्य समझे। कर्म मात्र ही नश्वर है, इसमें जीव आबद्ध न हो॥ १८॥

भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम्॥ १९॥

हे निष्पाप (निरपराध) उद्धव! मैंने अपना प्रीति-पात्र होनेके कारण पहले भी तुम्हारे लिये भक्तियोगका वर्णन किया था। अतृप्त रहनेके कारण तुमने पुनः जिज्ञासा की है। अतः अब मैं श्रेष्ठ एवं मङ्गलकारी अपनी भक्तिके प्रधान साधनका पुनः वर्णन कर रहा हूँ। (ज्ञातव्य है कि अपराध होनेसे भक्तिमें प्रीतिका ह्रास होता है।)॥ १९॥

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्त्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम॥ २०॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥ २१॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मय्यर्पणञ्च मनसः सर्वकामविवर्जनम्॥ २२॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः॥ २३॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥ २४॥

प्रिय उद्धव! मेरे सभी चरित अति माधुर्यसे परिपूर्ण हैं, किन्तु रासलीला आदि कथाओंके श्रवणमें अति श्रद्धा रखे, सर्वदा उनका कीर्त्तन करे, मेरे सन्तोष-विधानके लिये मुझसे भी अधिक मेरे भक्तोंकी पूजा करे, मद्विषयक पूजादिमें आसक्ति रखे, दन्त-धावनादि दैहिकी क्रियाएँ (अङ्ग चेष्टाएँ) भी मेरी सेवाके लिये करे, सुललित स्तोत्रोंसे मेरी स्तुति करे, मद्सेवाविषयक आदर

रखे (मेरी यात्रा, उत्सवादिके लिये श्रीगुरु वैष्णवादिको अर्थ प्रदान करे), समस्त प्राणियोंमें मेरा दर्शन करे (प्राणीमात्र ही भगवान्‌की सेवा-सम्बन्धसे युक्त है—यह समझे), मुझे साष्टाङ्ग प्रणाम करे, अपने वचनोंसे मेरा गुणगान करता रहे, मेरे प्रति अपने चित्तको समर्पण कर दे, समस्त कामनाओंका परित्याग कर दे, स्त्री-प्रसङ्ग एवं पुत्र लालनादि सुख-भोगोंकी लालसा न रखे, यागादि इष्ट कर्म सम्पन्न करे। (ब्राह्मण-वैष्णवोंको पकवान भोजन कराये, 'विष्णवे स्वाहा' यह कहकर संस्कार-युक्त अग्निमें तिल एवं घृतादिकी आहुति दे, एक हजार अथवा एक लाख संख्यामें भगवान्‌के नाम-मन्त्रका जप करे। घृताहुति, वैष्णव-भोजन एवं नाम-जप—ये तीनों भक्तोंके इष्ट अर्थात् याग हैं), दान अर्थात् भगवान्‌की सेवामें उपयोगी न होनेवाले भजन-विरोधी अर्थकी उपेक्षा कर दे; हवन, जप, व्रत एवं तपस्या (मेरी प्राप्तिके लिये एकादशी आदि व्रत ही मेरे भक्तोंकी तपस्या है) आदि धर्मोंके अनुष्ठान द्वारा आत्म-निवेदन करनेवाले मनुष्योंकी मेरे प्रति भक्ति उत्पन्न होती है। ऐसे निष्काम भक्तोंके लिये और क्या फल शेष रहता है? हाँ, परलोकमें भी पुनः मेरी अमृत-कथा श्रवणादि ही फल हैं। उस समय मेरे भक्तोंके लिये साध्य अथवा साधनरूप किसी विषयका अभाव नहीं रहता। जिस प्रकार ज्ञानीके लिये जो साध्य है, उसकी प्राप्ति होनेके बाद साधनका त्याग बतलाया गया है, उस प्रकारसे मेरे भक्तोंको साध्य-भक्ति—प्रेमा भक्ति प्राप्त होनेपर भी श्रवण, कीर्त्तन आदि साधन-भक्तिका त्याग नहीं करना होता है, बल्कि प्रेमरसरूप साध्य-भक्तिके अनुभवस्वरूप उनका श्रवण, कीर्त्तन आदि भक्ति-अङ्गोंका पालन पहलेकी अपेक्षा हजार गुना अधिक होने लगता है॥ २०-२४॥

यदात्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम्।
धर्मं ज्ञानं सवैराग्यमैश्वर्यञ्चाभिपद्यते॥ २५॥

जिस समय सत्त्वगुणकी वृद्धि होने पर जिस समय शान्तचित्त परमात्मामें समर्पित होता है, उस समय मानवको धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं। भगवद्-भक्तिके उदित होनेपर जीवमें भगवत्-स्वरूप ज्ञान, निज-स्वरूप ज्ञान, कृष्णेतर विषयोंसे वैराग्य एवं भगवान्‌की सर्वशक्तिमत्तामें सब प्रकारसे निर्भरता, चित्त-शमता, शुद्ध सत्त्वमें अवस्थान इत्यादि परिलक्षित होने लगते हैं॥ २५॥

यदर्पितं तद्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति।
रजस्वलञ्चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम्॥ २६॥

जब चित्त मुझे छोड़कर देह, गेह आदि नश्वर पदार्थोंमें आसक्त होकर इन्द्रियोंकी सहायतासे विषयोंमें भ्रमण करता है, तब वह रजोगुण-आधिक्य युक्त एवं असद् (निषिद्ध)-विषय-निष्ठ हो जाता है। इसी कारणसे वह अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य (मोह) एवं अनैश्वर्य आदिको प्राप्तकर विपर्यय-ग्रस्त हो जाता है॥ २६॥

धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो ज्ञानञ्चैकात्म्यदर्शनम्।
गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यञ्चाणिमादयः॥ २७॥

उद्धव! जिससे मेरी भक्ति हो, वही प्रकृष्ट धर्म है; सर्वदा, सर्वत्र समस्त पदार्थोंका एक परमात्माके साथ अभिन्न दर्शन ही ज्ञान है, त्रय-गुणसे अनासक्त होकर विषयोंसे निर्लिप्तता वैराग्य है एवं अणिमादि सिद्धियाँ ही ऐश्वर्य हैं—यह शास्त्रोंमें कहा गया है॥ २७॥

श्रीउद्धव उवाच—

यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्षण!
कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो॥ २८॥
किं दानं किं तपः शौर्यं किं सत्यमृतमुच्यते।
कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा॥ २९॥

पुंसः किंस्विद्बलं श्रीमान् दया लाभश्च केशव।
का विद्या ह्रीः परा का श्रीः किं सुखं दुःखमेव च॥ ३०॥
कः पण्डितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पथश्च कः।
कः स्वर्गो नरकः कः स्वित् को बन्धुरुत किं गृहम्॥ ३१॥
क आढ्यः को दरिद्रो वा कृपणः कः कः ईश्वरः।
एतान् प्रश्नान् मम ब्रूहि विपरीतांश्च सत्पते॥ ३२॥

उद्धवजीने कहा—हे शत्रुनिसूदन! हे प्रभो! हे श्रीकृष्ण! यम और नियम कितने प्रकारके हैं? शम, दम, तितिक्षा, धृति, दान, तपस्या, शौर्य, सत्य, ऋत, त्याग, इष्ट, धन, यज्ञ, दक्षिणा, बल, दया, लाभ, पराविद्या, लज्जा, श्री, सुख, दुःख, पण्डित, मूर्ख, मार्ग, उन्मार्ग, स्वर्ग, नरक, बन्धु, गृह, धनी, दरिद्र, कृपण और ईश्वर किसे कहते हैं? हे भक्तवत्सल प्रभो! आप मेरे इन प्रश्नोंका उत्तर दीजिए और साथ ही इनके विरोधी भावोंका भी वर्णन कीजिए॥ २८-३२॥

श्रीभगवानुवाच—

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यञ्च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम्॥ ३३॥
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥ ३४॥
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः।
पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि॥ ३५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! अहिंसा (किसीसे भी मत्सर न रखना), सत्य (नित्य अवस्थान करना), अस्तेय (चोरी न करना), असङ्ग (इन्द्रियतोषणरत मनुष्योंके सङ्गकी स्पृहासे रहित होना), लज्जा (दूसरोंके मङ्गल साधनके लिये चित्तकी दुर्वृत्तिका दूरीकरण), असञ्चय (मुक्त हस्तसे दान), आस्तिक्य (भगवान्‌में श्रद्धा), ब्रह्मचर्य, मौन (प्रजल्प-त्याग), स्थैर्य (अचाञ्चल्य), क्षमा (सामर्थ्य रहने पर

भी क्षमा कर देना) एवं भय (शास्त्र-विधि-उल्लंघनमें भय)—ये बारह प्रकारके यम हैं। बाह्य शौच (स्नानादि), आभ्यन्तर शौच (हरिसेवाकी चेष्टादि), भगवान्‌के नामका जप, तप (एकादशादि व्रत-पालन), होम (हरि-कर्म—भक्ति-रूप यज्ञ-सम्पादन), श्रद्धा (हरिकथामें आदर), आथित्य (हरिजन-परिचर्या), मेरा अर्चन (श्रीमूर्त्ति-सेवन), तीर्थ-भ्रमण (हरितीर्थ-पर्यटन), परहित चेष्टा (वास्तव परोपकार), तुष्टि (भगवत्-विहित आचरणमें अवस्थान एवं सन्तोष) एवं गुरु-सेवा—ये बारह नियम कहे गये हैं। इनके अनुष्ठान द्वारा उपासकोंको इच्छानुसार मोक्ष एवं अभ्युदयकी प्राप्ति होती है॥ ३३-३५॥

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः।
तितिक्षा दुःखसंमर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः॥ ३६॥
दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम्।
स्वभावविजयः शौर्यं सत्यञ्च समदर्शनम्॥ ३७॥
अन्यच्च सुनृता वाणी कविभिः परिकीर्त्तिता।
कर्मस्वसङ्गमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते॥ ३८॥
धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः।
दक्षिणा ज्ञानसन्देशः प्राणायामः परं बलम्॥ ३९॥

सङ्कल्प-विकल्प रहित भगवत्-सेवामें निष्ठ हो जाना 'शम' है (भगवत्-निष्ठाके अभावमें शान्तिका प्रयास निन्दित है)। रूप-रसादिमें इन्द्रिय-वृत्तिका सङ्कोच 'दम' है। पर-कृत अपमानसे दुःखी न होना, पर-सुखसे असहनशील होनेकी वृत्तिका त्याग करना तथा अपने प्रारब्धके कष्टोंको भगवत्-अनुकम्पा जानकर सहन करना 'तितिक्षा' है (स्वेच्छासे शीत, उष्णादि दुःखोंको सहन करना मूर्खता है, तितिक्षा नहीं)। जिह्वा-जय एवं उपस्थ-जय अर्थात् उत्कृष्ट एवं सुस्वादु द्रव्योंको ग्रहण करनेकी चेष्टा एवं काम-चेष्टासे रहित हो जाना 'धृति' है। दूसरोंके द्वारा किये गये अन्यायके प्रतिशोधका

त्याग तथा प्राणीमात्रसे ही विद्वेषका त्याग 'दान' है (धन-अर्पण दान नहीं)। एकादशी कार्त्तिक व्रतादिमें शास्त्र-विहित भोग-त्यागका नाम एवं भोग्य वस्तुके समीप रहने पर भी उसकी उपेक्षा कर देनेका नाम 'तपस्या' है (देहको कष्ट देनेका नाम तपस्या नहीं है)। विषयोंको ग्रहण करनेकी नैसर्गिक तृष्णाके दमनकी चेष्टा 'शौर्य' है, समस्त वस्तुओंको भगवद्भावमय देखना श्रेष्ठ 'समदर्शन' है—यही 'सत्य' है। सत्य एवं प्रिय वचन 'ऋत' नामसे कथित हैं। कर्म एवं भोग्य वस्तुमें आसक्त न होना अथवा कृष्ण-सम्बन्धके कारण नैष्कर्म्य हो जाना 'शौच' है, उपभोगोंसे विरक्ति एवं स्त्री, पुत्रादिमें ममताका त्याग 'संन्यास' है। धर्म अथवा सत्य-धारणा अभीष्ट 'धन' है (गाड़ी, अश्वादि धन नहीं)। भगवत्-सेवन 'यज्ञ' है—मेरी जन्म-यात्रा, नगर-सङ्कीर्तन, उत्सवादिका अनुष्ठान करना यज्ञ है (अश्वमेधादि यज्ञ अनित्यफलदायी हैं)। सम्बन्ध-ज्ञानका उपदेश देना अर्थात् मेरे कीर्त्तनादि रसके अनुभवके विषयमें निज इष्ट-मित्रोंको बतलाना 'दक्षिणा' है (धन-वस्त्रादिका दान दक्षिणा नहीं है)। उद्धव! दुर्दमनीय मनका दमन करनेवाला 'बल' प्राणायाम है॥ ३६-३९॥

भगो मे ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः।
विद्यात्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु॥ ४०॥
श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः।
दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित्॥ ४१॥
मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः।
उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः॥ ४२॥
नरकस्तमउन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे।
गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते॥ ४३॥
दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्य्ययः॥ ४४॥

एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्व्वे साधु निरूपिताः।
किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे श्रेयोभेदनिर्णयोनाम एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

'दया' नामसे जो लोकमें प्रसिद्ध है, मेरे मतमें भी वही 'दया' है, उसका कोई पृथक् लक्षण नहीं है। मेरे ऐश्वर्यादि षड्गुण ही 'षट्श्री' अर्थात् भग हैं। (ब्रह्मा, जीव एवं इन्द्रादिका ईश्वरत्व कदापि नहीं है।) भगवत्-सेवा ही (भक्ति) 'उत्तम लाभ' है (पुत्रादि प्राप्ति नहीं)। भगवान्से अतिरिक्त किसी भी वस्तुमें अभिनिवेशका न होना तथा जीवात्मामें अविद्याकृत भेद-दर्शनका (मिथ्या द्वैत अथवा अनात्मत्वका) निरास होना 'विद्या' है (अधीत व्याकरणादि विद्या नहीं है)। अभक्त होनेसे चित्त भोगप्रवण होता है, जिससे यथेच्छाचार होता है—यही पाप है—उससे घृणा होना तथा पापरूप अकर्ममें हेयत्व (परित्यज्यता अथवा लोकनिन्दा) देखना 'लज्जा' है, निरपेक्षतादि गुण ही 'श्री' अर्थात् शोभा हैं (किरीटादि नहीं)। सुख-दुःखकी अपेक्षासे रहित होकर उनका अतिक्रम कर जाना एवं भगवत्-प्रणयकी अभिलाषा होना 'सुख' है, जबकि विषय-भोगकी अपेक्षा रखना 'दुःख' है (आग आदिसे दाह होना दुःख नहीं है)। जो जीवका संसारसे बन्धन एवं मोक्ष जानते हैं, वे ही पण्डित हैं (शास्त्रकी विशद व्याख्या करनेवाले पण्डित नहीं होते), स्थूल-सूक्ष्म देह एवं गेहमें अस्मिता बुद्धि अर्थात् मैं-मेरेका आरोप 'मूर्खता' है। मुझको प्राप्त करानेवाला श्रौतपथ (निवृत्तिमार्ग) ही 'गन्तव्य' है, इसके विपरीत भोग-वासनासे चित्तका विक्षेप (चाञ्चल्य) होना (प्रवृत्तिमार्ग पर चलना) 'उत्पथ' अर्थात् कुपथ है। सत्त्वगुणका उदय 'स्वर्ग' है (इन्द्रादि लोक नहीं) एवं तमोगुणमें प्रवृत्ति 'नरक' है। जगत्गुरु एवं श्रीगुरुसेव्य भगवान्के रूपमें मैं ही एकमात्र

सबका 'बन्धु' हूँ, यह जान लो। मनुष्यका भोगायतन शरीर 'गृह' है। सद्गुण-सम्पन्न व्यक्ति 'धनी' है, जीवनसे असन्तुष्ट रहनेवाला व्यक्ति 'दरिद्र' है। इन्द्रियतोषण परायण, अदान्त, अजितेन्द्रिय पुरुष 'कृपण' है। विषयोंसे चित्तका अनासक्त होना एवं गुण-त्रयसे बुद्धिका अविचलित होना 'ईश्वरता' है, इसके विपरीत विषयोंमें आसक्त होना तथा गुण-त्रयसे अभिभूत होना 'वश्यता' अथवा इन्द्रियोंकी 'अधीनता' (दासता) है। हे उद्धव! तुम्हारे सभी प्रश्नोंके उत्तर मेरे द्वारा निर्धारित कर दिये गये हैं। सद्गुणों अथवा दुर्गुणोंके अधिक वर्णनकी कोई प्रयोजनीयता नहीं है। संक्षेपमें यही समझो कि गुण-दोषका विचार ही दोष है एवं उसके विपरीत गुण है। यही सर्वोत्कृष्ट गुण है कि गुण एवं दोष दर्शनका सदैव परित्याग किया जाए॥ ४०-४५॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके उन्नीसवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

विंशोऽध्यायः

ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग एवं उसके अधिकारीका विवेचन

श्रीउद्धव उवाच—

विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते।
अवेक्षतेऽरविन्दाक्ष गुणं दोषञ्च कर्मणाम्॥ १॥

श्रीउद्धवजीने कहा—हे कमललोचन श्रीकृष्ण! आप जगदीश्वर हैं। वेदशास्त्र आपके आदेशरूप हैं। इनमें विधि-निषेधके ज्ञापकरूपमें कर्मके गुण-दोषका विचार है। (भगवत्-सेवा विमुख जीवोंकी क्रियाएँ दो भागोंमें विभक्त हैं—गुण एवं दोष। विधि-विहित कर्मोंमें गुण देखा जाता है तथा निषिद्ध कर्मोंमें दोषका प्रतिपादन है। ये विधि निषिद्ध वाक्य कर्मोंके गुण एवं दोषको पुण्य एवं पाप फलके रूपमें निरीक्षण करते हैं।)॥ १॥

वर्णाश्रमविकल्पञ्च प्रतिलोमानुलोमजम्।
द्रव्यदेशवयःकालान स्वर्गं नरकमेव च॥ २॥

प्रतिलोमज (उत्तम वर्ण स्त्री एवं हीन वर्ण पुरुषसे उत्पन्न सन्तान), अनुलोमज (उत्तम वर्णके पुरुष एवं हीन वर्णकी स्त्रीसे उत्पन्न सन्तान), तद्गत गुण-दोष, द्रव्य, देश, वयस एवं कालगत योग्यता तथा अयोग्यता, वर्ण एवं आश्रमोंके विकल्प एवं भेद एवं तद्गत गुण-दोष और स्वर्ग-नरकका विचार वेदशास्त्र ही करते हैं॥ २॥

गुणदोषभिदादृष्टिमन्तरेण वचस्तव।
निःश्रेयसं कथं नृणां निषेधविधिलक्षणम्॥ ३॥

गुण-दोषके मध्य भेद-दर्शनके बिना आपके कर्मकाण्डीय विधि-निषेधका परित्याग करने पर (पाप-पुण्यपरक आदेश कि

यह विहित होनेके कारण गुण है तथा निषिद्ध होनेके कारण दोष है) वे प्राणियोंके लिये किस प्रकार मङ्गलकारी हो सकते हैं? सम्पूर्ण वेदको विधि-निषेधरूपसे स्वीकार किया जाता है। विधि-निषेधके वचनोंके बिना मानवोंकी मुक्ति भी सम्भव नहीं हो सकती। आपकी आज्ञा होनेके कारण गुण अवश्य ही पालनीय हैं तथा दोष अवश्य ही परित्यज्य हैं॥ ३॥

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर।
श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयोरपि॥ ४॥

हे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर! प्रत्यक्ष अनुभव आदि प्रमाणोंके अगोचर (परे) स्वर्ग, मोक्ष आदि विषयोंमें तथा साध्य एवं साधनके ज्ञानके विषयमें आपके आदेशरूप वेदशास्त्र ही पितृलोक, देवलोक, एवं मनुष्यलोकके लिये उत्तम प्रमाण-स्वरूप हैं। वस्तुतः वेद ही इन सबके चक्षु-स्वरूप हैं॥ ४॥

गुणदोषभिदादृष्टिर्निगमात् तेन हि स्वतः।
निगमेनापवादश्च भिदाया इति ह भ्रमः॥ ५॥

हे देव! गुण एवं दोषकी भेद-दृष्टि आपकी आज्ञारूप वेद-वचनोंसे ही प्रवर्त्तित होती है, वह स्वतः प्रवृत्त नहीं हो सकती। और भी, आपके वेद-वचनोंके द्वारा भेद-प्रतीतिका अपसरण (दूरीकरण) भी होता है, वह भी स्वतः नहीं होता। इस कारण मेरे हृदयमें विशेषरूपसे सन्देहका उदय हो रहा है। आप मेरे संशयको दूर करें॥ ५॥

श्रीभगवानुवाच—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ ६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! मैंने ही वेदोंमें मनुष्योंके कल्याणके लिये अधिकारी एवं अवस्था भेदसे तीन प्रकारके योगोंका निर्देश किया है—कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग।

इनके अतिरिक्त लोक-मङ्गलके लिये अन्य कोई उपाय कहीं भी नहीं है॥ ६॥

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥ ७॥

इन तीन प्रकारके योगोंमें कर्मफलसे विरक्त, कर्म-त्यागी (गृह कुटुम्बादिमें अनासक्त) मनुष्योंके लिये ज्ञानयोगका अधिकार सिद्धि प्रदान करता है तथा कर्म-विषयमें दुःखबुद्धि-रहित, अविरक्त, कामी पुरुषोंके लिये कर्मयोग सिद्धि-प्रद होता है॥ ७॥

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥ ८॥

जो मनुष्य सौभाग्यसे मेरी कथामें आदर (श्रद्धा) रखते हैं एवं जिनको विषयोंसे न वैराग्य है, न अत्यासक्ति, ऐसे मनुष्योंके लिये भक्तियोग सिद्धिप्रद कहा गया है। अभिप्राय यह है कि गृहादिमें निर्वेदयुक्त व्यक्तिका ज्ञानमें अधिकार है, गृहादिमें अति आसक्त व्यक्तिका कर्ममें अधिकार है और गृहादिमें अति-आसक्ति-रहित होनेपर भक्तिमें अधिकार है। भक्त-सङ्ग होनेपर व्यक्तिमात्रका ही भक्तिमें अधिकार है॥ ८॥

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥ ९॥

जबतक कर्म-विषयमें (कर्ममय जगतमें, कर्म-फलमें एवं विधि-निषेधमें) दुःख जानकर उससे विरक्ति न हो जाए और मेरी कथाके श्रवणमें श्रद्धा उत्पन्न न हो जाए, तबतक नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करते रहना चाहिए। श्रद्धालु व्यक्तिका केवला-भक्तिमें अधिकार है, कर्ममें नहीं है॥ ९॥

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यत्र समाचरेत्॥ १०॥

हे उद्धव! अपने धर्ममें स्थित होकर आचरण करते हुए फलकी कामनासे रहित पुरुष यज्ञोंके द्वारा देवताओंकी आराधना करके यदि विहितका अतिक्रम नहीं करता तथा निषिद्धका वर्जन करता है, तो उसे स्वर्ग अथवा नरक प्राप्त नहीं होता। अपस्वार्थवश कामना होनेपर जीवको नरकादिकी प्राप्ति होती है एवं यज्ञानुष्ठानके प्रभावसे फलभोगकी पिपासा उसे स्वर्ग ले जाती है, परन्तु फलभोगकी कामनारहित व्यक्तिकी स्वर्ग-नरकादि भोगोंकी सम्भावना नहीं है॥ १०॥

अस्मिन् लोके वर्त्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥ ११॥

स्वधर्मपरायण (अपने धर्ममें निष्ठा रखनेवाला), निषिद्ध कर्मोंका त्याग करनेवाला व्यक्ति रागादि दोषोंसे रहित हो जाता है तथा इसी लोकमें वर्त्तमान दशामें ही केवल ज्ञान अथवा सौभाग्यक्रमसे चित्त द्रवीभूत होनेपर मेरी भक्ति प्राप्त कर लेता है। (सौभाग्यक्रमसे तात्पर्य है कि निष्काम कर्म करनेके कारण अन्तःकरण निष्पाप एवं शुद्ध हो जाता है, जिससे आत्मसाक्षात्काररूप विशुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञानसे मोक्ष भी हो सकता है। यदि सौभाग्यवश शुद्ध भक्तका सङ्ग प्राप्त हो जाए, तो केवला भक्ति प्राप्त होती है और इसीसे प्रेमा भक्ति प्राप्त होती है। कर्म एवं ज्ञानमिश्रा भक्तिसे अन्ततः शान्तरति प्राप्त होती है।)॥ ११॥

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा।
साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम्॥ १२॥

मनुष्य शरीर अत्यन्त दुर्लभ है। नारकीय प्राणी एवं देवता अर्थात् स्वर्ग एवं नरक दोनोंमें ही रहनेवाले व्यक्ति ज्ञान-भक्तिके साधक इस मनुष्य-जन्मकी प्रार्थना करते हैं, क्योंकि उक्त दोनों प्रकारकी देह ही ज्ञानभक्ति साधनके अयोग्य हैं। (स्वर्गके विषयसुख-भोगमें बद्ध जीव इतना मग्न हो जाता है कि अपने मङ्गलके एकमात्र

उपाय भक्तिसे उसका कोई परिचय नहीं होता तथा नरकादिमें प्राप्त यन्त्रणामें इतना अभिभूत हो जाता है कि भक्तिका सुयोग प्राप्त नहीं कर सकता।)॥ १२॥

न नरः स्वर्गतिं काङ्क्षेन्नारकीं वा विचक्षणः।
नेमं लोकञ्च काङ्क्षेत देहावेशात् प्रमाद्यति॥ १३॥

बुद्धिमान् पुरुष नरक, स्वर्ग अथवा मनुष्य लोककी कामना नहीं करते, क्योंकि किसी भी शरीरमें देहासक्तिके कारण प्रमाद (देहाभिमानवश असावधानी) उपस्थित होता है, जिसके कारण प्रयोजनीय ज्ञान अथवा भक्तिमें ध्यान नहीं रहता अर्थात् ज्ञान एवं भक्ति दूर हो जाते हैं॥ १३॥

एतद्विद्वान् पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः।
अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम्॥ १४॥

यद्यपि यह मनुष्य-शरीर ज्ञान-भक्तिरूप पुरुषार्थका साधन है, तथापि है तो नश्वर (मृत्यु-ग्रस्त) ही—यह जानकर विद्वान् व्यक्ति अप्रमत (अनलस) होकर मृत्युसे पूर्व ही मुक्तिके लिये (जन्म-मरणके चक्रकी समाप्तिके) प्रयासरत होकर अपने मङ्गलका वरण करें॥ १४॥

छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम्।
खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति ह्यलम्पटः॥ १५॥

[देहमें आवेशके (देहासक्तिके) त्यागका दृष्टान्त कहते हैं] यमके समान निर्दय मनुष्य उस वृक्षका छेदन करता है, जिसमें पक्षीका अपना गृह, अपना आश्रय (घोंसला) है, यह देखकर अनासक्त अर्थात् चतुर पक्षी उस वृक्षका परित्याग करके चल देता है। उसी प्रकार मनुष्य गृहासक्तिका परित्याग करके अपने कल्याणके योग्य बन जाता है॥ १५॥

अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वायुर्भयवेपथुः।
मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्वा निरीह उपशाम्यति॥ १६॥

बुद्धिमान् भगवत्-सेवक जीव-देहको अहोरात्र क्षीयमाण (दिन और रात आयुको प्रतिक्षण क्षीण कर रहे हैं) विचार करके भयसे काँपने लगता है एवं जड़ जगत्की आसक्तिका परित्याग कर देता है। तत्पश्चात् मुक्तसङ्ग वह परब्रह्म तत्त्वको जानकर निष्काम हो जाता है और उपशान्तिको प्राप्त कर लेता है अर्थात् ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होता है॥ १६॥

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥ १७॥

यह मनुष्य-देह समस्त मङ्गलकारी फलोंकी प्राप्तिका एकमात्र मूल (उपाय) है, सुदुर्लभ (बहुत जन्मोंके बाद प्राप्त होनेवाला) होनेपर भी सौभाग्यसे प्राप्त हो गया है, भगवदनुशीलन निपुण श्रीगुरुदेव इस देह रूप नौकाके कर्णधार हैं, मत्स्मरणस्वरूप अर्थात् भगवत् कृपारूप अनुकूल वायु प्रवाहित होकर इसका (लक्ष्यकी ओर) परिचालन कर रही है। तब जो नरदेहको जान नहीं सकते, भव-पारके लिये प्रयत्न नहीं कर सकते, गुरुदेवको अपना कर्णधार नहीं मान सकते एवं भगवत् कृपाको अनुकूल वायुरूप मङ्गल अथवा प्रयोजनसाधकके रूपमें नहीं जान सकते, वे अपने नित्य मङ्गलका विनाशकर आत्मघाती होते हैं॥ १७॥

यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः॥ १८॥

जब आबद्ध कर्मोंमें दुःख देखकर उद्विग्नता आ जाय और उसके फलके प्रति वैराग्य उपस्थित हो जाय, तब वह योगी पुरुष इन्द्रियोंको संयतकर आत्मविषयक मङ्गलकी स्वाभाविक वृत्तिका विस्तार करके अपने चञ्चल चित्तको निश्चलभावसे मुझमें धारण करे॥ १८॥

धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम्।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत्॥ १९॥

यत्नके साथ धृत चित्त (संयम किया हुआ चित्त) जब भटक रहा हो एवं लक्ष्य वस्तुमें स्थिर न हो रहा हो, तब सावधानीसे उसकी कुछ अपेक्षाएँ पूर्ण कर दे। अपने मनको अनुरोधपूर्वक समझाकर एवं विधि मार्गके नियत नियमों पर चलाकर उसे अपने वशमें करके भगवत्-सेवोन्मुख कर दे॥ १९॥

मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः।
सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत्॥ २०॥

मनकी गतिकी उपेक्षा न करे—उसे स्वतन्त्र न छोड़े, बल्कि जितेन्द्रिय और जितप्राण (प्राणवायु पर विजयी) होकर सात्त्विक बुद्धि द्वारा उसको अपने वशीभूत कर ले। (मन स्वयं अनात्म वस्तु है, अतः अनात्म द्रव्य संग्रहमें ही वह व्यस्त रहता है तथा आत्माके आनुकूल्य साधनसे विमुख रहता है, अतः मनको धारण न करनेपर जीवके लिये स्वरूपोपलब्धि प्राप्तिकी सम्भावना नहीं है।)॥ २०॥

एष वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः।
हृदयज्ञत्वमन्विच्छन् दम्यस्येवार्वतो मुहुः॥ २१॥

अश्वचालक जिस प्रकार दुर्दान्त घोड़ेको अपने अभीष्ट मार्गमें चलानेका इच्छुक होकर भी कुछ समय तक घोड़ेकी इच्छित गतिका अनुवर्त्तन करता है, परन्तु उस समय भी उसकी लगामको पकड़े रहता है, पूरी तरहसे छोड़ता नहीं है, उसी प्रकार अनुवृत्ति मार्गमें अपने हृदयकी गतिके अभिप्रायको समझे और चित्तका क्रमशः वशीकरण करे। इसीको 'उत्तम योग' कहा गया है॥ २१॥

सांख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः।
भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत् प्रसीदति॥ २२॥

जबतक मन स्थिर (निश्चल) न हो जाय, तब तक उसे सांख्य योगके अनुसार अर्थात् तत्त्वविवेकके द्वारा महत्तत्त्वसे स्थूल-शरीर पर्यन्त सभी पदार्थोंकी उत्पत्तिका अनुलोम क्रमसे (प्रकृति आदि क्रमसे) और उनके प्रलयका प्रतिलोम विधिसे (पृथ्वी आदि क्रमसे) प्रतिक्षण चिन्तन करते रहना चाहिए॥ २२॥

निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिन्तितस्यानुचिन्तया॥ २३॥

जिसे जड़जगत्से निर्वेद एवं वैराग्य हो गया है, वह अपने चित्तमें भगवान्के निजजन—गुरुदेव द्वारा उपदिष्ट विषयको हर क्षण अनुशीलन (स्मरण) करता रहे। इन विषयोंके पुनः पुनः चिन्तनके द्वारा जागतिक पदार्थोंकी नश्वरता-बोधसे देहाभिमानका परित्याग कर दे। (परित्याग न करने पर भोग-प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है तथा अनेक प्रकारके अमङ्गल होने लगते हैं।)॥ २३॥

यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया।
ममार्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः॥ २४॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि योगमार्गसे, तर्कविद्या अर्थात् तत्त्ववस्तुका निरीक्षण-परीक्षण करनेवाली आत्मविद्यासे अथवा मेरे श्रीविग्रहके अर्चन और ध्यान आदिके द्वारा मन परमात्माका स्मरण करने लगता है; इसके अतिरिक्त उनके स्मरणका और कोई उपाय नहीं है॥ २४॥

यदि कुर्यात् प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम्।
योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र कदाचन॥ २५॥

योगी पुरुष यदि प्रमाद (असावधानी) के कारण किसी प्रकारका निन्दनीय कर्म करता है, तो उस कर्मजनित पापको योग द्वारा (ज्ञानाभ्यास द्वारा) दग्ध कर डाले। इस विषयमें कष्टसाध्य प्रायश्चित अथवा किसी और उपायके अनुष्ठानकी आवश्यकता नहीं है। (नाम-सङ्कीर्तन द्वारा पापका शमन हो जाता है।)॥ २५॥

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्त्तितः।
कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः।
गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया॥ २६॥

अपने-अपने अधिकारानुसार (ज्ञानीकी ज्ञान द्वारा, भक्तकी भक्ति द्वारा) जो निष्ठा लक्षित होती है, उस निष्ठामें एकाग्रता ही गुण नामसे कही गयी है और वही निष्ठा जीवके लिये मङ्गलप्रद है। अधिकारसे बहिर्भूत सभी अनुष्ठान दोषावह हैं। विधि-निषेध रूप गुण-दोषके विधान द्वारा विषय-सङ्गका परित्याग कर्त्तव्य है। कर्म जन्मसे ही अशुद्ध है, इसलिये कर्मीगण स्वभावतः ही अशुद्ध हैं, इसी कारण गुण-दोषकी व्यवस्था है। आसक्तिवश ये पापकर्ममें रत रहते हैं। कर्मीगणोंको अशुद्ध कर्मोंके प्रति अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तिका सङ्कोच करना चाहिए। ज्ञातव्य है कि वेद कदापि प्रवृत्तिपरक नहीं है॥ २६॥

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥ २७॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥ २८॥

भक्ति अधिकारीके विषयमें बतलाते हैं—मेरी लीला-कथामें श्रद्धायुक्त मनुष्य वैदिक एवं लौकिक काम्य-कर्मोंको तथा विषय-वासनाओंको दुःखस्वरूप जानकर भी यदि उनका परित्याग करनेमें असमर्थ हो, तो वह उद्विग्न पुरुष अत्यन्त श्रद्धाके साथ यह दृढ़ निश्चय करे कि 'मेरी भक्ति द्वारा ही समस्त विषयोंमे सिद्धि प्राप्त होगी' और तब परिणाममें दुःखद विषयोंका निन्दाके साथ उपभोग करे और उनसे अप्रसन्न होकर प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करे। (भोग एवं भक्ति विपरीतजातीय हैं। भोगके परित्यागकी कामना भक्तिपथपर अग्रसर होनेका सुयोग प्रदान करती है।)॥ २७-२८॥

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥ २९॥

इस प्रकार बतलाये हुए भक्तियोगके द्वारा निरन्तर मेरी उपासना (सेवा) करनेसे मैं उस साधकके हृदयमें आसीन हो जाता हूँ और मेरे आसीन होते ही उसके हृदयमें अवस्थित सभी विषय-वासनाएँ संस्कार-सहित नष्ट हो जाती हैं, जैसे सूर्य और अन्धकार एक साथ नहीं रहते। भगवान्‌के भक्त सर्वदा ही हृदय-सिंहासन पर भगवान्‌को स्थापनकर उनकी सेवा करते हैं॥ २९॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥ ३०॥

सर्वान्तर्यामी, परमात्म-स्वरूप मेरा साक्षात्कार करने पर जीवके अज्ञानरूपी अन्धकारका विनाश हो जाता है, हृदय-ग्रन्थिरूप अहङ्कारका ध्वंस हो जाता है, सारे संशय छिन्न हो जाते हैं तथा कर्मराशि भी क्षीण हो जाती है। (अखिलरसामृत-मूर्त्तिका आश्रय करनेपर जड़-रसकी लालसा स्वतः ही नष्ट हो जाती है; तब न कोई संशय रहता है और न ही तर्क।)॥ ३०॥

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥ ३१॥

अतएव मद्‌गतचित्त (मुझमें चित्त अर्पण करनेवाला) तथा मद्‌भक्तियुक्त योगीके लिये ज्ञान एवं वैराग्य इस संसारमें परमार्थके साधन नहीं कहे जा सकते। ज्ञानी तो है, परन्तु भगवत्-सेवासे विरक्त है, तो उसका मङ्गल नहीं हो सकता। भक्ति-योगसे अर्थात् भगवत्-सेवासे संयत-ज्ञान एवं युक्त-वैराग्य सम्पूर्णरूपसे प्रकट हो जाते हैं। भक्ति-योग ही आत्यान्तिक मङ्गलकारी है।॥ ३१॥

यत् कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥ ३२॥

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छति॥ ३३॥

कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, तीर्थ-यात्रा एवं व्रत आदि अन्यान्य श्रेयःसाधनों द्वारा जगत्में जो कुछ प्राप्त किया जा सकता है, उन सबको मेरे भक्त भक्तियोगके द्वारा अनायास ही प्राप्त कर लते हैं। यद्यपि वे कभी भी प्रार्थना नहीं करते, तथापि स्वर्ग, मोक्ष और वैकुण्ठकी भी उन्हें प्राप्ति हो जाती है॥ ३२-३३॥

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥ ३४॥

जो धैर्यवान् (परम शान्त) साधु भक्त हैं, वे केवल मेरे प्रति ही प्रीतियुक्त हैं, मेरे अनन्य प्रेमी हैं—इसलिये वे मेरे द्वारा प्रदत्त आत्यन्तिक (जन्मान्तर-राहित्यरूप कैवल्य) मोक्ष भी सेवा-बाधक जानकर किसी प्रकारसे ग्रहण करना नहीं चाहते॥ ३४॥

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्॥ ३५॥

परम महत् मोक्षफल तो निरपेक्षता (अन्याभिलाष, कर्म, ज्ञानादि क्षुद्रफलोंमें चेष्टाका अभाव) है, वही भगवद्-भक्तिका साधन भी कही गयी है। अतः निष्काम एवं निरपेक्ष मनुष्योंमें ही मेरी भक्ति उदित होती है॥ ३५॥

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम्॥ ३६॥

रागादिसे रहित (अनासक्त), सर्वत्र समबुद्धि सम्पन्न (समदर्शी) एवं प्राकृत बुद्धिसे अतीत भगवद्वस्तुओंको प्राप्त (सच्चिदानन्द-विग्रह सेवापरायण) मेरे ऐकान्तिक भक्तोंमें विहित या निषिद्ध कर्मजन्य पुण्य अथवा पापकी सम्भावना नहीं है। (मेरे भक्त तो स्वर्ग, मोक्ष एवं नरकको समतुल्य देखनेवाले हैं।)॥ ३६॥

एवमेतान् मया दिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद्ब्रह्म परमं विदुः॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे विंशतितमोऽध्यायः॥ २०॥

इस प्रकार जो मेरे द्वारा उपदेश दिये गये इस चरम कल्याणप्रद भक्तिपथका अनुष्ठान करते हैं, वे काल, माया आदिसे रहित मेरे वैकुण्ठलोकको और परब्रह्मस्वरूप मुझे प्राप्त होते हैं॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके बीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकविंशोऽध्यायः

कर्माधिकारियोंके गुण-दोष-व्यवस्थाका स्वरूप तथा श्रुतियोंका अर्थ-निरूपण

श्रीभगवानुवाच—

य एतान् मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान्।
क्षुद्रान् कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति ते॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! जो मेरे द्वारा बतलाये गये इस भक्ति, ज्ञान और कर्मात्मक मार्गोंको छोड़कर चञ्चल इन्द्रियोंके द्वारा तुच्छ विषयोंका सेवन करते हैं, वे गुण-दोषके भागी होकर संसारमें नाना प्रकारकी योनियोंमें भ्रमण करते हैं॥ १॥

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्त्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः॥ २॥

उद्धवजीने गुण क्या है और दोष क्या है—यह पूछा था। इसी प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कह रहे हैं कि अपने-अपने अधिकारके अनुसार धर्ममें दृढ़ निष्ठा रखना ही गुण है और इसके विपरीत इन्द्रिय चाञ्चल्यके कारण निष्ठाका परित्याग करना ही दोष है। गुण-दोषका इसी प्रकार निर्धारण करना चाहिए॥ २॥

शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ।
धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ॥ ३॥

हे निष्पाप उद्धव! द्रव्यकी (वस्तुकी) विचिकित्सा अर्थात् योग्यत्व-अयोग्यत्वके सन्देहकी निवृत्तिके लिये वस्तुओंके समान होनेपर भी धर्मके लिये शुद्धि-अशुद्धि, व्यवहारके लिये गुण-दोष तथा देहयात्रा निर्वाहके लिये पवित्र-अपवित्रका (शुभ-अशुभ,

उपादेय-अनुपादेय, अर्थकारी-अनर्थकारीका) विधान किया गया है, जिससे द्रव्योंका ठीक-ठीक निरीक्षण-परीक्षण हो सके तथा अयोग्य, अशुद्ध, दोषपूर्ण, अपवित्र एवं अशुभ, अनुपादेय, अनर्थकारी आदि द्वारा सन्देहकी स्वाभाविक प्रवृत्तिका प्रतिबन्ध अथवा सङ्कोच किया जा सके॥ ३॥

दर्शितोऽयं मयाचारो धर्ममुद्वहतां धुरम्॥ ४॥

इस प्रकारसे धर्मरूप भार वहन करनेवाले कर्मजड़ मनुष्योंके लिये मैंने मनु आदि रूपोंमें यह आचरण (धर्मका सम्पादन, समाजका व्यवहार एवं देहयात्राका निर्वाह) दिखाया है। फल-भोगकी कामनावाले मनुष्य ही शुद्धि-अशुद्धि, शुभ-अशुभ एवं गुण-दोषका विचार करते हैं। पारमार्थिक विचारवाले इनमें आबद्ध नहीं होते॥ ४॥

भूम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशा भूतानां पञ्च धातवः।
आब्रह्मस्थावरादीनां शारीरा आत्मसंयुताः॥ ५॥

भूमि, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश समानरूपसे एक परमात्म-वस्तुसे सम्बन्धयुक्त हैं—ये पाँचों धारण करनेके कारण धातु कहलाते हैं। ये पाँच ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्यन्त सभीके शरीरोंके आरम्भक हैं। इसी कारण देहसे समान कहे गये हैं और आत्मासे भी॥ ५॥

वेदेन नामरूपाणि विषयाणि समेष्वपि।
धातुषूद्धव कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये॥ ६॥

हे उद्धव! समान देहोंके अर्थात् सभी शरीर पञ्च धातुओंसे बने रहने पर भी वेदों द्वारा विषम नाम (यह ब्रह्मचारी है, यह ब्राह्मण है, यह तैलिक है आदि) एवं रूपादिका विधान किया गया है, यह विधान नियम द्वारा अर्थात् अपनी-अपनी वासनामूलक प्रवृत्तियोंका सङ्कोच करके धर्मादि चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिये है॥ ६॥

देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्तम।
गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम्॥ ७॥

हे साधुश्रेष्ठ! कर्मोंके सङ्कोचके (उच्छृंखलताके प्रतिबन्ध अर्थात् मर्यादा-स्थापन एवं अहङ्कारके प्रशमनके) लिये (मैंने देहके ही नहीं, बल्कि) देश, कालादि पदार्थ एवं ब्रीहि (जौ) इत्यादि उपादेय द्रव्योंके गुण-दोषका भी विधान किया है। बद्धजीवकी प्रवृत्ति इन्द्रियोंके तोषणमें रहती है, इसलिये गुण-दोषकी यह व्यवस्था फल-भोगके निवारणके लिये तथा जीवकी अतिशय आसक्तिकी निवृत्तिके लिये है॥ ७॥

अकृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽशुचिर्भवेत्।
कृष्णसारोऽप्यसौवीरकीकटासंस्कृतेरिणम्॥ ८॥

(शुचि-अशुचिके विषयमें बतलाते हैं कि) देशोंमें कृष्णसार अर्थात् कृष्णवर्णके हरिणसे रहित देश अशुचि है, उनमें भी जहाँ ब्राह्मण-भक्तिसे रहित लोग रहते हों, वे स्थान और भी अपवित्र हैं, कृष्णसार मृग द्वारा श्रेष्ठ होनेपर भी सौवीरों (सम्माननीय साधु पुरुषों) से रहित कीकट, अङ्ग-षङ्ग-कलिङ्ग देश (असाधु, असभ्य लोग जहाँ रहते हैं), मार्जनादि संस्कारोंसे रहित, म्लेच्छादि-बहुल (माँस-भक्षकोंकी प्रधानतावाले) देश एवं बंजर (ऊसर) आदि देश अपवित्र हैं॥ ८॥

कर्मण्यो गुणवान् कालो द्रव्यतः स्वत एव वा।
यतो निवर्त्ततेकर्म स दोषोऽकर्मकः स्मृतः॥ ९॥

(कालकी शुचि एवं अशुचिके विषयमें बतलाते हैं) द्रव्य-सम्पत्तिके कारण अर्थात् जिस कालमें कर्म करने योग्य द्रव्योंकी प्राप्ति हो सके तथा जो सत्कर्मके योग्य हो, वह काल प्रशस्त है अर्थात् वह समय स्वाभाविक गुण-विशिष्ट रूपमें निर्दिष्ट है और जिस समय द्रव्य-सम्पत्तिका अभाव हो (जीव अपने प्राप्यसे वञ्चित हो जाय अथवा प्रारब्ध कर्मका व्याघात उत्पन्न हो जाय), स्वाभाविक दोष अथवा राष्ट्र-विप्लवके कारण कर्म न हो सके अथवा सूतिका-शौचादि (सूतक) के कारण कर्मका बन्धन हो जाय, वह काल अशुद्ध है। (श्रीहरिवासर एवं भक्तोंके सङ्गकी प्राप्ति ही

वास्तवमें सर्वोत्तम काल है। मेघाच्छन्न दिन दुर्दिन नहीं है, अपितु भगवत्-सेवा विमुख जन-सङ्ग-काल ही दुःखमय है।)॥ ९॥

द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च।
संस्कारेणाथ कालेन महत्त्वाल्पतयाऽथवा॥ १०॥

(द्रव्यादिके संयोगसे ही द्रव्यकी शुद्धि एवं अशुद्धिका विचार करते हैं) गङ्गोदकादि द्रव्य वस्त्रादि द्रव्योंके शुद्धिकारक हैं जबकि विसर्जनीय मूत्रादि द्रव्योंकी अशुद्धि करनेवाले हैं। शुद्ध-अशुद्ध सन्देह-स्थलपर ब्राह्मण-वचनसे शुद्धि-अशुद्धिका विचार किया जाता है (अशुद्ध होनेपर भी श्रौत प्रमाणके द्वारा मृत जन्तुके शरीरकी अस्थि यथा शङ्खादि शुद्ध माने जाते हैं), प्रोक्षण (जल छिड़कने) से पुष्पादिकी शुद्धि होती है, जबकि सूँघनेसे उनको अशुद्ध माना जाता है। दशाहादि काल द्वारा नूतन जलाशयादिकी शुद्धि है, अन्यथा अशुद्धि है (नूतन जलाशयादिका जल दस दिनोंके बाद शुभ माना जाता है, विपत्कालमें तीन दिनोंके बाद) तथा अन्त्यजादिसे स्पृष्ट होनेपर भी पद्म-पुष्करिणी आदि बृहत् जलाशयोंका जल शुद्ध है, जबकि अल्प जलाशय कूपादि स्पर्श-दोषके कारण अशुद्ध माने जाते हैं। बासी अन्नादि समर्थ व्यक्तिके लिये अशुद्ध है, असमर्थ व्यक्तिके लिये शुद्ध है। इस प्रकार वस्तुओंकी शुद्धि-अशुद्धिका विचार दूसरी वस्तुके संयोगसे, शब्दोंसे, अनुष्ठानोंसे (संस्कारोंसे), कालके प्रभावसे अथवा आपेक्षिक महत्त्वसे (महानता अथवा अल्पतासे) किया जाता है॥ १०॥

शक्त्याशक्त्याथवा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने।
अघं कुर्वन्ति हि यथा देशावस्थानुसारतः॥ ११॥

शक्ति, अशक्ति, बुद्धि एवं समृद्धिके अनुसार भी पवित्रता एवं अपवित्रताकी व्यवस्था होती है। सूर्यग्रहण अथवा सूतिकान्नादि शक्त पुरुषके लिये अशुद्धि है एवं अशक्त पुरुषके लिये शुद्धि है, पुत्रोत्पत्ति आदि स्थलों पर दस दिनों तक ज्ञान (बुद्धि) द्वारा अशुद्धि है, जबकि बाह्य ज्ञानसे शुद्धि है (सामान्य लोग शिशु

जन्मके बाद दस दिन शुभ मानते हैं, जबकि विद्वान् इस अवधिको अशुद्ध मानते हैं)। समृद्धि द्वारा—जीर्ण, मलिन वस्त्रादि समृद्ध पुरुषके लिये अशुद्धि है और दरिद्र पुरुषके लिये वे ही शुद्धि रूपमें ग्राह्य हैं। ये समस्त द्रव्य-वचनादि अथवा द्रव्य-शुद्धि द्वारा आत्माके प्रति पापका जो सङ्कोच करते हैं, उसे भी देश एवं अवस्था-भेदसे जानना चाहिए। सारग्राही एवं भारवाही भेदसे एक ही प्रकारका कर्म भिन्न-भिन्नरूपोंमें परिदृष्ट होता है। इसी कारण धनी-दरिद्र, बलवान्-निर्बल, बुद्धिमान्-मूर्ख, उपद्रवपूर्ण तथा सुखद देश एवं तरुण और वृद्धावस्थाके भेदसे शुद्धि-अशुद्धिकी व्यवस्थामें अन्तर पड़ जाता है॥ ११॥

धान्यदार्वस्थितन्तूनां रसतैजसचर्मणाम्।
कालवाय्वग्निमृत्तोयैः पार्थिवानां युतायुतैः॥ १२॥

किस द्रव्यसे किस द्रव्यकी शुद्धि होती है—यही बतलाते हैं—धान्य, लकड़ीसे बने ग्रह-चमसादि द्रव्य (यज्ञके पात्र), गजदन्तादि अस्थि, सूत, मधु, लवण, तैल, घृतादि रस द्रव्य और उनमें बने हुए पकवान, स्वर्ण, पारा इत्यादि तैजस वस्तुएँ, चर्म एवं पार्थिव (चमड़े एवं मिट्टीसे बने) घट, ईंट, राजमार्ग, कर्दम (कीचड़)—इन समस्त पदार्थोंकी शुद्धि काल, वायु, अग्नि, मिट्टी एवं जल—इन सब शोधक सामग्रियोंके संयोगसे अथवा पृथक्-पृथक् अर्थात् किसी एकसे भी होती है। उदाहरणार्थ—तैजस पात्रोंकी शुद्धि मृत्तिका, जल एवं अग्नि द्वारा होती है, जबकि तसर वस्त्रोंकी शुद्धि केवल हवा लगनेसे होती है॥ १२॥

अमेध्यलिप्तं यद्येन गन्धलेपं व्यपोहति।
भजते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावदिष्यते॥ १३॥

किसी अपवित्र पदार्थसे लिप्त लकड़ीका आसन, वस्त्र अथवा पात्रादि क्रमशः तक्षणसे (छीलनेसे), अम्ल अथवा क्षारादि द्रव्योंसे (नमक, खटाई तथा जल तीनों मिलाकर धोनेसे), मिट्टी एवं जलसे अथवा किसी भी प्रक्रियासे अपनी गन्ध एवं परतका (लेपका)

परिहार करके अपने शुद्धरूपको अर्थात् मूल प्रकृतिको प्राप्त हो जाएँ, उस वस्तुकी शुद्धिपर्यन्त तक्षणादि कर्म ही शोधकरूपमें कहे गये हैं॥ १३॥

स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः ।
मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरेद् द्विजः॥ १४॥

(द्रव्य-शुद्धिके बाद कर्त्ताकी शुद्धि बतलाते हैं) स्नान, दान, तपस्या, कौमार्यादि अवस्थाएँ, सामर्थ्य, उपनयनादि संस्कार, सन्ध्योपासनादि कर्म एवं मेरे स्मरणके द्वारा कर्त्ताकी शुद्धि होती है। द्विज, वैश्य, क्षत्रिय तथा शूद्रादि सभी शुद्ध होकर समस्त विहित कर्मोंको करें (भगवान्‌के स्मरणसे ही व्यक्तिके कर्म शुद्ध होते हैं)॥ १४॥

मन्त्रस्य च परिज्ञानं कर्मशुद्धिर्मदर्पणम्।
धर्मः सम्पद्यते षड्भिरधर्मस्तु विपर्ययः॥ १५॥

सद्‌गुरुके मुखसे यथोचित (साङ्ग, उपाङ्ग एवं विनियोग सहित) प्राप्त ज्ञानसे मन्त्रकी शुद्धि होती है, मुझे अर्पण करनेसे कर्मकी शुद्धि होती है। देश, काल, द्रव्य, कर्त्ता, मन्त्र एवं कर्म—इन छहोंकी शुद्धि द्वारा धर्म सम्पन्न होता है, इसके विपरीत होनेपर अधर्म होता है। (सदाचार-सम्पन्न सद्‌गुरुके निकटसे मन्त्र ग्रहण न करने पर गुरु-नामधारी असद् व्यक्तिके निकट विषतुल्य मन्त्रसे साधकका अमङ्गल ही होता है।)॥ १५॥

क्वचिद्‌गुणोऽपि दोषः स्याद्दोषोऽपि विधिना गुणः।
गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते॥ १६॥

कभी गुण ही दोषरूपमें तथा दोष भी विधि-बलसे गुणरूपमें ग्रहण किये जाते हैं। एक ही विषयमें गुण-दोषका यह नियम उनका भेद मिटानेके लिये है। गुण-दोषका विभाग कहीं भी एकरूप नहीं है। ज्ञानी व्यक्तिके लिये कुटुम्बका त्याग गुण है और कर्मीके लिये दोष। इसी प्रकार आपत्तिकालमें प्रतिग्रह लेना

गुण है, परन्तु जब आपत्तिकाल न हो तो निषिद्ध होनेके कारण वही प्रतिग्रह दोष है॥ १६॥

समानकर्माचरणं पतितानां न पातकम्।
औत्पत्तिको गुणः सङ्गो न शयानः पतत्यधः॥ १७॥

जो पहलेसे ही अधोदेशमें सोये हुए हैं, उनका जिस प्रकारसे अधःपतन सम्भवपर नहीं है (वे और कितना नीचे सोएँगे?) इसी प्रकार सुरापान इत्यादि तुल्य कर्मोंके आचरणसे अपतित व्यक्तियोंका तो पतन होता है, किन्तु पतितोंका और पतन नहीं होता। ऋतुकालमें भार्या-समागमादि यतियोंके लिये दोष है, परन्तु गृहस्थोंके लिये गुण है—ऋतौ भार्यामुपेयात्—यह वैदिक आदेया है। आरूढ़ व्यक्तिके ही पतनकी सम्भावना है, पतित व्यक्तिकी नहीं॥ १७॥

यतो यतो निवर्त्तेत विमुच्येत ततस्ततः।
एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः॥ १८॥

जिन-जिन विषयोंसे निवृत्ति (उपरति) होगी अथवा गुण-दोषोंसे प्रवृत्तिका सङ्कोच होगा, उनसे ही मानव मुक्ति प्राप्त कर सकता है। शास्त्रोंका तात्पर्य निवृत्ति मार्गमें ही है—यही कल्याणका मार्ग है—इसीसे साधकके शोक, मोह एवं भयका विनाश होता है॥ १८॥

विषयेषु गुणाध्यासात् पुंसः सङ्गस्ततो भवेत्।
सङ्गात् तत्र भवेत् कामः कामादेव कलिर्नृणाम्॥ १९॥

विषयोंके गुणोंकी पर्यालोचनाके कारण मनुष्योंकी उनमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है, कामनाकी पूर्त्तिमें बाधा पड़ने पर कलह (विवाद) उत्पन्न होता है॥ १९॥

कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्त्तते।
तमसा ग्रस्यते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम्॥ २०॥

कलहसे दुःसह क्रोध उत्पन्न होता है, और क्रोधसे 'तम' अर्थात् सम्मोह (सत्-असत्का विचार न होना) उत्पन्न होता है एवं

मोहसे (मूढ़तासे) कार्य-अकार्य-स्मृतिरूप (निर्धारणरूप) चेतनाका शीघ्र ही लोप हो जाता है॥ २०॥

तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते।
ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च॥ २१॥

हे साधु उद्धव! कार्य-अकार्य-विषयमें ज्ञानसे रहित होनेपर जीव असत् पदार्थके (अस्तित्वहीनके) समान शून्य-सा हो जाता है। उसकी चेतना लुप्त हो जाती है, जिससे वह मूर्च्छित-सा अथवा मृतवत् हो जाता है। इस अवस्थामें वह स्वार्थ एवं परमार्थ—सभी प्रकारके प्रयोजनोंसे भ्रष्ट हो जाता है॥ २१॥

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम्।
वृक्षजीविकया जीवन् व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन्॥ २२॥

ज्ञान-रहित वृक्ष जिस प्रकार अनायास प्राप्त जल ग्रहण करते हुए निरुद्यमी हो जाता है, उसी प्रकार विषयाभिनिविष्ट मनुष्य यदृच्छा-प्राप्त आहारादिको ग्रहण करते हुए वृथा ही जीवन धारण करता है, लुहारकी धौंकनीके समान उसकी श्वास-प्रक्रिया चलती रहती है। ऐसा मृततुल्य व्यक्ति न तो परमात्म-विषयमें और न ही आत्म-विषयमें कोई ज्ञान प्राप्त कर सकता है। उसके सभी पुरुषार्थोंकी हानि हो जाती है॥ २२॥

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम्।
श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम्॥ २३॥

कर्मसे प्राप्त स्वर्गादि फलश्रुति कल्पित है, इसमें मनुष्योंका परम पुरुषार्थ कदापि नहीं है। लड्डू-प्रदानादिरूप आश्वासन-वचनोंसे बालकमें जैसे ओषधि-सेवन हेतु रुचि उत्पन्न की जाती है, उसी प्रकार मोक्षरूप परम कल्याणके उद्देश्यसे कर्ममें आग्रहके लिये फलश्रुति कही गयी है। फलकी कामना रखनेवाले कर्मफलको सुनकर उनमें प्रवृत्त तो हो जाते हैं, वस्तुतः कोई सुफल उनको प्राप्त होता नहीं है। बहिर्मुख मनुष्योंके लिये मोक्षका प्रलोभन

भी निष्काम कर्ममें रुचि उत्पन्न करानेके लिये एवं अंतःकरणकी शुद्धिके लिये है॥ २३॥

उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च।
आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु॥ २४॥

मनुष्य स्वाभाविकरूपसे जन्मसे ही अपने अनर्थके मूल कारण पशु आदि भोग्य पदार्थोंमें, प्राणमें, इन्द्रिय, बल, वीर्य आदिमें तथा पुत्र आदि सगे-सम्बन्धियोंमें आसक्त हुआ करते हैं। यही आसक्ति उनकी आत्माकी उन्नतिमें बाधक और परिणाममें दुःखमयी है॥ २४॥

नतानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि।
कथं युञ्ज्यात् पुनस्तेषु तांस्तमो विशतो बुधः॥ २५॥

जो परम-सुखके विषयमें अनभिज्ञ हैं, काम्य-मार्गमें भ्रमणशील एवं वृक्षादि तामस योनियोंमें प्रवेश करनेवाले हैं, सर्वलोकहितकारी वेद-शास्त्र अपने वचनोंमें विश्वास रखनेवाले उन जीवोंको काम्य-कर्ममें पुनः प्रवृत्त होनेका उपदेश क्यों देंगे?॥ २५॥

एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः।
फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि॥ २६॥

कर्ममीमांसक इत्यादि कतिपय कुबुद्धियुक्त पुरुष वेदशास्त्रोंके पूर्वोक्त अभिप्रायसे अवगत न होनेके कारण अवान्तर फल—प्ररोचनासे (जिन व्याख्याओंको सुनकर लोग प्रसन्न हों) उक्त रमणीय श्रुतिवाक्योंको सत्य एवं परमफलविषयक बतलाते हैं, किन्तु व्यासादि वेदज्ञ पुरुषोंका ऐसा मत नहीं है। वस्तुतः वे अज्ञानके कारण पुष्पोंमें ही फलकी भावना करते हैं और फलश्रुतिरूप प्रशंसा-वाक्योंको ही वेदका प्रमाण बतलाते हैं॥ २६॥

कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः।
अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते॥ २७॥

कामी, कृपण एवं लुब्ध (तृष्णाकुल) मीमांसकगण अवान्तर (गौण) फलोंको ही परम फल जानकर अग्नि-साध्य-कर्मोंमें

(यज्ञ-यागोंमें) अभिनिवेशके (मुग्धताके) कारण विवेक-बुद्धि-रहित हो जाते हैं और परिणाममें आत्मतत्त्वको (अथवा अपने धामको) भलीभाँति न जाननेके कारण धूममार्गका आश्रयकर अन्धकार-पथसे जाते हैं॥ २७॥

न ते मामङ्ग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः।
उक्थशस्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुषः॥ २८॥

हे उद्धव! घोर अन्धकारके (कुहरेके) द्वारा आच्छादित नेत्रोंवाला व्यक्ति जिस प्रकार समीपवर्ती वस्तुको देख नहीं पाता, उसी प्रकार यज्ञ-याग आदि कर्म ही जिन अज्ञानियोंके पशु-हिंसा-साधनके शस्त्रस्वरूप (कुल्हाड़ी, फरसेके समान) हैं, वे इन्द्रियोंकी तृप्ति करनेवाले कर्मी (मीमांसक) इस दृश्यमान् जगत्के कारणभूत और स्वरूपभूत एवं सभी प्राणियोंके हृदय-स्थित अन्तर्यामी मुझे देख नहीं पाते और नाना-प्रजल्प-परायण होकर इस जगत्में विचरण करते हैं॥ २८॥

ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः।
हिंसायां यदि रागः स्याद्यज्ञ एव न चोदना॥ २९॥
हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः॥ ३०॥

माँस-भक्षणके लिये यदि हिंसामें प्रवृत्ति होती है, तो केवल यज्ञमें ही हिंसा करें—इस प्रकार वेदमें परिसंख्याका विधान किया गया है। यह परिसंख्याविधि सन्ध्या-वन्दनादिके समान अपूर्व विधि नहीं है। हिंसा-क्रीड़ारत दुष्ट कर्मीगण मेरे ऐसे अस्फुट (अस्पष्ट अथवा परोक्ष) मतके तात्पर्यको न जानकर निहत-पशुगत-साधित यज्ञोंके द्वारा स्वर्गादि सुखकी कामनासे देवता, पितर एवं भूतपतियोंकी आराधना करते हैं। पशु-हननका इनका (विषय-लोलुपाका) तात्पर्य निज-सुख एवं विहार-व्यसन है॥ २९-३०॥

स्वप्नोपमममुं लोकमसन्तं श्रवणप्रियम्।
आशिषो हृदि सङ्कल्प्य त्यजन्त्यर्थान् यथा वणिक्॥ ३१॥

वणिक् जिस प्रकार दुस्तर समुद्रको लाङ्घकर किसी अनिश्चित धन-प्राप्तिकी आशासे मूल (पूर्व-सञ्चित) धनको व्यय करके दोनों ओरसे भ्रष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कर्मी पुरुष भी स्वप्नवत्, नश्वर एवं श्रुति-प्रिय (कानोंको प्रिय लगनेवाले) स्वर्गादि परलोकके सुखकी आशासे तथा इस लोकमें राज्यादिके सुखकी कामनासे विघ्न-बाहुल्यमय यज्ञादि कर्मोंमे अर्थ व्यय कर डालते हैं। क्षणस्थायी परलोककी कामना अप्रयोजनीय ही है, परन्तु मनुष्य वेदकी पुष्पित वाणीसे आकर्षित होकर यज्ञादि कर्म करता है तथा अपने नित्य धनसे ही वञ्चित हो जाता है॥ ३१॥

रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोजुषः।
उपासत इन्द्रमुख्यान् देवादीन् न यथैव माम्॥ ३२॥

वे सत्त्व, रज और तमोनिष्ठ व्यक्ति सत्त्व, रज और तमोनिष्ठ इन्द्र आदि देवताओंकी आराधना करते हैं, परन्तु गुणातीतस्वरूप मेरी उपासना नहीं करते। यद्यपि इन्द्र आदि देवता मेरे ही अंशभूत हैं, इसलिये उनकी उपासना मेरी ही उपासना है, परन्तु उन्हें मुझसे भिन्न अथवा स्वतन्त्र जानकर उनकी उपासना करनेसे मेरी यथार्थ उपासना नहीं होती॥ ३२॥

इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि।
तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला महाकुलाः॥ ३३॥
एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम्।
मानिनाञ्चातिलुब्धानां मद्वार्त्तापि न रोचते॥ ३४॥

हठी कर्मियोंके चञ्चल मनका अभिलाष व्यक्त करते हैं—हम इस लोकमें यज्ञ द्वारा देवताओंकी आराधना करके स्वर्गलोकको प्राप्त होंगे, वहाँ विहार करेंगे। स्वर्गादि भोगके क्षय होनेपर पुनः पृथ्वीपर महाकुलमें (महत्-वंशमें अर्थात् राज-परिवारोंमें) उत्पन्न होकर उत्तम (वैभवशाली) गृहस्थरूपमें जीवन जिएँगे—इस प्रकार रोचक, मधुर एवं अर्थवाद-बहुल कर्मकाण्डीय वेद-वचनसे विक्षिप्तचित्त

अति लुब्ध-जड़भोगाभिमानी व्यक्तियोंको मेरे प्रसङ्ग प्रीतिकर नहीं होते। अतः ये मीमांसक नित्य संसारी होते हैं॥ ३३-३४॥

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम्॥ ३५॥

वेद त्रिकाण्डविषयक हैं—कर्मकाण्ड, देवताकाण्ड एवं ब्रह्मकाण्ड अर्थात् कर्म, उपासना एवं ज्ञानविषयक। तीनों ही काण्डोंमें आत्माके ब्रह्मत्वका ही प्रतिपादन है—संसारित्वका प्रतिपादन वेदका उद्देश्य नहीं है। मन्त्र या मन्त्रदर्शी ऋषि परोक्षरूपमें वेदकी व्याख्या करते हैं, साक्षात् रूपसे नहीं। हे उद्धव! मुझे भी परोक्षवाद अत्यन्त प्रिय है। जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, उनका वैदिक-गुह्य-वस्तुतत्त्वको जाननेका अधिकार है, क्योंकि वे परोक्षवादको भलीभाँति समझ सकते हैं। अशुद्ध चित्तवाले अनधिकारी मनुष्योंमें वेदके आप्त वचनोंको जाननेकी सामर्थ्य नहीं है। वे ज्ञान-प्राप्तिके प्रयासमें चित्त-शोधक कर्मको भी व्यर्थ ही त्यागकर पतित हो सकते हैं॥ ३५॥

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत्॥ ३६॥

'शब्दब्रह्म' अर्थात् वेदवचन स्वरूपतः एवं अर्थतः दुर्ज्ञेय हैं। ये वेदवचन प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय (बुद्धिमय) एवं इन्द्रियमयस्वरूप हैं। ये वचन समुद्रके समान अनन्त, गम्भीर एवं दुर्विगाह्य (अपार अर्थात् जिनकी थाह पाना अति कठिन हो) हैं। इनके दो प्रकार हैं—सूक्ष्म एवं स्थूल। इनमें सूक्ष्म स्वरूपतः दुर्ज्ञेय है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी—इस विचार-चतुष्टयमें वेदवाणी प्रथम प्राणमय (वैदिक ध्वनिकी प्राण-अवस्था) 'परा' नामक पदार्थ आधारचक्रमें स्थित है, तत्पश्चात् मनोमय (मानसिक अवस्था) 'पश्यन्ती' नामक पदार्थ नाभिदेशमें अनाहतचक्रमें अवस्थित है, ज्ञानमय (बौद्धिक अवस्था) 'मध्यमा' नामक पदार्थ हृदयमें मणिपुर चक्रमें स्थित है, इसके बाद इन्द्रियमय (ऐन्द्रिय अवस्था) 'बैखरी' नामक पदार्थ

कण्ठमूलमें अवस्थित है। इसी स्थानसे वाक्यका विकाश होता है। कारण है कि तीन विभाग जीवके भीतर स्थित हैं, चौथा विभाग ही वाणीके (कण्ठनादके) रूपमें बाह्यतः प्रकट होता है। साधारण मनुष्य बोल तो सकता है, परन्तु तत्त्वको नहीं जान सकता। शब्द जब वर्णरूपमें परिणत इन्द्रियमयी बैखरीको प्रणवरूपमें प्रकाशित मध्यमाको, ध्वनिस्वरूपा मनोमयी पश्यन्तीको एवं जड़ेन्द्रिय तथा मनको अन्तर्भुक्त कर लेता है, उस समय वह प्राणमयी 'पराविद्या' के रूपमें प्रतिभात होता है॥ ३६॥

मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना।
भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते॥ ३७॥

अपरिच्छिन्न (सर्वव्यापक), निर्विकार (अपरिवर्त्तनशील), अनन्त शक्तिमय, रूप-बाहुल्यसे युक्त एवं अन्तर्यामी-स्वरूप (समस्त जीवोंके हृदयमें रहनेवाला) मेरे द्वारा अधिष्ठित एवं उपबृंहित अनाहत नादकेरूपमें विद्यमान यह शब्दब्रह्म (वैदिक ज्ञानका बीज—ॐकार) मृणालदण्डमें तन्तुके (सूक्ष्म सूतके) समान आप्त मनीषियोंमें लक्षित अर्थात् अनुभूत होता है। तन्तु जिस प्रकार मृणालमें अविच्छेद्यरूपसे (अपृथक्रूपसे) स्थित है, उसी प्रकार अप्राकृत श्रीनामके साथ भगवद्वस्तु अविच्छेद्यरूपसे (सार्वकालिक सम्बन्धरूपमें) स्थित रहनेके कारण मुक्त जीवोंके द्वारा आराध्य होती है॥ ३७॥

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात्।
आकाशाद्घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा॥ ३८॥

छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः।
ओङ्काराद्व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तस्थभूषिताम्॥ ३९॥

विचित्रभाषाविततां छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः।
अनन्तपारां बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयम्॥ ४०॥

मकड़ी जिस प्रकार हृदयसे मुख-रन्ध्र द्वारा सूत्रको (जालेको) उगलती है और निगल लेती है, उसी प्रकार वेदमय (छन्दोमय) एवं

अमृतमयमूर्त्ति नादयुक्त (शब्दमय) प्राणरूपी हिरण्यगर्भात्मक भगवान् स्पर्शादि वर्ण व्यञ्जक एवं सङ्कल्पशील मनके द्वारा हृदयाकाशमें बृहतीका (बृहद्वाक्यमय वेदका अर्थात् परावाणीका) सृजन करते हैं और अपनेमें लीन करते हैं। इस बृहतीका पथ अपार, अनन्त, बहुमार्गोंसे युक्त है। यह उरः एवं कण्ठादिके संयोगसे प्रकाशित, ॐकारन्तर्गत स्पर्श-स्वर (अकारादि सोलह वर्ण), व्यंजन (क से म), उष्म (श, ष, स, ह) एवं अन्तःस्थ (य, र, ल, व) वर्णोंसे व्यञ्जित, विचित्र भाष्योंसे सुविस्तृत एवं उत्तरोत्तर चतुरक्षराधिक छन्दोंसे (प्रत्येक छन्द पिछलेवालेसे चार वर्ण अधिक) परिवर्द्धित एवं छन्दों द्वारा निबद्ध है। इस प्रकार छन्दोंसे उपलक्षित अनन्तपार वाणीका भगवान् हिरण्यगर्भ स्वयं एपसंहार करते हैं।

वैखरी नामक वेद-स्वरूप वाणीकी उत्पत्तिका प्रकार बतलाते हुए कहते हैं—वाणीकी उपाधिभूत भगवान् हिरण्यगर्भ नामसे कहे जाते हैं, जो साक्षात् छन्दोमय वेदमूर्त्ति एवं अमृतमय हैं। इनके द्वारा परावाणीका निदर्शन होता है। सङ्कल्पात्मक मनके द्वारा वेहृदयाकाशमें पश्यन्ती नामक वेदवाणीका सृजन करते हैं। आधार चक्रको आश्रय बनाकर ओङ्कारसे मध्यमा वाणीका निर्देश है। हृदय तथा कण्ठ आदि उच्चारण स्थानोंके संयोगसे अभिव्यक्त, स्पर्शादि वर्णोंसे अलङ्कृत वैखरी वाणी ही हृदयमें विद्यमान ओङ्कार यहाँ सूक्ष्मरूपसे अभिप्रेत है॥ ३८-४०॥

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च।
त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दो ह्यत्यष्ट्यतिजगद्विराट्॥ ४१॥

गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिच्छन्दः, अत्यष्टि, अतिजगती और अति-विराट्—ये सब छन्द वेदोंके अन्तर्गत ही हैं। गायत्रीमें चौबीस अक्षर, उससे चार अक्षर वृद्धि होकर उष्णिक्में अट्ठाईस अक्षर, उससे चार अक्षर वृद्धि होकर अनुष्टुप् इस प्रकार चार-चार वर्ण बढ़ते जाते हैं—वेद इन सब छन्दोंसे उपलक्षित हैं॥ ४१॥

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन॥ ४२॥

कर्मकाण्डके विधिवाक्य (आनुष्ठानिक कर्मों) में क्या विधान है, देवताकाण्डके (उपासना काण्डके) मन्त्र वाक्योंमें क्या प्रकाशित हो रहा है और ज्ञानकाण्डके विविध विकल्पोंमें निषेधके उद्देश्यसे कौन-सी वस्तुका उल्लेख है—क्या विचार किया गया है—इस वेदके हृद्गत तात्पर्यको मेरे अलावा कोई दूसरा नहीं जानता। (अतः जो समस्त वस्तुओंके एकमात्र आश्रय हैं, जो समस्त आश्रयोंके एकमात्र विषय हैं, वे पुरुषोत्तम भगवान् ही अद्वयज्ञान तत्त्व-वस्तु हैं अर्थात् वे ही वैदिक ज्ञानके चरम लक्ष्य हैं।)॥ ४२॥

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

श्रुतियाँ कर्मकाण्डमें यज्ञरूपी मेरा ही विधान करती हैं एवं देवताकाण्डमें (उपासना काण्डमें) तद्-तद् देवतारूपमें मेरा ही प्रतिपादन करते हैं। ज्ञानकाण्डमें जिन समस्त आकाशादि पदार्थोंका उल्लेख करके उनका निराकरण किया गया है कि ये सब आकाशादि मेरे ही स्वरूपभूत हैं, मुझसे पृथक् नहीं। इस प्रकारसे वेदका तात्पर्य जानना चाहिए। वेद परमार्थरूपमें एकमात्र मेरा ही आश्रय करके भेदको (द्वैतको) मायामात्र रूपमें अनुवाद करते हैं और तत्पश्चात् द्वैतका सम्पूर्ण रूपसे निषेध करते हुए निवृत्त हो जाते हैं। जो पहले वर्णन किया, बादमें उसका निषेध किया—पहले सकाम कर्मको त्यागकर निष्काम कर्म करे, पश्चात् ज्ञानमें आरूढ़ होकर निष्काम कर्मका भी त्याग कर दे। ज्ञान सिद्धिकी दशामें

ज्ञानका भी मुझमें समर्पण कर दे। भक्ति-त्यागका कभी भी किसी भी शास्त्रमें किसी भी वाक्य द्वारा प्रतिपादन नहीं देखा जाता, हाँ, कर्म-ज्ञान-त्यागके विषयमें मैंने पर्याप्तरूपसे कहा है। कर्मयोग एवं ज्ञानयोगको मायामात्र जानें—यदि मुझसे पृथक् हैं तो। (भगवान् ही वेदके प्रतिपाद्य प्रयोजन तत्त्व हैं, वे बृहत् हैं, वे भूमा हैं, वे ही सर्वसेव्य हैं।) इस प्रकार भगवान्ने उद्धवका भ्रम दूर किया॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके इक्कीसवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वाविंशोऽध्यायः

तत्त्वोंकी संख्या एवं पुरुष-प्रकृतिका विवेक

श्रीउद्धव उवाच—

कति तत्त्वानि विश्वेश संख्यातान्यृषिभिः प्रभो।
नवैकादशपञ्चत्रीण्यात्थ त्वमिह शुश्रुम॥ १॥
केचित् षड्विंशतिं प्राहुरपरे पञ्चविंशतिम्।
सप्तैके नव षट् केचिच्चत्वार्य्येकादशापरे॥ २॥
केचित् सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश।
एतावत्त्वं हि संख्यानामृषयो यद्विवक्षया।
गायन्ति पृथगायुष्मन्निदं नो वक्तुमर्हसि॥ ३॥

श्रीउद्धवजीने कहा, हे विश्वेश! हे प्रभो! यह बतलाइये कि ऋषियों द्वारा वर्णित तत्त्वोंमें कितने प्रकारके तत्त्व वस्तुतः सङ्गत (युक्तियुक्त) हैं। आपके श्रीमुखसे अट्ठाईस तत्त्वोंके (पूर्णपुरुषोत्तम, तदाश्रित शक्ति, बुद्धि, अहङ्कार, पञ्चमहाभूत-मन, दस कर्म-ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च तन्मात्ररूप इन्द्रिय-विषय एवं सत्त्वादि गुणत्रयके) विषयमें सुना है किन्तु कोई छब्बीस तत्त्व बतलाते हैं तो कोई पच्चीस। दूसरे कोई सात, नौ अथवा छह मानते हैं। कोई चार स्वीकार करते हैं तो कोई ग्यारह। कोई ऋषि सत्रह तो कोई सोलह और कोई तेरह तत्त्वोंका वर्णन करते हैं। हे आयुष्मान्! ऋषियोंने जिस प्रयोजनको लक्ष्य करके पृथक्-पृथक्रूपमें तत्त्वोंके विभिन्न प्रकार बतलाये हैं, इसका रहस्य आप वर्णन कीजिये॥ १-३॥

श्रीभगवानुवाच—

युक्तञ्च सन्ति सर्व्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम्॥ ४॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे उद्धव! वेदज्ञ ऋषियोंने जो-जो स्वरूप बतलाये हैं, वे सभी युक्तियुक्त हैं, उनके वाक्य सत्य हैं—सभी तत्त्व सभी विषयोंमें ही अन्तर्निहित (अन्तर्भुक्त) हैं। (विवादका कारण जानना चाहते हो तो) उन सभीने मेरी माया-शक्तिका आश्रय करके अर्थात् मेरी मायासे मोहित होकर तत्त्वोंका इस प्रकारसे वर्णन किया है—उनका कुछ भी कहना असम्भव नहीं है॥ ४॥

नैतदेवं यथात्थ त्वं यदहं वच्मि तत् तथा।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः॥ ५॥

दो पक्षके व्यक्ति इस प्रकार कहते हैं—तुम तत्त्वके विषयमें जैसा कह रहे हो, वह वैसा नहीं है, मैं जो कह रहा हूँ, वह तत्त्व उस प्रकारसे है—इस प्रकार विवदमान मनुष्योंकी असहमतियोंसे कारण तत्त्वोंकी जो पृथक्-पृथक् संख्या है—उसमें मेरी दुरतिक्रमणीया शक्ति—मायाकी सत्त्वादि वृत्ति ही एकमात्र कारण है—इसीसे पृथ्वी पर विवाद एवं संवाद होते हैं॥ ५॥

यासां व्यतिकरादासीद्विकल्पो वदतां पदम्।
प्राप्ते शमदमेऽप्येति वादस्तमनु शाम्यति॥ ६॥

अन्तःकरणकी वृत्तिके क्षोभके कारण वादियोंमें इस प्रकारसे विकल्प (विषय-भेद) अर्थात् सहस्रों प्रकारके विवाद (यह ऐसा है, यह ऐसा नहीं है) उपस्थित होते हैं, शम (मुझमें निष्ठापूर्वक बुद्धि) और दम (इन्द्रिय-संयम) प्राप्त होने पर सभी विकल्पोंका लय हो जाता है। विकल्पोंका नाश होने पर (अहङ्कार न रहे तो) सब प्रकारके विवाद एवं संशय भी शान्त हो जाते हैं॥ ६॥

परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां पुरुषर्षभ।
पौर्व्वापर्य्यप्रसंख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम्॥ ७॥

हे पुरुष श्रेष्ठ उद्धव! तत्त्वोंका एक-दूसरेमें प्रवेश रहता ही है। वक्ता (वादी) जिस प्रकारसे (जितनी संख्यामें) बतलानेकी

इच्छा करता है, उसीके अनुसार कार्यमें कारणका प्रवेश, कारणमें कार्यका प्रवेश सिद्ध करके (कार्यको कारणमें मिलाकर तथा कारणको कार्यमें मिलाकर) कम अथवा अधिक संख्याकी गणना कर लेता है और इस प्रकारसे मत पृथक्-पृथक् हो जाते हैं॥ ७॥

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च।
पूर्व्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्व्वशः॥ ८॥

इस जगत्में पूर्ववर्त्ती कारण-रूप तत्त्वमें इतर कार्य-तत्त्व मिट्टीमें घटके समान सूक्ष्मरूपसे और परवर्त्ती कार्य-तत्त्वमें कारण-तत्त्व अनुगतरूपसे घटमें मिट्टीके समान प्रविष्ट होते देखे जाते हैं। सभी सूक्ष्म तत्त्व अपने स्थूल कार्योंमें उपस्थित रहते हैं एवं सभी स्थूल तत्त्व अपने सूक्ष्म कारणमें उपस्थित रहते हैं क्योंकि भौतिक सृष्टि सूक्ष्मसे स्थूल तत्त्वोंकी क्रमागत अभिव्यक्तिके रूपमें होती है। अतः हम किसी एक तत्त्वमें सारे भौतिक तत्त्वोंको प्रविष्टरूपमें देख सकते हैं॥ ८॥

पौर्वापर्यमतोऽमीषां प्रसंख्यानमभीप्सताम्।
यथा विविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवात्॥ ९॥

अतएव तत्त्वोंका पौर्वापर्यरूप (पूर्व कारण अपर कार्य) एवं उनकी संख्या वर्णन करनेवाले मनुष्योंमें जिस उद्देश्यसे जिसका मुख जिस प्रकारसे व्याख्या कर रहा है, वे समस्त ही सर्वत्र यथार्थरूपसे स्वीकार्य हैं क्योंकि सभीमें युक्तियाँ विद्यमान हैं। (चिच्छक्तिके अपव्यवहारसे अविद्याग्रस्त जीव नाना प्रकारके मतवादोंमें प्रविष्ट हो जाता है और जो अपव्यवहार-वर्जित हैं, जड़भोगकी प्रवृत्तिसे रहित हैं—वे जगत्को भगवत्-सेवामय-ज्ञानसे आलोकित करते हैं।)॥ ९॥

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम्।
स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत्॥ १०॥

उद्धवजी! अच्छी बात है, प्राकृत तत्त्वोंका उक्त न्यायके अनुसार परस्परमें अन्तर्भुक्त होनेसे संख्याका भेद होता है तो हो, किन्तु जीव और ईश्वरका भेद निरूपण करनेके लिये छब्बीस तत्त्व क्यों मानते हैं, उसीको बतला रहा हूँ।

अनादि, अविद्याग्रस्त मनुष्योंके लिये स्वयं आत्मतत्त्वज्ञान सम्भव नहीं है, अतएव स्वाभाविक तत्त्वज्ञानयुक्त कोई दूसरा अर्थात् सर्वज्ञ परमेश्वर ही आत्मज्ञान प्रदान करते हैं। (पच्चीस तत्त्वोंके समर्थक जीव एवं विष्णुको एक कोटिमें गिनते हैं जबकि छब्बीस तत्त्वोंके समर्थक दोनोंको पृथक् कोटिमें रखते हैं। कोई ईश्वर, जीव एवं चौबीस प्राकृतिक तत्त्वोंको मिलाकर छब्बीस संख्या बतलाते हैं। जीव एवं परमेश्वर को एक माननेवाले पुरुषोत्तम एवं पुरुषके नित्य वैचित्र्यकी उपलब्धि करनेमें असमर्थ होते हैं)॥ १०॥

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि।
तदन्यकल्पनापार्थ ज्ञानञ्च प्रकृतेर्गुणः॥ ११॥

पुरुष एवं ईश्वर—इन दोनोंमें चिद्रूपत्वके कारण किसी प्रकारका भेद नहीं है—इन दोनोंमें अत्यन्त पार्थक्यकी कल्पना व्यर्थ है। अणुमात्र चित्रूप होनेके कारण जीव शक्ति है, ईश्वर शक्तिमान् है। सत्त्वगुणकी वृत्तिके कारण ज्ञान प्रकृतिके अन्तर्भुक्त ही है अर्थात् ज्ञान प्रकृतिका गुण-विशेष है, अलग तत्त्व नहीं है। इसीलिये पच्चीस तत्त्ववाद प्रचलित हुआ है॥ ११॥

प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः।
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः॥ १२॥

बहिरङ्ग-शक्ति-परिणत-प्राकृत-जगत्में सत्त्व, रजः एवं तमोगुण—तीनों प्रपञ्चकी उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाशके हेतु है। ये गुण प्राकृतिक हैं, आत्माके नहीं। तीनों गुणोंकी समतासे ही प्रकृतिका अभ्युदय होता है। प्रकृतिसे ही गुण-त्रयकी विचित्रता प्रपञ्चमें प्रकटित है। आत्म-जगत् अथवा वैकुण्ठमें प्राकृत गुण प्रवेश नहीं कर सकते। वहाँ तो अप्राकृत गुणत्रय-ह्लादिनी, सन्धिनी एवं

सम्वित् नामसे परिचित हैं तथा सृष्टि आदि कालाधीन कोई विषय ही नहीं है॥ १२॥

सत्त्वं ज्ञानं रजः कर्म्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते।
गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव च॥ १३॥

अतएव सत्त्व गुणकी वृत्ति ज्ञान है, रजोगुणकी वृत्ति (सकाम) कर्म है तथा तमोगुणकी वृत्ति अज्ञान है। गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले ईश्वर काल नामसे कहे जाते हैं और महत्तत्त्वको (आदि सूत्रको) स्वभाव नामसे कहा जाता है। इस प्रकार पच्चीस एवं छब्बीस तत्त्वोंकी संख्या युक्तियुक्त ही है क्योंकि रजोगुण एवं तमोगुणके द्वारा कर्म एवं अज्ञानका प्रकृतिमें अन्तर्भाव हो जाता है॥ १३॥

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहङ्कारो नभोऽनिलः।
ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वान्युक्तानि मे नव॥ १४॥

पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल भूमि—इन नौ तत्त्वोंके विषयमें मैंने तुम्हें पहले ही बतला दिया था। प्रकृति अव्यक्त है, जहाँ प्रकृति ज्ञेय अर्थात् मेरे द्वारा व्यक्त है, वहाँ वह महत्तत्त्वके रूपमें कही जाती है। (प्रकृतिके तीनों गुण पच्चीससे भिन्न हैं। ये तीनों आगमपायी (उत्पत्तिशील एवं विनाशशील) होनेके कारण प्रकृतिके भेदरूपमें कहे गये हैं।)॥ १४॥

श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तयः।
वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रिः कर्म्माण्यङ्गोभयं मनः॥ १५॥

हे उद्धव! श्रोत्र, त्वचा, चक्षुः, नासिका, रसना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं, वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं—मन—कर्म एवं ज्ञानेन्द्रिय दोनोंका परिचालक है इसलिये इन्द्रिय-पर्यायमें ये ग्यारह तत्त्व हैं। ये 'करण' नामसे भी प्रसिद्ध हैं॥ १५॥

शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रूपञ्चेत्यर्थजातयः।
गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्म्मायतनसिद्धयः॥ १६॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियके विषय हैं, इनके परिणामसे ही आकाशादि पञ्चभूतोंकी सृष्टि होती है। गति, उक्ति, शिल्प, उत्सर्ग अथवा त्याग—ये पाँच कर्मेन्द्रियकी वृत्ति-विशेष हैं—ये पृथक् तत्त्व नहीं हैं॥ १६॥

सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्य्यकारणरूपिणी।
सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते॥ १७॥

सोलह (ग्यारह इन्द्रिय एवं पञ्चभूत) विकार कार्य हैं। महत्, अहङ्कार एवं पञ्च तन्मात्राएँ सात कारण हैं। इस प्रकारसे (महत्तत्त्वके आदिरूपमें) कार्य-कारणात्मिका प्रकृति इस विश्वकी सृष्टिके प्रारम्भमें सत्त्वादि गुणों द्वारा सृज्यत्वादि (सृष्टि, स्थिति एवं विनाश) अवस्थाएँ धारण करती है। प्रकृति ही जगत्का उपादान कारण है। अपरिणामी, अव्यक्त पुरुष निमित्तस्वरूप होकर एवं अविकृत भावसे कूटस्थ रहकर ईक्षणके द्वारा प्रकृतिको सृष्टि आदिमें प्रवृत्त कराके केवल उसके एवं उसकी अवस्थाओंके साक्षी रूपमें अवस्थित रहते हैं॥ १७॥

व्यक्तादयो विकुर्व्वाणा धातवः पुरुषेक्षया।
लब्धवीर्य्याः सृजन्त्यण्डं संहताः प्रकृतेर्बलात्॥ १८॥

(महत्तत्त्वादिसे आरब्ध इस ब्रह्माण्डका महत्तत्त्वादिमें ही अन्तर्भाव है) प्रकृतिसे उत्पन्न महत्तत्त्वादि प्रमुख धातुएँ विकारोन्मुख होती हैं एवं पुरुषके ईक्षणसे शक्ति प्राप्त करके परस्पर मिलितरूपसे प्रकृतिके आश्रयमें ब्रह्माण्डकी रचना करती हैं॥ १८॥

सप्तैव धातव इति तत्रार्थाः पञ्च खादयः।
ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासवः॥ १९॥

सप्ततत्त्ववाद भी युक्तिसङ्गत है; इस मतमें आकाशादि पञ्चभूत द्रष्टा (जीव) एवं दृश्य (जगत्) दोनोंका आधारभूत आत्मा (परमात्मा) ये सात तत्त्व ज्ञातव्य हैं। इन सात तत्त्वोंमें-से देह-इन्द्रिय-प्राणादि समस्त कार्य-पदार्थ उत्पन्न होते हैं इसलिये इस मतमें

उनकी गणना पृथक्‌रूपसे नहीं की गयी है। तत्त्वोंको धातु भी कहा जाता है॥ १९॥

षडित्यत्रापि भूतानि पञ्च षष्ठः परः पुमान्।
तैर्युक्त आत्मसम्भूतैः सृष्ट्वेदं समुपाविशत्॥ २०॥

छह प्रकारके तत्त्वोंमें पञ्च महाभूत एवं पुरुष षष्ठस्थानीय है। (पञ्चभूतोंमें ही अन्य तत्त्वोंका अन्तर्भाव है) परमात्मा अपनेसे उत्पन्न पञ्चभूतोंसे युक्त होकर देहादिकी सृष्टि करते हैं और उनमें प्रविष्ट हो जाते हैं। (इस मतमें पुरुषमें ही जीवका अन्तर्भाव है।)॥ २०॥

चत्वार्य्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः।
जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु॥ २१॥

चारतत्त्ववादियोंके मतमें तेज, जल, पृथ्वी एवं आत्मा—ये चार तत्त्व निर्णीत हुए हैं—इन चार तत्त्वों द्वारा समग्र जगत् उत्पन्न है, कार्यकी उत्पत्ति इसके ही अन्तर्भुक्त है॥ २१॥

सङ्ख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च।
पञ्च पञ्चैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः॥ २२॥

सत्रह तत्त्व माननेवाले पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्र, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, मन एवं आत्मा—ये इस तरहसे सत्रह तत्त्वोंकी गणना करते हैं॥ २२॥

तद्वत् षोडशसङ्ख्याने आत्मैव मन उच्यते।
भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश॥ २३॥

जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सोलह मानते हैं, वे सत्रह तत्त्वोंकी भाँति गणना किया करते हैं, उनके विचारसे मन और आत्मा भिन्न नहीं है, मन आत्माके ही अन्तर्भुक्त है। जो लोग तत्त्वोंकी संख्या तेरह स्वीकार करते हैं, वे पाँच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, जीवात्मा और परमात्मा—इस प्रकारसे तेरह तत्त्वोंकी

गणना करते हैं। आत्मा जब सङ्कल्प करता है, तब वह मन कहलाता है॥ २३॥

एकादशत्व आत्मासौ महाभूतेन्द्रियाणि च।
अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ॥ २४॥

ग्यारह तत्त्व स्वीकार करनेवाले पञ्च महाभूत, पञ्च इन्द्रियाँ और आत्मा—इस प्रकारसे ग्यारह तत्त्वोंकी गणना करते हैं। अष्ट-संख्यावादी पञ्चभूत एवं मनः-बुद्धि-अहङ्कारका विचार करते हैं और नव संख्यावादी पूर्वोक्त आठ संख्याके साथ पुरुषके योगसे नव संख्याको मानते हैं॥ २४॥

इति नाना प्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम्।
सर्व्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद्विदुषां किमशोभनम्॥ २५॥

ऋषिगण इस प्रकारसे तत्त्वोंकी नाना प्रकारसे गणना करते हैं। युक्तियुक्तताके कारण उनकी समस्त गणनाएँ ही सार्थक एवं न्यायोचित हैं। तत्त्वज्ञानियोंके किसी विषयमें कुछ भी असङ्गत अथवा अयौक्तिक नहीं है॥ २५॥

श्रीउद्धव उवाच—

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ यद्यप्यात्मविलक्षणौ।
अन्योन्यापाश्रयात् कृष्ण दृश्यते न भिदा तयोः।
प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथात्मनि॥ २६॥

श्रीउद्धवजीने कहा—हे श्रीकृष्ण! शास्त्रीय दृष्टिसे प्रकृति एवं पुरुष—इन दोनोंका जड़ एवं अजड़रूपसे वैलक्ष्ण्य (भिन्नता) है तथापि देहके आश्रयसे दोनोंकी सर्वदा मिलितरूपमें प्रतीति होती है, भेद दिखाई नहीं देता। प्रकृति तथा उसके कार्यभूत शरीरमें आत्मा एवं आत्मवस्तुमें प्रकृति सर्वदा ही अभिन्न प्रतीत होते हैं—परस्पर आश्रयसे भिन्न इनकी प्रतीति स्पष्ट (पृथक्-पृथक्रूपसे) क्यों नहीं होती॥ २६॥

एवं मे पुण्डरीकाक्ष महान्तं संशयं हृदि।
छेत्तुमर्हसि सर्व्वज्ञ वचोभिर्नयनैपुणैः॥ २७॥

हे पुण्डरीकाक्ष! कमलनयन! हे सर्वज्ञ! आप युक्तियोंमें निपुण वचनोंके द्वारा मेरे हृदयके इस प्रबल सन्देहको दूर करें॥ २७॥

त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः।
त्वमेव ह्यात्ममायाय गतिं वेत्थ न चापरः॥ २८॥

आपकी कृपासे ही जीवोंको ज्ञान होता है और आपकी मायासे ही ज्ञानका नाश होता है। आप ही अपनी मायाके स्वरूप एवं गतिको जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता। आपकी इसी विमोहिनी माया शक्तिसे जीवोंमें भ्रान्ति होती है क्योंकि यह सभी बद्ध जीवोंको अपने गुणोंसे आक्रान्त कर लेती है। यह मायादेवी आपके ही आश्रित है। इसकी विक्षेपात्मिका एवं आवरणी दोनों वृत्तियोंको आप ही जानते हैं॥ २८॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ।
एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः॥ २९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे पुरुष प्रवर! प्रकृति एवं पुरुषमें अत्यन्त भेद है। प्रकृतिके गुण-क्षोभक धर्मके कारण इस देहादि-सङ्घातमें जन्म, मरणादि विकार लगे रहते हैं। ईक्षणकारी पुरुष निर्विकार हैं। (पुरुष एक है, प्रकृति नानात्मिका है। पुरुष निरपेक्ष है, प्रकृति पुरुष-सापेक्ष है। पुरुष स्वप्रकाश हैं, प्रकृति दूसरोंके द्वारा प्रकाश्य हैं। पुरुष दुर्ज्ञेय है, परिणामयोग्य प्रकृतिकी प्रतीति सम्भवपर है।) जड़ प्रकृतिसे अतीत राज्यमें पराप्रकृतिकी कार्यकारिता है—वहाँ गुणक्षुब्ध धर्म नहीं है, नित्य धर्म विराजमान है—इसलिये उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयके स्थानपर सच्चिदानन्दकी ही वहाँ अभिव्यक्ति है॥ २९॥

ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते।
वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेक-मथाधिदैवमधिभूतमन्यत्॥ ३०॥

हे उद्धव! असीम विस्तारवाली मेरी गुणमयी माया (बहिरङ्गा शक्ति) सत्त्वादि गुणोंके विविध भेदोंकी एवं उन भेदोंसे सम्बन्धित अनेक विकल्पोंकी (बुद्धियोंकी वृत्तियोंकी) सृष्टि करती है। गुण भेद-ज्ञानके प्रवर्त्तक हैं। ये भेद नाना विकारोंसे युक्त हैं, तो भी स्थूलरूपसे इन्हें तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक। उद्भव, अवस्थान एवं लय—ये त्रिविध व्यापार प्राकृत सृष्टिमें ही अवस्थित हैं। (मेरी अन्तरङ्गा शक्ति गुणमयी नहीं है—यह ह्लादिनी, सन्धिनी एवं सम्विद्रूपा भगवदङ्गमयी है)॥ ३०॥

दृग्रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे
परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे।
आत्मा यदेषामपरो य आद्यः
स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः ॥ ३१॥

जीवकी नेत्रेन्द्रिय अध्यात्म है, उसका दृश्य-रूप (रूप-ज्ञान) अधिभूत है एवं इस नेत्रगोलकमें (दर्शनेन्द्रियमें) स्थित सूर्यदेवताका अंश अधिदैव है। ये तीनों अध्यात्मादि पदार्थ एक-दूसरेके आश्रयमें परस्पर सापेक्षरूपसे प्रकाशमान् हैं। इसके अतिरिक्त आकाशमें जो सूर्य हैं, वे मण्डलात्मा सूर्य इन तीनोंसे मुक्त स्वतःसिद्ध प्रकाशमान् वस्तु हैं। अपने प्रकाशके लिये अथवा दूसरोंको प्रकाशित करनेमें वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता। (चक्षुः आदिकी परस्पर सापेक्षता एवं सूर्यकी निरपेक्षताके दृष्टान्तसे प्रकृति एवं पुरुषमें भिन्नता स्पष्ट हो जाती है) परमात्मा तो इन अध्यात्म आदि भेदोंके कारण (मूल स्रोत), उनके साक्षी एवं उनसे परे हैं अर्थात् इन सबसे भिन्न स्वतःसिद्ध वस्तु हैं। एकवचन होनेके कारण वे एक हैं तथा समस्त सिद्ध पदार्थोंकी मूल सिद्धि हैं। अपनी अनुभूतिसे

स्वतः सिद्ध प्रकाश्य द्वारा द्वारा वे परस्पर एक-दूसरेके प्रकाशक अखिल वस्तुओंके प्रकाशक हैं॥ ३१॥

एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षु-
र्जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम्॥ ३२॥

चक्षुमें अधिभूत आदि त्रिविधत्व दिखाकर अब अन्य इन्द्रियोंमें भी दिखाते हैं। जिस प्रकार चक्षुमें चक्षु, रूप एवं सूर्यका अंश है। अधिष्ठातृ देवता सूर्यसे ही चक्षुरिन्द्रियमें प्रवृत्ति होती है। उसी प्रकार स्पर्श इन्द्रियमें त्वक्, स्पर्श एवं वायु (अधिष्ठातृ देवता) हैं, कर्णेन्द्रियमें श्रवण, शब्द एवं दिक् हैं, जिह्वामें जिह्वा, रस, वरुण देवता है, नासिकामें नासा, गन्ध एवं अश्विनी-कुमार-द्वय हैं, चित्तमें चित्त, चेतयिता (चिन्तनका विषय) एवं वासुदेवका अंश है। इसी प्रकारसे मन, मन्तव्य (मनका विषय) एवं चन्द्रमा है, बुद्धि, बोद्धव्य (जाननेका विषय) एवं ब्रह्मा हैं। अहङ्कार, अहङ्कर्त्तव्य (अहङ्कारका विषय) एवं रुद्र—इसी प्रकारसे अन्य सभीमें त्रैविध्य है। ये सभी अध्यात्मादिके अन्तर्भुक्त हैं। अतः प्राकृत एवं अप्राकृतमें परस्पर भेद धर्म अवस्थित है। अचिन्त्य भेदाभेद-विचारमें एक ही वस्तुका दूसरी वस्तुके साथ युगपत् भेद तथा अभेद है। अभेद विचारसे वैचित्र्य होनेपर भी विरोध नहीं है॥ ३२॥

योऽसौ गुणक्षोभकृतो विकारः प्रधानमूलान्महतः प्रसूतः।
अहं त्रिवृन्मोहविकल्पहेतु-र्वैकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च॥ ३३॥

परमेश्वर गुणत्रयके क्षोभजनक हैं। प्रधानमूलक अर्थात् अव्यक्त प्रधानसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महत्तत्त्वमें गुणोंके क्षोभसे जो विकार उत्पन्न होता है, वही विकारात्मक अहङ्कार कहा जाता है (अर्थात् अहङ्कार प्रकृतिका ही एक विकार है)। सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक मोह-त्रयके कारण जड़ जगत्में अहङ्कारात्मक विकार अवस्थित रहता है। भेद-ज्ञानके हेतुसे ही यह मोहमय अहङ्कार तीन प्रकारका है—वैकारिक, तामस एवं ऐन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियज।

अध्यात्मादि विकल्प भी मोहके ही कारण हैं। मोह अर्थात् अज्ञान। अज्ञान भी सत्य, मिथ्या अथवा नित्य—इन विकल्पोंका कारण हैं। "मैं जगत्का भोक्ता हूँ"—इस प्रकारके अहङ्कारका परित्याग होनेपर मोहके सम्पादक गुणत्रय (सात्त्विकादि) निरस्त हो जाते है और जीव अपने स्वरूपकी उपलब्धि कर लेता है॥ ३३॥

आत्मा परिज्ञानमयो विवादो
ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः।
व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां
मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात्॥ ३४॥

जगत्का सत्यत्व और जगत्का मिथ्यात्व—यह भेद-विषयक विवाद आत्म-विषयक अज्ञानके कारण है। (आत्मा ज्ञानस्वरूप है। सगुण-निर्गुण, सत्य-मिथ्या, अस्ति-नास्ति आदि विवादोंसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है।) मोहमयी (अज्ञानमयी) बुद्धि सङ्कल्प एवं विकल्प—दो विचारोंमें प्रविष्ट रहती है, इसलिये मुझे प्रकृत अधिष्ठानके प्रति बुद्धिको सन्देहका अवकाश प्राप्त हो जाता है। प्रकृतिकी त्रिगुणात्मक वृत्ति भी सत्यके प्रति सन्दिग्ध होकर विवाद उपस्थित कर देती है। भेद-निष्ठता अर्थात् भेद-ज्ञान-मूलक समस्त विचार (परमात्मा है कि नहीं इत्यादि) व्यर्थ है, तथापि स्वरूपभूत मुझसे जो पराङ्मुख अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूपसे विमुख मनुष्योंका यह विवाद कभी समाप्त नहीं होता। मेरे भक्त ऐसे विवादमें कोई रुचि नहीं रखते। मेरे चिन्तनमें ही आयु सफल करते है॥ ३४॥

श्रीउद्धव उवाच—

त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्म्मभिः प्रभो।
उच्चावचान् यथा देहान् गृह्णन्ति विसृजन्ति च॥ ३५॥
तन्ममाख्याहि गोविन्द दुर्व्विभाव्यमनात्मभिः।
न ह्येतत् प्रायशो लोके विद्वांसः सन्ति वञ्चिताः॥ ३६॥

श्रीउद्धवने कहा—हे प्रभो! जो आपके स्वरूपज्ञानसे बहिर्मुख हैं, वे सभी स्वकृत कर्मोंके कारण जिस प्रकारसे उत्तम-अधम नाना योनियोंको धारण करते हैं एवं त्याग करते हैं, उस तत्त्वका (व्यापक अकर्त्ता एवं नित्य आत्माके विभिन्न शरीरोंमें आने-जानेका) वर्णन कीजिए। हे गोविन्द! यह तत्त्व मूर्ख मनुष्योंके लिये तो दुर्ज्ञेय है ही, ज्ञानी भी आपकी मायासे वञ्चित एवं मोहित हैं। अतः वे भी प्रायः इस तत्त्वको नहीं जानते। कर्त्तव्य बाध्यताकी उलझनसे ग्रस्त रहनेके कारण उनकी भी इस विषयमें जिज्ञासा बनी रहती है॥ ३५-३६॥

श्रीभगवानुवाच—

मनः कर्म्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्त्तते॥ ३७॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! मनुष्योंका कर्मसंस्कारयुक्त मन (सूक्ष्म देह) ही पञ्चेन्द्रियोंके साथ एक शरीरसे दूसरे शरीरमें गमन करता है। इन्द्रियोंका राजा मन कर्मके संस्कारका पुञ्ज है। अतः इन्द्रियोंके कर्म एवं विकर्मके फलका भार मनको ही वहन करना होता है। आत्मा मनसे पृथक् है, किन्तु अहङ्कार द्वारा कर्ममय मनके सहित संसर्गके कारण कर्म कालुष्यवश आत्माको सूक्ष्म शरीरका अनुगमन करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है॥ ३७॥

ध्यायन्मनोऽनु विषयान् दृष्टान् वानुश्रुतानथ।
उद्यत् सीदत् कर्म्मतन्त्रं स्मृतिस्तदनुशाम्यति॥ ३८॥

कर्मके अधीन मन कर्मजनित ऐहिक (दृष्ट) एवं पारत्रिक (श्रुत) विषयोंका चिन्तन करता है। अनुक्षण चिन्तन करते-करते वह चिन्तित विषयोंमें आविर्भूत होकर उनमें ही लीन हो जाता है, बादमें उसकी स्मृति भी नष्ट हो जाती है। सूक्ष्म शरीरका अनुगमन करनेवाले जीवात्माका स्थूल शरीरके साथ वियोग मृत्यु है, संयोग जन्म है। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष चिन्तनमें अभिभूत होनेके

कारण चिन्मय स्मृतिकी सम्भावना न रहनेसे आत्म-स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है॥ ३८॥

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत् स्मरेत् पुनः।
जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः॥ ३९॥

वर्त्तमान देहके अनन्तर कर्मजनित (कर्मानुसार) देहकी प्राप्ति होती है। देवादि देहगत सुखमें अथवा नारकीय यातनामयी देहगत दुःखमें जीवका इतना अभिनिवेश रहता है कि मन पूर्व देहको एवं स्वयं को स्मरण नहीं कर पाता—इस प्रकार जो मृत्यु अर्थात् स्थूल देहका वियोग है, वह पूर्वदेह विषयमें अत्यन्त विस्मृति है। किसी एक हेतुसे प्रारब्ध (भौतिक शरीरका निर्धारित कर्म) समाप्त होने पर मृत्यु हो जाती है। यह मृत्यु एक स्थूलदेहसे दूसरी स्थूलदेहकी प्राप्तिके विचार-मूलमें अवस्थित है अर्थात् किसी शरीर-विशेषका कर्म-भोग जब समाप्त हो जाता है, तब वह शरीर मन पर प्रभाव नहीं डालता। मनुष्यकी सारी चेतना उसके वर्त्तमान शरीरमें लीन रहती है॥ ३९॥

जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्व्वभावेन भूरिद।
विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः॥ ४०॥

हे प्रभूतदानशील उद्धव (हे परम उदार)! 'जन्म' विषय अर्थात् कर्म द्वारा उपस्थापित देहको सर्वतोभावसे अपना मानकर जो स्वीकृति (अभिमान) है, उस आत्यन्तिक अभिमानको 'जन्म' कहा जाता है। यह अभिमान स्वप्न एवं मनोरथके समान है। ये दोनों अभिमान ही अकिञ्चित्कर हैं। जागरावस्थाके अभावमें विषयजातीय वस्तुका सानिध्य प्राप्त न होनेपर सुप्त व्यक्तिके कर्त्तृत्वाभिमानसे प्रदर्शित क्रिया 'स्वप्न' है और मनुष्यकी कल्पना ही कार्यमें परिणत होनेसे पहले मनोरथ (मनोराज्यका विलासात्मक अभिमान) है। अतः 'जन्म' किसी उत्पत्तिका सूचक नहीं, एक अवस्था विशेष है॥ ४०॥

स्वप्नं मनोरथञ्चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ।
तत्र पूर्व्वमिवात्मानमपूर्व्वञ्चानुपश्यति॥ ४१॥

जिस प्रकार वर्त्तमान स्थूलदेहमें अवस्थित जीव पूर्व स्थूलदेहका स्मरण नहीं करता, उसी प्रकार वर्त्तमान स्वप्नाभिभूत या मनोरथमें स्थित जीव भी पहलेके अनुभूत स्वप्न और मनोरथको स्मरण नहीं करता, बल्कि वर्त्तमान शरीरमें अवस्थित पूर्व सिद्ध आत्माको ही अपूर्व (सद्योजात) अर्थात् नवीन-जन्मके समान समझता है। 'जातिस्मर' अपवाद है और अपवादसे नियमकी पुष्टि होती है॥ ४१॥

इन्द्रियायनसृष्ट्येदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि।
बहिरन्तर्भिदाहेतुर्जनोऽसज्जनकृद्यथा ॥ ४२॥

जीव जिस प्रकार स्वप्नमें विविध-मिथ्या देहोंका सृजन एवं दर्शन करता हुआ बहुत रूपोंमें प्रकाशित होता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंके आश्रयसे मनके देहान्तरमें (नवीन शरीरमें) अभिनिवेश-जनित-सृष्टिके कारण उत्तम, मध्यम तथा अधम—तीनों सांसारिक श्रेणियाँ—आत्म-वस्तुमें सद्रूपमें (आत्माके भीतर) प्रतीत होती हैं। यह आत्मा ही बाह्य-आभ्यन्तर सकल भेद-बुद्धियोंका कारणस्वरूप है। पुत्र जिस प्रकार अपने कार्योंसे पिताकी दूसरोंके साथ शत्रुता एवं प्रणय उत्पन्न करा देता है (पुत्रका शत्रु पिताका शत्रु एवं पुत्रका मित्र पिताका मित्र बन जाता है) उसी प्रकार अहङ्कारसे प्रेरित होकर आत्मा बहिर्जगत्के विषयोंको आत्मसात् कर लेता है। वह निजस्वरूपको भूलकर विश्वमें वास करता है, सुख-दुःखादिके अन्तःद्वैतमें आबद्ध होकर क्लेशोंका आवाहन करता है। इस प्रकार अनात्म प्रतीतिके योगसे आत्माकी विरूपता (कष्टमयता) दिखायी देती है॥ ४२॥

नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते॥ ४३॥

हे अङ्ग! (हे प्रिय उद्धव)! कालकी गति अत्यन्त सूक्ष्म है, उसे साधरणतः देखा नहीं जाता। इस कालके प्रभावसे प्रतिक्षण ही प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं नाश होते रहते हैं। जिस प्रकार सूक्ष्मत्वके कारण कालवेग लक्षित नहीं होता, उसी प्रकार कालकृत उत्पत्ति एवं विनाश अर्थात् जन्म एवं मृत्यु भी अज्ञानियों द्वारा लक्षित नहीं होते॥ ४३॥

यथार्चिषां स्रोतसाञ्च फलानां वा वनस्पतेः।
तथैव सर्व्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः॥ ४४॥

कालके प्रभावसे अग्नि-शिखा आदि ज्योतिष्क पदार्थोंकी क्षीण उज्ज्वलतादि परिणामके द्वारा, नदीके स्रोतोंकी (प्रवाहोंकी) गति आदिके द्वारा, फलोंके पक्व-अपक्व रूप-परिवर्त्तनके द्वारा विभिन्न अवस्थाएँ हर क्षण बदलती दिखाई देती हैं, उसी प्रकार कालाधीन प्राणियोंकी कौमार्य, तारुण्य, यौवन, तेज, बल एवं कौशल आदि विभिन्न अवस्थाएँ क्षण-क्षण परिवर्त्तित होती रहती है। इस जगत्में परिणामशील धर्म ही अवस्थित है, आत्मा अपरिवर्त्तनशील है॥ ४४॥

सोऽयंदीपोऽर्च्चिषां यद्वत् स्रोतसां तदिदं जलम्।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम्॥ ४५॥

जिस प्रकार अग्नि-शिखामें एक क्षणमें ही सहस्त्र-सहस्त्र किरणोंका सृजन, रूपान्तर एवं क्षय आदि परिणाम होते हैं, दीप्त एवं अदीप्त रूपोंमें भेद भी होते हैं, परन्तु मिथ्या ज्ञानके (सादृश्यके) कारण व्यक्ति निर्देश करता है कि 'दीपकका यह वही प्रकाश है', तथा जिस प्रकार प्रवाहमयी नदीका जल निरन्तर बढ़ता हुआ दूर चला जाता है, परन्तु मनुष्य एक क्षणके बाद ही मिथ्या निर्देश करता है कि 'नदीका यह वही जल है' (नदीमें विभिन्न जल-अणु निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं) उसी प्रकार कौमार-कालमें दृष्ट व्यक्तिको यौवन-कालमें देखकर 'यह वही व्यक्ति है' इस प्रकार परिणामशीलताको आत्मधर्म मानकर मनुष्य मिथ्या ज्ञान कर लेता है। आत्मधर्ममें तो विपर्यय है ही नहीं,

परन्तु अज्ञ मनुष्य शरीरकी किसी भी अवस्थाको आत्माकी सही प्रत्यभिज्ञा (पहचान) मानकर अपने जीवनको विषयोंके चिन्तनमें व्यर्थ ही गँवा देता है। शरीरकी कोई भी अवस्था आत्माकी प्रत्यभिज्ञा नहीं है, वह वृथा आडम्बर है॥ ४५॥

मा स्वस्य कर्म्मबीजेन जायते सोऽप्ययं पुमान्।
म्रियते वामरो भ्रान्त्या यथाग्निर्दारुसंयुतः॥ ४६॥

महाभूत तेजरूप अग्निके एक कल्पपर्यन्त स्थायी होनेपर भी काष्ठका संयोग होनेपर उसकी उत्पत्ति (प्राकट्य) और काष्ठका वियोग होनेपर उसकी मृत्यु (अप्राकट्य) कही जाती है, उसी प्रकार जन्म-मृत्यु रहित मनुष्य भी अपने कर्मबीजके कारण उत्पन्न अथवा विनष्ट नहीं होता—भ्रान्तिके कारण ही उत्पन्न या मृत नामसे कहा जाता है अथवा उस प्रकारका दिखायी पड़ता है। वह अजन्मा होकर जन्मता है और अमर होकर भी मरता है। लकड़ीमें अन्तर्स्थित अग्नि प्रज्वलित होकर जिस प्रकार लकड़ीको जलाती और बुझाती है, उसी प्रकार भोग्य कर्मके विचारसे भोक्ताकी उत्पत्ति और विनाश प्रमाणित होते हैं। (कृष्णसेवोन्मुख जैवकर्म एवं कृष्णविमुख जैवकर्ममें नित्यानित्य भेद है।)॥ ४६॥

निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम्।
वयोमध्यं जरा मृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव॥ ४७॥

बद्धजीवके देहकी नौ अवस्थाएँ हैं—निषेक अर्थात् मातृगर्भमें प्रवेश, गर्भमें वृद्धि (गर्भवास), जन्म (मातृगर्भसे बाहर प्रकाश), बाल्य (पाँच वर्ष तक) के साथ पौगण्ड एवं कैशौर्य (सोलह वर्ष तक), यौवन (पचास वर्ष तक), मध्यम वयस (प्रौढ़त्व अथवा अधेड़ावस्था) (साठ वर्ष तक), उसके बाद जरा (आजीवन) और अन्तिम अवस्था मृत्यु है॥ ४७॥

एता मनोरथमयीर्हन्यस्योच्चावचस्तनूः।
गुणसङ्गादुपादत्ते क्वचित् कश्चिज्जहाति च॥ ४८॥

जीव अविवेकके कारण देहगत कर्मजनित उच्च-नीच अवस्थाओंको अपनी ही मानकर अभिमान करता है—विविध मनोरथ करता है, कर्मके वशीभूत होकर मनमें विषयोंका ध्यान करता है, अविद्याके कारण गुण-सङ्ग करता है और इस प्रकार अन्य देहकी अवस्थाको ग्रहण करता है। कदाचित् किसी मनुष्यको परमेश्वरका अनुग्रह प्राप्त हो जाय तो विवेक बलसे वह इस अभिमानका त्याग कर देता है। (विवेकका अर्थ है यह जीव अवस्थावाले शरीरका द्रष्टा है, स्वयं अवस्थावाला नहीं।)॥ ४८॥

आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भावप्ययौ।
न भवाप्ययवस्तूनामभिज्ञो द्वयलक्षणः॥ ४९॥

और्ध्वदैहिक कार्यकालमें (दाहादि कार्योंमें) अपने पिताकी देहका विनाश देखकर एवं पुत्रदेहके जातकर्ममें निषेक, जन्मादि देखकर अपनी देहके भी जन्म-मृत्युका अनुमान कर लेना चाहिये। जो देहकी उत्पत्ति-विनाशका साक्षी है, वह देहसे भिन्न है, वह जन्म-मृत्यु दोनों धर्मोंसे रहित है। कालाधीनता अथवा नश्वरता आत्माका धर्म नहीं है। द्रष्टाके अधिकार भेदसे भोगमयी अवस्थाएँ हैं। स्वरूप-ज्ञाता देहीकी ऐसी सम्भावनाएँ नहीं हैं॥ ४९॥

तरोर्बीजविपाकाभ्यां ये विद्वान् जन्मसंयमौ।
तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा तनोः पृथक्॥ ५०॥

जो बीजसे वृक्षकी उत्पत्ति एवं पकने पर उसका विपाक अर्थात् अन्तिम परिणाम देखता है, वह दृष्टा पुरुष वृक्षसे भिन्न वस्तु है, उसी प्रकार शरीरके जन्म एवं मृत्युको देखनेवाला पुरुष भी शरीरसे पृथक् है—यह जानो। साक्षी रूपमें दृश्य-पदार्थके साथ पार्थक्य-दर्शन होना मुक्त पुरुषकी उपलब्धिका विषय है। यदि मुक्त भी बद्ध जीवके समान दर्शन करते हैं, तो अपने स्वरूपकी उपलब्धि करनेमें असमर्थ होंगे॥ ५०॥

प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान्।
तत्त्वेन स्पर्शसंमूढ़ः संसारं प्रतिपद्यते॥५१॥

अपने स्वरूपको न जाननेवाले अज्ञानी पुरुष आत्माको प्रकृति और शरीरसे पृथक् न जानकर विषयोंमें आसक्त हो जाता है और देहमें ही आत्माके अभिमानके कारण पुनः-पुनः संसार दशाको प्राप्त होता है॥५१॥

सत्त्वसङ्गादृषीन् देवान् रजसासुरमानुषान्।
तमसा भूततिर्य्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्म्मभिः॥५२॥

गुण-प्रवाह क्रमसे आत्मा अपने स्वरूपको विस्मृत कर लेता है एवं भोक्ता एवं कर्त्ताके अभिमानसे संसार-मार्गमें कर्म-चालित होकर सत्त्वगुणके आधिक्यसे ऋषित्व एवं देवत्व, रजोगुणके आधिक्यसे असुरत्व एवं मनुष्यत्वको प्राप्त करता है तथा तमोगुणके आधिक्यसे भूत-प्रेत, पशु-पक्षी इत्यादि अवर योनियोंमें भ्रमण करता है॥५२॥

नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान्।
एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्य्यते॥५३॥

नर्त्तक एवं गायकको देखकर दर्शक जिस प्रकार उसका यथायथ अनुकरण करता है, मन-ही-मनमें स्वर, ताल, गति, शृङ्गार आदि रसोंका अनुवर्त्तन करता है, उसी प्रकार साक्षी पुरुष (आत्मा) स्वयं निष्क्रिय (निरपेक्ष) होकर भी बुद्धिके सापेक्ष गुणोंका अनुकरण करते हुए विषय-भोगोंमें प्रवृत्त हो जाता है॥५३॥

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः॥५४॥

यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः॥५५॥

हे दाशार्ह! जलाशयमें प्रतिबिम्बित तरुओंकी भी चञ्चलता दिखाई देती है अर्थात् नौकामें आरूढ़ लोगोंको किनारे पर स्थित

वृक्ष चलते हुए दिखाई देते हैं, चक्षुके घूर्णत्वके (चारों ओर घूमनेके) कारण पृथ्वीका भी घूर्णन दिखाई देता है, उसी प्रकार स्वरूप-बुद्धिके (कृष्ण सेवोन्मुखताके) विपर्ययमें जड़ जगत्का भोक्ताभिमान होता है। मनोरथ-बुद्धि तथा स्वप्न-बुद्धि जैसे मिथ्या हैं, उसी प्रकारसे जीवका संसार, संसार-बन्धन, विषयका अनुभव एवं विषय-भोग सभी मिथ्या हैं॥ ५४-५५॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्त्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ ५६॥

स्वप्नमें जिस प्रकार सर्प-दंशनादि मिथ्या विषयोंका उद्भव होता है, उसी प्रकार वस्तुतः विषयोंकी सत्ता न रहनेपर भी विषय-चिन्तनके कारण मनुष्योंकी मिथ्या संसार-प्रवृत्ति होती है। दृष्टाकी स्वप्नकालीन अनुभूति निद्राके भङ्ग हानेपर जिस प्रकार फलहीन होती है, उसी प्रकार निर्मल जीवात्माका जड़-भोग-भ्रम अथवा तात्कालिकी प्रतीति नित्य नहीं है। यह जानकर भी दुर्भागा जीव अद्वयज्ञान व्रजेन्द्रनन्दनकी सेवामें पूर्णमात्रामें नियुक्त नहीं होता॥ ५६॥

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम्॥ ५७॥

अतः हे उद्धव! असत् इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन मत करो और आत्मविषयक अज्ञानके कारण उससे जो विकल्प अर्थात् देहाध्यासजनित भ्रमका उदय हो रहा है, उस पर विचार करो। (बुद्धिमान् मनुष्यके लिये कृष्णेत्तर-अकिञ्चित्कर विषयोंका विचार करते हुए सतर्क रहना ही कर्त्तव्य है)॥ ५७॥

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽथवा।
ताडितः सन्निबद्धो वा वृत्त्या वा परिहापितः॥ ५८॥
निष्ठ्युतो मूत्रितो वाग्भैर्बहुधैवं प्रकम्पितः।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत्॥ ५९॥

(विषय-भोगोंसे रहित होकर किस प्रकार रहना है—यह बतलाते हैं) दुर्जन व्यक्ति आक्षेप करे, अपमान करे, उपेक्षा करे, उपहास करे, ईर्ष्या करे, डाँटे-फटकारे-मारे, बाँध ले, जीविकासे वञ्चित कर दे, थूक दे, मूत्र द्वारा गीला कर दे इत्यादि रूपोंमें परमेश्वर-निष्ठासे विचलित करे, परन्तु अपना कल्याण चाहनेवाला मनुष्य नाना कष्टोंसे घिरकर भी अपनी बुद्धि द्वारा अपनी रक्षा करे। यदि वह प्रतिशोधकी आङ्काक्षामें व्यस्त रहता है तो श्रेयः प्राप्तिमें विलम्ब होता है। सहिष्णु एवं जड़-अहङ्कार रहित होना ही एकमात्र कल्याणका पथ है॥ ५८-५९॥

श्रीउद्धव उवाच—

यथैवमनुबुध्येयं वद नो वदतां वर॥ ६०॥

उद्धवजीने कहा—हे वक्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ प्रभो! जिस प्रकार मैं आपके इन उपदेशोंको विशेषरूपसे समझकर उन्हें धारण कर सकूँ, उस प्रकार उपदेश कीजिये। तिरस्कारोंको सहन करके कैसे विवेक प्राप्त होगा—यह प्रकार बतलाइये॥ ६०॥

सुदुःसहमिमं मन्ये आत्मन्यसदतिक्रमम्।
विदुषामपि विश्वात्मन् प्रकृतिर्हि बलीयसी।
ऋते त्वद्धर्म्मनिरतान् शान्तांस्ते चरणालयान्॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

हे विश्वरूपिन्! जीवोंके स्वभावका पार पाना बहुत ही कठिन है—इसलिये आपके चरणाश्रित शान्त भक्तोंके अतिरिक्त पण्डितोंके लिये भी दुर्जनों द्वारा अनुष्ठित पूर्वोक्त अपराधोंको (तिरस्कारादिको) सहना अतीव कठिन एवं असाध्य है—मैं तो ऐसा मानता हूँ॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके बाईसवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोविंशोऽध्यायः

एक तितिक्षु त्रिदण्डि-भिक्षुका इतिहास

श्रीबादरायणिरुवाच—

स एवमाशंसित उद्धवेन
भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः।
सभाजयन् भृत्यवचो मुकुन्द-
स्तमावभाषे श्रवणीयवीर्यः॥ १॥

श्रीशुकदेवने कहा—भक्तप्रवर उद्धवके द्वारा इस प्रकार प्रार्थना किये जानेपर पुण्यश्लोक यादवोत्तम श्रीकृष्णने अपने भक्तके वचनोंका अभिनन्दन करते हुए उनसे कहा—॥ १॥

श्रीभगवानुवाच—

बार्हस्पत्य स नास्त्यत्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः।
दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः॥ २॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे बृहस्पति-शिष्य उद्धव! (यह पारमार्थिक पथ तुम्हारे गुरुके लिये भी अगम्य है) इस लोकमें ऐसे साधु पुरुष दुर्लभ हैं, जो दुर्जनोंके द्वारा कहे गये दुर्वचनोंसे क्षुब्ध चित्तको शान्त करनेमें समर्थ हों। सरल-चित्त एवं शान्तिप्रिय भक्त असाधुओंके ताण्डव-नृत्यको देखकर हृदयमें बड़ी व्यथा पाते हैं। (दुर्जन कपट एवं छलसे जिन वचनोंका प्रयोग करते हैं, वे वस्तुतः मानव-जातिकी उन्नति-पथके बाधक हैं।)॥ २॥

न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैस्तु मर्मगैः।
यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः॥ ३॥

दुर्जनोंके कर्कश एवं मर्मान्तक वाक्-बाण मनुष्योंको जितना व्यथित करते हैं, जितनी पीड़ा पहुँचाते हैं, मर्मभेदी बाणोंसे विद्ध होनेपर मनुष्य उतने सन्तप्त नहीं होते॥ ३॥

कथयन्ति महत् पुण्यमितिहासमिहोद्धव।
तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः॥ ४॥

हे उद्धव! इस विषयमें पौराणिकगण जिस महापुण्यशाली इतिहासका (गाथाका) वर्णन करते हैं, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ, तुम चित्तको स्थिर करके सावधानीपूर्वक सुनो॥ ४॥

केनचिद्भिक्षुणा गीतं परिभूतेन दुर्जनैः।
स्मरता धृतियुक्तेन विपाकं निजकर्मणाम्॥ ५॥

एक भिक्षुक था, जो दुर्जनों द्वारा नाना प्रकारसे तिरस्कृत होता था। इसे वह अपने पूर्व कर्मका ही फल मानता था। इस सम्बन्धमें धैर्यके साथ उसने जो गान किया था, मैं उसीका वर्णन कर रहा हूँ। (कर्मफल भोगनेपर यदि कोई असहिष्णु हो जाता है, तो उसे पुनः दुर्जनके पथपर ही चलना पड़ता है। वृक्षके समान सहनशील होनेके लिये श्रीमन् महाप्रभुने उपदेश दिया है। इनके साथ शत्रुताका भाव न रखा जाय, तो ये दुर्जन स्वयं ही शान्त हो जाते हैं। 'कृते प्रतिक्रियां कुर्यात् हिंसिते प्रतिहिंसितम्' अर्थात् 'जैसेको तैसा' नीतिका त्याग करना चाहिए।)॥ ५॥

अवन्तिषु द्विजः कश्चिदासीदाढ्यतमः श्रिया।
वार्त्तावृत्तिः कदर्यस्तु कामी लुब्धोऽतिकोपनः॥ ६॥

प्राचीन कालमें मालवदेशके अवन्ती नगरमें एक ब्राह्मण रहता था। वह अत्यन्त समृद्धिशाली था। खेती, वाणिज्य आदि कार्योंमें लगा रहता था। वह कामी, लोभी, अत्यन्त क्रोधी एवं कदर्य (अपनी पत्नी, पुत्रादि, अतिथि एवं भृत्यादिको उत्पीड़ित करनेवाला) था॥ ६॥

ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य वाङ्मात्रेणापि नार्चिताः।
शून्यावसथ आत्मापि काले कामैरनर्चितः॥ ७॥

उसने कभी भी मधुर वार्त्ता द्वारा अपने बन्धु–बान्धवों अथवा अतिथियोंका अभिनन्दन–अर्चन नहीं किया। यह तो दूर रहे,

धर्म-कर्मसे रहित रहते हुए उसने अपने घरमें अपने शरीरको एक भी दिन यथासमय भोगों द्वारा तृप्त नहीं किया॥ ७॥

दुःशीलस्य कदर्यस्य द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः।
दारा दुहितरो भृत्या विषण्णा नाचरन् प्रियम्॥ ८॥

उसके दुर्व्यवहारके कारण उसके पुत्र एवं बन्धुगण उससे सर्वदा विद्वेषका भाव रखते थे; स्त्री सदैव विषादग्रस्त रहती थी, पुत्रियाँ एवं नौकर आदि कभी भी उसको प्रिय लगनेवाला आचरण नहीं करते थे॥ ८॥

तस्यैवं यक्षवित्तस्य च्युतस्योभयलोकतः।
धर्मकामविहीनस्य चुक्रुधुः पञ्चभागिनः॥ ९॥

यक्षके समान वह अपने धनकी रक्षामें लगा रहता था। न ही उसने कोई धर्म किया और न ही कोई भोग भोगा। लोक-परलोक दोनोंसे भ्रष्ट हो गया। पञ्चयज्ञ भागी देवता (देव, ऋषि, पितृ, मनुष्य एवं अन्य प्राणी) अपने-अपने अंशसे वञ्चित होनेके कारण उससे क्रोधित हो गये। (देवयज्ञ—देवपूजादि, ऋषियज्ञ—ऋषिसेवा, पितृयज्ञ— पितृ-श्राद्धादि, मानुषयज्ञ—अतिथिसेवा एवं भूतयज्ञ—साधारण प्राणियोंकी परितृप्तिके लिये अन्नादि दान)॥ ९॥

तदवध्यानविस्रस्तपुण्यस्कन्धस्य भूरिद।
अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं बह्वायासपरिश्रमः॥ १०॥

हे प्रभूतदानशील उद्धव! इस प्रकार पञ्चयज्ञभागी देवताओंके अनादरके कारण उसके सारे पुण्य नष्ट हो गये। पूर्वकृत पुण्यके जिस अंशसे उसे धन प्राप्त होता था, वह धन भी समाप्त हो गया तथा कृषि आदि व्यापार करके बहुत प्रयासोंसे जो धन उसने प्राप्त किया था, वह भी उसकी आँखोंके सामने जाता रहा॥ १०॥

ज्ञातयो जगृहुः किञ्चित् किञ्चिद्दस्यव उद्धव।
दैवतः कालतः किञ्चिद्ब्रह्मबन्धोर्नृपार्थिवात्॥ ११॥

हे उद्धव! उस अधम ब्राह्मणके धनका कुछ अंश तो उसके सगे-सम्बन्धियोंने छीन लिया, कुछ चोर-डाकू चुरा ले गये, कुछ घरमें आग लगनेसे नष्ट हो गया, कुछ दैव-दुर्विपाकसे (भाग्यके विपरीत क्रमसे) फसलके रूपमें नष्ट हो गया, कुछ कालके प्रभावसे नष्ट हो गया, कुछ साधारण मनुष्य ले भागे और जो थोड़ा-बहुत बचा, उसे राजकर्मचारियोंने कर अथवा दण्डके रूपमें ले लिया। इस प्रकार वह ब्रह्म-बन्धु (तथाकथित ब्राह्मण) पूरी तरहसे निर्धन हो गया॥ ११॥

स एवं द्रविणे नष्टे धर्मकामविवर्जितः।
उपेक्षितश्च स्वजनैश्चिन्तामाप दुरत्ययाम्॥ १२॥

उसका सम्पूर्ण धन नष्ट हो गया। इस ब्राह्मणने अपने जीवनमें न तो कोई धार्मिक अनुष्ठान किया, न ही किसी प्रकारका सांसारिक भोग भोगा। उसके अपने ही पुत्र-पत्नी आदि स्वजन उसकी उपेक्षा करते थे। इस अवस्थामें वह अत्यधिक चिन्ताग्रस्त हो गया॥ १२॥

तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तपस्विनः।
खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत्॥ १३॥

सम्पत्तिके नष्ट हो जानेके बाद ब्राह्मण सन्तप्त रहने लगा, दीर्घकालतक अपनी नष्ट सम्पत्तिके विषयमें सोचते रहनेसे उसका मन खिन्न हो गया, आँसुओंसे कण्ठ अवरुद्ध हो गया। अब इस ब्राह्मणके चित्तमें उत्कट वैराग्यका उदय हुआ। (इस कदर्य ब्राह्मणके अपराधमूलक भोगाचरणकी समाप्ति होनेपर किसी प्राचीन संस्कारविशेष द्वारा उसमें वैराग्य-बुद्धिका उदय हो गया)॥ १३॥

स चाहेदमहो कष्टं वृथात्मा मेऽनुतापितः।
न धर्माय न कामाय यस्यार्थायास ईदृशः॥ १४॥

वैराग्यसे अभिभूत होकर वह इस प्रकार कहने लगा—अहो! मैंने इतने परिश्रमके द्वारा जो सब धन-सम्पत्ति उपार्जित की थी,

वह न तो किञ्चित् मात्र धर्म-कर्ममें ही लगी और न ही मैं उसका कोई उपभोग कर सका। मैंने अपने शरीरको व्यर्थ ही कष्ट दिया। हाय! यह तो अत्यन्त कष्टकर है॥ १४॥

प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च॥ १५॥

जो अपने पुत्र-पत्नी आदिको दुःखी करता है, उस कृपणका वह धन उसे कभी सुख प्रदान नहीं कर सकता। इस लोकमें तो वह धन आत्म-कष्टप्रद होता ही है, व्ययके भयसे नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान न करनेसे परलोकमें भी नरकका कारण होता है॥ १५॥

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥ १६॥

जरा-सा श्वेत कुष्ठरोग जैसे सर्वाङ्गसुन्दर मनुष्योंके मनोरम सौन्दर्यको क्षति पहुँचाता है, वैसे ही तनिक-सा लोभ भी यशस्वियोंके निर्मल यश एवं गुणियोंके प्रशंसनीय गुणोंको नष्ट कर डालता है॥ १६॥

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ताभ्रमो नृणाम्॥ १७॥

अर्थके उपार्जन एवं वर्द्धनमें महाप्रयास, व्यय करनेमें त्रास, रक्षण एवं उपभोगमें दुश्चिन्ता एवं विनाशकी आशङ्का सदैव उपस्थित रहते हैं। अतः मनुष्योंको परिश्रम, भय, दुश्चिन्ता एवं आशङ्काओंसे सदैव ग्रस्त रहना पड़ता है॥ १७॥

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्द्धा व्यसनानि च॥ १८॥

एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥ १९॥

चोरी, हिंसा, मिथ्यावचन, दम्भ, काम, क्रोध, चिन्ता, गर्व, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता (स्त्री विषयक व्यसन),

जूआ एवं शराब—ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनके कारण ही उपस्थित होते हैं। अतएव कल्याणकामी पुरुषको अर्थरूप अनर्थका दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिए। इन्द्रिय-तर्पणके प्रतीक स्वरूप विनिमयकी उपयोगी स्वर्ण, रजत आदि मुद्राओंको भी 'अर्थ' कहा जाता है॥ १८-१९॥

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥ २०॥

भाई, पत्नी, पिता, मित्र, बान्धव आदि जो अतिप्रिय थे, एक प्राणसे बँधे थे, बीस कौड़ियों (अति अल्प धन) के लिये वे शीघ्र ही शत्रुता ठान लेते हैं और एक-दूसरेके वैरी बन जाते हैं॥ २०॥

अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्॥ २१॥

ऐसे अर्थ-लोलुप मनुष्य किञ्चित् धनके लिये क्षुभित एवं क्रोधित होकर सम्बन्ध एवं सौहार्दका सहसा ही परित्याग कर देते हैं। इनका चित्त स्पर्द्धाके वशीभूत होकर पिता, भाई आदिका वध करनेके लिये तत्पर हो जाता है॥ २१॥

लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद्द्विजाग्र्यताम्।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्॥ २२॥

जो लोग देवताओंके भी प्रार्थनीय दुर्लभ मनुष्य-जन्मको और उसमें भी श्रेष्ठ ब्राह्मण शरीरको प्राप्तकर उसका अनादर करते हैं और अपने सच्चे स्वार्थ—परमार्थका नाश करते हैं, वे नारकी गतिको प्राप्त होते हैं। देवजन्ममें सुखभोगातिशयता एवं मानवेतर जन्मोंमें दुःखातिशयताके कारण सर्वक्षण आत्म-हित-चिन्तनका अभाव रहता है—इसलिये मानव-जन्म देवताओंका भी वाञ्छित होता है॥ २२॥

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि॥ २३॥

अतः मरणधर्मशील ऐसा कौन-सा मनुष्य है, जो स्वर्ग एवं अपवर्गके द्वारस्वरूप इस दुर्लभ मनुष्य देहको प्राप्तकर अनर्थोंके (माया-मरीचिकाके) एकमात्र हेतुभूत धनमें आसक्त रहेगा?॥ २३॥

देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन् बन्धूंश्च भागिनः।
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः॥ २४॥

देव, ऋषि, पितर, प्राणी, भाई, बन्धु, कुटुम्बी—ये सभी धनके अंशीदार (भागीदार) हैं। जो इन्हें उनका अंश न ही देता है और न ही स्वयं उसका उपभोग करता है, यक्षतुल्य ऐसा धनसञ्चयी एवं धनरक्षक अवश्य ही अधःपतित होता है॥ २४॥

व्यर्थयार्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम्।
कुशला येन सिध्यन्ति जरठः किंनु साधये॥ २५॥

मैं इतने दिनों तक व्यर्थ ही अर्थ-संग्रहकी चेष्टामें प्रमत्त रहा, विवेकीगण इस अर्थको भगवत्-आराधनामें नियुक्त करके परमार्थ-सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, अब तो मेरा धन-सम्पत्ति, यौवन, बल सब कुछ नष्ट हो गया है। अब इस वृद्धावस्थामें कौन-सा श्रेयस्कर साधन करूँगा?॥ २५॥

कस्मात् संक्लिश्यते विद्वान् व्यर्थयार्थेहयासकृत्।
कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः॥ २६॥

इस लोकमें अर्थको अनर्थका विषय जानकर भी बड़े-बड़े विद्वान वृथा ही उसकी प्राप्ति हेतु निरन्तर प्रयास करते हैं, इसलिये उत्पीड़ित रहते हैं। निश्चय ही इस विषयमें लोग किसीकी मायासे अत्यन्त मोहित हो रहे हैं॥ २६॥

किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत।
मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः॥ २७॥

वस्तुतः जो मनुष्य निश्चितरूपसे मृत्युसे ग्रसित होनेवाला है, उसके लिये धन, धनप्रद वस्तु एवं देवता, काम, कामप्रद वस्तु

एवं भोगवासनाओंकी पूर्त्ति करनेवाले लोग और जन्मप्रद कर्मोंसे प्रयोजन ही क्या है? अथवा कर्मफलप्रद कर्त्तृत्वाभिमानका जीवके लिये प्रयोजन ही क्या है?॥ २७॥

नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः।
येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः॥ २८॥

जिनके अनुग्रहसे मेरी यह धनहीन अवस्था उपस्थित हुई है तथा संसार-सिन्धुमें निमज्जित आत्माके उद्धारके उपाय-स्वरूप (नौका-स्वरूप) जो वैराग्य मुझमें उदित हुआ है, वे सर्वदेवमय भगवान् श्रीहरि निश्चित ही मुझसे प्रसन्न हैं। वैराग्य ही संसार सागर पार करनेके लिये सुदृढ़ नौका है॥ २८॥

सोऽहं कालावशेषेण शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः।
अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे यदि स्यात् सिद्ध आत्मनि॥ २९॥

अतएव इसके बाद यदि मेरे जीवनका कुछ समय भी शेष रहता है, तो मैं सभी धर्मादि-साधन-विषयमें सावधान रहूँगा तथा अपने आपमें सन्तुष्ट रहकर तपस्याके द्वारा शरीरको सुखा डालूँगा अथवा ज्ञानाभ्यास द्वारा इसे लय कर दूँगा। आयु पर्यन्त समस्त स्वार्थके सारभूत भगवत्-चरण-चिन्तनमें सावधानीपूर्वक लगा रहा, तो मेरी सिद्धि हो जाएगी॥ २९॥

तत्र मामनुमोदेरन् देवास्त्रिभुवनेश्वराः।
मुहूर्त्तेन ब्रह्मलोकं खट्वाङ्गः समसाधयत्॥ ३०॥

त्रिलोकाधिपति देवतागण (इन्द्रादि देवता) इस विषयमें मेरा अनुमोदन करें (जिससे इस वृद्धावस्थामें कोई विघ्न उपस्थित न हो जाय)। खट्वाङ्ग राजाने मुहूर्त्तकाल (दो घड़ी) (चतुर्वर्गकी अभिलाषाका त्याग करके) साधनके द्वारा वैकुण्ठलोक प्राप्त कर लिया था; अतः मेरे लिये भी स्वल्पकालमें सिद्धि प्राप्त होना असम्भव नहीं है। (आवन्तिक ब्राह्मणने त्रिलोकस्थ देवताओंसे कृष्ण-भक्ति-वरदानकी प्रार्थना की है। भक्ति-परामर्शदाताओंकी कृपाके बिना साधककी भुक्ति-मुक्तिसे वितृष्णा नहीं होती।)॥ ३०॥

श्रीभगवानुवाच—

इत्यभिप्रेत्य मनसा ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः।
उन्मुच्य हृदयग्रन्थीन् शान्तो भिक्षुरभून्मुनिः॥ ३१॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा, अवन्ती देशका वह श्रेष्ठ ब्राह्मण मन-ही-मन सङ्कल्प करके एवं हृदयके समस्त अहङ्कार (भोग-मोक्ष-वासनाकी जटिल ग्रन्थि) तथा ममताके बन्धनका उन्मोचन करके शान्त, मौनी और संन्यासी हो गया। वह परम भाग्यवान् भगवद् भक्तके समान त्रिदण्डिभिक्षु हो गया॥ ३१॥

स चचार महीमेतां संयतात्मेन्द्रियानिलः।
भिक्षार्थं नगरग्रामानसङ्गोऽलक्षितोऽविशत्॥ ३२॥

उसने चित्त, इन्द्रिय एवं प्राणवायुका संयम कर लिया। (बुभुक्षु एवं मुमुक्षु—दोनों ही प्रकारके सङ्गका परित्याग करके) वह सब प्रकारसे निःसङ्ग होकर भूतलपर पर्यटन करता हुआ तथा अपने स्वरूपको दूसरोंसे अलक्षित रखता हुआ अनासक्त चित्तसे (अमानित्व धर्ममें प्रतिष्ठित होकर) भिक्षाके लिये नगर-नगर और गाँव-गाँवमें घूमने लगा॥ ३२॥

तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः।
दृष्ट्वा पर्यभवन् भद्र बह्वीभिः परिभूतिभिः॥ ३३॥

हे भद्र! नगर एवं गाँवमें आये उस वृद्ध मलिन भिक्षुको देखकर दुर्जन विविध प्रकारके तिरस्कारों द्वारा उसका अपमान करने लगे॥ ३३॥

केचित् त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुम्।
पीठञ्चैकेऽक्षसूत्रञ्च कन्थां चीराणि केचन।
प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्याददुर्मुनेः॥ ३४॥

कोई उस मुनिके (मौनरतके) त्रिदण्डको छीन लेता, तो कोई भिक्षापात्रको, कोई उसके कमण्डलुको तो कोई उसके आसनको ले भागता, कोई उसके अक्ष-सूत्रको (जप-मालाको) तो कोई कन्था

(गूदड़ी) और वस्त्र-खण्डोंको (लँगोटी आदिको) झटक लेता। कभी वे इन वस्तुओंको उसे देनेके लिये उसके सामने दिखाते और फिर उन्हें ले भागते। एक देता, दूसरा छीन लेता॥ ३४॥

अन्नञ्च भैक्ष्यसम्पन्नं भुञ्जानस्य सरित्तटे।
मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः ष्ठीवन्त्यस्य च मूर्द्धनि॥ ३५॥

जब वह नदीके किनारे बैठकर भिक्षा प्राप्त अन्नको भोजन करने लगता, तब पापी लोग उसके अन्न पर मूत्र त्याग कर देते और उसके मस्तक पर थूक देते॥ ३५॥

यतवाचं वाचयन्ति ताडयन्ति न वक्ति चेत्।
तर्ज्जयन्त्यपरे वाग्भिः स्तेनोऽयमितिवादिनः।
बध्नन्ति रज्ज्वा तं केचिद्वध्यतां बध्यतामिति॥ ३६॥

कोई उसी मौनव्रती संन्यासीको वाक्योच्चारणमें प्रवर्तित करनेकी चेष्टा करता (अर्थात् उससे कुछ कहलवानेकी चेष्टा करता), जब वह नहीं बोलता, तो दण्डादिके द्वारा उसे मारने लगता। दूसरा कोई 'यह व्यक्ति चोर है'—इस प्रकार कहकर उसकी भर्त्सना करता और कोई 'इसे बाँध लो' कहकर रस्सीसे बाँध देता॥ ३६॥

क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठः।
क्षीणवित्त इमां वृत्तिमग्रहीत् स्वजनोज्झितः॥ ३७॥

यह धूर्त्त है, कपटी धार्मिक (ढोंगी) है, अपनी धन-सम्पत्ति खो बैठा है, अतः बन्धु बान्धवोंने इसे घरसे निकाल दिया है, अब जीवन-निर्वाहके लिये त्रिदण्ड लेकर भिक्षु-वेश धारण कर लिया है—इस प्रकार कहकर उसकी अवज्ञा और निन्दा किया करते॥ ३७॥

अहो एष महासारो धृतिमान् गिरिराडिव।
मौनेन साधयत्यर्थं बकवद्दृढ़निश्चयः॥ ३८॥
इत्येके विहसन्त्येनमेके दुर्वातयन्ति च।
तं बबन्धुर्निरुरुधुर्यथा क्रीडनकं द्विजम्॥ ३९॥

अहो! इस महाबलीने हिमालय पर्वतके समान धैर्य धारण कर लिया है और बगुलेके समान दृढ़निश्चयी होकर चुपचाप अपने स्वार्थके साधनेमें लगा हुआ है—यह कहकर कोई उसका परिहास करता, कोई उसके ऊपर अधोवायु छोड़ देता और कोई शुक-सारिका आदि पालतू पक्षियोंके समान उसे जंजीरोंसे बाँध देता तो कोई उस ब्राह्मणको घरमें कारागृहके समान बन्दी कर लेता। (जड़ाभिमान परित्यागके परिणामस्वरूप सहिष्णुता गुण स्वतः ही आ जाता है।)॥ ३८-३९॥

एवं स भौतिकं दुःखं दैविकं दैहिकञ्च यत्।
भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमबुध्यत॥ ४०॥

इस प्रकार उसे पुनः-पुनः आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक दुःख प्राप्त होते—परन्तु वह यही निर्णय करता कि यह सब दैव (विधाता) द्वारा प्रदत्त है, इसे मुझे अवश्य ही भोगना पड़ेगा। (अतः वह दुर्जनों द्वारा दी गयी यन्त्रणाओंको, दैहिक जरादिको तथा दैविक शीत-उष्णादि द्वन्द्वोंको सह लेता। श्रीनित्यानन्दके चरणाश्रयसे तीनों प्रकारके तापोंकी शान्ति हो जाती है। अनर्थनिवृत्त जीव विष्णुभक्तिहीन पाखण्डियोंके दुष्कार्योंसे विचलित नहीं होते, बल्कि उनसे पराङ्मुख रहते हैं)॥ ४०॥

परिभूत इमां गाथामगायत नराधमैः।
पातयद्भिः स्वधर्मस्थो धृतिमास्थाय सात्त्विकीम्॥ ४१॥

अधम मनुष्य उसे स्वधर्मसे स्खलित करनेके लिये अनेक प्रकारके तिरस्कार करते, पर वह सात्त्विक धैर्यका आश्रय लेकर अपने धर्ममें दृढ़तापूर्वक स्थित रहता। (भिक्षु त्रिदण्ड ग्रहणके समयसे ही भिक्षु-गीतकी दुहाई देते हैं और सब प्रकारसे उपदेशामृतके विचारोंका आचरण करते हैं) अपने मन, प्राण, इन्द्रिय एवं क्रियाओंको धैर्यपूर्वक नियन्त्रण करके उस भिक्षुने जो उद्गार व्यक्त किये, उसे भिक्षुगीत कहा जाता है॥ ४१॥

द्विज उवाच—

नायं जनो मे सुखदुःखहेतु-
र्न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः।
मनः परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्त्तयेद् यत्॥ ४२॥

ब्राह्मणने कहा—मनुष्य, देवता, आत्मा, फलदाता ग्रह, स्वकृतकर्म अथवा विधाता काल, ये मेरे सुख-दुःखके कारण नहीं हैं—श्रुतिगण एवं तत्त्वज्ञानी कहते हैं कि जिसके द्वारा यह संसार-चक्र परिभ्रमित हो रहा है—वह मन ही सुख-दुःखका एकमात्र कारण है। मनके द्वारा ही जीव देखता-सुनता है। भोगबुद्धिरूप यह मन ही समस्त अमङ्गलका आकर है। तत्त्वज्ञगण इसी प्रकारसे बतलाते हैं॥ ४२॥

मनो गुणान् वै सृजते बलीय-
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति॥ ४३॥

महा बलवान् मन ही जीवोंके चित्तमें गुणोंकी सृष्टि करता है और उन्हीं गुणोंसे सात्त्विक, राजसिक और तामसिक नाना प्रकारके विचित्र कर्मसमूह उत्पन्न होते हैं। इन कर्मोंके अनुरूप ही देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि विविध गतियाँ होती हैं। मनोधर्मी व्यक्ति आत्माकी अप्राकृत अनुभूतिको विस्मृत कर बैठता है॥ ४३॥

अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे।
मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामान्
जुषन् निबद्धो गुणसङ्गतोऽसौ॥ ४४॥

जीवोंके नियन्ता, सखा (जीवात्माका सनातन सखा), ज्ञानशक्ति सम्पन्न परमात्मा क्रियाशील मनके साथ उपस्थित रहनेपर भी स्वयं निष्क्रियरूपसे मात्र साक्षीरूपसे समस्तका दर्शन करते हैं। जिसकी

अभिव्यक्ति संसार-द्योतक मनके द्वारा होती है, उसी मनको जीवात्मा आत्मरूपमें अर्थात् 'मैं' रूपमें ग्रहणकर उसके कर्मसङ्गके कारण उस मनकी क्रियाओंका भोक्ता बन जाता है तथा विषयोंका भोग करते-करते संसारमें बँध जाता है। मनके अध्यास (भ्रम) के कारण ही जीवका संसार है। [बद्ध जीव चतुर्वर्ग-प्राप्तिको जो प्रयोजन मानता है, वह भ्रान्तिमूलक है। भक्तिके प्रभावसे इस भ्रान्तिका संशोधन हो जाता है। ज्ञातव्य है कि साधनकी सिद्धिमें सूक्ष्म देह-भङ्गकी (मनरूपी लिङ्ग-शरीरके भङ्गकी) व्यवस्था है—वही वस्तुसिद्धिका प्राक्-भाव है]॥ ४४॥

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतञ्च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥ ४५॥

दान, नित्य-नैमित्तिक स्वधर्म, यम, नियम, शास्त्र-श्रवण (स्वाध्याय), एकादशी आदि सद्व्रत एवं सत्कर्म—ये सभी मनोनिग्रहरूप फल-प्राप्तिके लिये ही अनुष्ठित होते हैं। मनका निग्रह अथवा समाधि (एकाग्र होकर मनका सम्पूर्णरूपेण भगवान्‌में लग जाना) ही परम योगरूपमें अथवा परम ज्ञानरूपमें कथित है। (भगवद्-भक्ति योगके प्रभावसे मनकी समाधि होती है। अभक्तिपूर्वक किये गये कर्मयोग, हठयोग, ज्ञानयोग एवं राजयोग इत्यादिसे मनकी समाधिकी उपलब्धि नहीं हो सकती)॥ ४५॥

समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं
दानादिभिः किं वद तस्य कृत्यम्।
असंयतं यस्य मनो विनश्य-
द्दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः॥ ४६॥

जिसका मन संयमित, प्रशान्त और समाहित है, उसे दानादि सभी साधनोंका फल प्राप्त हो चुका है, उसका ऐसे अनुष्ठानोंसे

कोई प्रयोजन नहीं है, परन्तु जिसका मन आलस्यादिमें लीन, असंयमित एवं विक्षिप्त है, उसका इन दानादि अनुष्ठानोंसे क्या इष्ट-साधन होगा? वस्तुतः मनका निग्रह प्रधान है॥ ४६॥

मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा
मनश्च नान्यस्य वशं समेति।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्
युज्ज्याद्वशे तं स हि देवदेवः॥ ४७॥

इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता मनके वशीभूत हैं, परन्तु मन किसीके भी वशीभूत नहीं होता। यह मन (मनरूपी देवता) बलवान्‌से भी महाबलशाली, योगियोंसे भी भयङ्कर एवं साहसियोंसे भी अधिक साहसी है। जो ऐसे मनको वशीभूत कर लेता है, वह सर्वेन्द्रिय-विजयी होता है। मनके वशीभूत होनेपर समस्त इन्द्रियाँ वशीभूत होती हैं, अन्यथा इनकी वृत्तियाँ मनकी परिचालिका बन जाती हैं॥ ४७॥

तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेगम्
अरुन्तुदं तन्न विजित्य केचित्।
कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यै-
र्मित्राण्युदासीनरिपून् विमूढाः॥ ४८॥

अतएव वे लोग अत्यन्त मूर्ख हैं, जो असहनीय रागादि वेगोंसे युक्त, मर्म-पीड़क (हृदय आदि अन्तःकरणको व्यथित करनेवाला) मनरूप दुर्जय शत्रुको पराजित न कर उसके लिये व्यर्थ ही किसी मनुष्यके साथ अनुचित अथवा प्रतिकूल आचरण (कलह) करते हैं। इस कलहके कारण वे किसीको मित्र, किसीको शत्रु और किसीको उदासीन समझते हैं। (सङ्कल्प-विकल्प, राग-द्वेष एवं प्रणय-विरोध आदि सभी मनके धर्म हैं। इनसे इन्द्रियोंमें प्रबल वेग उपस्थित होता है, जिससे मनुष्य मिथ्या अहङ्कारमें लीन हो जाता है और इस जगत्‌में नाना भौतिक देहोंको धारण करता है)॥ ४८॥

देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा
ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः।
एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण
दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति॥ ४९॥

मनुष्य मनः-कल्पित इस देहको आत्मरूपमें तथा पुत्रादिकी देहको आत्मीयरूपमें स्वीकार करते हैं और विवेक ज्ञानसे रहित होकर 'यह मैं हूँ', 'यह मुझसे अलग कोई और है' इत्यादि भ्रमवश अपार संसारमें भ्रमण (गमन-आगमन) करते रहते हैं॥ ४९॥

जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनश्चात्र हि भौमयोस्तत्।
जिह्वां क्वचित् सन्दशति स्वदद्भि-
स्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत्॥ ५०॥

यदि इस जगत्में मनुष्य ही सुख-दुःखका कारण है, तो भी आत्मा सुख-दुःखका कर्त्ता अथवा कर्म नहीं है। आत्माका सुख-दुःखसे कोई सम्बन्ध नहीं है। विकारयुक्त स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरमें ही कर्त्तृत्व अथवा कर्मत्व रहता है (सुख-दुःखके कर्त्ता एवं कर्म दोनों पार्थिव हैं—दोनों ही पृथ्वीके विकार मात्र हैं। अमूर्त्त एवं अविकृत आत्मा हननादि क्रियाओंका न तो कर्त्ता हो सकता है और न कर्म)। यदि मनुष्य कभी अपने ही दाँतसे अपनी जीभ काट ले, तो उससे जो वेदना होगी—उसके लिये क्या वह दूसरे पर कोप कर सकेगा? जिस दाँतने उसे दुःख दिया है, क्या वह उस दाँतको क्षति पहुँचाएगा? अतः किसीपर क्रोध करना उचित नहीं है॥ ५०॥

दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु
किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत्।
यदङ्गमङ्गेन निहन्यते क्वचित्
क्रुध्येत कस्मै पुरुषः स्वदेहे॥ ५१॥

यदि इन्द्रियाधिष्ठाता देवता सुख-दुःखके कारण होते हैं, तो भी आत्माका सुख-दुःख विषयमें कर्तृत्व अथवा कर्मत्व नहीं कहा जा सकता। विकारभूत इन्द्रियाधिष्ठाता देवता यदि कर्त्ता हैं, तो कर्म (भोक्ता) भी वही हैं (यदि दुःखके कारण देवता हैं, तो दुःख सहनेवाले भी इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता ही हैं), आत्माको दोष देना सङ्गत नहीं है। अतएव देहस्थ कोई अङ्ग किसी अन्य अङ्ग द्वारा आहत होता है, तो मनुष्य किसके प्रति क्रोध करेगा?॥५१॥

आत्मा यदि स्यात् सुखदुःखहेतुः
किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः।
नह्यात्मनोऽन्यद् यदि तन्मृषा स्यात्
क्रुध्येत कस्मात्र सुखं न दुःखम्॥५२॥

यदि आत्माको ही सुख-दुःखका हेतु मानकर कल्पना की जाय, तो इसे आत्माका स्वभाव मानकर किसी दूसरेके प्रति कोप नहीं करना चाहिए, क्योंकि किसी दूसरेका कोई अपराध नहीं है। अपना स्वभाव ही सुख-दुःखका कारण है। यदि अन्य किसी पदार्थकी प्रतीति (अनात्म प्रतीतिमें आत्म प्रतीति) होती है, तो मिथ्या होनेके कारण सुख-दुःख है ही नहीं; अतः किसीपर कोपका कोई कारण भी नहीं है। आत्मासे भिन्न दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। जड़ीय सुख-दुःख भोग आत्मधर्म नहीं है, इसलिये आत्मामें सुख-दुःखका अस्तित्व नहीं है॥५२॥

ग्रहा निमित्तं सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै।
ग्रहैर्ग्रस्यैव वदन्ति पीडां
क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः॥५३॥

सूर्य आदि ग्रहोंको यदि सुख-दुःखका कारण मानते हो, तो भी अजन्मा (जन्म-रहित) आत्माका सुख अथवा दुःख सम्भवपर नहीं है, क्योंकि ग्रह शरीरके ही सुख-दुःखके निमित्त होते हैं और दैवज्ञ गण भी आकाश-स्थित ग्रहों द्वारा शरीर-स्थित ग्रहोंको

ही पीड़ा देते हैं। (ज्योतिषियोंके अनुसार ग्रहोंका प्रभाव उन पर पड़ता है, जिनका जन्म हो चुका है। अतः जन्म-लग्नादिकी अपेक्षासे अष्टम, द्वादश आदि राशियोंपर बैठकर ग्रह ही दुःखके निमित्त होते हैं—आकाश स्थित ग्रहोंके द्वारा आकाश स्थित ग्रहोंकी अष्टमादि दृष्टि भेदसे शरीरमें पीड़ा होती है) अतएव शरीर एवं ग्रहसे भिन्न आत्मा किसलिये और किसपर क्रोध करे?॥ ५३॥

कर्मास्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे।
देहस्त्वचित् पुरुषोऽयं सुपर्णः
क्रुध्येत कस्मै नहि कर्ममूलम्॥ ५४॥

कर्म यदि सुख-दुःखका कारण है, तो भी आत्माका कोई प्रयोजन ही नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ जड़त्व एवं चेतनत्व—इन दोनों धर्मोंसे युक्त हो, उसके लिये ही कर्म सम्भव है, परन्तु शरीर केवल जड़त्व धर्मसे युक्त है और आत्मा केवल चैतन्य धर्मसे युक्त है। जड़ होनेके कारण विकारवान् होना युक्तियुक्त है तथा चेतन होनेके कारण हित-अहितके अनुसन्धानकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है। जड़ शरीरमें चेतनत्व नहीं है, अतः उसकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। चेतन आत्मा शरीर एवं ग्रह दोनोंसे पृथक् ज्ञानस्वरूप है। अतः शरीर एवं आत्मा—दोनोंके लिये ही सुख-दुःखजनक कर्म सम्भव नहीं हैं—अतः किसके प्रति क्रोध किया जाय?॥ ५४॥

कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनास्तत्र तदात्मकोऽसौ।
नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत् स्यात्
क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम्॥ ५५॥

यदि कालको सुख-दुःखका हेतु कहा जाय, तो भी आत्माका सुख-दुःख सम्भव नहीं है। यह जीवात्मा चेतनात्मक ब्रह्मका अंशभूत है और कालका ब्रह्मसे ऐक्य है। अतः आत्मा कालरूपी ब्रह्मका अंश होनेके कारण किसी प्रकारका दुःखादि प्राप्त कर नहीं सकता।

अंशको अंशीसे उसी प्रकार दुःख नहीं हो सकता, जिस प्रकार अग्नि अपने अंश शिखा इत्यादिको तप्त अथवा दग्ध नहीं कर सकता और हिम अपने अंश तुषारकण आदिको (हिमकणोंको) विनष्ट नहीं कर सकता। अग्नि अपने उत्तापके कारण और शीतल वस्तु अपने शैत्यके कारण कष्टका अनुभव नहीं करती, इसी प्रकार आत्मा कालका अंश होनेके कारण किसी प्रकारके दुःखादिको प्राप्त नहीं कर सकता। वस्तुतः आत्माका सुख-दुःख न रहनेके कारण किसी पर कोप क्यों किया जाय? बद्ध बुद्धिमें जो तात्कालिकता है, उसी कारण किसी समय सुख, किसी समय दुःख इत्यादि अज्ञानके कारण उपलब्ध होते हैं, जिनका जीवात्माके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है॥ ५५॥

न केनचित् क्वापि कथञ्चनास्य
द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य।
यथाहमः संसृतिरूपिणः स्या-
देवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः॥ ५६॥

अविद्यमान (मिथ्या) संसारके प्रकाशक अहङ्कारका जिस प्रकार सुख-दुःखादिसे सम्बन्ध होता है, प्रकृतिसे अतीत आत्म-वस्तुका कहीं भी किसीके साथ किसी भी प्रकारके सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं है। प्रबुद्ध मनुष्य यदि यह जान ले (कि अहङ्कार निमित्त मात्र है, वास्तविक नहीं), तो वह किसी भी भौतिक प्राणी अथवा निमित्तसे भयभीत नहीं होता॥ ५६॥

एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठा-
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव॥ ५७॥

इसलिये प्राचीन ऋषि-मुनियोंने जिस परमात्मनिष्ठाका आश्रय लेकर श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवाके द्वारा दुरन्तपार (अनन्त, अपार) तमःस्वरूप संसारको पार कर लिया था, उसी प्रकार

कृष्णपादपद्मकी सेवा करके मैं भी अज्ञान-अन्धकाररूप इस संसार-सागरको अवश्य ही पार कर जाऊँगा॥ ५७॥

श्रीभगवानुवाच—

निर्विद्य नष्टद्रविणे गतक्लमः
प्रव्रज्य गां पर्यटमान इत्थम्।
निराकृतोऽसद्भिरपि स्वधर्मा-
दकम्पितोऽमुं मुनिराह गाथाम्॥ ५८॥

भगवान्‌ने कहा—धन क्या विनष्ट हुआ, वह ब्राह्मण ही विरक्त हो गया और उसने संन्यास ग्रहण कर लिया। वह अवसाद एवं क्लान्तिरहित होकर पृथ्वीपर बड़े उत्साहके साथ विचरण करने लगा। दुर्जनोंने पूर्वोक्तक्रमसे उसका बहुत तिरस्कार किया, परन्तु वह स्वधर्मसे विचलित नहीं हुआ। वह यही गीत गाता रहता था। जब तक त्रिदण्डिभिक्षुकी गाथाके श्रवणकी योग्यता नहीं आती, तब तक संसार-दास्य प्रबल ही रहता है॥ ५८॥

सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः।
मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः॥ ५९॥

मनुष्योंके लिये सुख-दुःखप्रद दूसरा कोई भी नहीं है। मित्र, उदासीन, शत्रु अथवा संसार—यह सब केवल चित्तका भ्रम है, अज्ञान-कल्पित है, वस्तुतः सत्य नहीं है॥ ५९॥

तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया।
मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः॥ ६०॥

हे उद्धव! अतएव मेरे प्रति अपनी बुद्धिको समाहित करके मुझसे युक्त हो जाओ। इसको ही योगके साररूपमें समझो। एकमात्र भक्तियोग ही मनका निग्रह करनेमें समर्थ है। कर्मयोग, हठयोग, ज्ञानयोग, राजयोग इत्यादि मनचाञ्चल्यकारी धर्म-प्रणालियोंमें जीव आबद्ध होकर अभक्त हो जाता है और वैकुण्ठ-कृपासे वञ्चित हो जाता है। शुद्ध भक्ति ही समस्त धर्मोंका सार है॥ ६०॥

य एतां भिक्षुणा गीतां ब्रह्मनिष्ठां समाहितः।
धारयन् श्रावयन् श्रृण्वन् द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे भिक्षुगीत नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

जो समाहित चित्तमें भिक्षु (वैष्णव-संन्यासी) द्वारा गाये हुए इस ब्रह्मज्ञानतत्त्वको स्वयं धारण करता है तथा दूसरोंके निकट इसका कीर्त्तन करता है अथवा स्वयं इसका श्रवण करता है, वह सुख-दुःखादिसे कभी भी अभिभूत नहीं होता। [अखिल दया सम्पन्न होकर अमन्दोदय-दयाके वितरण द्वारा जीवको अनुसरण-पथपर (कृष्ण-सेवा-मार्गपर) चलनेका परामर्श इस गीत द्वारा दिया गया है। चतुर्वर्गाभिलाषीको गुरुके रूपमें वरण करके मनुष्य व्रजेन्द्रनन्दनके स्वरूपबोध एवं प्रेमसे चिर-वञ्चित हो जाता है। भिक्षु गीतसे सम्पूर्ण मोह दूर हो जाता है और भगवान् अपने भक्तोंके हृदयमें परमानन्दरूपमें प्रकाशित होने लगते हैं।]॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके तेईसवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्विंशोऽध्यायः

सांख्ययोगका विवेचन

श्रीभगवानुवाच—

अथ ते संप्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम्।
यद्विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद्वैकल्पिकं भ्रमम्॥ १॥

मनः-प्रधान सूक्ष्मदेहमें अहं बुद्धि अथवा आत्मामें देहबुद्धिका आरोप होना ही जीवात्माके दुःखका कारण है, यह भिक्षुगीतमें बताया गया था। आत्मा एवं अनात्मका पार्थक्य-ज्ञान सांख्य-ज्ञान-मूलक है—इसीका उपदेश करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—हे उद्धव! मनुष्य जिस तत्त्वसे अवगत होकर उसी समय भेदबुद्धि-मूलक सुख-दुःखादि भ्रमका परित्याग कर देता है एवं भ्रमसे मुक्त हो जाता है, उस कपिलादि महाजनों द्वारा निर्दिष्ट सांख्य-ज्ञानका (सत्ययुगके प्रारम्भसे पूर्व महाप्रलयके समय महर्षि कपिलने सांख्य शास्त्रका प्रणयन किया था) मैं अब तुम्हारे लिये वर्णन करूँगा॥ १॥

आसीज्ज्ञानमथो अर्थ एकमेवाविकल्पितम्।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे॥ २॥

युगोंसे पूर्व अर्थात् जब युग प्रवर्त्तित नहीं हुआ था—उस प्रलयकालमें एवं आदि सत्ययुगमें (सत्यके आविर्भाव युगको 'सत्य युग' कहा जाता है) जब सर्वप्रथम युग प्रवर्त्तित हुआ था, तब जो भी मनुष्य विद्यमान थे, वे सभी भेद-बुद्धिसे रहित विवेक-निपुण थे। उस समय समग्र ज्ञान (ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् शब्दों द्वारा कथित अद्वय ज्ञान अर्थात् द्रष्टा) से किसी भी भेदसे रहित एक निर्विकल्प (अपृथक्) रूपमें ही अवस्थित था अर्थात् संहारके समय द्रष्टाका ही एकमात्र अस्तित्व था, जो दृश्य पदार्थसे (जीव, जगत्से) अभिन्न है॥ २॥

तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम्।
वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद्बृहत्॥ ३॥

अनन्तर वाणी एवं मनके लिये अगोचर (दुर्गम), निर्विकल्पक, सत्य, केवल भावयुक्त बृहत्-ब्रह्मने स्वयंको माया (बहिरङ्गा नामकी निजशक्ति) एवं फल (जीवके फल-भोगके लिये तत्प्रकाशस्वरूप—निज चित्कणरूप तटस्था शक्ति) रूप दो भागोंमें प्रकट कर दिया। ये दोनों ही भगवान्‌से अभिन्न हैं। माया अव्यक्त है एवं जीव अति सूक्ष्म है—ये दोनों ही सत्य एवं नित्य हैं॥ ३॥

तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते॥ ४॥

इन दो भागोंमें माया नामका पदार्थ—प्रकृति एक अंश है—जो कार्य एवं कारणस्वरूपा (उभयस्वरूपा) है और दूसरा पदार्थ ज्ञानस्वरूप (चेतनामय) पुरुष है—यह पुरुष ही जीवात्मा (भोक्ता) है॥ ४॥

तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च॥ ५॥

अनन्तर मुझ पुरुष द्वारा प्रकृतिमें ईक्षण द्वारा क्षोभ उत्पन्न करनेपर सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण आविर्भूत हुए। ये तीनों गुण परस्पर विरुद्ध भावोंसे युक्त हैं और जय-पराजय धर्ममें अवस्थित हैं। ये ही जन्म, स्थिति एवं प्रलयादि क्रियाओंके मूल आकर हैं। (तीनों गुण एक दूसरे पर विजय पानेके लिये शत्रुवत् बन जाते हैं। इसी कारण जन्मादि तीनों क्रियाओंमें निरन्तर होड़ लगी रहती है। जीवके प्राक्तन (प्रारब्ध) कर्म, ज्ञान, भक्ति-साधन सम्पन्न हों, जीवका अदृष्ट प्रयुक्त हो, इसीलिये भगवान्‌से इङ्गित होकर प्रकृति प्रपञ्चकी सृष्टि करती है)॥ ५॥

तेभ्यः समभवत् सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः।
ततो विकुर्वतो जातो योऽहङ्कारो यो विमोहनः॥ ६॥

(अब सृष्टिकी प्रसिद्ध धाराका निरूपण करते हैं) उन तीनों गुणोंसे आदि सूत्र अर्थात् क्रियाशक्तिप्रधान प्रथम विकार-पदार्थ (कर्मशक्तियुक्त प्रकृतिका प्रथम रूपान्तर) और इसी सूत्रसे संयुक्त (पृथक् नहीं) ज्ञानशक्तिप्रधान महत्-तत्त्व उत्पन्न हुआ (महत्-तत्त्व ज्ञान एवं क्रियासे युक्त होनेके कारण सूत्रसे संयुक्त है)। विकारभावयुक्त (रूपान्तरित होनेवाले) उस महत्-तत्त्वसे ज्ञानशक्तिरूप अहङ्कार उत्पन्न हुआ, जो जीवके भ्रमका अथवा मोहका हेतुभूत है। [जिस परिमाणमें भक्तिमें शिथिलता आती है, उतने परिमाणमें जड़ भोग अथवा त्याग प्रवृत्ति उसी प्रकार बढ़ती है, जिस प्रकार आलोकके क्षीण होनेपर अन्धकार बढ़ता जाता है। सूत्र प्रकृतिका प्रथम विकार (रूपान्तर) है, जो कर्म-शक्तिको प्रकट करता है और सूत्रसे युक्त जो महत्तत्त्व है, वह ज्ञान शक्तिसे युक्त है। सूत्र शब्द आरम्भ-ज्ञापक है। विश्व-प्रपञ्चमें मनुष्यका ज्ञान कर्म तथा मनोज्ञानसे आवृत रहता है और इसीसे प्रारब्ध बन जाते हैं]॥ ६॥

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत्।
तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः॥ ७॥

अहङ्कार वैकारिक, तैजस, एवं तामस—इन तीनों वृत्तियोंसे समन्वित (युक्त) है एवं पञ्च तन्मात्राओं, इन्द्रिय एवं मनका कारण है। यह चिदाभास प्राप्त (चेतन आत्मा) होनेके कारण चिन्मय एवं जड़त्वके (अचेतन शरीरके) कारण अचिन्मय होनेके कारण उभयात्मक है। उभयात्मक होनेसे यह प्रकृतिके तीनों गुणोंसे मोहित हो जाता है और भक्तिके प्रतिकूल चेतनकी आवृत वृत्तिका प्रदर्शन करता है॥ ७॥

अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे तामसादिन्द्रियाणि च।
तैजसाद्देवता आसन्नेकादश च वैकृतात्॥ ८॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पञ्च तन्मात्राओंके (भौतिक जगत्की अनुभूतियोंके) कारणस्वरूप तामस अहङ्कारसे

तामस पदार्थ अर्थात् आकाशादि पञ्च महाभूत (आवरण स्वभावके कारण ये तामस कहे जाते हैं), तैजससे (राजससे) दस इन्द्रियाँ (ये प्रबल प्रवृत्तिवाली होती हैं) एवं सात्त्विकसे (वैकृतसे) दिक् (दिशाओंके देवता), वायु, सूर्य, प्रचेता, अश्विनी, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र, ब्रह्मा और चन्द्र—इन ग्यारह इन्द्रियाधिष्ठातृ देवताओं एवं मनकी उत्पत्ति हुई। शब्दसे मनका भी ग्रहण होता है। देवता स्वभावतः प्रकाशमय होते हैं॥ ८॥

मया सञ्चोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणः।
अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तमम्॥ ९॥

पूर्वोक्त सभी सूत्रादि पदार्थोंने मेरी (वैराज अन्तर्यामीकी) प्रेरणासे सम्मिलितरूपसे क्रियाशील होकर ब्रह्माण्डकी सृष्टि की—जो मेरा आयतनस्वरूप (सर्वोत्तम निवास) है॥ ९॥

तस्मिन्नहं समभवमण्डे सलिलसंस्थितौ।
मम नाभ्यामभूत् पद्मं विश्वाख्यं तत्र चात्मभूः॥ १०॥

तदनन्तर उक्त अण्ड कारणजलमें स्थित हो गया। ब्रह्माण्डके अन्तर्गत जलकी जहाँ संस्थिति है, वहाँ मैं नारायण गर्भोदशायीरूप विष्णु-लीलाविग्रहको स्वीकार करते हुए प्रकाशित हुआ। उस समय मेरी नाभिसे लोक-कारण-स्वरूप विश्व नामक पद्म उत्पन्न हुआ। उस पद्मसे वैराज (जीवोंके आदि पुरुष) ही पुनः भोग-विग्रह चतुरानन ब्रह्मा रूपमें आविर्भूत हुए॥ १०॥

सोऽसृजत् तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात्।
लोकान् सपालान् विश्वात्मा भूर्भुवःस्वरिति त्रिधा॥ ११॥

उन विश्वात्मा ब्रह्माने रजोगुणसे युक्त होकर मेरे अनुग्रहसे तपके प्रभावसे लोकपालोंके सहित भूः, भुवः, स्वः—इन तीन लोकोंकी एवं लोकपालोंकी सृष्टि की॥ ११॥

देवानामोक आसीत् स्वर्भूतानाञ्च भुवः पदम्।
मर्त्यादीनाञ्च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात् परम्॥ १२॥

स्वर्गलोक देवताओंका वास-स्थान, भूलोक मरणशील प्राणियोंका वास-स्थान तथा अन्तरिक्ष भूत, प्रेत एवं पिशाचोंका और दोनों ही लोकोंके जीवोंका तात्कालिक (अस्थायी) निवास है। इस त्रिलोकीसे परे महः इत्यादि लोक सिद्ध जीवोंके निवास-स्थान हैं। इस ब्रह्माण्डसे मुक्ति प्राप्त करनेवालोंकी चेष्टाके फलस्वरूप सत्यादि (सत्य, महः, जन एवं तप) चार लोक स्थित हैं॥ १२॥

अधोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत् प्रभुः।
त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम्॥ १३॥

सृष्टि आदि कार्य करनेमें समर्थ ब्रह्माजीने पृथ्वीके नीचेके स्थानोंमें असुर और नागोंके आवास-स्थानके रूपमें अतल, पाताल आदि लोकोंका निर्माण किया। त्रिगुणात्मक कर्मफल-बाध्य जीव इन्हीं पाताल आदि लोकोंके सहित त्रिलोकीमें देवता आदि ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं॥ १३॥

योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः।
महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः॥ १४॥

तपस्या, योग और संन्यासादिके न्यूनाधिक प्रभावसे जीव महः, जन, तपः एवं सत्य लोकमें विशुद्ध (उत्तम) गति प्राप्त करते हैं। इन समस्त लोकोंकी प्राप्ति अल्पकालके लिये ही होती है; जैसे ही अर्जित कारणोंका क्षय हो जाता है, वैसे ही जीव तद्-तद् लोकोंसे पतित हो जाते हैं। मेरी भक्तिके योगसे निर्गुण साधकको वैकुण्ठलोक प्राप्त होता है॥ १४॥

मया कालात्मना धात्रा कर्मयुक्तमिदं जगत्।
गुणप्रवाह एतस्मिनुन्मज्जति निमज्जति॥ १५॥

इस कर्मयुक्त जगत्की सृष्टि मैंने की है। मैं कालात्मक (कालशक्तिधारी) परमेश्वर कर्मफल-प्रदाता हूँ। सत्त्वादि गुण-प्रवाह-जात इस संसारमें पड़ा हुआ जीव कभी सत्यलोक पर्यन्त उच्च गति

प्राप्त करता है और कभी स्थावर आदि निम्न गति प्राप्त करता है। मैं विधाता अपनी कालशक्तिके द्वारा कर्मफल भोगी जीवोंको चौदह भुवनोंमें विचरण कराता हूँ॥ १५॥

अणुर्बृहत् कृशः स्थूलो यो यो भावः प्रसिद्ध्यति।
सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च॥ १६॥

अणु-बृहत्, कृश-स्थूल इत्यादि जितने भी भाव (स्वरूप अथवा धर्म) जगत्में विद्यमान हैं, वे सभी भौतिक प्रकृति एवं भोक्ता पुरुष द्वारा (भोक्ता-भोग्य-धर्मसे) सिद्ध (निर्मित) होते हैं। कारणमें कार्यकी व्याप्ति रहती है; सभी भाव अथवा स्वरूप (धर्म) कार्यस्वरूप पदार्थ हैं॥ १६॥

यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यञ्च तस्य सन्।
विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः॥ १७॥

जो सत्पदार्थ (पहलेसे ही विद्यमान पदार्थ) जिस कार्यकी उत्पत्ति (आदि कारण) एवं विनाशका (लयका) स्थान अर्थात् उपादान कारण है, वह सत्पदार्थ उस कार्यके मध्य वर्त्तमानमें भी अवस्थानस्वरूप रहता है अर्थात् कार्य कारणमें व्याप्त रहता है जैसे पार्थिव पदार्थ एवं तैजस पदार्थ—यह सत्य है। तात्पर्य यह है कि पूर्वमें अविकृत कारण बादमें विकृत होकर कार्यरूपताको प्राप्त होता है। कार्य कारणसे पृथक् वस्तु नहीं है। कार्य एवं कारण दोनों सत्य हैं। तैजस (स्वर्ण निर्मित) कङ्कन, कुण्डलादि एवं पार्थिव (मृत्तिका निर्मित) घट, सकोरा आदि जैसे केवल व्यावहारिक पदार्थ मात्र हैं (मिट्टीसे बने घट आदिका ही व्यवहार होता है और कुण्डल आदिको धारण किया जाता है), उसी प्रकार विकार (कार्य) वस्तु मात्र ही व्यावहारिक है। कारण पदार्थ एक मात्र सत्य वस्तु है, वही आदि, मध्य एवं अन्त्य भावयुक्त है अर्थात् वह सभी अवस्थाओंमें रहती है। विकार-जनित दृश्य वस्तु अर्थात् व्यक्त अवस्था अनित्य है॥ १७॥

यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुतेऽपरम्।
आदिरन्तो यदा यस्य तत् सत्यमभिधीयते॥ १८॥

जिस मूल (अवयव) वस्तुको उपादान कारणरूपमें ग्रहण करके महत्तत्त्वादि पदार्थ अहङ्कारादि दूसरे विकार पदार्थोंकी (कार्यवर्गकी) सृष्टि करते हैं, वह उपादान कारण ही यथार्थमें सत्य वस्तु है, परन्तु जिस समय जो पदार्थ जिस कार्यके आदि एवं अन्त्य कारणरूपमें कथित होता है, उस समय उसे सत्य कहा जाता है। अतः श्रुतिमें दृष्टान्तस्थलपर मृत्तिका पदार्थको (मिट्टीको) सत्य कहनेमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है। (जिस प्रकार मिट्टीका पिण्ड लेकर कुम्भकार स्वयं निमित्त कारण बनकर घटका सृजन करता है, वह मृत्तिका सत्य ही है! मृत्तिकाका मूल पृथ्वी भी सत्य ही है। घट तात्कालिक विकार है, नित्य नहीं। अतः घटमें नश्वरताका आरोप तो किया जा सकता है, मिथ्यात्वका नहीं। आदि एवं अन्त्यसे युक्त सभी पदार्थ सत्य हैं।)॥ १८॥

प्रकृतिर्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयन्त्वहम्॥ १९॥

इस सत्कार्यका (जगत्का) उपादान कारण प्रकृति है, प्रकृतिका अधिष्ठाता (अधिष्ठान कारण) पुरुष (मेरा अंश-महाविष्णु) है और गुण-क्षोभके द्वारा उसका अभिव्यञ्जक (प्रकाशक) काल निमित्त कारण है—ये तीनों पदार्थ मुझ शुद्ध ब्रह्मके स्वरूप हैं, मुझसे भिन्न नहीं हैं। प्रकृति मेरी शक्तिके कारण, पुरुष मेरे अंशके कारण और काल मेरी चेष्टारूपताके कारण—ब्रह्मस्वरूप ही हैं। प्रकृति जगत्का उपादान होनेके कारण मैं ही उपादान कारण हूँ परन्तु प्रकृतिका विकारित्व होनेपर भी मुझमें विकारित्व नहीं है। प्रकृति मेरी शक्ति होनेपर भी मेरी स्वरूपशक्ति नहीं है। मेरी स्वरूप शक्ति तो मायातीत है—यह समस्त शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है॥ १९॥

सर्गः प्रवर्त्तते तावत् पौर्वापर्येण नित्यशः।
महान् गुणविसर्गार्थः स्थित्यन्तो यावदीक्षणम्॥ २०॥

जिस समयतक सृष्टि विषयमें पालनकी इच्छाके (प्रकृतिके) अनुकूल परमेश्वरका ईक्षण रहता है, उस समय तक गुण-विसर्ग (विविध-देहोंमें) जीवोंके भोग-प्रयोजनके लिये पिता-पुत्रादि अविच्छेद्य क्रमसे बहुल सृष्टि-प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। भगवदीक्षण कालतक अर्थात् परमेश्वरकी ईक्षण शक्ति जब तक कार्य करती है, तब तक ही प्रकृति और कालका वैशिष्ट्य लक्षित होता है। काल एवं प्राकृत जगत् भगवद्-विमुख जनोंके तात्कालिक भोगके लिये सृष्ट होता है। भगवत्-सेवाकी उन्मुखता न रहनेपर ही यह जड़ जगत् भोग्यरूपमें प्रतिपादित होता है॥ २०॥

विराण्मयासाद्यमानो लोककल्पविकल्पकः।
पञ्चत्वाय विशेषाय कल्पते भुवनैः सह॥ २१॥

यह विराट् ब्रह्माण्ड मुझ कालात्मक द्वारा आक्रान्त अर्थात् व्याप्त है। यह ब्रह्माण्ड विविध लोकोंकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय भूमि है। जब मैं प्रलयका सङ्कल्प करता हूँ, जब यह विराट् ब्रह्माण्ड समस्त भुवनोंके साथ पञ्चत्व अर्थात् विनाषरूप विशेष विभागके योग्य हो जाता है। पञ्चत्व अर्थात् मृत्यु॥ २१॥

अन्ने प्रलीयते मर्त्यमन्नं धानासु लीयते।
धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रलीयते॥ २२॥
अप्सु प्रलीयते गन्ध आपश्च स्वगुणे रसे।
लीयते ज्योतिषि रसो ज्योती रूपे प्रलीयते॥ २३॥
रूपं वायौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि चाम्बरे।
अम्बरं शब्दतन्मात्रे इन्द्रियाणि स्वयोनिषु॥ २४॥
योनिर्वैकारिके सौम्य लीयते मनसीश्वरे।
शब्दो भूतादिमप्येति भूतादिर्महति प्रभुः॥ २५॥

स सलीयते महान् स्वेषु गुणेषु गुणवत्तमः।
तेऽव्यक्ते सम्प्रलीयन्ते तत्काले लीयतेऽव्यये॥ २६॥
कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे।
आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः॥ २७॥

प्रलयकालमें (सौ वर्षों तक अनावृष्टि होनेपर) यह मर्त्य शरीर क्षीण होता हुआ अन्नमें, अन्न बीजमें, बीज भूमिमें, भूमि गन्ध-तन्मात्रामें, गन्ध जलमें, जल रस-तन्मात्रामें, रस तेजमें, तेज रूप-तन्मात्रामें, रूप वायुमें, वायु स्पर्श-तन्मात्रामें, स्पर्श आकाशमें, आकाश शब्द-तन्मात्रामें, सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने प्रवर्तक देवताओंमें, देवता नियामक मनमें, मन अहङ्कारमें, शब्द तामस अहङ्कारमें, तीनों अहङ्कार महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्व गुणोंमें, सभी गुण प्रकृतिमें, प्रकृति कालमें, काल ज्ञानमय जीवमें और जीव मुझमें लीन हो जाता है। विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयका मूलकारण स्वरूप निरुपाधिक मैं किसीमें भी लीन नहीं होता, मैं सर्वदा स्व-स्वरूपमें विराजमान रहता हूँ। जीवमें तटस्था शक्तिके कारण नित्यत्व है, अतः अन्य तत्त्वके समान उसके स्वरूपका लय नहीं है। समग्र विश्व-विभूतिके साथ भगवान् जिस समय भोग-विग्रहके साथ लीला-विग्रहमें विद्यमान रहते हैं—यह उनकी प्रकाशावस्था है, इसीका नाम सृष्टि है और एक अप्रकाशावस्था है, उसका नाम प्रलय है। उनकी पालन-वृत्तिका अवसान होनेपर प्रलय हो जाता है। इस प्रलयमें उपाधि-रहित वह जीव परमात्मामें मिलित होकर अर्थात् आत्मामें स्थित रहता है। जब तक भगवान् नित्य जीवके नित्य आश्रय नहीं हो जाते, तब तक विकार जनित सत्ता जीवकी बद्धताका प्रतिपादन करती है। कालका खण्ड-धर्म जीवको नानाविध अमङ्गलोंमें डाल देता है। बद्ध जीव अपनेको प्राकृत गुणोंके अधीन मान लेता है—यह अवस्था विकल्पके अधीन है, भगवत्-सेवा-सङ्कल्पमें बद्धता कदापि नहीं है।

प्रलयके क्रमकी विवृति इस प्रकार की जा सकती है कि मर्त्त्य शरीर जिससे वृद्धिको प्राप्त होता है, वह अन्नमें लीन होता है। अन्न बीजमें लय होता है अर्थात् बीजको भूमिपर बोये जानेपर भी अन्न बढ़ता नहीं है। सूर्यकी प्रलयकालीन प्रचण्ड किरणोंसे सन्तप्त भूमि सङ्कर्षणसे मुखसे निकलती प्रलय ज्वालाओंसे दग्ध होकर सूक्ष्मावस्था गन्ध तन्मात्रामें लीन होती है। गन्ध सौ वर्षोंतक प्रलय-वृष्टिसे प्लावित होता हुआ जलमें लीन हो जाता है, जल तेज द्वारा सुखा लिया जाता है, तब वह रसरूप हो जाता है। रस तेजमें लीन हो जाता है। वायु तेज को अभिभूत कर लेती है अतः तेज भी अवशिष्ट होकर रूपमें लीन हो जाता है। रूप वायुमें लीन होता है। कालके द्वारा प्रेरित होकर वायु आकाश द्वारा ग्रस्त स्पर्श तन्मात्रमें और आकाश भी तामस अहङ्कारके द्वारा ग्रसा जाता हुआ शब्द तन्मात्रामें लीन हो जाता है। मर्त्त्य शरीरसे शब्द पर्यन्त लय तामस अङ्कारका कार्य है।

राजस अहङ्कारका कार्य है—इन्द्रियाँ। इन्द्रियाँ अपने प्रवर्त्तक देवताओंमें लीन हो जाती हैं। इन्द्रियोंका स्वभाव प्रवृत्तिवाला होता है, इसीलिये वे प्रवृत्तिके देवताओंके अधीन रहती हैं। अतः अपने नियामक इन्हीं देवताओंमें अथवा राजस अहङ्कारमें इनका लय हो जाता है। देवताओंका लय अपने नियामक मनमें हो जाता है। मन वैकारिक अर्थात् सात्त्विक अहङ्कारमें लीन हो जाता है। तीनों प्रकारका अहङ्कार महत् तत्त्वमें लीन हो जाता है। अहङ्कार तत्त्व सर्वशक्तिमान् एवं समस्त शारीरिक तत्त्वोंमें सर्वप्रथम है। महत् तत्त्व भी समर्थ है एवं समस्त जगत्को मोहित करनेवाला है। यह अपने जड़-अंशका परित्याग करके अपने कारण ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिरूप प्रधान गुणोंमें लीन हो जाता है। इन्हीं गुणोंके कारण महत् तत्त्वको 'गुणवत्तम' भी कहा जाता है। गुण अव्यक्त प्रकृतिमें लीन होकर प्रकृतिकी साम्यावस्थाको प्राप्त हो जाता है। प्रकृति कालमें लीन हो जाती है। कालाधीन होनेके कारण

प्रकृति कालके ही समान हो जाती है। प्रलय कालमें कालकी वृत्ति भी समाप्त हो जाती है। काल स्रष्टाके द्वारा सृज्य है। यह भगवान् की चेष्टा-स्वरूप है। प्रतियोगीके अभावमें परमात्मा ही सतत्‌रूपसे बने रहते हैं और सर्वदा अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं। उनके लयकी सम्भावना नहीं है। वे केवल और उपाधि-रहित हैं॥ २२-२७॥

एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः।
मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवार्कोदये तमः॥ २८॥

आलोकमय सूर्यके उदय होनेपर आकाशमें जिस प्रकार अन्धकार रह नहीं सकता, उसी प्रकार जो समस्त (विकारवान्) प्राणियोंके आत्मामें लयका निरीक्षण कर लेता है, उस विचारवान् मनुष्यके चित्तमें 'यह वैकारिक देह मैं हूँ'—यह भेद विषयक भ्रम कैसे उत्पन्न हो सकता है? यदि उत्पन्न हो, तो भी इस सांख्ययोग द्वारा नित्य आत्म एवं अनात्म देहका विवेक होनेपर स्थिर नहीं रह सकता। मनोधर्मी निरन्तर भ्रान्त रहता है, वह सत्यका अनुसन्धान करता है, तो भी इस विकल्पका (आत्म-अनात्मरूप भ्रामक द्वैतका) ही आश्रय लेता है। विकल्प दूर होनेपर परम उपादेय आत्माकी स्वाभाविकी वृत्ति जीवको भगवान्‌की नित्य-सेवा परायण बना देती है॥ २८॥

एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया॥ २९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे सांख्ययोगो नाम चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

हे उद्धव! मैं सम्पूर्ण कार्यकारणदर्शी हूँ। मैंने अन्वय-व्यतिरेक रूपसे संशय-ग्रन्थि-छेदक इस सांख्य विधिका तुम्हारे निकट वर्णन किया। मेरा शरणागत व्यक्ति समस्त विषयोंका उत्तमरूपसे

दर्शन कर सकता है। मनुष्योंको भगवान् एवं भगवत्-शक्तिकी अनुलोम एवं प्रतिलोम अर्थात् अन्वय-व्यतिरेकरूपसे विवेचना करनी चाहिए॥ २९॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके चौबीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चविंशोऽध्यायः

तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका निरूपण

श्रीभगवानुवाच—

गुणानामसंमिश्राणां पुमान् येन यथा भवेत्।
तन्मे पुरुषवर्येदमुपधारय शंसतः॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे पुरुषवर्य उद्धव! अन्य गुणोंके साथ अमिलित अर्थात् विभक्त गुणोंमें जिस गुणके कारण मनुष्यका जैसा स्वभाव होता है, वह तुम मुझसे सुनो॥ १॥

शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः।
तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः॥ २॥
काम ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदा सुखम्।
मदोत्साहो यशःप्रीतिर्हास्यं वीर्यं बलोद्यमः॥ ३॥
क्रोधो लोभोऽनृतंहिंसा याच्ञा दम्भः क्लमःकलिः।
शोकमोहौ विषादार्त्ती निद्राशा भीरनुद्यमः॥ ४॥
सत्त्वस्य रजसश्चैतास्तमसश्चानुपूर्व्वशः।
वृत्तयो वर्णितप्रायाः सन्निपातमथो शृणु॥ ५॥

ये शम (मनका संयम), दम (इन्द्रिय-निग्रह), तितिक्षा (सहिष्णुता), ईक्षा (विवेक), तप (स्वधर्मका अनुष्ठान), सत्य, दया, स्मृति (पूर्वपरानुसन्धान), यथालाभ सन्तोष, त्याग (व्ययशीलता), विषयोंके प्रति अनिच्छा अर्थात् वैराग्य, गुरु आदिमें श्रद्धा, लज्जा (अनुचित कर्ममें स्वाभाविक सङ्कोच), दानादि सद्गुण (दया, सरलता एवं विनयादि), आत्मरति (आत्माराम होनेका प्रयत्न) आदि सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ हैं। काम (प्रकृति जात वस्तुओंको भोगनेकी अभिलाषा), चेष्टा (सर्वदा प्रवृत्त रहना), दर्प (अपनेको

श्रेष्ठ मानकर प्रमत्त रहना), विषय-तृष्णा, स्तम्भ (अकड़), धनादिकी प्राप्तिके लिये देवताओंके निकट प्रार्थना, मिथ्या गर्व, भेदज्ञान (दूसरोंके सुखसे असहिष्णु होकर अपने सुखकी कामना), विषयाभिलाष, मत्तताके कारण युद्धादिकी अभिलाषा, स्तुतिप्रियता (दूसरोंके निकट स्तुति-प्राप्तिका इच्छुक), उपहास (दूसरोंको लघु जानकर उपहास करनेकी प्रवृत्ति), वीर्य (अपनेको शक्तिशाली जानकर अभिमान करना) एवं अपने बलके कारण उद्यम अर्थात् हठपूर्वक उद्योग करना—ये सब रजोगुणकी वृत्तियाँ हैं। क्रोध (असहिष्णुतारूप दम्भ), लोभ (व्यय-विमुखता), असत्य (अशास्त्रीय वचन), हिंसा (परद्रोह), याच्ञा (प्राप्य न होनेपर भी द्रव्य-प्रार्थना), दम्भ (धर्मध्वजिताका प्रदर्शन), थकान, कलहकी स्पृहा, शोक, मोह, भ्रम, दुःख, दैन्य (अपात्रमें अकारण दैन्य), निद्रा (तन्द्रा), आशा, भय, अनुद्यम (जड़ता)—ये सब तमोगुणके धर्म हैं। इसी प्रकारसे सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी अधिकांश वृत्तियोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया। अब उनके सम्मिलनसे होनेवाली वृत्तियोंका वर्णन सुनो॥ २-५॥

सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः।
व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः॥ ६॥

हे उद्धव! मनुष्योंमें 'मैं शान्त (सतोगुणी), कामी (रजोगुणी) और क्रोधी (तमोगुणी) हूँ एवं मेरी शान्ति, काम, क्रोध इस प्रकार जो बुद्धि देखी जाती है (जो एक प्रकारसे सन्निपात अर्थात् तीनों गुणोंका मिश्रण है), उसमें पूर्वोक्त तीनों गुणोंकी वृत्ति समानरूपसे मिश्रित है, इसलिये इसे मिश्र-वृत्ति कहते हैं तथा मन, तन्मात्रा, इन्द्रिय, प्राणके द्वारा चलनेवाले विषय-व्यवहारको भी मिश्र-वृत्ति ही समझना चाहिए। इन्द्रियज ज्ञानका ज्ञाता मन इन्द्रियोंके द्वारा जिस विषयको ग्रहण करता है, उसके द्वारा ही व्यावहारिक जगत् चलता है। यह सम्पूर्ण व्यवहार सात्त्विक, राजस एवं तामस गुणोंके सम्मिश्रणपर आधारित होकर सन्निपातज होता है॥ ६॥

धर्मे चार्थे च कामे च यदासौ परिनिष्ठितः।
गुणानां सन्निकर्षोऽयं श्रद्धारतिधनावहः॥ ७॥

मनुष्यमें जिस समय धर्म, अर्थ एवं काममें निष्ठा होती है, उस समय वह मिश्रगुणोंसे युक्त होकर त्रिविध फलकी आकाङ्क्षामें संलग्न हो जाता है है। सात्त्विक गुणकी सहायतासे धर्ममें प्रवृत्त होनेपर धर्मविषयक श्रद्धाका उदय होता है, अर्थमें प्रवृत्त होनेपर राजस गुणकी सहायतासे अर्थमें प्रवृत्त होनेपर अनुराग एवं तामस गुणके प्रभावसे काममें विषय-सुख प्राप्त करता है। इस तरह यह गुण-त्रयके सन्निपातका कार्य है॥ ७॥

प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान् यर्हि गृहाश्रमे।
स्वधर्मे चानु तिष्ठेत गुणानां समितिर्हि सा॥ ८॥

जिस समय प्रवृत्तिरूप काम्य धर्ममें पुरुषकी निष्ठा होती है, उस समय पुरुष गृहाश्रममें अवस्थान करता है और वहाँ स्वधर्म अर्थात् निरन्तर नित्य-नैमित्तिक धर्मोंमें लगा रहता है—उस समय भी वह गुण-त्रयकी मिश्रवृत्ति (सन्निपात) में अवस्थान करता है। काम्य धर्म गृहासक्ति है, स्वधर्म रजः-तमः-सत्त्वमय है। (श्रीगौरसुन्दरने जीवके स्वरूपके परिचय-वर्णनमें वर्णाश्रम धर्मको जड़-जगत्का प्राकृत, तात्कालिक एवं अप्रयोजनीय धर्म बतलाकर उसे हेय-सुखैषणा-परक बतलाया है। गुणजात जगत्की गुणमिश्रावस्थामें इस प्रकारके भाव अणुचित् जीवके प्राप्य होते हैं। भगवत्-सेवकमें इस भोग-वासनाके स्थानपर नित्यलीलामें नित्यावस्थानके सौन्दर्यके प्रति निष्ठा देखी जाती है)॥ ८॥

पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः।
कामादिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसा युतम्॥ ९॥

शमादि अर्थात् इन्द्रिय-जयादि लक्षणोंसे युक्त मनुष्यको सत्त्व-गुणाधिक्यसे युक्त सतोगुणी, कामादि लक्षणोंके कारण रजोगुणाधिक्यसे युक्त रजोगुणी एवं क्रोधादि लक्षणोंके कारण तमोगुणाधियुक्त तमोगुणी अनुमान कर लेना चाहिए॥ ९॥

यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः।
तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात् पुरुषं स्त्रियमेव वा॥ १०॥

जिस समय स्त्री या पुरुष निष्काम होकर भक्तिके सहित अपने नियत कर्मोंके द्वारा मेरी उपासना करते हैं, उस समय उस पुरुष और स्त्रीको सत्त्व-प्रकृतिके द्वारा अनुप्राणित समझना चाहिए॥ १०॥

यदा आशिष आशास्य मां भजेत स्वकर्मभिः।
तं तरःप्रकृतिं विद्यात् हिंसामाशास्य तामसम्॥ ११॥

जिस समय मनुष्य (धन, जन, यशादि) काम्य-विषयोंकी प्रार्थना करते हुए मेरा भजन करता है, उस समय उसको रजः-प्रकृतिका और जिस समय शत्रु-मारणादि हिंसाकी कामनासे मेरी आराधना करता है, उस समय उसे तमो-प्रकृतिका जानना चाहिए॥ ११॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे।
चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते॥ १२॥

सत्त्व, रज और तम—ये जीवके चित्तमें उत्पन्न होनेवाले गुण हैं। जीव-उपाधि चित्तमें (अन्नमय मनमें) ये गुण उदित होते हैं और वहीं अभिव्यक्त होते हैं, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्हीं गुणोंके द्वारा मनुष्य दैहिक, भौतिक वस्तुओंमें आसक्त हो जाता है और बन्धनमें पड़ जाता है। मैं गुणोंका नियन्ता हूँ, सृष्टिका कर्त्ता हूँ, परन्तु इन सबसे परे मैं नित्य मुक्त हूँ—उद्धव! तुम यह समझ लो॥ १२॥

यदेतरौ जयेत् सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम्।
तदा सुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान्॥ १३॥

जब भास्कर अर्थात् प्रकाशक, विशद अर्थात् निर्मल एवं शिव अर्थात् शान्त सत्त्वगुण अन्य दोनों गुण—रजोगुण एवं तमोगुणको अभिभूत कर लेता है, उस समय मनुष्य सुख, धर्म, ज्ञान, वैराग्यादि गुणोंसे युक्त हो जाता है। उसमें शमादि गुण वृद्धिको प्राप्त होते हैं, जो उस बद्ध जीवका मङ्गल विधान करते हैं॥ १३॥

यदा जयेत् तमः सत्त्वं रजः सङ्गं भिदा चलम्।
तदा दुःखेन युज्येत कर्मणा यशसा श्रिया॥ १४॥

जिस समय आसक्ति एवं भेद-ज्ञानका जनक चञ्चल स्वभाव रजोगुण दूसरे दोनों—सतोगुण एवं तमोगुणका जय कर लेता है, उस समय भेद बुद्धिके कारण मनुष्य दुःखसे युक्त हो जाता है (श्रुति भी है—द्वितीयाद् वै भयं भवतीति—दूसरेसे भय होता है) चञ्चल स्वभावके कारण उसका कर्म-सङ्ग हो जाता है, और वह ऐश्वर्य-आकाङ्क्षी एवं प्रतिष्ठा-परायण हो जाता है, कर्मवीर कहलवाना चाहता है तथा धनाधिपति होनेका प्रयत्न करता है॥ १४॥

यदा जयेद्रजः सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम्।
युञ्जेत शोकमोहाभ्यां निद्रया हिंसयाशया॥ १५॥

जिस समय विवेक-नाशक, आवरण-धर्म विशिष्ट (मनुष्यकी चेतनाको आच्छादित करनेवाला), जड़ तमोगुण अन्य दोनों गुणोंको अभिभूत करके उच्च स्थान प्राप्त करता है, उस समय मनुष्यमें शोक, मोह, निद्रा, निरुद्यमता, हिंसा एवं दुराशाएँ इत्यादि दिखायी देती हैं॥ १५॥

यदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियणाञ्च निर्वृतिः।
देहेऽभयं मनोऽसङ्गं तत् सत्त्वं विद्धि मत्पदम्॥ १६॥

जिस समय चित्त निर्मल होता है, इन्द्रियाँ शान्त-प्रशान्त रहती हैं, देह निर्भय हो जाता है और मन इस प्राकृत जगत्में विषय-सङ्गसे (अनुपादेय वस्तुओंके ग्रहणकी पिपासासे) अनासक्त हो जाता है, तब मेरी उपलब्धिके अधिष्ठानभूत सत्त्वगुणकी वृद्धि समझनी चाहिए। सत्त्वगुण मेरी प्राप्तिका साधन है॥ १६॥

विकुर्वन् क्रियया चाधीरनिवृत्तिश्च चेतसाम्।
गात्रास्वास्थ्यं मनो भ्रान्तं रज एतैर्निशामय॥ १७॥

जिस समय कर्म करते-करते मनुष्यकी बुद्धि विकृत हो जाय, चित्त विक्षिप्त हो जाय, ज्ञानेन्द्रियाँ विषयोंमें प्रवृत्त हो जाय, कर्मेन्द्रियाँ

विकारयुक्त होकर अस्वस्थ हो जाएँ और मन चञ्चल हो जाय, उस समय जान लेना चाहिए कि रजोगुणका आधिक्य है॥ १७॥

सीदच्चित्तं विलीयेत चेतसो ग्रहणेऽक्षमम्।
मनो नष्टं तमो ग्लानिस्तमस्तदुपधारय॥ १८॥

जिस समय चित्त व्याकुल होकर अवसादयुक्त हो जाय (जड़ भावको प्राप्त हो जाय), चेतना (जागरुकता) को धारण करनेमें असमर्थ हो जाय, सङ्कल्पात्मक मन भी लीन भावको प्राप्त हो जाय अर्थात् सुन्न-सा हो जाय तथा चित्तमें अज्ञान, ग्लानि (खिन्नता), विषाद इत्यादि भाव उपस्थित हो जाएँ, उस समय तमोगुणका आधिक्य जानना चाहिए॥ १८॥

एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते।
असुराणाञ्च रजसि तमस्युद्धव रक्षसाम्॥ १९॥

हे उद्धव! सत्त्वगुणकी (निवृत्तिकी) वृद्धि होनेपर देवताओंका, रजोगुणकी (प्रवृत्तिकी) वृद्धि होनेपर असुरोंकी एवं तमोगुणकी (मोहकी) वृद्धि होनेपर राक्षसोंका बल बढ़ जाता है (निर्गुण भावकी वृद्धि होनेपर भक्तोंका बल बढ़ जाता है)॥ १९॥

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत्।
प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु सन्ततम्॥ २०॥

प्राकृत जगत्में सत्त्वगुणसे जीवोंमें जागरण, रजोगुणसे स्वप्न एवं तमोगुणसे गाढ़ निद्रा—इस प्रकारसे तीन अवस्थाएँ होती हैं। चतुर्थ गुणातीत तुरीय अवस्था पूर्वोक्त तीनों अवस्थाओंमें वितत अर्थात् एक रस, एक आत्मतत्त्वरूपमें रहती है अर्थात् आत्म तत्त्व एक समान बना रहता है। यह तुरीय अवस्था प्रकृतिके गुणोंसे आच्छादित रहती है, परन्तु जीवमें शाश्वत रूपसे विद्यमान रहती है॥ २०॥

उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणा जनाः।
तमसाधोऽध आमुख्याद्रजसान्तरचारिणः॥ २१॥

वेदानुष्ठान-परायण मनुष्य सत्त्वगुणके प्रभावसे ऊर्ध्वके स्थानोंमें ब्रह्मलोक पर्यन्त गमन करता है, जो तमोगुणसे युक्त हैं, वे स्थावर (वृक्षादि) पर्यन्त अधोगतिको प्राप्त होते हैं और जो रजोगुणसे युक्त हैं, वे मनुष्यगतिको प्राप्त करते हैं। (अभिप्राय यह है कि वर्ण श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ सत्त्वगुणके प्रभावसे, शूद्रादिके शोक, वैश्यादिकी धनाशा एवं क्षत्रियोंकी शौर्य पिपासाको अतिक्रम करके सत्त्वगुणमें अधिष्ठित हो जाते हैं। अन्यान्य मनुष्य तमोगुणके आश्रयसे उच्च स्तरसे क्रमशः निम्नस्तरगामी होकर क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र एवं अन्त्यज आदिकी निकृष्ट प्रवृत्तिसे युक्त हो जाते हैं। इनमें ही रजोगुणके प्रभावसे उन्नति एवं अवनतिके स्तर दिखायी देते हैं)॥ २१॥

सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः।
तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः॥ २२॥

सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय मृत्यु होनेपर मनुष्य स्वर्ग लोकमें जाता है, रजोगुणकी वृद्धिके समय मरनेपर मनुष्य-लोककी प्राप्ति होती है; और तमोगुणकी वृद्धिके समय मरनेसे नरककी गति होती है तथा निर्गुण व्यक्ति जीवित अवस्थामें ही मुझे प्राप्त कर लेते हैं। निर्गुण अवस्थामें 'मृत्युकाल' शब्द नहीं रहता। ये जीवन्मुक्त वैकुण्ठ-पथके पथिक होते हैं॥ २२॥

मदप्रणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत्।
राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम्॥ २३॥

मुझे प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे अनुष्ठित कर्म अथवा निष्काम होकर केवल दास्यभावसे अनुष्ठित (किये हुए) अपने नित्य-नैमित्तिक इत्यादि कर्म सात्त्विक हैं, फलभोगकी कामनासे युक्त कर्म राजस हैं और हिंसा आदि युक्त या दम्भ मात्सर्य आदिके द्वारा किये हुए कर्म तामस हैं॥ २३॥

कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकश्च यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्॥ २४॥

देहादिसे व्यतिरिक्त शुद्ध आत्मविषयक ज्ञान सात्त्विक है, ऐसे मनुष्य भगवान् विष्णुको ही एकमात्र आराध्य मानते हैं और उनकी प्रसन्नताको ही एकमात्र प्रयोजन। देहादि विषयक ज्ञान राजस है—राजसिक व्यक्ति अद्वय-ज्ञानसे वञ्चित रहते हैं, बहुल भोगोंकी आशामें जीते हैं, विकल्प ज्ञानसे इनका चित्त निरन्तर चञ्चल रहता है—कभी प्रवृत्तिका और कभी निवृत्तिका यत्न करते हैं, कभी किसीको सत्य मानते हैं, तो किसीको असत्य। तामसिक व्यक्ति व्यभिचारमें प्रमत्त होकर आत्म-विनाशको ही चरम मङ्गल मानते हैं। ये प्राकृत आहार-विहारके चिन्तनमें डूबे रहते हैं। इन्द्रिय-केन्द्रित वस्तुओंको बालक एवं मूकादि बाधित व्यक्तिके समान देखते हैं। उद्धव! मद्-विषयक ज्ञान निर्गुण है। (ऐसे व्यक्ति भगवान्के अनुकूल अनुशीलनमें ही आत्मनियोग करते हैं अर्थात् कृष्ण-प्रेम संग्रहमें नियुक्त रहते हैं)॥ २४॥

वनन्तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्॥ २५॥

सात्त्विक व्यक्ति जड़ भोगका परित्याग करके वनवासी हो जाते हैं। वे उन्नतिके पथपर क्रमशः आगे बढ़ते हुए वृन्दावनके सौन्दर्यका दर्शन कर सकते हैं। राजसिक व्यक्ति भोग्य पदार्थोंके सुभोग और कुभोगके सन्धानमें रत रहकर अपनी प्रतिष्ठाके लिये यत्न करते हुए ग्राममें (अपने परिवारके साथ घरोंमें) रहते हैं। तामसी व्यक्ति द्यूत-क्रीड़ा-स्थलोंपर रहकर जय-पराजयमें आसक्त रहते हैं। मेरे गुणाख्यानमें आसक्त होनेसे भगवत्-स्थलोंमें रहनेकी योग्यता मेरे त्रिगुणातीत शुद्ध भक्तोंमें परिलक्षित होती है॥ २५॥

सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः॥ २६॥

अनासक्त भावसे कर्म करनेवाला (दुःसङ्गका त्याग करके निर्जनताका पक्षपाती) 'सात्त्विक', विषय-भोगोंमें आसक्त चित्तसे कर्म करनेवाला 'राजस', स्मृति-भ्रष्ट (पूर्वापर एवं हिताहितके विवेकसे

रहित) यथेच्छाचारी 'तामस' और मेरा आश्रय करनेवाला 'निर्गुण' नामसे कहा जाता है॥ २६॥

सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा॥ २७॥

आत्म-विषयिणी श्रद्धा सात्त्विकी होती है—ऐसे सात्त्विक व्यक्ति नित्य-मङ्गलाकाङ्क्षी होते हैं, कर्म-विषयिणी श्रद्धा राजसी होती है—ऐसे राजसिक व्यक्ति अहङ्कार विमूढ़ होनेके कारण कर्मवीर होते हैं और अधर्म-विषयिणी श्रद्धा तामसी होती है—ऐसे तामसी व्यक्ति अधार्मिक होते हैं। अधर्मको ही धर्म मानते हैं। मेरी सेवा-विषयिणी श्रद्धा निर्गुण होती है—गुणातीत मुक्त जीवोंमें भोग-प्रवृत्ति नहीं होती, जड़ानुशीलनमें अपने-आपको विस्मृत नहीं करते तथा अखिल चिद् गुणोंसे विभूषित होते हैं॥ २७॥

पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम्।
राजसञ्चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसञ्चार्त्तिदाशुचि॥ २८॥

हितकर (अरोग्यप्रद), पवित्र, अनायास प्राप्त भोज्य पदार्थ सात्त्विक हैं, कटु, अम्ल, लवण (खट्टे, नमकीन) आदि इन्द्रिय-रुचिकर भोज्य पदार्थ राजसिक हैं और दुःखदायी, अशुद्ध भोज्य पदार्थ तामसिक है। एकमात्र मेरे उद्देश्यसे निवेदित भोज्य पदार्थ ही निर्गुण हैं॥ २८॥

सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थन्तु राजसम्।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम्॥ २९॥

इस गुणजात जगत्में आत्मस्वरूप-ज्ञानजनित अर्थात् आत्म-चिन्तनसे प्राप्त होनेवाला सुख सात्त्विक है, विषय भोगसे उत्पन्न सुख राजसिक है तथा मोह, दैन्यसे उत्पन्न सुख तामसिक है। गुणजात जगत्को अतिक्रम करके भगवदाश्रय-जनित सङ्कीर्त्तन एवं मद्विषयक सेवासे निर्गुण सुखका उदय होता है॥ २९॥

द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः।
श्रद्धावस्थाकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि॥ ३०॥

द्रव्य, देश, फल, काल, ज्ञान, कर्म, कारक अर्थात् कर्त्ता, श्रद्धा, आकृति (देवता, मनुष्य एवं तिर्यक् शरीर) एवं निष्ठा (शरीर-त्यागके बाद गन्तव्य)—ये सभी भाव (पदार्थ) त्रिगुणात्मक हैं—यह त्रैगुण्य ही संसारका हेतुभूत हैं॥ ३०॥

सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः।
दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ॥ ३१॥

हे पुरुष-श्रेष्ठ उद्धव! देखे गये, सुने गये एवं बुद्धि द्वारा विवेचित जो समस्त भाव प्रकृति और पुरुषमें अधिष्ठित हैं, उन सबको इसी प्रकारसे त्रिगुणमय समझो॥ ३१॥

एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः।
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते॥ ३२॥

हे सौम्य! मनुष्यकी ये सभी संसार-दशाएँ त्रिगुणजात कर्मसे उत्पन्न होती हैं—अतएव जो चित्त-जात गुणोंको जीत लेते हैं, वे मेरे भक्तियोगसे मेरे विषयमें निष्ठायुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। बद्धजीवके कर्म तथा मायिक जगत्के गुणोंसे जो सृष्टि होती है, वह समस्त ही त्रिगुणमयी है। नित्य भगवत्-सेवापरायण मनुष्य भक्तियोगके द्वारा तीनों गुणोंको पराजय करके आत्म-स्वरूपसे गुणातीत राज्यमें वास करता है और भगवद्-भावोंकी (दास्य, सख्यादिकी) सेवा करनेमें समर्थ होता है॥ ३२॥

तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानज्ञानसम्भवम्।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः॥ ३३॥

बुद्धिमान् पुरुषोंको चाहिए कि ज्ञान एवं विज्ञानके उत्पत्ति-क्षेत्र-स्वरूप इस दुर्लभ मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके गुणोंके सङ्गका परित्याग कर दे और मेरा ही भजन करे। जिस समयतक भगवत्-सेवाको गुण-जात विचार समझा जाता है, उस समयतक स्थूल-सूक्ष्म दोनों देह भगवत्-भजन करनेमें समर्थ नहीं होतीं—केवल भोग अथवा

त्यागमें ही अपनेको लीन कर लेती हैं। इसीलिये बद्धजीवको गुणातीत होनेका परामर्श दे रहा हूँ॥ ३३॥

निःसङ्गो मां भजेद्विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः।
रजस्तमश्चाभिजयेत्सत्त्वसंसेवया मुनिः॥ ३४॥

ज्ञानी पुरुष आलस्य-रहित, जितेन्द्रिय और विषयोंमें अनासक्त होकर मेरी उपासना करेंगे और सात्त्विक पदार्थोंके सेवनसे रज और तमोगुणको सम्यक्रूपसे जीतकर समस्त गुणोंमें आसक्तिका परित्याग कर देंगे॥ ३४॥

सत्त्वञ्चाभिजयेद्युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः।
संपद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम्॥ ३५॥

शान्तचित्त पुरुष उपशमात्मक सत्त्वगुणसे युक्त होकर मिश्रित सत्त्वगुणको जय कर लेते हैं, इसके बाद वे गुणमुक्त होकर निरपेक्ष भाव द्वारा अर्थात् भक्ति-जात वितृष्णा द्वारा लिङ्गदेह (सूक्ष्म-शरीर उपाधिरूप जीवभाव) का त्याग करके मुझको प्राप्त होते हैं॥ ३५॥

जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः।
मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत्॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

इस प्रकार लिङ्गशरीर एवं चित्तजात गुणोंसे विमुक्त जीव ब्रह्मस्वरूप मेरे अनुभवसे परितृप्त (सन्तुष्ट) होकर सब प्रकारसे बाह्य शब्दादि विषयोंसे एवं शोक, मोहादि आभ्यन्तर विषयोंसे रहित होकर विचरण करता है। वह सदा-सर्वदा पूर्ण सत्यविग्रह श्रीनामकी सेवामें नियुक्त रहता है। विवेकी पुरुषको संसारमें संसरण करनेकी परम्पराको भक्तिरसके प्रवाहमें बहा देना चाहिए॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके पच्चीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

षड्विंशोऽध्यायः

पुरूरवाकी वैराग्योक्तिके द्वारा स्त्रीसङ्गके दोष और साधुसङ्गकी महिमाका विवेचन

श्रीभगवानुवाच—

मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः।
आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम्॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! यह मनुष्य शरीर मेरे स्वरूप-ज्ञानकी प्राप्तिका साधक है। इस मनुष्य-देहरूप विशेष सुयोगको प्राप्त करनेपर जो देहधर्म एवं मनोधर्मका त्याग करके आत्मधर्म अर्थात् मेरी भक्तिमें अवस्थित हो जाते हैं, वे जीवन्मुक्त अपनी आत्मामें नियामकरूपसे अवस्थित मुझ परमानन्दमय परमात्म पुरुषको प्राप्त होते हैं॥ १॥

गुणमय्या जीवयोन्या विमुक्तो ज्ञाननिष्ठया।
गुणेषु मायामात्रेषु दृश्यमानेष्ववस्तुतः।
वर्त्तमानोऽपि न पुमान् युज्यतेऽवस्तुभिर्गुणैः॥ २॥

जो मनुष्य ज्ञाननिष्ठाके कारण गुणमयी जीवोपाधिसे (जीव-योनिसे अर्थात् अपनी मिथ्या प्रत्यभिज्ञासे) विमुक्त हो गये हैं, वे विषयोंको अवस्तुभूत जानकर कि समस्त वस्तुएँ भगवत्-सम्बन्धकी गन्धसे रहित, प्रकृतिसे निर्मित मायामात्र अर्थात् अवास्तविक होनेपर भी दृश्य हैं—इस विवेचनाके द्वारा समस्त गुणोंके साथ विद्यमान रहकर भी बद्धजीवके समान मिथ्याभूत विषयोंके बन्धनमें नहीं बँधते॥ २॥

सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित्।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत्॥ ३॥

मनुष्य शिश्नोदर-तर्पणरत (विषय-भोगोंमें लीन रहनेवाले) असद् मनुष्योंका सङ्ग कभी न करे (ऐसे किसी एक व्यक्तिका भी सङ्ग न करे), क्योंकि ऐसे एक जनका अनुवर्त्तन करनेपर अन्धानुवर्त्ती (अन्धेके सहारे चलनेवाले) अन्धेके समान नरकमें पतित होना पड़ता है। जड़ भोगान्ध व्यक्तिको गुरु मान लेनेपर अन्धतमःसे घोरतर तममें जाना पड़ता है॥ ३॥

ऐलः सम्राडिमां गाथामगायत बृहच्छ्रवाः।
उर्वशीविरहान्मुह्यन् निर्विण्णः शोकसंयमे॥ ४॥

हे उद्धव! महायशस्वी सम्राट् (चक्रवर्त्ती राजा) इला पुत्र ऐल अर्थात् पुरूरवा उर्वशीके विरहमें पहले तो शोकसे मोहित हो रहे थे, बादमें कुरुक्षेत्रमें उर्वशीको प्राप्त करके उन्होंने गन्धर्वों द्वारा प्रदत्त अग्नि द्वारा देवताओंके उद्देश्यसे यज्ञ किया एवं पुनः उर्वशीलोकको प्राप्त हुए। इससे उनके शोककी शान्ति हो गयी, भोगकी वासना चली गयी। विघ्नोंके कारण जो ज्ञान-वैराग्य-भक्ति स्थगित हो गये थे, वे उन्हें पुनः प्राप्त हो गये और वे वैराग्यपूर्वक अपने चरित्र पर आधारित यह गाथा गाने लगे॥ ४॥

त्यक्त्वात्मानं व्रजन्तीं तां नग्न उन्मत्तवन्नृपः।
विलपन्नन्वगाज्जाये घोरे तिष्ठेति विक्लवः॥ ५॥

जब उर्वशी सम्राट पुरूरवाको छोड़कर अपने लोकमें जा रही थी, उस समय उसके विरहमें पुरूरवा अत्यन्त व्याकुल हो गये और नग्न होकर—'देवि! निष्ठुर हृदये! इस घोर दुःसमयमें ठहर जा (तू जा क्या रही है? मेरे प्राण ही हर ले जा रही है), भाग मत'—इस प्रकार उन्मत्तकी भाँति विलाप करते हुए उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे॥ ५॥

कामानतृप्तोऽनुजुषन् क्षुल्लकान् वर्षयामिनीः।
न वेद यान्तीर्नायान्तीरुर्वश्याकृष्टचेतनः॥ ६॥

एक ही स्थानपर साथ रहते हुए उर्वशीने उनका चित्त हरण कर लिया। वे क्षुद्र काम्य विषयोंका निरन्तर उपभोग कर रहे थे, परन्तु उन्हें तृप्ति नहीं हो रही थी। इस तरह बहुत वर्षोंकी रात्रियाँ आयीं और चली गयीं, किन्तु उन्हें इस आवागमनका कुछ पता ही नहीं चला॥ ६॥

ऐल उवाच—

अहो मे मोहविस्तारः कामकश्मलचेतसः।
देव्या गृहीतकण्ठस्य नायुःखण्डा इमे स्मृताः॥ ७॥

पुरूरवाने कहा—अहो! मेरी कैसी मूढ़ता है! मेरे मोहका विस्तार तो देखो! उर्वशीके द्वारा प्रणयपूर्वक मेरे कण्ठको ऐसा आलिङ्गन बद्ध कर लिया गया कि इतने समय तक मेरा चित्त काम-कलुषित ही रहा। मेरे जीवनकालके अंशस्वरूप कितने दिन-रात ऐसे ही व्यतीत हो गये, मुझे कुछ सुध ही न रही॥ ७॥

नाहं वेदाभिनिर्म्मुक्तः सूर्यो वाभ्युदितोऽमुया।
मूषितो वर्षपूगानां बताहानि गतान्युत॥ ८॥

मेरी विस्मृतिकी सीमा तो देखो—मैं रमणमें ही रमता रहा और सूर्यदेव कितनी ही बार अस्त हो गये, निद्राके बाद उठा, सूर्य उदित भी हुए, किन्तु मैं तो पुनः निद्रामें लीन हो गया, सूर्य-असूर्य कुछ न जान सका। कितने दिन, कितने वर्ष ऐसे ही चले गये, उर्वशीने मेरा सम्पूर्ण विवेक हर लिया, हाय! हाय! उसके द्वारा वञ्चित होकर मैंने कितना समय नष्ट कर डाला! (नित्य प्रयोजनीय भगवत्-भजन किया नहीं। भावोदय होनेपर साधन-सिद्ध भक्तोंका अव्यर्थ-कालत्व धर्म देखा जाता है)॥ ८॥

अहो मे आत्मसम्मोहो येनात्मा योषितां कृतः।
क्रीडामृगश्चक्रवर्त्ती नरदेवशिखामणिः॥ ९॥

नरदेव-शिखामणि (राज-चूड़ामणि) सम्राट होनेपर भी मैंने अपना यह शरीर कामिनियोंके क्रीड़ा-साधन मृगके रूपमें परिणत

कर दिया। (मैं स्त्रियोंके खेलनेका पशु बन गया।) अहो! मेरी आत्म-विस्मृति भी अतीव विचित्र है। ओह! कैसा मोह है यह!॥ ९॥

सपरिच्छदमात्मानं हित्वा तृणमिवेश्वरम्।
यान्तीं स्त्रियञ्चान्वगमं नग्न उन्मत्तवद्रुदन्॥ १०॥

जिस समय उर्वशी मेरा राज-पाट (राजोचित समस्त भोग सामग्री) और राजेश्वर-स्वरूप मुझे तृणके समान त्याग करके चली गयी, उस समय मैं नग्न होकर उन्मत्तके (पागलके) समान रोदन करते हुए उस पलायनकारिणी प्रणयकुपिताके पीछे-पीछे दौड़ने लगा। हाय! (भगवत्-सेवाके बिना मनुष्यकी सम्पूर्ण अस्मिता अनादृत ही होती है)॥ १०॥

कुतस्तस्यानुभावः स्यात् तेज ईशत्वमेव वा।
योऽन्वगच्छं स्त्रियं यान्तीं खरवत् पादताडितः॥ ११॥

मैं सार्वभौम नरपति—वह मेरा प्रभाव कहाँ चला गया। मेरा तेज (बल) और मेरा ऐश्वर्य (प्रभुत्व) अब कहाँ रहे? इन सबकी तो मुझमें सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि मैं तो गर्दभीके पदसे ताड़ित (गधीकी दुलत्तियाँ खानेवाले) गर्दभके समान उर्वशीके गमन-कालमें उसका पीछा करता रहा॥ ११॥

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्॥ १२॥

जिसका मन स्त्री द्वारा अपहरण कर लिया गया है, उसके विद्या (हित-अहित-विवेक) साधन-जनित तपस्या, संन्यास (त्याग), शास्त्र-श्रवण (उन्नतिके उपदेश), निर्जन-वास एवं मौन इत्यादि सद्गुणोंका क्या लाभ? (श्रीकृष्णको कान्त माननेवाली परम मुक्त गोपियोंकी चेष्टाके अनुगमनसे जीवका मनोधर्म कामनाओंसे कलुषित नहीं होता)॥ १२॥

स्वार्थस्याकोविदं धिङ्मां मूर्खं पण्डितमानिनम्।
योऽहमीश्वरतां प्राप्य स्त्रीभिर्गोखरवर्जितः॥ १३॥

मुझे निखिल मनुष्योंका प्रभुत्व प्राप्त है, मैं चक्रवर्त्ती सम्राट हूँ, परन्तु स्त्रियोंने मुझे गधे एवं बैलके समान वशीभूत कर लिया है। मैं हूँ तो स्वार्थ (कल्याण-स्वरूप-कृष्ण-प्रेम) विषयमें अनभिज्ञ और स्वयंमें पण्डित अभिमान कर बैठा हूँ। मुझ जैसे मूर्खको धिक्कार है। (काम-किङ्कर अवस्था नितान्त निन्दनीय एवं घृण्य है)॥ १३॥

सेवतो वर्षपूगान् मे उर्वश्या अधरासवम्।
न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा॥ १४॥

मैं वर्षों तक उर्वशीके अधरामृतका पान करता रहा, किन्तु मेरे चित्तमें उत्पन्न काम शान्त नहीं हुआ, क्रमशः अधिक बढ़ता गया जैसे अग्नि बार-बार आहुति प्राप्त करके तृप्त नहीं होती, अधिक बढ़ती जाती है॥ १४॥

पुंश्चल्यापहृतं चित्तं कोऽन्वन्यो मोचितुं प्रभुः।
आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम्॥ १५॥

इस लोकमें आत्माराम मनुष्योंके उपास्य भगवान् अधोक्षज श्रीहरिके अतिरिक्त दूसरा कोई भी इस पुंश्चलीके द्वारा अपहृत मेरे चित्तकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है; अतः मैं अबसे परमेश्वर श्रीहरिकी ही आराधना करूँगा। (यज्ञादि कर्मोंसे देवताओंकी आराधना करके मैंने दुःखोंको ही प्राप्त किया, काम तो मेरे चित्तसे गया ही नहीं)॥ १५॥

बोधितस्यापि देव्या मे सूक्तवाक्येन दुर्मतेः।
मनोगतो महामोहो नापयात्यजितात्मनः॥ १६॥

उर्वशीने यथार्थ सूक्त (वैदिक) वचनोंके द्वारा मुझे मेरे हित-तत्त्वके विषयमें समझाया भी था (हे पुरूरवा! तुम विरहमें सन्तप्त मत होओ। इन्द्रियाँरूपी वृक तुम्हें खा जायेंगे। स्त्रियोंपर विश्वास नहीं करना चाहिये क्योंकि इनका हृदय सालावृकके समान नये-नये पुरुषोंको ढूँढ़ता रहता है), परन्तु अजितेन्द्रिय दुर्मतिग्रस्त

मेरे चित्तसे महामोह दूर ही नहीं हुआ। (भगवान् श्रीकृष्ण ही एकमात्र भोक्ता हैं और उनकी गोपियाँ जीवोंकी एकमात्र गुरु हैं—जबतक यह उपलब्धि नहीं होती, तब तक जीवकी दुर्मति शुद्ध नहीं होती)॥ १६॥

किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः।
रज्जुः स्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः॥ १७॥

कोई व्यक्ति अपनी भ्रान्तिके कारण रस्सीको सर्प समझकर उससे डर जाय, तो जैसे उस स्थानपर रस्सीका कोई दोष नहीं है, उसी प्रकार इस स्थानपर अजितेन्द्रियताके कारण मैं स्वयं ही अपराधी हूँ, उर्वशीने मेरा कोई अपकार नहीं किया है। अज्ञ व्यक्ति अपने अज्ञानसे ही भयभीत होता है। इसीसे भ्रम और मोह उत्पन्न होते हैं॥ १७॥

क्वायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः।
क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः॥ १८॥

कहाँ दुर्गन्ध इत्यादि दुर्गुणोंसे युक्त अति मलिन, अपवित्र शरीर और कहाँ पुष्पके समान सुगन्ध, सौकुमार्य इत्यादि सुन्दर गुण? मैंने अज्ञानताके कारण उर्वशीकी देहमें इतने सुन्दर गुणोंका आरोप कर लिया॥ १८॥

पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः।
किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते॥ १९॥
तस्मिन् कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते।
अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितञ्च मुखं स्त्रियाः॥ २०॥

यह शरीर माता-पितासे उत्पन्न होनेके कारण उनकी सम्पत्ति है अथवा पत्नीको भोगप्रद होनेके कारण उसकी सम्पत्ति है? अथवा स्वामीके अधीन होनेके कारण (उसके भोगके कारण) उसकी क्रीत सम्पत्ति है? अथवा अन्त्येष्टिक्रियाके समय अग्निकी आहुति होनेके कारण उसकी सम्पत्ति है? अथवा (देह-दहन न होनेपर)

कुत्ते, गीधका भक्ष्य होनेके कारण उनकी सम्पत्ति है? अथवा जीव (आत्मा) शरीर कृत शुभ-अशुभका (पाप-पुण्यका) फल-भागी होनेके कारण यह शरीर आत्माकी सम्पत्ति है? अथवा उपकारिताके कारण बन्धु-बान्धवोंकी सम्पत्ति है (अथवा अधर्म सम्बन्धसे शत्रुओंकी सम्पत्ति है)?—इस प्रकार कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता। अविवेकी मनुष्य ऐसे अनिश्चित तुच्छ, परिणामशील अपवित्र (मल-मूत्रसे भरे) शरीरमें, 'अहो इस रमणीका मुख अत्यन्त सुरम्य है, नाक अति सुन्दर है, मुस्कान अति मनोरम है'—इस प्रकार कल्पनाओंका आरोप करके देहमात्रमें (जिसका अन्त भस्म अथवा विष्ठामें होता है) ही ममता एवं आसक्ति कर लेते हैं। मेरे जैसे अहङ्कार विमूढ़ात्मा अनित्य सम्बन्धमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं॥ १९-२०॥

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम्॥ २१॥

जो लोग त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेद, मज्जा और हड्डियोंके ढेर इत्यादिके समष्टिभूत और मल-मूत्र तथा पीवसे भरे हुए इस शरीरमें रमण करते हैं, तो मुझ जैसे उन रमणशील पुरुषोंमें एवं मल-मूत्रके कीड़ोंमें क्या अन्तर है?॥ २१॥

अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित्।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा॥ २२॥

विवेकी पुरुष इन सबपर विचार करके स्त्रियों और स्त्रीलम्पट पुरुषोंका सङ्ग किसी भी प्रकारसे न करे। स्त्री आदि विषय और चक्षु आदि इन्द्रियोंके संयोगसे ही मनमें विकार (चाञ्चल्य) होता है, अन्यथा वह चञ्चल नहीं होता॥ २२॥

अदृष्टादश्रुताद्भावान्न भाव उपजायते।
असंप्रयुञ्जतः प्राणान् शाम्यति स्तिमितं मनः॥ २३॥

अदृष्ट (जिसको कभी प्रत्यक्ष देखा नहीं गया है) अथवा अश्रुत (जिसके विषयमें कभी सुना नहीं गया है) विषयोंके कारण

चित्तमें क्षोभ (मनमें विकार) उपस्थित नहीं होता, अतएव दर्शन एवं श्रवण करनेवाले प्राण एवं इन्द्रियोंके संयम करनेवाले व्यक्तिका मन निश्चल एवं शान्त रहता है॥ २३॥

तस्मात् सङ्गो न कर्त्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः।
विदुषां चाप्यविस्रब्धः षड्वर्गः किमु मादृशाम्॥ २४॥

अतएव स्त्री अथवा स्त्रैण मनुष्योंके साथ किसी भी प्रकारसे वाणी, कान तथा मन आदि इन्द्रियका सङ्ग नहीं करना चाहिए (न तो उनसे बात करे, न उनकी बात सुने, यहाँ तक कि उसे देखे भी नहीं), क्योंकि कामादि षड्वर्ग पण्डितोंके लिये भी विश्वासयोग्य नहीं हैं। स्थिर बुद्धिवाले ज्ञानियोंकी जब ऐसी दुर्दशा हो सकती है, तो मेरे जैसे यथेच्छाचारी, अन्याभिलाषी एवं चञ्चलमति मनोधर्मी अज्ञ जीवके विषयमें कहना ही क्या है?॥ २४॥

श्रीभगवानुवाच—

एवं प्रगायन् नृपदेवदेवः
स उर्वशीलोकमथो विहाय।
आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै
उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः ॥ २५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजराजेश्वर पुरूरवाने इस प्रकार सुन्दर उद्गारोंका प्रकृष्टरूपसे गान करते हुए उर्वशीलोकका परित्याग कर दिया। वे अपने हृदयमें अन्तर्यामी-स्वरूप मेरा अनुभव करने लगे। मेरे प्रेमास्पद स्वरूपका ज्ञान होनेके कारण वे मोहसे निवृत्त हो गये और उन्होंने परम शान्ति प्राप्त की॥ २५॥

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥ २६॥

अतएव विवेकशील मनुष्योंको दुःसङ्गका परित्याग करके साधुओंका सङ्ग करना चाहिए, क्योंकि साधु ही अपने नित्यमङ्गलकारी उपदेशोंसे मनकी घोर आसक्तिको दूर कर

सकते हैं। (सुकृति, तीर्थ, देवता, शास्त्र-ज्ञानादिमें ऐसी सामर्थ्य नहीं है।)॥ २६॥

सन्तोऽनपेक्षाः मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥ २७॥

साधु कैसे होते हैं तो सुनो—साधु अपने सङ्गीका आत्यन्तिक मङ्गल करते हैं; वे ज्ञान-कर्मादिसे निरपेक्ष, स्वार्थपरायण देवता, मनुष्यादिकी अपेक्षा नहीं रखनेवाले होते हैं अर्थात् निष्काम, प्रशान्त (अपने द्वेषीपर भी क्रोध न करनेवाले), समदर्शी (बन्धु, शत्रु एवं निरपेक्ष व्यक्तियों पर समान दृष्टि रखनेवाले), ममत्व बुद्धि-रहित, निरहङ्कारी (अहं बुद्धिसे रहित), शीतोष्ण, मान-अपमानादि द्वन्द्वोंसे रहित एवं मद्गतचित्त होते हैं। वे कहीं भी कुछ भी परिग्रह नहीं करते (अर्थात् या तो अविवाहित होते हैं या पत्नी-पुत्रादिमें अनासक्त होते हैं)—इनको ही साधु कहा गया है॥ २७॥

तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः।
सम्भवन्ति हि ता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम्॥ २८॥

हे महाभाग उद्धव! उन महासौभाग्यवान् साधुओंके बीच सर्वदा मेरी लीला-कथाओंका कीर्त्तन हुआ करता है और उन लीला-कथाओंके सेवन करनेवाले मनुष्योंके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। उनका परम मङ्गल होता है॥ २८॥

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि॥ २९॥

मत्परायण जो व्यक्ति आदर और श्रद्धाके साथ साधुओंके मुखसे निःसृत मेरी लीला-कथाओंका श्रवण करते हैं, गान करते हैं और अनुमोदन करते हैं, वे निश्चय ही मेरी भक्ति प्राप्त करते हैं॥ २९॥

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि॥ ३०॥

जो सन्त पुरुष अचिन्त्य अनन्त गुणोंके आश्रय चिदानन्दमय केवल अनुभव तथा विशुद्ध आत्मा परब्रह्म स्वरूप मेरी भक्ति प्राप्त कर लेते हैं, उन साधुपुरुषोंके लिये कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। वास्तव-वस्तुका कैङ्कर्य-वरण (दासत्व स्वीकार करना) ही सौभाग्यका परिचय है॥ ३०॥

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥ ३१॥

भगवान् अग्निदेवका आश्रय करनेसे जिस प्रकार मनुष्योंके शीत-भय अथवा अन्धकार-भय दूर हो जाते हैं, उसी प्रकार सन्त पुरुषोंका आश्रय ग्रहण करनेसे जीवकी कर्म-जड़ता, संसार-भय एवं इस त्रिगुणात्मक संसारका मूल अज्ञान—ये सभी विघ्न सर्वथा विनष्ट हो जाते हैं। साधु-सङ्ग अग्निकी दाहिका शक्तिके समान प्रबल है॥ ३१॥

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायणम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सुमज्जताम्॥ ३२॥

सुदृढ़ नौका जिस प्रकार जलमें डूबे हुए मनुष्योंका परम आश्रय है, उसी प्रकार घोर संसार-सागरमें उच्च-नीच योनियोंमें विचरनेवाले प्राणियोंके लिये ब्रह्मज्ञ, शान्तचित्त साधुगण ही परम आश्रय-स्वरूप हैं। भगवद्-भक्ति बद्ध जीवोंको सुदृढ़ नौकाके समान आश्रय प्रदान करती है। साधु-सङ्गरूप नौकामें आरोहण करनेपर तापत्रयका उन्मूलन हो जाता है॥ ३२॥

अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्त्तानां शरणन्त्वहम्।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥ ३३॥

अन्न जिस प्रकार प्राणियोंका जीवन-स्वरूप है, उसी प्रकार मैं भी आर्त्त प्राणियोंका आश्रय-स्वरूप हूँ (जिस प्रकार अन्नके बिना प्राण नहीं रह सकते, उसी प्रकार साधुओंके बिना भक्ति सिद्ध नहीं होती)। जिस प्रकार अनाथ एवं दीन-दुःखियोंका मैं

आश्रय हूँ, उसी प्रकार भक्ति-प्रार्थियोंके रक्षक साधुगण हैं। धर्म जिस प्रकार काल-पाशसे भयभीत लोगोंका परलोकमें वित्तस्वरूप अर्थात् रक्षक है, उसी प्रकार संसार-पतनशील एवं भजन-मार्गमें काम-क्रोधादि दस्युओंके पाशसे भयभीत मनुष्योंके लिये साधु ही भक्ति-पथके रक्षक हैं॥ ३३॥

सन्तो दिशन्ति चक्षुंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥ ३४॥

सूर्यदेव सम्यक् उदित होनेपर भी केवल बाह्य नेत्रोंको ही प्रकाश देते हैं, जबकि साधु मनुष्योंके आन्तरिक ज्ञान-चक्षुको प्रकाशित कर देते हैं, नवधा भक्तिका दान करते हैं। भक्ति-पथपर चलनेवाले मनुष्योंके लिये साधु ही देवता (इन्द्रादि नहीं), बान्धव (पिता, चाचा, मामा आदि नहीं), आत्मा (देहादि नहीं) एवं इष्टदेवस्वरूप हैं। सन्तोंके रूपमें मैं ही विद्यमान रहता हूँ॥ ३४॥

वैतसेनस्ततोऽप्येवमुर्वश्या लोकनिःस्पृहः।
मुक्तसङ्गो महीमेतामात्मारामश्चचार ह॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे ऐलगीतं नाम षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

इस प्रकार महाराज पुरूरवाको उर्वशी-लोककी स्पृहा न रही। सत्सङ्गके कारण वे मुक्त होकर आत्मारामताको प्राप्त हो गये तथा स्वच्छन्दरूपसे पृथ्वीपर विचरण करने लगे। उर्वशी-लोकसे निःस्पृह होकर वे पृथ्वीपर चले आये थे। शरीरधारी होनेपर भी मुक्त जीवों एवं बद्धजीवोंमें साम्य नहीं है। एक सिद्धिको प्राप्त कर चुका है और दूसरा चञ्चलमनका किङ्कर अर्थात् सांसारिक सुख और वित्त आदिका भिक्षुक है॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके छब्बीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तविंशोऽध्यायः

क्रियायोगका विवेचन

श्रीउद्धव उवाच—

क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो।
यस्मात् त्वां ये यथार्चन्ति सात्वताः सात्वतर्षभ॥ १॥

उद्धवने कहा—हे सात्वतर्षभ (हे यादवश्रेष्ठ)! हे प्रभो! भक्तोंमें जो सात्वत अर्थात् अधिकारी श्रेष्ठ भक्त, जिसका आश्रयकर जिस प्रकारके विधानानुसार आपकी आराधना (आगम-शास्त्र उक्त अर्चनाङ्ग भक्ति) करते हैं, उस आपकी आराधना-रूप क्रियाविधिका वर्णन कीजिए॥ १॥

एतद्वदन्ति मुनयो मुहुर्निःश्रेयसं नृणाम्।
नारदो भगवान् व्यास आचार्योऽङ्गिरसः सुतः॥ २॥

हे देव! नारद, भगवान् व्यास एवं देवाचार्य बृहस्पति इत्यादि मुनि बार-बार यही कहते हैं कि आपकी उपासना (क्रियायोग) ही मानवोंके लिये परम निःश्रेयसजनक (कल्याणकारी) है॥ २॥

निःसृतं ते मुखाम्भोजाद् यदाह भगवानजः।
पुत्रेभ्यो भृगुमुख्येभ्यो देव्यै च भगवान् भवः॥ ३॥

एतद्वै सर्ववर्णानामाश्रमाणाञ्च सम्मतम्।
श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्रीशूद्राणाञ्च मानद॥ ४॥

सर्वप्रथम ब्रह्माजीने आपके मुखकमलसे आपके अर्चन-विषयमें उपदेश प्राप्त करके भृगु इत्यादि पुत्रोंको भी वही उपदेश प्रदान किया था। शङ्कर भगवान्ने भी पार्वतीजीको इसी अर्चनकी पद्धति बतलायी थी। हे मानद! मैं मानता हूँ कि आपकी उपासनाको सभी वर्णों, सभी प्रकारके आश्रम-स्थित पुरुषों

यहाँ तक कि स्त्री-शूद्रोंके लिये सर्वश्रेष्ठ श्रेयः-साधन कहा गया है॥ ३-४॥

एतत् कमलपत्राक्ष कर्मबन्धविमोचनम्।
भक्ताय चानुरक्ताय ब्रूहि विश्वेश्वरेश्वर॥ ५॥

हे कमलनयन! हे विश्वेश्वरेश्वर (शङ्कर आदि ईश्वरोंके भी ईश्वर)! मैं आपका भक्त हूँ, आपका प्रेमी हूँ! आप मेरे कर्म-बन्धन-विमोचनके (मोक्षके) उपायको (क्रियायोगरूप साधनको) मुझे बतलाइए॥ ५॥

श्रीभगवानुवाच—

न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव।
संक्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥ ६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे उद्धव! इस अनन्त तथा अपार कर्मकाण्डकी सीमा नहीं है। अतएव मैं संक्षेपमें यथोचितरूपसे क्रमपूर्वक इसका वर्णन करूँगा (लौकिक हो या वैदिक—अभक्तिपूर्वक किया गया कोई भी कार्य नश्वर कर्मके अन्तर्गत होता है)॥ ६॥

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत्॥ ७॥

हे उद्धव! मेरी पूजा तीन प्रकारसे होती है—वैदिक (चारों वेद तथा उपवेदके मन्त्रोंसे सम्पन्न यज्ञादिसे), तान्त्रिक (पाञ्चरात्रिक एवं गौतमीय तन्त्रादिमें उक्त अष्टादशाक्षर—हरे कृष्ण महामन्त्र आदिसे) तथा मिश्र विधिसे (दोनों प्रकारका अर्चन जिसमें मिश्रित हो, उससे)—इन तीन प्रकारोंमें-से मनुष्य अपनी अभीष्ट विधिके अनुसार मेरा अर्चन करे॥ ७॥

यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पुरुषः।
यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे॥ ८॥

जिस समय त्रैवर्णिक पुरुष स्वाधिकार प्रवृत्त वेद-विधानके अनुसार (अपने वर्ण तथा आश्रमके अनुसार) उपनयन प्राप्त

करके अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कारसे सुसंस्कृत होकर श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक जिस प्रकारसे मेरी उपासना करते हैं, उस समय उस विषयमें जो विशेष विधि है, उसे मुझसे सुनो। (शौक्र, सावित्र्य एवं दैक्ष्य—तीन प्रकारके जन्म हैं। शौक्र—गर्भसे उत्पन्न जड़-शरीर, सावित्र्य अर्थात् वैदिक अथवा पाञ्चरात्रिक विधानसे उपनयनादि संस्कार एवं दैक्ष्य—दीक्षा-प्राप्ति। दैक्ष्य जन्मसे ही भक्तिका उदय होता है)॥ ८॥

अर्च्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाऽप्सु हृदि द्विजः।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया॥ ९॥

द्विज भक्तिसे युक्त होकर अर्चा-विग्रहमें, (मन्त्रादि द्वारा पवित्र) भूमिमें, अग्निमें, सूर्यमण्डलमें, जलमें अथवा अपने हृदयमें शास्त्रोक्त विधिसे निर्दिष्ट उपचारों द्वारा (सामग्रियों द्वारा) निष्कपट-भावसे स्वगुरु अर्थात् अपने इष्टदेवरूपी मेरी पूजा करे। (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य गायत्री मन्त्रकी दीक्षा लेकर द्विजत्वको प्राप्त कर सकते हैं। वैदिक प्रथाके अनुसार ब्राह्मण-बालकको आठ वर्षमें, क्षत्रियको ग्यारह वर्षमें और वैश्यको बारह वर्षमें यज्ञोपवीत दिया जा सकता है।)॥ ९॥

पूर्वं स्नानं प्रकुर्वीत धौतदन्तोऽङ्गशुद्धये।
उभयैरपि च स्नानं मन्त्रैर्मृद्ग्रहणादिना॥ १०॥

मनुष्य प्रातःकाल सर्वप्रथम दन्त-धावनादि करके देह-शुद्धिके लिये स्नान करे। वैदिक एवं तान्त्रिक मन्त्रोंके अनुसार मृत्तिका-लेपनादि करके पुनः स्नान करे। मन्त्र देवताके स्मरणसे जड़-भोग प्रवृत्ति दूर होती है॥ १०॥

सन्ध्योपास्त्यादिकर्माणि वेदेनाचोदितानि मे।
पूजां तैः कल्पयेत् सम्यक्सङ्कल्पः कर्मपावनीम्॥ ११॥

भगवद्-विषयमें सङ्कल्प-युक्त होकर वेद-विहित सन्ध्योपासनादि कर्मोंका (दिनकी तीन सन्धियोंपर गायत्री मन्त्रका उच्चारण आदिका)

अनुष्ठान करे और तब जिससे कर्मोंका परिहार (कर्मबन्धनका त्याग) हो जाता है, ऐसी मेरी पूजाका अनुष्ठान करे। (वैदिक रीतिसे पूजा करनेपर सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध होते हैं और मनुष्य कर्म-फलसे पवित्र होते हैं, वे नैष्कर्म्य-प्राप्तिरूप भगवत् पूजामें अग्रसर होते हैं)॥ ११॥

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥ १२॥

शिलामयी (प्रस्तरकी), दारुमयी (लकड़ीकी), सुवर्णादि-धातुमयी, लेप्या अर्थात् मृत्तिका-चन्दनादिमयी, चित्रपटादिमें अङ्किता (आलेख्यमयी), बालूकामयी, मनोमयी एवं मणिमयी—इन आठ प्रकारकी प्रतिमाओंकी बात शास्त्रादिमें कही गयी है॥ १२॥

चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम्।
उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने॥ १३॥

हे उद्धव! चल एवं अचल—इन दो प्रकारकी प्रतिमाओंमें भगवदधिष्ठान होता है। अचल प्रतिमाकी आराधना करनेपर आवाहन अथवा विसर्जन नहीं किया जाता। प्रतिष्ठाकालमें भी नित्यस्थायीरूपसे आवाहन कर लिया जाता है। भगवान् इसमें प्रकृष्ठरूपसे स्थित रहते हैं, इसलिये इसका नाम प्रतिष्ठा अथवा प्रतिमा है। प्रतिमा ही भगवान्का मन्दिर है। भक्तोंके लिये ये जगन्नाथादि प्रतिमाएँ सेव्य वस्तु हैं—इसलिये वे दर्शनादि द्वारा उनका अनुशीलन (निरन्तर पूजन) करते हैं। नित्य रूपवान् भगवान् बाह्य भोग्यरूपमें अवस्थित हैं—इस विचारमें ही आवाहन और विसर्जन है—यह विचार भौतिकवादी है। भक्त भोग्य-प्रतिमाके स्थानपर सेव्य-वस्तु विचार करते हुए दर्शनादि द्वारा उनका अनुशीलन करते हैं॥ १३॥

अस्थिरायां विकल्पः स्यात् स्थण्डिले तु भवेद्द्वयम्।
स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनम्॥ १४॥

चल-प्रतिमामें आवाहन और विसर्जनका वैकल्पिक विधान है (अर्थात् करे अथवा न करे)। पवित्र भूमिपर स्थापित अर्चा-विग्रहका निश्चित रूपसे विसर्जन होता है (इसका आवाहन भी मन्त्रों द्वारा होता है, फिर अर्चा विग्रहसे बाह्य रूप त्यागनेका अनुरोध किया जाता है)। बालूमयी, मृण्मयी एवं आलेख्यमयी मूर्त्तिको छोड़कर सभी प्रकारकी प्रतिमाओंको स्नान कराया जा सकता है। मृण्मयी एवं आलेख्यमयी प्रतिमाका केवल परिमार्जन करना चाहिए (निर्मल वस्त्रसे पोंछना भर चाहिए)। शालग्रामका आवाहन और विसर्जन नहीं होता॥ १४॥

द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः।
भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि॥ १५॥

मेरी प्रतिमामें प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सुशोभन पदार्थोंसे (अत्युत्तम द्रव्योंसे) मेरी पूजा की जाती है, किन्तु मेरा निष्काम भक्त अनायास ही प्राप्त पदार्थोंसे एवं हृद्गत भावनामात्रसे (मनोमय द्रव्योंसे) ही मेरी पूजा करे। भक्तके हृदयके भाव ही पूजाके प्रधान उपकरण हैं॥ १५॥

स्नानालङ्करणं प्रेष्ठमर्चायामेव तूद्धव।
स्थण्डिले तत्त्वविन्यासो वह्नावाज्यप्लुतं हविः॥ १६॥

सूर्ये चाभ्यर्हणं प्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः।
श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि॥ १७॥

हे उद्धव! धातु निर्मित प्रतिमामें स्नान तथा अलङ्कार-प्रदान, पवित्र आधार-भूमि अर्थात् बालूकामयी अथवा मिट्टीकी वेदीपर तत्त्व-विन्यास (अङ्ग और उसके प्रधान देवताओंका तत्-तत् मन्त्रों द्वारा यथास्थान न्यास-पूजन), अग्निमें घृत-तिलादि हवन-सामग्रीकी आहुति, सूर्यका उपस्थान (देवताके निकट उपस्थिति) तथा अर्घ्य द्वारा पूजन, जलमें जल अर्थात् तर्पण आदिके द्वारा यजन (उदकशायी पुरुषावतारकी उपासना) करे। भगवद्-भक्त श्रद्धा-युक्त हृदयके साथ जलादि जो कुछ भी अर्पण करे, वही मेरी

प्रीतिका कारण होता है। मेरी पूजा उत्कृष्ट द्रव्योंसे की जानी चाहिए, पूजाके उपकरण-संग्रहमें दरिद्रता जीवकी सेवा-वृत्तिका ह्रास करती है॥ १६-१७॥

भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यञ्च किं पुनः॥ १८॥

अभक्तोंके द्वारा लायी हुई प्रभूत (बहुत अधिक मूल्यवान्) वस्तुएँ मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं। भक्त यदि गन्ध, पुष्प, धूप, दीप एवं अन्नादि (नैवेद्यादि) प्रदान करे, तो इस विषयमें कहना ही क्या है?॥ १८॥

शुचिः संभृतसम्भारः प्राग्दर्भैः कल्पितासनः।
आसीनः प्रागुदग्वार्चेदर्चायामथ सम्मुखः॥ १९॥

पूजाकालमें मनुष्य पवित्र होकर पहले पूजाकी सामग्री एकत्र करे (अपने निकट ही रख ले)। कुश ऐसे बिछाए, जिसके अग्रभाग पूर्वकी ओर रहे। तब उस कुशासन पर पूर्वमुख अथवा उत्तरमुख होकर बैठ जाय अथवा स्थिर प्रतिमाकी (श्रीमूर्त्तिकी) ओर मुख करके बैठ जाय और उसकी पूजा करे॥ १९॥

कृतन्यासः कृतन्यासां मदर्चां पाणिनामृजेत्।
कलशं प्रोक्षणीयञ्च यथावदुपसाधयेत्॥ २०॥

(तत्पश्चात् गुरु आदिको नमस्कार करके गुरुके उपदेशानुसार) मूलमन्त्रके द्वारा यथायथ अङ्ग-न्यास और कर-न्यास करे। इसी प्रकार अर्चा-विग्रहमें भी न्यास-क्रिया सम्पन्न करे। पूर्व निवेदित निर्माल्यादि वस्तुओंको हटाकर अपने पवित्र हाथोंसे मेरी प्रतिमाको पोंछ दे। प्रोक्षण-पात्र (पोंछने आदिके लिये जलसे भरे पात्र) एवं पवित्र कलश (जलसे पूर्ण कुम्भ) को चन्दन, पुष्पादि द्वारा यथोचितरूपसे सुसज्जित करे॥ २०॥

तदद्भिर्देवयजनं द्रव्याण्यात्मानमेव च।
प्रोक्ष्य पात्राणि त्रीण्यद्भिस्तैस्तैर्द्रव्यैश्चसाधयेत्॥ २१॥

उस प्रोक्षणीय-पात्रके जलसे पूजाका स्थान, पूजा-सामग्री एवं अपनी देहपर छिड़काव करे। तदनन्तर कलशमें-से पाद्य, अर्घ्य और आचमन हेतु तीन पात्रोंमें जल भरे एवं उन्हें गन्ध, पुष्पादि द्वारा सुसज्जित करे। [पूजा पद्धतिके अनुसार पात्रोंमें निम्न वस्तुओंको रखा जाय। पाद्यपात्रमें—(चरण-पखारनेके पात्रमें) साँवाके दाने, दूर्वा, कमल-पुष्प एवं अपराजिता पुष्प। अर्घ्यपात्रमें—(पूजा-पात्रमें) चन्दन, पुष्प, अक्षत, जौ, कुशाग्र, तिल, सरसों एवं दूर्वा। आचमनीय-पात्रमें—(भगवान्‌के मुख-प्रक्षालन पात्रमें) जायफल, लौंग एवं कक्कोल]॥ २१॥

पाद्यार्घ्याचमनीयार्थं त्रीणि पात्राणि देशिकः।
हृदा शीर्ष्णाथ शिखया गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत्॥ २२॥

पूजक पाद्य, अर्घ्य एवं आचमनीयके लिये तीनों अर्चनकारी पात्रोंका यथाक्रमसे हृदयमन्त्र (हृदयाय नमः), शिरोमन्त्र (शिरसे स्वाहा), शिखा मन्त्र (शिखायै वषट्) तथा गायत्री मन्त्रसे अभिमन्त्रित करते हुए शोधन करे। समर्थ होनेपर 'केशव-कीर्त्ति' न्यास करे॥ २२॥

पिण्डे वाय्वग्निसंशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम।
अण्वीं जीवकलां ध्यायेन्नादान्ते सिद्धभाविताम्॥ २३॥

(सर्वप्रथम भूत-शुद्धि अर्थात् देहगत शुद्धि आवश्यक है) अतः देहके कोष्ठगत वायुको (प्राणवायुको) आन्तरिक प्राणायामादि द्वारा शोधित एवं आधारगत अग्नि द्वारा दग्ध (शुद्ध) करे। तत्पश्चात् ललाट-स्थित चन्द्रमण्डलसे अमृत-वृष्टि द्वारा मलिनता-पूर्ण दग्ध देहके अमृतमय होनेपर नादके अन्तमें (प्रणवके अकार, उकार, मकार, बिन्दु एवं नाद—इन पाँच कलाओंके अन्तमें) सिद्धगणों द्वारा चिन्तित (ध्यान-सिद्ध), हृत्-कमलमें मध्यवर्त्तिनी सूक्ष्माकृति मेरी जीवकला (जीव जिसकी कलाएँ—अंश हैं) अर्थात् श्रीनारायणमूर्त्तिका ध्यान करे। (मुक्त पुरुष ॐकार नाद ध्वनिके

अन्तमें भगवान्‌का ध्यान करते हैं। आकाशमें एक सूर्यके उदित होनेपर जगत् आलोकित होता है, इसी प्रकार भक्त साधकके हृदयमें सूर्यमण्डलका उदय होता है। चन्द्रमण्डलके आलोकसे रात्रिका अन्धकार भी पलायन कर जाता है। तत्पश्चात् अत्युज्ज्वल अग्निमण्डल है, जिससे किसी भी समय हृदयमें ज्ञान आलोकका अभाव नहीं रहता है।)॥ २३॥

तयात्मभूतया पिण्डे व्याप्ते सम्पूज्य तन्मयः।
आवाह्यार्चादिषु स्थाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत्॥ २४॥

यह जीव-कला आत्मस्वरूपिणी है। आत्मरूपमें (अपने भावों द्वारा) चिन्तित उक्त मूर्त्तिके निज देह एवं अन्तःकरणमें व्याप्त होनेपर (जैसे दीप-शिखासे घर व्याप्त हो जाता है) प्रथमतः हृदयमें (मन-ही-मनमें) उसकी (मेरी मूर्त्तिकी) मानसोपचारसे पूजा करे और उसमें तन्मय हो जाय। तत्पश्चात् प्रतिमादिमें परमात्माका आवाहन (आमन्त्रण) एवं स्थापन करते हुए उसके (मेरे) अङ्गोंमें मन्त्रों द्वारा न्यास क्रिया सम्पन्न करे तथा पवित्र सामग्रीसे सम्यक्‌रूपसे अर्चन करे॥ २४॥

पाद्योपस्पर्शार्हणादीनुपचारान् प्रकल्पयेत्।
धर्मादिभिश्च नवभिः कल्पयित्वासनं मम॥ २५॥
पद्ममष्टदलं तत्र कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम्।
उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मह्यं तूभयसिद्धये॥ २६॥

(उपस्पर्श अर्थात् आचमन एवं अर्घ्य समर्पण करनेके पश्चात्) मेरे आसनकी कल्पना करे। इस आसनके आग्नेयादि कोणोंमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्यके अधिष्ठात्री देवता विराजमान हैं, पूर्वादि दिशाओंमें अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्यके देवता स्थित हैं। आसनकी सभी दिशाओंमें रहनेके कारण इनको आसन-देवता कहा गया है। मध्यस्थलमें अष्टदलकमल है। कमलके प्रत्येक पत्रमें पूर्वादि क्रमसे विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी,

सत्या, ईशानी और अनुग्रहा—ये नौ शक्तियाँ विद्यमान हैं। उस आसन-पर्यङ्कमें सत्त्व, रजस एवं तमस—इन तीन पटरियोंका बना हुआ पीठ है। आसनकी यह अष्टदलपद्म (मेरा योगपीठ) कर्णिका एवं पीताभ केशरादिसे सुदीप्त है। इस प्रकारसे कल्पना करके मुझे उस आसन पर बिठाए। तब भोग एवं मोक्ष—दोनों प्रकारकी सिद्धिके लिये वैदिक एंव तन्त्रोक्त विधानसे पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय एवं स्नानीय इत्यादि मेरे उद्देश्यसे प्रदान करे॥ २५-२६॥

सुदर्शनं पाञ्चजन्यं गदासीषुधनुर्हलान्।
मुषलं कौस्तुभं मालां श्रीवत्सञ्चानपूजयेत्॥ २७॥

पूजाके बाद आठों दिशाओंमें सुदर्शन-चक्र, पाञ्चजन्य-शङ्ख, कौमोदकी गदा, श्रीवास कमल, नन्दक असि (खड्ग), शार्ङ्ग धनुष, बाण, हल एवं मुसल—इन आठ आयुधोंकी पूजा करे। बादमें कौस्तुभमणि, वैजयन्तीमाला एवं श्रीवत्स (वक्षःस्थित रोमावली) की यथाक्रमसे वक्षःस्थल पर अर्चना करे॥ २७॥

नन्दं सुनन्दं गरुडं प्रचण्डं चण्डमेव च।
महाबलं बलञ्चैव कुमुदं कुमुदेक्षणम्॥ २८॥

तदनन्तर आठों दिशाओंमें नन्द, सुनन्द, प्रचण्ड, चण्ड, महाबल, बल, कुमुद, कुमुदेक्षण—श्रीनारायणके (मेरे) नित्यसिद्ध पार्षद ऐश्वर्यरसाश्रित इन आठ आश्रय-विग्रहोंकी आठ दिशाओंमें सेवा करे एवं सम्मुखमें श्रीगरुडजीकी पूजा करे॥ २८॥

दुर्गां विनायकं व्यासं विष्वक्सेनं गुरून् सुरान्।
स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान् पूजयेत् प्रोक्षणादिभिः॥ २९॥

अनन्तर चारों कोणोंमें दुर्गा, विनायक, व्यास एवं विष्वक्सेनकी, वामभागमें गुरुवर्गकी एवं क्रमानुसार पूर्वादि दिशाओंमें इन्द्रादि लोकपालोंको सम्मुख (अर्चाविग्रहके अभिमुख) रखकर प्रोक्षण एवं अर्घ्यादि द्वारा पूजन करे। ये सभी श्रीनारायणके आवरण देवता वैकुण्ठवासी हैं। ये दुर्गा एवं विनायक (गणेश) देवी धामके काम

एवं अर्थ (सिद्धि) दाता दुर्गा एवं गणेश नहीं हैं। ये भगवान्‌के सङ्गी नित्य वैकुण्ठवासी हैं॥ २९॥

चन्दनोशीरकर्पूरकुङ्कुमागुरुवासितैः ।
सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्नित्यदा विभवे सति॥ ३०॥

स्वर्णधर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया।
पौरुषेणापि सूक्तेन सामभि राजनादिभिः॥ ३१॥

यदि यथेष्ट वैभव (अर्थ-सामर्थ्य) रहे तो चन्दन, उशीर (खस), कपूर, कुङ्कुम-केशर, अगुरु (अरगजा) एवं सुवासित जल द्वारा प्रतिदिन अभिषेक करे। इस अभिषेक-कालमें 'सुवर्णं धर्मं परिवेदनम्' अर्थात् स्वर्ण-धर्म-नामक वेदके अध्यायसे स्वर्ण धर्मानुवाक, 'जितन्ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन, सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु महापुरुष पूर्वजेति' इत्यादि महापुरुष विद्या (महापुरुष नामक मन्त्र), 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' इत्यादि मन्त्रात्मक पुरुष सूक्त, 'इन्द्र नरो नेमाधिता हवन्त' इत्यादि साममन्त्रोक्त राजनादि सामगीत एवं रोहिण्यादि मन्त्रोंका उच्चारण करता रहे॥ ३०-३१॥

वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग् गन्धलेपनैः।
अलङ्कुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम्॥ ३२॥

मेरा भक्त वस्त्र, यज्ञसूत्र, आभूषण, पत्र-रचना, तुलसी-पत्र-माला, पुष्पहार, गन्ध एवं अन्यान्य अनुलेपन द्वारा प्रीतिपूर्वक मेरा यथोचित रूपसे शृङ्गार करे॥ ३२॥

पाद्यमाचमनीयञ्च गन्धं सुमनसोऽक्षतान्।
धूपदीपोपहार्याणि दद्यान्मे श्रद्धयार्चकः॥ ३३॥

पूजक श्रद्धाके साथ मुझे पाद्य (चरण-प्रक्षालनके लिये जल), आचमनीय (मुख धोनेका जल), चन्दन, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप आदि अन्यान्य उपहार्य सामग्रियाँ अर्पण करे॥ ३३॥

गुडपायससर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान्।
संयावदधिसूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पयेत्॥ ३४॥

यदि पर्याप्त वैभव रहे, तो गुड़, खीर (परमान्न), घृतपक्व गुँजिया, पूरी (घीमें तली), मालपूए, लड्डू, हलवा, दही, तरकारियोंका सूप एवं अन्यान्य स्वादिष्ट व्यञ्जनोंकी व्यवस्था करे॥ ३४॥

अभ्यङ्गोन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनम् ।
अन्नाद्यगीतनृत्यादि पर्वणि स्युरुतान्वहम्॥ ३५॥

इसी प्रकार एकादशी आदि विशेष पर्वपर अथवा सामर्थ्य रहे, तो प्रतिदिन ही महाभिषेक करे। सर्वप्रथम दन्तधावन (नीमकी दातुन द्वारा), सुगन्धित तैल द्वारा अङ्ग-मर्दन, कुङ्कुम-कपूर-चूर्णादि द्वारा उबटन, पञ्चामृत (दूध, दधि, मधु, घृत एवं शर्करा) द्वारा स्नान, सुगन्धित जल द्वारा स्नान, बहुमूल्य कौशेय वस्त्र, रत्न, अलङ्कारादि प्रदान, चन्दनादि लेपन एवं पुष्पमाला प्रदान, दर्पण-प्रदर्शन, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, आचमनीय, सुगन्धित, जल, ताम्बूल एवं माला द्वारा आरती, शयनार्थ पुष्प-शय्या, शयन-सेवाके लिये व्यजन एवं चामर-अर्पण करे। तत्पश्चात् गीत एवं नृत्य आदिका विधान भी करे॥ ३५॥

विधिना विहिते कुण्डे मेखलागर्त्तवेदिभिः।
अग्निमाधाय परितः समूहेत् पाणिनोदितम्॥ ३६॥

(अधिक फल प्राप्तिके इच्छुकोंके लिये अग्निमें पूजाकी विधि बतला रहे हैं) वेदोक्त विधानसे परिष्कृत भूमिमें सीमासूत्र (तीन लड़ोंवाली मेखलासे लिपटी हुई), गर्त्तादि (एक हस्त मात्र गहरे गड्ढे) से युक्त अग्नि कुण्ड (यज्ञ-वेदी) का निर्माण करे और उसमें प्रज्वलित अग्निको स्थापित करे। उस अग्निको हाथमें लेकर उसके द्वारा चारों दिशाओंमें प्रज्वलित अग्निका परिसमूहन करे अर्थात् उसे एकत्र करे॥ ३६॥

परिस्तीर्याथ पर्युक्षेदन्वाधाय यथाविधि।
प्रोक्षण्यासाद्य द्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नौ भावयेत माम्॥ ३७॥

अनन्तर वेदीके चारों ओर यथाविधि बीस-बीस कुश बिछाकर (कुश-कण्डिकाकी रचना करके) चारों दिशाओंसे जल छिड़के,

व्याहृति (मन्त्र-पाठ) द्वारा अन्वाधान कृत्यका (अग्निमें चारों समिधाओंका आधान) सम्पादन करे, समिधाको मिला ले—इस यज्ञीय द्रव्यको (होमकी उपयोगी सामग्रीको) व्यवस्थित करके अग्निके उत्तर भागमें रखे। इसके बाद प्रोक्षणीय पात्रोदक द्वारा समस्त यज्ञीय द्रव्यका प्रोक्षण करके अग्निमें मेरा ध्यान करे॥ ३७॥

तप्तजाम्बूनदप्रख्यं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः।
लसच्चतुर्भुजं शान्तं पद्मकिञ्जल्कवाससम्॥ ३८॥
स्फुरत्किरीटकटककटिसूत्रवराङ्गदम्।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम्॥ ३९॥
ध्यायन्नभ्यर्च्य दारूणि हविषाभिघृतानि च।
प्रास्याज्यभागावाघारौ दत्त्वा चाज्यप्लुतं हविः॥ ४०॥
जुहुयान्मूलमन्त्रेण षोड़शर्चावदानतः।
धर्मादिभ्यो यथान्यायं मन्त्रैः स्विष्टिकृतं बुधः॥ ४१॥

अनन्तर तप्तकाञ्चनवर्ण, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मसे शोभित चतुर्भुज, प्रशान्त, मृणाल-सूत्र-निर्मित पद्मकेशर तुल्य पीतवसनधारी, समुज्ज्वल किरीट-कटक (स्वर्ण-वलय), कटिसूत्र (मेखला) एवं अङ्गदसे (केयूर अथवा बाजूबन्दसे) विभूषित, वक्षःस्थलपर श्रीवत्स अङ्कित, देदीप्यमान कौस्तुभसे अलङ्कृत, वनमालाधारी मेरे रूपका चिन्तन एवं आराधन करे। इसके बाद शुष्क समिधाओंको घृत-सिक्त करके (सूखी लकड़ीके खण्डोंको घी नामक हविष्यमें डुबोकर) अग्निमें चारों ओरसे आहुति प्रदान करे। आज्य भागकी (पिघलाये हुए घीकी—अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा—इन दो मन्त्रोंसे) एवं आधार भागकी (प्रजापतसे स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा—इन विशेष मन्त्रोंके उच्चारणके साथ) दो-दो आहुतियों द्वारा हवन करे, इसके बाद घृत-सिक्त तिलादि हव्य-द्रव्यकी आहुतियाँ दे। तदनन्तर अष्टाक्षर मूलमन्त्र 'ॐ नारायणाय नमः' एवं सोलह ऋक्‌से (पंक्तियोंसे) युक्त पुरुषसूक्तके प्रत्येक मन्त्रसे घीकी आहुति दे तथा स्वाहान्त

नाम-मन्त्रोंसे यथाविधि धर्मादि (यमराजादि) आसन देवताओंके उद्देश्यसे स्विष्टिकृत नामक आहुतिसे (स्विष्टकृत स्वाहा—इस प्रकार स्वाहायुक्त मन्त्रों द्वारा) हवन करे॥ ३८-४१॥

अभ्यर्च्याथ नमस्कृत्य पार्षदेभ्यो बलिं हरेत्।
मूलमन्त्रं जपेद्ब्रह्म स्मरन् नारायणात्मकम्॥ ४२॥

तदनन्तर अग्निमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित भगवान्‌की पूजा करके उन्हें नमस्कार करे। आठों दिशाओंमें नन्द, सुनन्दादि पार्षदोंके उद्देश्यसे बलि (पूजोपहार) प्रदान करे। तदनन्तर अर्चाविग्रहके सम्मुख बैठकर परब्रह्मस्वरूप भगवान्‌का स्मरण करे एवं यथाशक्ति मूल नारायणात्मक मन्त्रोंसे अर्थात् अपने इष्टमन्त्रसे जप करे॥ ४२॥

दत्त्वाचमनमुच्छेषं विष्वक्सेनाय कल्पयेत्।
मुखवासं सुरभिमत् ताम्बूलाद्यमथार्हयेत्॥ ४३॥

उसके बाद भगवान्‌को आचमनीय (मुख-शुद्धिके लिये जल) प्रदान करे। नैवेद्यभाग (प्रसाद) विष्वक्सेनको निवेदन करे। इसके बाद अपने इष्टदेवको सुगन्धयुक्त ताम्बूलादि मुखवास प्रस्तुत करे तथा पुष्पाञ्जलि अर्पण करे। विष्वक्सेनके आदेशानुसार स्वयं प्रसाद ग्रहण करे॥ ४३॥

उपगायन् गृणन् नृत्यन् कर्माण्यभिनयन् मम।
मत्कथाः श्रावयन् शृण्वन् मुहूर्त्तं क्षणिको भवेत्॥ ४४॥

तत्पश्चात् कुछ समय तक मेरे लीला-चरितका गान करे, कीर्त्तन करे, दूसरोंको सुनाए, स्वयं सुने, मेरी लीलाओंका अभिनय करे एवं नृत्यादि करते हुए उत्सव-आनन्दके इन क्षणोंमें तन्मय हो जाय॥ ४४॥

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत्॥ ४५॥

इसके बाद ऋषि प्रोक्त अथवा पुराणोक्त स्तुति-स्तोत्र या स्वरचित छोटे-बड़े स्तवों द्वारा अथवा सामान्य स्तोत्रों द्वारा स्तुति

करे। तत्पश्चात् "हे भगवन्! प्रसन्न हों!"—इस प्रकार कहते हुए भूमिपर दण्डवत् प्रणाम करे। (भक्तोंपर भगवान्‌की किस प्रकारसे करुणा होती है—यह स्तव-स्तुतियोंके प्रसङ्गमें स्पष्ट दिखायी देता है। जिनकी पौराणिक स्तव करनेकी सामर्थ्य नहीं है—वे गोपाल, गोविन्द, दामोदर, गदाधर इत्यादि गा-गाकर स्तुति करें—इससे भी भगवान् सन्तुष्ट होते हैं।)॥ ४५॥

शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्याञ्च परस्परम्।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात्॥ ४६॥

मेरे चरण-युगलमें अपना मस्तक रखकर अपने दाएँ हाथसे मेरा दायाँ और अपने बाएँ हाथसे मेरा बाँया चरण धारण करे तथा "हे प्रभो! मृत्युमुखरूप समुद्रसे मैं अति भयभीत होकर आपके शरणागत हुआ हूँ, आप मेरी रक्षा करें"—यह कहकर प्रणाम करे। [गर्भगृहमें (श्रीकृष्ण-मन्दिरमें) सामनेसे, पीछेसे, श्रीमूर्त्तिके बाएँ भागसे तथा निकटसे जप, होम अथवा नमस्कार नहीं करे। भगवान्‌की दायीं ओर कुछ दूर रहकर मस्तक झुकाकर वन्दना करें।]॥ ४६॥

इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम्।
उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिर्ज्योतिषि तत् पुनः॥ ४७॥

पूर्वोक्त प्रार्थना करते हुए मुझे अर्पित माल्यको मस्तकपर इस भावसे धारण करे कि मैंने (भगवान्‌ने) इस निर्माल्यको कृपापूर्वक प्रदान किया है। उसका आघ्राण भी करे। यदि सैकतादि प्रतिमाको विसर्जन करना हो, तो जो दिव्य तेज पहले प्रतिमामें नियोजित था, उसीको अपने हृदय-कमल स्थित ज्योतिमें उत्कर्षके साथ विराजमान करे। (अर्थात् यह भाव रखे कि प्रतिमासे जो दिव्य ज्योति निकल रही है, वह मेरे हृदय स्थित ज्योतिमें प्रवेश कर रही है। अपने हृदयमें गुप्त भावसे रक्षण ही विसर्जन है।)॥ ४७॥

अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत्।
सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माहमवस्थितः॥ ४८॥

प्रतिमादिमें जिस समय जिस अधिष्ठानमें श्रद्धा होती है, उस समय उसी अधिष्ठानमें मेरी पूजा करे; क्योंकि मैं सर्वान्तर्यामीरूपसे समस्त प्राणियोंमें और पृथक्‌रूपसे स्वयंके हृदयमें भी सर्वदा अवस्थित हूँ। (श्रीअर्चा-विग्रह भगवान्‌का अवतार है। अतः जिस-जिस प्रतिमामें भगवान्‌के स्वरूपकी उद्दीपना होती है, उस-उस प्रतिमामें श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का षोडशोपचार अर्चन करना चाहिए। अर्चा-विग्रह अर्चककी श्रद्धाका आकर्षण करके उसका मङ्गल-विधान करता है।)॥ ४८॥

एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः।
अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम्॥ ४९॥

हे उद्धव! जो मनुष्य इस प्रकार वैदिक और तान्त्रिक क्रियायोगों द्वारा मेरी पूजा करता है, वह इस लोक और परलोकमें मुझसे अभीष्ट सिद्धि भुक्ति-मुक्ति प्राप्त करता है। वैदिक एवं पाञ्चरात्रिक—दोनों मन्त्रोंके अनुशीलनसे भगवत्-कृपा प्राप्त होती है॥ ४९॥

मदर्चां सम्प्रतिष्ठाप्य मन्दिरं कारयेद्दृढम्।
पुष्पोद्यानानि रम्याणि पूजायात्रोत्सवाश्रितान्॥ ५०॥

सामर्थ्यवान् भक्त सुदृढ़ मन्दिरकी स्थापना करे। वहाँ मेरी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा करे। पूजामें प्रतिदिन पुष्पार्पणके लिये समीपमें ही सुरम्य उद्यान बनवाए। (पुष्पके स्वाभाविक सौगन्ध्य, सौकुमार्य एवं माधुर्यसे देवता मुग्ध हो जाते हैं। जो फूल-हिंडोलामें भगवान् जनार्दनकी प्रचुर पुष्पोंके द्वारा अर्चना करते हैं, वे देव-दुर्लभ पदको प्राप्त होते हैं।) जन्माष्टमी, गौर-जयन्ती आदि पर्व यात्राओंमें डोलाको पुष्पोंसे सज्जित करे। वसन्त-पञ्चमी, होली आदि महोत्सवोंमें उत्साहपूर्वक विशेष पूजा करे॥ ५०॥

पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वस्वथान्वहम्।
क्षेत्रापणपुरग्रामान् दत्त्वा मत्सार्ष्टितामियात्॥ ५१॥

महापर्वोंमें राजसेवा एवं प्रतिदिन नियमितरूपसे पूजा करनेके लिये जो स्वाभीष्ट देवताके उद्देश्यसे अपना खेत, बाजार, नगर अथवा ग्रामादि समर्पण कर देता है, वह मेरे ही समान सम्पदाको प्राप्त होता है॥ ५१॥

प्रतिष्ठाय सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम्।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात्॥ ५२॥

फल चाहनेवालोंके लिये कह रहे हैं—मेरी मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा करनेसे पृथ्वीका सार्वभौम-पद, मेरे मन्दिर-निर्माणसे त्रिलोकीका राज्य, पूजा आदिकी धारावाहिक व्यवस्था करनेसे ब्रह्मलोक और तीनोंके अनुष्ठान करनेसे मेरा सारूप्य प्राप्त होता है। यह सेवा निरपेक्षरूपसे भी की जा सकती है। निष्काम सेवाको ही शुद्धभक्ति कहा गया है। सेव्यका सौख्य-विधान ही भक्तियोग है॥ ५२॥

मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्॥ ५३॥

जो निष्कामभावसे भक्तियोगके द्वारा साक्षात्रूपसे मेरी पूजा करते हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं। जो पूर्वोक्त विधियोंके साथ मेरी पूजा करते हैं, वे भी प्रेमाभक्ति और मुझे प्राप्त करते हैं॥ ५३॥

यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः।
वृत्तिं स जायते विड्भुग्वर्षाणामयुतायुतम्॥ ५४॥

जो व्यक्ति अपनी दी हुई या दूसरोंके द्वारा दी हुई देवता और ब्राह्मणकी जीविका अथवा द्रव्यका अपने भोगके लिये हरण कर लेता है, वह करोड़ों वर्षों तक विष्ठा-भोजी कृमिका (कीड़ेका) जन्म प्राप्त करता है॥ ५४॥

कर्त्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च।
कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत्फलम्॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे सप्तविंशोऽध्यायः॥ २७॥

अपहरण (चोरी) करनेवाले मनुष्यको उस विषयमें जो सहायता करते हैं, अथवा प्रेरणा देते हैं अथवा अनुमोदन करते है, वे भी मृत्युके बाद उक्त कर्मके समान ही फलभोगी होते हैं। वे परलोकमें अपहरणकारी मनुष्यके समान ही फल प्राप्त करते हैं। ऐसे अपकर्मोंमें सहयोगीका अधिक साथ रहा, तो उसको भी अधक फल भोगना पड़ता है॥ ५५॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके सत्ताईसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टाविंशोऽध्यायः

सब प्रकारके मतों तथा जगत्‌को मिथ्या कहनेवाले अद्वैतवादियोंके ज्ञानयोगका विवेचन

श्रीभगवानुवाच—

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे प्रिय उद्धव! प्रकृति और पुरुषके साथ अखिल विश्वकी एकात्मताका दर्शनकर अर्थात् इसे एक अन्तर्यामी परमात्माके द्वारा ही नियन्त्रित जानकर किसीके स्वभाव तथा उसके अनुसार कर्मोंकी न तो स्तुति करनी चाहिए और न ही निन्दा। निन्दा एवं प्रशंसा विश्वका धर्म है। विश्वमें गुणत्रयका प्राबल्य है तथा एकका दूसरेके ऊपर आधिपत्य है। वैकुण्ठमें गुणत्रयकी क्रियाएँ नहीं हैं। प्रकृति एवं पुरुष, द्रष्टा एवं दृश्य सभी एक ही अधिष्ठान-स्वरूप परब्रह्मपर आश्रित हैं॥ १॥

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः॥ २॥

जो व्यक्ति दूसरेके स्वभाव और कर्मोंकी प्रशंसा या निन्दा करता है, तो मायिक, असत् द्वैताभिनिवेशके (देह-गेहादिमें अहम् और मम) कारण उसका अमङ्गल उपस्थित होता है अर्थात् वह स्वार्थ विषयसे (अपने सर्वोत्तम हितसे) शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाता है। अभक्तके कर्म अज्ञतामिश्र होते हैं। उनकी प्रशंसा अथवा निन्दा न करके सबको मिलकर हरिकीर्त्तन करना चाहिए॥ २॥

तैजसे निद्रयापन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः।
मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक् पुमान्॥ ३॥

राजस अहङ्कारका कार्य हैं—इन्द्रियाँ। जब ये निद्रासे अभिभूत हो जाती हैं, तब देहस्थ जीव मनके द्वारा स्वप्न-रूप मायाको प्राप्त होता है और जब मनका भी लय हो जाता है, तब उसकी चेतना नष्ट हो जाती है, वह मृत्यु अथवा मृत्यु तुल्य सुषुप्ति-दशाको प्राप्त होता है। इस प्रकार नाना पदार्थोंका द्रष्टा द्वैत-अभिमानी जीव अपनी अणुचित् नित्य अवस्थितिको भूलकर विक्षेप एवं लयको प्राप्त होता है एवं नानात्व देखने लगता है। भगवान्‌की बहिरङ्गा-शक्तिसे परिणत इस जगत्‌में भोक्तृत्वाभिमान उसकी चेतनाको ग्रस लेता है, भगवत्-सेवा-विमुख वह व्यक्ति मृत्युके समान अज्ञानमें लीन हो जाता है जिस तरह प्राज्ञके सम्पर्कसे विश्वका भोगक्षयरूप भ्रंश होता है, उसी प्रकार अनात्माके सम्पर्कसे आत्माका भी स्वरूप भ्रंश हो जाता है॥ ३॥

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च॥ ४॥

जब द्वैत मात्र ही असत्य है, तब इस मिथ्या द्वैतमें यह वस्तु उत्कृष्ट है, यह अंश अपकृष्ट है, यह अंश इतना अच्छा है, यह अंश इतना बुरा है—इस प्रकारके विचारसे एक भी वस्तु प्रशंसा या निन्दाका पात्र नहीं हो सकती। विश्वकी सभी वस्तुएँ जो वाणीसे कही जा सकती हैं, मनसे सोची जा सकती हैं—निर्विषय, दृश्य एवं अनित्य (अस्थायी) होनेके कारण उन्हें मिथ्या ही समझो क्योंकि इनका कोई विषय ही नहीं है। जिसमें चित्शक्ति नहीं है, वही द्वैत अर्थात् मिथ्या है। भगवान्‌का विग्रह, नाम, धाम और उनके भक्त चित्‌रूपी हैं, इसलिये वे ही अद्वैत हैं और उन सबसे भिन्न सभी द्वैत हैं। अभक्तिपूर्वक सभी विचार निज अहङ्कारका ही पोषण करते हैं॥ ४॥

छाया प्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः।
एवं देहादयो भावा यच्छन्त्यामृत्युतो भयम्॥ ५॥

छाया (प्रतिबिम्ब), प्रतिध्वनि एवं आभास अर्थात् शुक्ति-रजतादि जिस प्रकार मिथ्या (भ्रामक) वस्तुएँ होकर भी अर्थक्रियासाधक (मनुष्यके हृदयमें भय, कम्प तथा भ्रम उत्पन्न करनेवाली) हैं अर्थात् भ्रान्त दृष्टिसे इनकी कार्यकारिता देखी जाती है। यथा—छाया साथ-साथ चलती है, हाथ-पैर हिलाने पर वह भी हाथ-पैर हिलाती है तथा जलाशयके निकट कोलाहल-रहित समयमें उच्चस्वरसे चीत्कार करनेपर ठीक उसीके अनुरूप प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है, उसी प्रकार मन, अहङ्कार देहादि भाव-पदार्थ मिथ्या हैं, तो भी वे अज्ञानियोंमें भ्रामकताके कारण मृत्युकालपर्यन्त संसारकी विभीषिकाका भय उत्पन्न करते हैं। (जिन्हें ज्ञानके द्वारा संसारकी मृग-मरीचिकाकी असत्यताका बोध हो जाता है, वे भगवान्‌की शरणमें आकर अभय हो जाते हैं एवं जो अज्ञानी भगवान्‌के अभयप्रद चरणोंकी शरणसे वञ्चित हैं, शोक, मोह, भयादिकी धारणाएँ उनको भयभीत करती रहती हैं।)॥ ५॥

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥ ६॥
तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः।
निरूपितेयं त्रिविधा निर्मूला भातिरात्मनि।
इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम्॥ ७॥

ईश्वर, प्रभु (अनुग्रह एवं निग्रहकारी), विश्वरूपी परमात्मा ही (अपनी बहिरङ्गा शक्तिसे) इस विश्वकी सृष्टि, पालन एवं विनाश करते हैं—वस्तुतः वे स्वयं ही सृष्ट, पालित एवं विनष्ट होते हैं। (नश्वरताका धर्म विश्वमें आबद्ध है। यहाँ हरि-विमुख बद्धजीवोंकी भूमिका मात्र तात्कालिक है।) सृज्य वस्तुओंकी कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं होती। सृष्ट-पदार्थ परमेश्वरके अतिरिक्त पृथक्‌रूपसे निर्णीत नहीं हैं अर्थात् सृष्टि आदिका कर्त्ता स्पष्टतः कर्मात्मक होनेपर भी द्वैत नहीं है—परमात्मासे भिन्न सभी कुछ द्वैत है (परमात्मा

हर वस्तुसे तथा हर किसीसे पृथक् हैं, किन्तु किसी भी वस्तु अथवा जीवको उनसे पृथक्रूपमें निर्णय नहीं किया जा सकता)। वस्तु-तत्त्वका इस प्रकारसे निरूपण होनेपर आत्मामें आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—प्रकृतिकी इन त्रिविध प्रतीतियोंको भी मिथ्या जानना चाहिए, क्योंकि ये परमात्मासे भिन्न माया-कृत पदार्थ हैं, जो निर्मूल है तथा त्रिगुणात्मक अचिन्त्य मायाशक्तिके विलासमात्रसे (सत्त्व, रज एवं तमोगुण से) द्रष्टा, दर्शन एवं दृश्यका खेल अज्ञानियोंको अहङ्कारविमूढ़ात्मा बनाता रहता है। (केवला भक्तिके आश्रयसे जीवकी मायिक तपस्याकी प्रवृत्ति ध्वंस हो जाती है एवं सेवोन्मुख प्रेमाभक्ति इस गुणमय जगत्के भोक्तृत्वको नष्ट कर देती है)॥ ६-७॥

एतद्विद्वान् मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम्।
न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत्॥ ८॥

हे उद्धव! जो ज्ञान-विज्ञानके पराकाष्ठास्वरूप मेरे द्वारा उपदिष्ट पूर्वोक्त तत्त्वको अच्छी प्रकारसे जान लेते हैं तथा उसमें निपुण हो जाते हैं, वे सूर्यके समान समभावमें रहकर सर्वत्र विचरण करते हैं—वे प्राकृत मनुष्य और जागतिक-व्यापारकी प्रशंसा अथवा निन्दा नहीं करते। चित्-अचित्-विवेकसम्पन्न ये व्यक्ति ब्रह्माण्ड एवं वैकुण्ठमें सभी वस्तुओंके दर्शनमें समर्थ होते हैं। अपनी सेवोन्मुखताके कारण वैकुण्ठमें दास्य सेवाके अधिकारी होते हैं। विश्वभोगकी पिपासा इनमें नहीं रहती॥ ८॥

प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा।
आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा निःसङ्गो विचरेदिह॥ ९॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, वेदवाक्य एवं स्वानुभवके (आत्मज्ञानके) द्वारा जान लेना चाहिये कि यह विश्व आदि-अन्त युक्त अर्थात् उत्पत्ति और विनाशशील मिथ्या पदार्थ हैं। अतः यहाँ ससङ्गभावसे (अनासक्त होकर) विचरण करना चाहिए।

यह संसार किस प्रकारसे असत् है, वही प्रमाणों द्वारा बतलाते हैं—यथा 'प्रत्यक्ष'—इसके द्वारा ज्ञात होनेवाले घटादि नाशवान तथा असत् हैं। 'अनुमान'के द्वारा जो सावयव होता है जैसे पृथ्वी आदि। पृथ्वी सावयव होनेके कारण दृश्य एवं असत्य है। 'शास्त्र'के द्वारा जैसे आकाश। आकाश सावयव नहीं है तथा प्रत्यक्षका विषय भी नहीं है, किन्तु वह दृष्य है। नीला आकाश सबको प्रतीत होता है। अतएव आकाश आदि एवं अन्तवाला होनेके कारण असत्य है। आत्मसंविदाके द्वारा यह अनुभव होता है कि जो दृश्यमान है वह आदि एवं अन्तवाला है, इसलिये असत् है। इस प्रकार सम्पूर्ण द्वैत प्रपञ्च ही असत् है॥ ९॥

श्रीउद्धव उवाच—

नैवात्मनो न देहस्य संसृतिर्द्रष्टृदृश्ययोः।
अनात्मस्वदृशोरीश कस्य स्यादुपलभ्यते॥ १०॥

उद्धवने पूछा—हे प्रभो! यह दृश्यमान् द्वैत प्रपञ्च (भौतिक जगत्) यदि द्रष्टा-वस्तु चेतन (अजड़) आत्माका भी नहीं है और दृश्य-वस्तु जड़ शरीरका भी नहीं है, तब यह (जन्म-मृत्यु-रूप संसार) किसका कहा जाएगा? अनात्मा अर्थात् जड़ वस्तुकी दृष्टि-शक्ति सम्भव नहीं है, उसके लिये संसार-दुःखका अनुभव असम्भव है और आत्माका आत्म-दर्शनके अतिरिक्त द्वितीयाभिनिवेश नहीं है, वह स्वतःसिद्ध ज्ञानवान् है, अतः उसके ज्ञानका लोप सम्भव नहीं है। जब इन दोनोंमें-से किसीकी भी संसार-दशा सम्भव नहीं है, तब इस संसारकी प्रतीतिकी उपलब्धि हुई कैसे?॥ १०॥

आत्माव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः।
अग्निवद्दारुवदचिद्देहः कस्येह संसृतिः॥ ११॥

आत्मा अव्यय (विनाशादिका अभाव), त्रिगुणातीत (परस्पर रागादिका अभाव), शुद्ध (पाप-पुण्यादि परिच्छेदोंका अभाव), स्वयंप्रकाश (अज्ञानादि अन्धकारका अभाव), आवरणशून्य (अनात्मके

द्वारा अनावृत) एवं निर्लेप है। अचेतन देह प्रकाश्य काष्ठके समान जड़-पदार्थ है। अग्नि एवं काष्ठका भेद रहनेपर भी जैसे काष्ठ प्रकाश्य है, अग्नि प्रकाशक है, उसी प्रकार देह प्रकाश्य है, जीवात्मा प्रकाशक है; अतः इस लोकमें इन दोनोंमें-से किसकी संसार-दशा हो सकती हैं?॥ ११॥

श्रीभगवानुवाच—

यावद्देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम्।
संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः॥ १२॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—जब तक देह, शरीर एवं प्राणके साथ आत्माका सम्बन्ध रहता है, तब तक अविवेकी व्यक्तियोंके निकट यह अकिञ्चित्कर, अर्थरहित, अफल, मिथ्याभूत संसार प्रकाशरूप फलवान्‌के रूपमें सत्य-सा स्फुरित होता है। अविवेकीकी अज्ञान-जनित उपलब्धि वास्तव उपलब्धि नहीं है॥ १२॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्त्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ १३॥

स्वप्नमें जिस प्रकार मिथ्याभूत व्याघ्र-सर्प-दंशन इत्यादि अनिष्ट (विपत्) सत्यरूपमें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार विषयोंकी अवर्त्तमानता होनेपर भी उन विषयोंका चिन्तन करनेसे आत्माकी इस संसारके प्रति असत्य बुद्धिकी निवृत्ति नहीं होती। अज्ञानीकी संसृति-दशा चलती रहती है॥ १३॥

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते॥ १४॥

स्वप्न सोये हुए मनुष्यके लिये विविध अनर्थोंको उपस्थित करता है। जागरणकालमें उस मनुष्यको दृष्ट स्वप्नका स्मरण तो रहता है, परन्तु वह उससे मोहित नहीं होता। भौतिक जगत्‌के मिथ्यात्वको बोध करनेवाले आत्मवित्‌के लिये दृश्य जगत्‌की अकर्मण्यता एवं दृश्य वस्तुकी अवास्तविकता सिद्ध हो ही जाती है॥ १४॥

शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।
अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः॥ १५॥

अनात्म-प्रतीतिमें मनुष्यको अभावके कारण शोक, प्राप्तिके कारण हर्ष, अमङ्गल-प्राप्तिकी आशङ्कासे भय, तात्कालिक अभीष्ट वस्तुकी अप्राप्तिमें क्रोध, इन्द्रिय-तर्पण-उद्देश्यसे लोभ, उसकी आशामें मोह, स्पृहा एवं जन्म-मृत्यु इत्यादि भाव अहङ्कारकी जड़ताके कारण अनुभव होते हैं—वास्तवमें तो ये शोकादि इसी अहङ्कारके कार्य हैं, जो भोगी व्यक्तिके लिये व्यवहारोपयोगी हैं, आत्मवित् तो इनको अनात्मरूपमें जानता है। अतएव उसका संसार नहीं है॥ १५॥

देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो
जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्त्तिः।
सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः संसार
आधावति कालतन्त्रः॥ १६॥

भोगी सूत्रमें कालाधीन होकर संसार प्रवृत्ति-क्रमसे जो भ्रमण है—उसके उपादान हैं—देह, इन्द्रिय, प्राण एवं मनः पदार्थोंमें अभिमानशील गुण एवं कर्ममय जीवात्मा। गुण एवं कर्मोंसे बना हुआ लिङ्गशरीर उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्माकी मूत्ति (शरीर) है। जिस सूत्रमें ये सब आबद्ध हैं, उसको सूत्रात्मा, महान् महत्-तत्त्व इत्यादि विविध शब्दोंसे एवं बहुत प्रकारसे कीर्त्तित किया जाता है। जीव अहङ्कारवश इस गुण एवं कर्ममय विग्रहको (लिङ्ग-शरीरको) अपना स्वरूप मान लेता है। अहङ्कार जीवकी उपाधि है। जीवात्मा अहङ्कार धर्मको ग्रहण नहीं करता, अहङ्कार ही जीवात्माको बलपूर्वक अपना धर्म ग्रहण करा देता है। इस प्रकार अहङ्कार रूप अविद्या द्वारा बद्ध होकर जीव गुण एवं कर्ममय विग्रहसे कालरूप परमेश्वरकी अधीनतामें संसार-दुःखमें पतित होकर इधर-उधर नाना आकारोंमें भटकता रहता है॥ १६॥

अमूलमेतद्बहुरूपरूपितं
मनोवचःप्राणशरीरकर्म ।
ज्ञानासिनोपासनया शितेन-
च्छित्त्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्णः॥ १७॥

वस्तुतः यह अहङ्कार-बन्धन निराधार है—इसका कोई यथार्थ आधार नहीं है। यह अहङ्कार अज्ञानके कारण मन, वचन, प्राण एवं शरीरकी चेष्टाओंमें (कार्योंमें) एवं देवता, मनुष्यादि बहुत रूपोंमें प्रकाशित होता है तथा सम्मोह उपस्थित करता है। अतः मन, वचन, प्राण एवं देहमें स्थित अहङ्कारको गुरु-उपासना एवं भगवान्‌की अनन्य-भक्तिसे प्राप्त शाण पर चढ़ाकर तीक्ष्ण-ज्ञान रूपी खड्गसे मूलोच्छेद (जड़से छिन्न-भिन्न) करके आशा, तृष्णासे रहित होकर तथा हृदयमें मौन धारणकर इस पृथ्वीपर अकिञ्चन भावसे विचरण करे। यह अहङ्कार ज्ञान-पथका महाकण्टक स्वरूप है॥ १७॥

ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च
प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम् ।
आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं
कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये॥ १८॥

आत्म एवं अनात्मका विवेक अर्थात् उन्हें पृथक्-पृथक् समझ लेना ही ज्ञान है तथा वेद (शुद्ध हृदयसे वेदादि शास्त्रोंका श्रवण), स्वधर्म (तपस्या), प्रत्यक्ष (स्वानुभव), ऐतिह्य (प्राचीन पौराणिक उपदेश एवं महापुरुषोंकी युक्तियाँ) तथा अनुमान अर्थात् वेदशास्त्रके अविरोधी तर्कपूर्ण निष्कर्ष-स्वरूप है। इन साधनोंसे यह स्पष्टरूपसे ज्ञात होता है कि यह द्वैत प्रपञ्च अद्वयज्ञान तत्त्व ब्रह्म-वस्तुमें ही अवस्थित, उससे ही उत्पन्न एवं उसमें ही पर्यवसित है। इस अद्वयज्ञानकी तीन प्रतीतियाँ हैं—ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्। ये तीनों अभिन्न हैं। कार्य-कारणकी भौतिक विधि कालक्रमसे घटित होती है। इस जगत्‌के आदि एवं अन्तमें जो मूलकारण (ब्रह्म-वस्तु उपाधिशून्य अर्थात् निर्विकल्प है। काल इसकी अभिव्यक्ति है॥ १८॥

यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात्
पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं
नानापदेशैरहमस्य तद्वत्॥ १९॥

कटक, कुण्डल इत्यादि अलङ्कारोंके रूपमें गठित जितने भी स्वर्णमय विकार पदार्थ हैं, सभीकी उत्पत्तिके पूर्व एवं विनाशके पश्चात् केवल स्वर्ण ही वर्त्तमान रहता है—कटकादि पदार्थ नहीं। मध्य दशामें ही स्वर्ण निर्मित ये वलय, कटक, कुण्डल आदि आकृति-भेदसे भिन्न-भिन्न नामोंसे व्यवहृत होते हैं। इसी प्रकार विश्वका कारणरूपी मैं भी नाना प्रकारके व्यवहारोंका अवलम्बन-स्वरूप हूँ। वस्तुतः विश्वके अन्तर्गत जितने प्रकारके भाव (पदार्थ) एवं घटक हैं, मुझसे पृथक् नहीं हैं। मैं ही विश्वके पूर्वमें, पश्चात्में और मध्यमें हूँ। मैं सृष्टि आदिके समय अपनी भौतिक शक्तिको गति प्रदान करता हूँ। यह शान्ति मुझसे भिन्न नहीं है॥ १९॥

विज्ञानमेतत् त्रियवस्थमङ्ग
गुणत्रयं कारणकार्यकर्त्तृ।
समन्वयेन व्यतिरेकतश्च
येनैव तुर्येण तदेव सत्यम्॥ २०॥

हे अङ्ग (हे प्रिय) उद्धव! जब अणुचित् जीव इस जगत्के बन्धनमें आबद्ध रहता है, तब उसका मन (विज्ञान) तीन अवस्थाओंसे युक्त रहता है—सत्त्व, रज एवं तम। इस अवस्थात्रय कार्यके हेतुभूत हैं—सत्त्व, रज एवं तम—गुणत्रय। तीनों गुणोंका कार्यरूप यह जगत् भी त्रिविध है—अध्यात्म (इन्द्रियादि सूक्ष्मकारण), अधिभूत (पृथ्वी आदि स्थूल कार्य) एवं अधिदैव (कर्त्ता)—यह त्रैविध्य जिससे प्रकाशित होता है, उस चतुर्थ कारण तुरीय वस्तुको ही एकमात्र सत्य मानो। समाधि इत्यादि दशामें त्रैविध्य नहीं रहता, मात्र यही वस्तु अवशिष्ट रहती है, इसीकी सत्ता बनी

रहती है। यह तुरीय तत्त्व त्रैविध्यसे परे है और इनमें अनुगत होकर प्रकाशित होता है। (अन्वय एवं व्यतिरेकसे ब्रह्मतत्त्वको जानना चाहिए। अनुगत अर्थात् सीधे क्रमका नाम अन्वय और इसके विपरीत क्रमका नाम व्यतिरेक है। अन्वय अर्थात् अनुगत (एकके बाद एक) क्रमसे—तत्त्वज्ञान द्वारा ब्रह्मका अनुभव होता है और व्यतिरेक अर्थात् विपरीत क्रम-तत्त्वज्ञान न होनेपर ब्रह्मका अनुभव नहीं होता। उक्त सभी त्रिविधताएँ ब्रह्मकी सत्तासे सत्यके समान प्रतीत होती हैं और समाधि दशामें (व्यतिरेक रूपसे) जब ये त्रिविधताएँ नहीं रहतीं, तब भी उनकी सत्ता रहती है। ब्रह्मके प्रकाशसे समस्त वस्तुएँ आलोकित होती हैं एवं उनसे यह विश्व आलोकित होता है॥ २०॥

न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चा-
न्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।
भूतं प्रसिद्धञ्च परेण यद्यत्
तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा॥ २१॥

जो सृष्टिसे पूर्व नहीं था, विनाशके बाद भी नहीं रहेगा और मध्य (स्थिति) कालमें पृथक्‌रूपसे जिसकी स्थिति नहीं है, केवल नामके लिये अवस्थित है, उसे व्यवहारमात्र ही समझो। जो-जो वस्तुएँ अन्य वस्तुसे उत्पन्न एवं प्रकाशित होती हैं तथा भिन्न-भिन्न रूपमें प्रतीयमान एवं प्रसिद्ध होती हैं—उन्हें कारण एवं प्रकाशक वस्तुके रूपमें ही सत्ताविशिष्ट जानो—उनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है—मैं ऐसा मानता हूँ। (अप्रकाशित वस्तुएँ दूसरेसे ही प्रकाशित होती हैं—यह परिवर्त्तन-शीलता धर्म जिससे उद्‌भूत हुआ है, वही वस्तु सत्य है। उस सत्य वस्तुसे निःसृत तात्कालिकी शक्तिके द्वारा आदि, मध्य और अन्त अथवा भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् इत्यादि कालगत विचारसे परिणत समस्त कार्य ही नित्य सत्तासे प्रकाशित होनेके कारण परम सत्यमें अनुस्यूत हैं—अतः अभिन्न हैं। यह जगत् सत्य वस्तुसे उत्पन्न है, अतः मिथ्या नहीं है। जिन्हें

वास्तव वस्तुका ज्ञान नहीं है, वे ही विश्वकी सत्यताके सम्बन्धमें सन्दिग्ध हैं। खण्डित भोक्ताका अखण्डके साथ पार्थक्य रहने पर भी प्रसूत वस्तुमें जो अवरता अवस्थित है, उसकी उपलब्धिके लिये ही यह विश्व-संसार है। बद्ध जीवकी जो अनित्यमें रुचि दिखायी देती है, उस अनित्यताका भाव हेय, अवाञ्छनीय एवं अप्रयोजनीय है। इस ज्ञानकी उपलब्धि होनेपर जीव भोक्ता होनेके स्थानपर वैकुण्ठका सेवापरायण होता है)॥ २१॥

अविद्यमानोऽप्यवभासते यो
वैकारिको राजससर्ग एषः।
ब्रह्म स्वयंज्योतिरतो विभाति
ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम्॥ २२॥

यह दृश्यमान् विकार पदार्थ-समूह (रूपान्तर) पहले अविद्यमान होनेपर भी ब्रह्म-वस्तु द्वारा रजोगुणसे रचित होकर उसी ब्रह्म वस्तु द्वारा प्रकाशितके समान प्रतिभात होता है। (ब्रह्मा द्वारा सृष्ट) यह राजस सर्ग ब्रह्मका ही कार्य है। ब्रह्म स्वतः सिद्ध एवं स्वप्रकाश वस्तु हैं, कार्य नहीं। अतएव ब्रह्म ही इन्द्रिय, पञ्च तन्मात्र, मनः, पञ्चभूतात्मक विचित्र विकारोंमें चित्रित अथवा प्रकाशित होते हैं—इसलिये यह वैचित्र्यमय विश्व ब्रह्मके समान दृष्ट होता है। (ब्रह्म निर्विकार वस्तु हैं। ब्रह्म-वैचित्र्य एवं सङ्कीर्ण-जड़-वैचित्र्यमें भेद है। स्वयं प्रकाश ब्रह्म स्वरूपतः नित्य-वैचित्र्य धर्म-विशिष्ट हैं। प्रकृतिके रजोगुणसे उद्भूत यह अनित्य जागतिक विकार तात्कालिक प्रकाश-युक्त होकर मात्र बद्धजीवके इन्द्रिय-गोचर होता है। नश्वर जगत् पूर्वमें अविकृत होनेपर भी बादमें रजोगुणके प्रभावसे विकृत हो जाता है। वैकुण्ठमें ऐसा तात्कालिक अवस्थान नहीं है। जिस स्थानपर वैकुण्ठका वैचित्र्य विलुप्त होता है, उस स्थलपर ज्योतिरूप पदार्थको ही 'ब्रह्म' कहा जाता है। स्वयं प्रकाश-धर्मी स्वयंरूप एवं अपने धामका प्रकाशक है, वह राजस अथवा वैकारिक नहीं है)॥ २२॥

एवं स्फुटं ब्रह्मविवेकहेतुभिः
परापवादेन विशारदेन।
छित्त्वात्मसन्देहमुपारमेत
स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः॥ २३॥

इस प्रकार वेद, स्वधर्म, तपस्या, प्रत्यक्ष, उपदेश, अनुमान (तर्क) आदि ब्रह्मज्ञानके जनक—श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं आत्मानुभूतिरूप सुस्पष्ट उपायोंसे एवं सुनिपुण गुरुकी सहायतासे देहात्मभावको दूर करे तथा आत्म-विषयक संशयोंका छेदनकर आत्मानन्दमें परितुष्ट होकर इन्द्रियादि समस्त कामवासनामय पदार्थोंकी आसक्तिसे उपरत हो जाय। (तत्पश्चात् कृष्णानन्दके उदय होनेपर अप्राकृत मदनमोहनका तोषण ही एकमात्र धर्म है—इसकी उपलब्धि करे)॥ २३॥

नात्मा वपुः पार्थिवमिन्द्रियाणि
देवा ह्यसुर्वायुजलं हुताशः।
मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्व-
महङ्कृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम्॥ २४॥

यह शरीर घटके समान पार्थिव (पृथ्वीजात) पदार्थ होनेके कारण आत्मा नहीं हो सकता है। इन्द्रियाँ, उनके अधिष्ठातृदेवता, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त एवं अहङ्कार—ये भी शरीरकी भाँति अपने धारण एवं पोषणके लिये अन्नको आश्रय करके विद्यमान रहते हैं (अन्नके अभावमें ये सूखकर मर जाते हैं), अतः अन्न विकारके कारण ये देहवत् हैं, आत्मा नहीं हैं। वायु, जल, अग्नि, आकाश, पृथ्वी आदि ये पञ्च-महाभूत, शब्द आदि पञ्चविषयक तन्मात्राएँ और गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृति—सभी जड़त्वके कारण आत्मा नहीं हैं॥ २४॥

समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभि-
र्गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधाम्नः।
विक्षिप्यमाणैरुत किं नु दूषणं
घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम्॥ २५॥

सूर्यके आकाशमें अधिष्ठित होनेपर जिस प्रकार मेघोंके आगम एवं अपगम अथवा तितर-बितर हो जानेसे सूर्यकी कोई क्षति-वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार जिन्होंने सम्यक्‌रूपसे मेरे स्वरूपको जान लिया है, उसकी त्रिगुणात्मक इन्द्रियाँ निश्चल होकर समाधिस्थ हों, तो कोई गुण नहीं है और वे अचञ्चल होकर विक्षिप्त हो जाएँ, तो कोई दोष नहीं है क्योंकि अन्तःकरण एवं बाह्यकरण सभी गुणमय हैं और आत्माका इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवत्-सेवक मुक्तात्मा हैं, अतः प्रपञ्चमें समस्त कार्योंका सम्पादन करनेपर भी उनकी भक्ति नष्ट नहीं होती। जीवन्मुक्त ब्रह्मवत् ही होता है॥ २५॥

यथा नभो वाय्वनलाम्बुभूगुणै-
र्गतागतैर्वर्त्तुगुणैर्न सज्जते।
तथाक्षरं सत्त्वरजस्तमोमलै-
रहंमतेः संसृतिहेतुभिः परम्॥ २६॥

आकाश जिस प्रकार वायुके शोषण, अग्निके दहन, जलके क्लेदन और पृथ्वीके रजो धूसरत्व (धूल, धूमादि मालिन्यकरण) इत्यादि धर्मोंसे अथवा शीतोष्णादि आगमपायी ऋतु धर्मोंसे युक्त अथवा आसक्त नहीं होता, उसी प्रकार परम-अक्षर ब्रह्म भी अहङ्कार सम्भूत सत्त्व, रज एवं तमो गुणके मलसे मलिन नहीं होते। (जीवका गुणजात अहङ्कार उसकी बद्धताका ज्ञापक है, उसके स्वरूपका प्रकाशक नहीं। संसारके भटकावका कारण है त्रिगुणात्मक एवं कर्मात्मक वृत्ति; जो कि आत्माका स्पर्श भी नहीं कर सकती)॥ २६॥

तथापि सङ्गः परिवर्जनीयो
गुणेषु मायारचितेषु तावत्।
मद्भक्तियोगेन दृढेन यावद्
रजो निरस्येत मनःकषायः॥ २७॥

(अपूर्ण ज्ञानी मुक्त व्यक्तिके समान यथेच्छरूपसे आचरण न करे। यद्यपि जीव मात्र ही भगवत्-दास है, तथापि भगवत्-भक्तिमें विकाररूप रजोगुणकी उसमें प्रविष्ट होनेकी योग्यता बनी रहती है। गुणजात विश्व माया द्वारा रचित है, इसलिये चित्त चञ्चल हो सकता है—इस पर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं)—जब तक मेरे सुदृढ़ भक्तियोगके द्वारा रजोगुणरूप मल (रागरूप हृदय-कषाय) दूर नहीं हो जाता, तब तक मायारचित विषयोंका सर्वथा त्याग कर दे। दृढ़ भक्तियोग न रहनेपर जीव मनोधर्मसे चालित रहता है और अपनेको मिथ्या ही भक्त समझ लेता है। वह सेवा-वृत्तिसे विमुख होकर अहंग्रहोपासक हो जाता है॥ २७॥

यथामयोऽसाधु चिकित्सितो नृणां
पुनः पुनः सन्तुदति प्ररोहन्।
एवं मनोऽपक्वकषायकर्म
कुयोगिनं विध्यति सर्वसङ्गम्॥ २८॥

रोगकी भली-भाँति चिकित्सा न होनेपर (चिकित्सा-विज्ञानमें अनभिज्ञ व्यक्ति द्वारा चिकित्सा होनेपर) रोग जिस प्रकार पुनः-पुनः उद्भूत होकर (उभड़कर) मनको यन्त्रणा देता है, उसी प्रकार (कुयोगीके आश्रयसे अथवा इतर सङ्गके प्रभावसे) मनोगत रागादि कषाय (वासनादि) एवं तन्मूलक कर्म यदि सम्पूर्णरूपसे नष्ट नहीं होते, तो वे (कर्म-कषाय) अपूर्ण ज्ञानीको बार-बार व्यथित करते हैं। असम्यक् ज्ञानी अहं-मम इत्यादि विषयासक्तिके कारण योगभ्रष्ट हो जाता है॥ २८॥

कुयोगिनो ये विहितान्तरायै-
र्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ।
ते प्राक्तनाभ्यासबलेन भूयो
युञ्जन्ति योगं न तु कर्मतन्त्रम्॥ २९॥

जो योगरूढ़ अपरिपक्व योगी (असम्यक् ज्ञानी) देवताओंके द्वारा प्रेरित बन्धुओंसे (पुत्रादिसे), शिष्यादि-रूप धारण करनेवालोंसे

एवं नानाविध विघ्नोंसे योगसे भ्रष्ट हो जाते हैं, वे जन्मान्तरमें पूर्व संस्कारके बलपर भक्तियोगसे आकर्षित होकर पुनः योगके अनुशीलनमें ही लग जाते हैं, कर्मके विस्तारके जालमें नहीं फँसते। (देवताओंको ब्रह्म-ज्ञान प्रिय नहीं है क्योंकि ब्रह्मज्ञानीकी तुलनामें उनकी स्थिति गौण हो जाती है।)॥ २९॥

करोति कर्म क्रियते च जन्तुः
केनाप्यसौ चोदित आनिपातात्।
न तत्र विद्वान् प्रकृतौ स्थितोऽपि
निवृत्ततृष्णः स्वसुखानुभूत्या॥ ३०॥

अविद्वान् पुरुष किसी संस्कारादिसे प्रेरित होकर मृत्युकाल पर्यन्त भोजनादि कर्मोंमें लगा रहता है। वह भोजनसे लय-पर्यन्त तत्-तत् कर्म करता हुआ पुष्टि इत्यादि विभिन्न विकारोंको प्राप्त होकर कुत्ते एवं सुअर आदि योनियोंमें भटकता रहता है। जबकि विद्वान् ज्ञानी स्वानन्दानुभवसे परितृप्त रहकर देहमें अवस्थित होकर भी न तो कर्म करता है और न ही कर्मके बन्धनमें बँधता है। अतः उसकी संसार-दशा नहीं होती। अहङ्कार प्रबल रहनेपर भोगवासना जीवको वासनासे मुक्त नहीं होने देती, जबकि अहङ्कारसे रहित हो जाने पर विद्वान पुरुष हर्ष-विषादको पुनः संसारमें प्राप्त नहीं करता। भगवान्‌की पूर्ण-सुखानुभूतिके लिये अखिल-चेष्टा-परायण होना चाहिए और तृष्णाओंसे सम्पूर्णरूपेण निवृत्त हो जाना चाहिये। यही वास्तव ज्ञान है॥ ३०॥

तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं
शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम् ।
स्वभावमन्यत् किमपीहमान-
मात्मानमात्मस्थमतिर्न वेद॥ ३१॥

जिनका मन सर्वदा आत्मामें ही स्थित है, ऐसे व्यक्तिका देह खड़ा है या बैठा, चल रहा है या सो रहा है, मल-मूत्र त्याग रहा है, भोजन कर रहा है अथवा कोई स्वाभाविक कर्म कर

रहा है; वह किसी भी कर्मकी चेष्टा क्यों न करता रहे, उसे उसका पता ही नहीं चलता। उसे देहकी सुध-बुध नहीं रहती, क्योंकि उसकी सारी वृत्तियाँ परमात्मामें ही स्थिर रहती हैं। कृष्णसेवा-परायण होनेसे उनकी समस्त चेष्टाएँ भक्ति शब्द वाच्य होती हैं॥ ३१॥

यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं
नानानुमानेन विरुद्धमन्यत्।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी
स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम्॥ ३२॥

ज्ञानी व्यक्ति यदि कभी समाधि भङ्ग होनेपर बहिर्मुख (असत्) इन्द्रियोंके रूप, रसादि विषयोंका दर्शन करते हैं, परन्तु आत्मासे पृथक् इन वस्तुओंको अनुमान, युक्तियों एवं प्रमाणोंके विरुद्ध मानकर उन्हें उसी प्रकार सत्य नहीं मानते, जिस प्रकार स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्न दृष्ट विषयोंको सत्य नहीं मानता। (स्वप्न मनोरथ जैसे स्वयं ही अन्तर्हित (तिरोहित) हो जाते हैं, ज्ञानी व्यक्तिके विषय-दर्शनको भी इसी प्रकारसे असत् जानना चाहिए)॥ ३२॥

पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्र-
मज्ञानमात्मन्यविविक्तमङ्ग ।
निवर्त्तते तत् पुनरीक्षयैव
न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा॥ ३३॥

हे उद्धव! बद्धावस्थामें गुण-कर्मके वैचित्र्यसे युक्त देह, इन्द्रिय आदि पदार्थ अज्ञानके कारण (पहले आत्म-वस्तुमें अध्यस्त होकर) आत्मासे अभिन्नरूपमें गृहीत हुए थे, उनका ज्ञान नहीं था, अब मुक्तावस्थामें आत्म-दृष्टि (ज्ञान-प्राप्ति) होनेपर उस अज्ञानकी एवं उसके कार्योंकी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् देहादिमें होनेवाली आत्मत्व बुद्धि दूर हो जाती है। भोग एवं त्यागकी वृत्तियोंके द्वारा त्वं पदार्थ आत्माका कभी भी, किसी भी रूपमें ग्रहण

अथवा त्याग नहीं होता—यह जीवात्मा एकरस ही रहता है। ज्ञानका ही ग्रहण अथवा त्याग होता है। आत्माकी वृत्ति नित्य है। अतः अज्ञान-प्रतीतिके साथ कभी भी उसकी समता नहीं हो सकती। अज्ञानकी निवृत्ति ही अभीष्ट है। (अभिप्राय यह है कि जड़-जगत्का भोग्यभाव चिज्जगत्में ले जाया नहीं जा सकता। बन्ध तथा मोक्षमें आत्माका संस्पर्श नहीं होता। अनात्म मन एवं देह ही ग्रहणरूप भोग एवं त्यागका आवाहन करते हैं। गुणकृत वस्तुओंका स्वरूप विचारणीय होता भी नहीं है)॥ ३३॥

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां
तमो निहन्यान्न तु सद्विधत्ते।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे
हन्यात् तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः॥ ३४॥

सूर्योदय जिस प्रकार मानव-नेत्रके (विषय-दर्शनके) प्रतिबन्धक अन्धकार मात्रको ही नष्ट करता है, घटादि दृश्य विषयोंकी सृष्टि नहीं करता, क्योंकि वे तो पहलेसे ही विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार मेरी सुनिपुण आत्मविद्या भी मनुष्यके बुद्धिगत स्वरूपके आवरक अज्ञानका नाश करती है, स्वरूपकी सृष्टि नहीं करती। स्वरूप स्वतः ही विद्यमान रहता है। आत्म-विद्या प्राप्त होते ही आगन्तुक आवरण दूर हो जाता है—नित्य वस्तु स्वतः ही प्रकाशित हो जाती है॥ ३४॥

एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेयो
महानुभूतिः सकलानुभूतिः।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे
येनेषिता वागसवश्चरन्ति॥ ३५॥

परमात्मा जीवात्मासे पृथक् हैं। वे एक अद्वितीय, जन्मरहित, स्वयंज्योतिः, अप्रमेय (देश काल परिच्छेदसे रहित सर्वव्यापकताके कारण अप्रमेय), चित्पुञ्जस्वरूप एवं सर्वज्ञ हैं। जीव असंख्य, उपाधि द्वारा जन्य, तत्प्रकाश्य, चित्कण एवं अल्पज्ञ हैं। परमेश्वर

आत्म-तुल्य अन्य कोई न रहनेके कारण सजातीय भेदसे रहित हैं, जीव एवं माया उनकी शक्तिके रूपमें उनसे ऐक्य होनेके कारण वे विजातीय भेदसे रहित हैं। उन परमात्माके द्वारा प्रेरित होकर प्राण एवं वाणी अपने-अपने निर्दिष्ट विषयोंमें प्रवर्तित होते हैं अर्थात् उनकी प्रेरणासे वाक्य व्यक्त होते हैं और प्राणवायु प्रवाहित होती है जबकि वे स्वयं वाक्से अगोचर होकर स्वप्रकाश रूपमें अवस्थित रहते हैं। वे सभीके प्राप्य एवं अधिगम्य हैं। भेद जगत्की वाणीका विराम होनेपर उनके अद्वय-ज्ञानत्वकी उपलब्धि होती है॥ ३५॥

एतावानात्मसम्मोहो यद्विकल्पस्तु केवले।
आत्मन्यृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि॥ ३६॥

अद्वितीय (अभिन्न) आत्मामें जो भेद-ज्ञान (विकल्प, द्वैत अथवा पृथक् ज्ञान अर्थात् भौतिक शरीर या मनको आत्माका मूलभूत घटक मान लेना) है, उसका ही नाम मनका भ्रम है। वह भ्रम ही आत्ममोह (अपरिपक्व-विवेक) है, क्योंकि अपनी आत्माके बिना उस विकल्पका (भेदका) अवलम्बन कोई दूसरा पदार्थ नहीं है अर्थात् आत्माओंमें किसी भी पदार्थका मिश्रण नहीं हो सकता है। स्वयंप्रकाश आत्मा चित्प्रकाश योग्य वस्तुको ही प्रकाशित करता है, उसके अचित् इत्यादि अन्य आश्रय नहीं हैं। अतः चिद्-वैशिष्ट्य एवं चिद्-विलासमें जड़जगत्के क्षणभङ्गुर धर्मको संयुक्त करनेका प्रयास अथवा विचार ठीक नहीं है॥ ३६॥

यन्नामाकृतितिभर्ग्राह्यं पञ्चवर्णमबाधितम्।
स्वर्थेनाप्यर्थवादोऽयं द्वयं पण्डितमानिनाम्॥ ३७॥

जो नाम-रूप-आकृतिसे विशिष्ट एवं इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य पञ्चवर्णात्मक (पञ्चभूतात्मक) द्वैत प्रपञ्च है, इसे पण्डित नहीं, पण्डिताभिमानी सत्य मानते हैं। उनके अनुसार यह द्वैत प्रपञ्च अबाधित (सत्य) है, इसमें आदि-अन्तकी बाधा नहीं है, परन्तु

ऐसी बातें अर्थहीन और वाणीका आडम्बर मात्र मूल विषयसे अतिरिक्त ऐसे भ्रान्त विषयकी प्रतीति इन्हीं पण्डितोंके लिये सम्भव है—व्यर्थ प्रतीतियाँ तत्त्वज्ञोंके द्वारा अनुमोदित नहीं हैं। इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ भोगके लिये उपयोगी हैं और इन्द्रियोंके आद्यन्त होनेके कारण उनकी पृथक् सत्ता अथवा सत्यता भी सिद्ध नहीं होती। अतः प्रत्यक्ष एवं अनुमान द्वारा, शास्त्र द्वारा तथा निज ज्ञान द्वारा आदि-अन्तसे युक्त पदार्थको असत् जानकर निःसङ्ग होकर इस जगत्में विचरण करे—मेरा यह कहना है॥ ३७॥

योगिनोऽपक्वयोगस्य युञ्जतः काय उत्थितैः।
उपसर्गैर्विहन्येत तत्रायं विहितो विधिः॥ ३८॥

जो योगाभ्यासकी साधनामें रत हैं, परन्तु परिपक्वता प्राप्त नहीं कर पाये हैं, उनका शरीर योगकालमें यदि रोगादि उपद्रवोंसे आक्रान्त हो जाय, तो इस प्रकारसे प्रतिकार करना चाहिए। (ये सभी उपदेश भगवत् शरणागतिसे रहित कर्मयोगी एवं हठयोगियोंके लिये हैं। ये लोग पार्थिव ज्ञानका सम्बल करके योग-साधना करते हैं)॥ ३८॥

योगधारणया कांश्चिदासनैर्धारणान्वितैः।
तपोमन्त्रौषधैः कांश्चिदुपसर्गान् विनिर्दहेत्॥ ३९॥

गरमी-ठण्डक आदि विघ्नोंको सूर्य-चन्द्रमा आदिकी धारणाके द्वारा, वात आदि रोगोंको वायुकी धारणासे युक्त आसनोंके द्वारा और पापग्रह एवं सर्पादिकृत उपसर्गोंको अर्थात् विघ्नोंको तपस्या, मन्त्र और ओषधिके द्वारा प्रशमन करना चाहिए॥ ३९॥

कांश्चिन्ममानुध्यानेन नामसङ्कीर्त्तनादिभिः।
योगेश्वरानुवृत्त्या वा हन्यादशुभदान् शनैः॥ ४०॥

मेरे निरन्तर ध्यान एवं नाम-सङ्कीर्त्तनादि द्वारा काम, क्रोधादि उपद्रवोंको नष्ट करे तथा विघ्नकारी दम्भ, मदादि अशुभोंको श्रेष्ठ योगियोंके आनुगत्यमें धैर्यके साथ धीरे-धीरे नष्ट करे॥ ४०॥

केचिद्देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम्।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये॥ ४१॥

कोई-कोई धीर पुरुष इस शरीरको जरा-रोगसे रहित, चिर-स्थायी-यौवनसे विशिष्ट रखनेके लिये पूर्वोक्त एवं हठयोगादि अन्यान्य उपायोंका अवलम्बन करते हैं और बादमें परकाया-प्रवेशादि विविध सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये योगाचरण करते हैं। ज्ञाननिष्ठ भक्त ऐसा नहीं करते॥ ४१॥

न हि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः॥ ४२॥

योगाभ्यास करनेवालोंके ये आचरण बुद्धिमान् पुरुषोंके लिये आदरणीय नहीं हैं, क्योंकि आत्मा वृक्षके समान स्थायी है और शरीर वृक्षके फलके समान नश्वर है। फलकी निवृत्तिके समान देहकी भी निवृत्ति हो जाती है—अतः देह-विषयक स्थैर्यके लिये प्रयास करना निरर्थक है। स्थूल-सूक्ष्म दोनों ही देह नश्वर हैं॥ ४२॥

योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात्।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः॥ ४३॥

नित्य योगमें रत मनुष्यका शरीर यद्यपि जरा, रोगादिसे रहित होकर देह-सिद्धि प्राप्त कर ले, एक कल्प तक भी जीवित रह जाय, तथापि जो मत्परायण हैं, मुझमें आसक्त हैं, ऐसे विवेकशील योगी पुरुष योगका परित्याग करके उसमें श्रद्धा नहीं रखेंगे, मेरी भक्तिमें ही रत रहेंगे॥ ४३॥

योगचर्यामिमां योगी विचरन् मदपाश्रयः।
नान्तरायैर्विहन्येत निःस्पृहः स्वसुखानुभूः॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे परमार्थनिर्णयोनामऽष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

योगी यदि मेरे आश्रयमें ऐसा योगाभ्यास करते हैं, तो वे किसी भी विघ्नसे अभिभूत नहीं होंगे, बल्कि निष्काम होकर आत्मानन्दानुभवमें (सच्चिदानन्दकी अनुभूतिमें) तन्मय रहेंगे। अतः भक्तियोग ही वरणीय है। यह सब प्रकारसे निरपेक्ष है तथा इसमें कोई विघ्न भी नहीं है॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके अट्ठाईसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

भागवतधर्मोंका निरूपण एवं उद्धवका बदरिकाश्रम गमन

श्रीउद्धव उवाच—

सुदुस्तरामिमां मन्ये योगचर्यामनात्मनः।
यथाञ्जसा पुमान् सिध्येत् तन्मे ब्रूह्यञ्जसाच्युत॥ १॥

उद्धवने कहा—हे अच्युत! जिस मनुष्यका मन वशमें नहीं है, उसके लिये पूर्वोक्त योगानुष्ठान बहुत कठिन है—मैं ऐसा मानता हूँ, अतएव मनुष्य जिस प्रकारसे अनायास ही सिद्धि प्राप्त कर सकें, आप मुझे ऐसे सरल एवं सुबोध्य साधन (उपाय) बतलावें॥ १॥

प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः।
विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिताः ॥ २॥

हे कमलनयन श्रीकृष्ण! योगी ब्रह्ममें मन स्थिर करनेके लिये समाधि-पर्यन्त बहुत प्रयास करते हैं, परन्तु जब भी वे मनका निग्रह करनेमें समर्थ नहीं हो पाते हैं, तब श्रान्त एवं दुःखी हो जाते हैं॥ २॥

अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं
हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्म्मभि-
स्त्वन्माययामी विहता न मानिनः॥ ३॥

हे कमललोचन! अतएव सार-असार-विवेक-निपुण परमहंसगण जिनसे शान्ति प्राप्त होती है, ऐसे सर्वानन्द-परिपूरक आपके चरणकमलोंका ही सुखपूर्वक आश्रय करते हैं; हे विश्वेश्वर! ऐसे आपके भक्त कभी दुःखी नहीं होते किन्तु जो योग अथवा कर्ममार्गके अभिमानमें डूबे रहते हैं (मैं योगी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं

कर्मी हूँ इत्यादि), वे आपका चरणाश्रय नहीं करते और आपकी मायासे वञ्चित होकर विनष्टप्रायः हो जाते हैं॥ ३॥

किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो
दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम्।
योऽरोचयत् सह मृगैः स्वयमीश्वराणां
श्रीमत् किरीटतटपीडितपादपीठः॥ ४॥

हे अखिल बान्धव श्रीकृष्ण! जब आप रामरूपमें प्रकट हुए थे, तब ब्रह्मादि देवगण अपने उज्ज्वल एवं सुरम्य किरीटके अग्रभाग द्वारा आपकी पादपीठपर विलुण्ठित (लोटपोट) होनेके लिये लालायित रहते थे, उस समय भी आपने वानर, मृग, भालु, आदिके साथ प्रीतिपूर्वक सख्य स्थापित कर रखा था, जबकि इन्होंने योगादि विविध उपायों द्वारा कुछ भी अर्जन नहीं किया था। वृन्दावनमें भी आपने हिरणोंको साथ लेकर गोचारण कराया था, चुरा-चुराकर वानरोंको नवनीत खिलाया था। हे अच्युत! नन्द महाराज, गोपी, बलि आदि आपके एकान्ताश्रित दास हैं, तथापि आप उन सबके प्रति जो अधीनताका प्रदर्शन करते हैं—इसमें आश्चर्यकी बात क्या है? (अद्वैतवादी ज्ञानियोंके आप अधीन हुए हो, ऐसा कभी सुना नहीं है)॥ ४॥

तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां
सर्वार्थदं स्वकृतविद्विसृजेत को नु।
को वा भजेत् किमपि विस्मृतयेऽनुभूत्यै
किंवा भवेन्न तव पादरजोजुषां नः॥ ५॥

आप सम्पूर्ण जगत्के अन्तर्यामी हैं, सर्वश्रेष्ठ प्रिय बन्धु हैं, अपने भक्तोंके प्रति अनुग्रहकारी हैं एवं आश्रितोंके लिये सर्वार्थप्रद हैं। जो बलि (जिसके हृदय-द्वारकी रक्षा हेतु आप बाध्य हुए हैं), प्रह्लाद (जिनके निष्काम होनेपर भी आपने भुक्ति-मुक्ति प्रदान की थी) आदि भक्तोंपर आपके असीम अनुग्रहसे परिचित हैं, वे ऐश्वर्य-साधक परन्तु आपकी विस्मृति-कारक स्वर्गादि-पदको दिये

जानेपर भी ग्रहण नहीं करते। वे आपका कभी भी त्याग नहीं कर सकते। (आप अन्तर्यामीरूपमें विराजमान रहकर सभी पर उपकार करते हैं।) हे देव! हम आपकी चरण-रेणुके सेवक हैं, हमें क्या अभाव रह सकता है?॥ ५॥

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-
न्नाचार्यचैत्त्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति॥ ६॥

हे परमेश्वर! आप बाहरमें आचार्यके (मन्त्र गुरु एवं शिक्षा गुरुके) रूपमें तथा अन्तरमें अन्तर्यामीके (चैत्य गुरुके) रूपमें अपनी भक्तिके उपदेशों द्वारा जीवोंके अशुभ अर्थात् अपनी भक्तिके प्रतिकूल विषय-वासनाओंका नाशकर उनके प्रति अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट करते हैं। ब्रह्म-ज्ञान सम्पन्न पारदर्शी सुधीजन ब्रह्माजीके समान आयु प्राप्त करके भी आपके ऋणसे मुक्त होनेमें समर्थ नहीं हो सकते। उनके चित्त आपके द्वारा कृत उपकारोंका स्मरण कर-करके परमानन्दसे समृद्ध रहते हैं। वे आपका भजन करते-करते प्रेमी पार्षदत्वकी गति प्राप्त कर लेते हैं॥ ६॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युद्धवेनात्यनुरक्तचेतसा
पृष्टो जगत्क्रीडनकः स्वशक्तिभिः।
गृहीतमूर्त्तित्रय ईश्वरेश्वरो
जगाद सप्रेममनोहरस्मितः॥ ७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—जब अन्तर्यामीरूपसे श्रीकृष्णने अपने अनन्य भक्त, अनुरक्तचेता (अति प्रेमसे भरे हुए) उद्धवको भविष्यत् कलियुगवर्त्ती भक्तोंके आनन्द हेतु इस प्रकारसे प्रश्न करनेकी अन्तःप्रेरणा दी, तब मूर्त्तित्रय-गृहीत अर्थात् जो अपनी शक्ति-त्रय-अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा एवं तटस्था द्वारा नित्य समन्वित

हैं, जो अन्तर्यामी स्वरूपमें, जीव रूपमें, देहरूपमें अपनी क्रीड़ाका विस्तार करते हैं, यह अखिल जगत् जिनकी क्रीड़ाका उपकरण है, निज भक्ति-रसका वितरण जिनका क्रीड़ा-वैशिष्ट्य है, जो सत्त्व-रज-तमो गुणोंके द्वारा ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रका रूप धारण करते हैं, जो जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति तथा सृष्टि-स्थिति-प्रलयके प्रवर्त्तक हैं, जो आत्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मारूपोंमें विद्यमान हैं, उद्धव रूपमें प्रश्नकर्त्ता हैं, स्वयं अर्थात् श्रीकृष्णरूपमें उत्तरदाता हैं, जो देशकालके अन्तरवर्त्ती शुद्ध परीक्षित् आदि भक्तोंके रूपमें विद्यमान हैं, प्रश्नोत्तर-अमृत-प्रदानकी ऐसी कृपा-चातुरी जिनके अतिरिक्त अन्यके लिये सम्भव नहीं है—ऐसे ईश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने प्रेमसहित मनोहर मृदु हास्यके साथ कहना प्रारम्भ किया॥ ७॥

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमङ्गलान्।
यान् श्रद्धयाचरन् मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम्॥ ८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे प्रिय उद्धव! मरणशील मनुष्य श्रद्धापूर्वक जिन भक्ति, ज्ञानादि धर्मोंका अनुष्ठान करनेपर अत्यन्त दुर्जय मृत्युको जय करनेमें समर्थ हो जाता है, अपने उस मङ्गलमय भागवत-धर्मोंका तुम्हें अति सहजरूपमें उपदेश कर रहा हूँ॥ ८॥

कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः॥ ९॥

मेरे प्रति सङ्कल्प-विकल्पात्मक मनका तथा उद्वेगरहित हृदयका समर्पण कर दे, मेरे धर्मोंमें अर्थात् मेरी भक्ति आदिमें आत्मा एवं मनकी रतिको (आसक्तिको) निष्ठ करे तथा मेरा स्मरण करता हुआ आडम्बर-रहित हो जाय। नित्य-नैमित्तिकादि (व्यावहारिक दन्त-धावनादि, पारमार्थिक श्रवण-कीर्त्तनादि एवं वर्णाश्रम विहित भी) सभी कर्मोंका अनुशीलन मेरी प्रीतिके लिये करे (इस

स्थलपर भगवान्‌ने केवला एवं प्रधानीभूता भक्तिको कुछ आच्छादित किया है)॥ ९॥

देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान्।
देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च॥ १०॥

(केवला भक्ति—वैधी एवं रागानुगाका वर्णन करते हैं) मेरा भक्त साधु पुरुषों द्वारा आश्रित द्वारकादि स्थानोंमें वास करे तथा देवता, असुर एवं मनुष्योंमें जो नारद, प्रह्लाद, अम्बरीषादि मेरे भक्त हैं, उनके आचरणका ही अनुसरण करे (वैधीभक्ति)। गोकुल, वृन्दावन, गोवर्द्धन आदिका आश्रय करके चन्द्रकान्ति, वृन्दा एवं गोपियोंका अनुसरण करे (रागानुगा भक्ति—एकान्त प्रेमकी प्रेरणासे अर्जित भक्तिका नाम रागानुगा है)॥ १०॥

पृथक् सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान्।
कारयेद्गीतनृत्याद्यैर्महाराजविभूतिभिः ॥ ११॥

सामर्थ्य रहनेपर अकेले ही अथवा बहुत-से मनुष्योंको एकत्र करके महाराजोचित विपुल वैभव द्वारा मेरे उद्देश्यसे एकादशी आदि पर्व, यात्रा (विशिष्ट लोगोंका सम्मेलन) एवं सबके साथ मिलकर होलिकादि महोत्सव नृत्य, गीत आदिके साथ सम्पन्न करे॥ ११॥

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः॥ १२॥

ज्ञानी भक्त निर्मलचित्त होकर समस्त प्राणियोंके हृदयमें तथा अपनी आत्मामें सर्वत्र पूर्णरूपसे अवस्थित, आकाशके समान सर्वव्यापी, अनासक्त एवं अपावृत (आवरण-रहित) मुझ परमात्माका सम्पूर्ण रूपसे दर्शन करे॥ १२॥

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते।
सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः॥ १३॥
ब्राह्मणे पुक्वसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥ १४॥

हे महाद्युति उद्धव! (तुम तो केवला भक्ति द्वारा सबसे अधिक तेज सम्पन्न हो—भक्ति-रहित केवल ज्ञान तो निन्दित है) जो इस प्रकारसे केवल ज्ञानरूप (भक्तिमयी) दृष्टिका आश्रय करके समस्त प्राणियोंमें मेरा स्वरूप जानकर सभीका सम्मान करते हैं, चाहे ब्राह्मण अथवा चाण्डाल यह जातिगत वैषम्य हो, ब्राह्मणकी सम्पत्ति हरण करनेवाला चोर अथवा ब्राह्मणके लिये दानादि करनेवाला ब्राह्मण भक्त—यह कर्मगत वैषम्य हो, सूर्य अथवा अग्निकण—यह परिमाणगत वैषम्य हो, क्रोधी अथवा अक्रोध यह गुणगत वैषम्य हो, सर्वत्र समदृष्टि सम्पन्न होकर मुझ एक परमात्माका जो सर्वत्र दर्शन करते हैं, वे ही पण्डित, ज्ञानी हैं। जाति आदिमें वैषम्य दर्शन करनेवाला अज्ञानी है॥ १३-१४॥

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्द्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥ १५॥

जो समस्त प्राणियोंमें सर्वदा मेरी नित्य विद्यमानताका चिन्तन करते हैं, उन मनुष्योंके स्पर्द्धा (अपने समानके प्रति), असूया (अपनेसे अधिकके प्रति), तिरस्कार (अपनेसे कनिष्ठके प्रति) इत्यादि दुर्गुण शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। सर्वत्र एवं स्वयंमें ब्रह्मदर्शन करनेसे अहङ्कार दोष भी कहाँ रहेगा?॥ १५॥

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडाञ्च दैहिकीम्।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥ १६॥

(सर्वत्र स्वाभाविक ही मेरे सद्भावका दर्शन हो—इसका साधन बतलाते हुए कहते हैं)—मात्सर्यसे युक्त अपने ही सखागण उपहास करें, तो उसपर ध्यान न दे, देह-विषयमें उच्च-नीच दृष्टि (मैं महान् हूँ और यह नीच है) का परित्याग करे और यह महान् होकर भी नीच व्यक्तिको प्रणाम कर रहा है, ऐसी लोक-लज्जाका त्याग करके कुक्कुर, चाण्डाल, गाय, गधा पर्यन्त सभी जीवोंको देखते ही भूमिपर दण्डवत् प्रणाम करे। सबसे मैं हीन हूँ—यह

जानकर सबका सम्मान करे। ऐसा करनेसे नाम-भजनमें सफलता प्राप्त होती है॥ १६॥

यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥ १७॥

जबतक समस्त प्राणियोंमें अतिशयरूपसे मेरा भाव स्वाभाविक न हो जाय, तबतक काय-मनो-वाक्यकी वृत्ति द्वारा एवं प्रणामादि शारीरिक चेष्टाओं द्वारा मेरी उपासना करे। (सभीको सम्मान देनेसे किसी प्राणीके द्वारा आक्रान्त होनेका भय नहीं रहता एवं निरन्तर भजन सम्भव हो जाता है)॥ १७॥

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययात्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥ १८॥

इस प्रकार सर्वत्र ईश्वर-दृष्टि-रूपी विद्या (अपनी मनीषा) द्वारा समस्त प्राणियोंमें ब्रह्मदर्शन करते हुए मुक्त-संशय होकर सम्पूर्ण क्रियाओंसे उपरत हो जाय। ऐसे आचरणशील उपासकके लिये समस्त वस्तुएँ ब्रह्मात्मक हो जाती हैं। चारों ओर ब्रह्मका दर्शन होता है। काय-मनो-वाक्यसे भगवद्-भजन होनेपर किसीके प्रति मात्सर्य नहीं रहता॥ १८॥

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेष मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥ १९॥

ज्ञानियोंकी ब्रह्म-प्राप्तिके लिये जितने भी उपाय हैं—उन सबमें मैं सहज-समीचीन उपाय यही मानता हूँ कि काय-मनो-वाक्यकी वृत्तियों (चेष्टाओं) द्वारा समस्त प्राणियोंमें परमात्मा-रूप मेरा ही दर्शन करे॥ १९॥

नह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि।
मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः॥ २०॥

हे उद्धव! क्योंकि मेरे द्वारा यह धर्म ही निर्गुणत्वके कारण यथार्थतः सर्वोत्तमरूपमें निर्णीत हुआ है, इसलिये मेरे इस

निष्काम-धर्मके अनुष्ठानमें वैगुण्यादिके (विघ्नादिके) द्वारा बिन्दु मात्र भी विनाश होनेकी सम्भावना नहीं है। यह भक्ति धर्म आरम्भ मात्र ही हुआ हो, अङ्गहीन भी हो, तो भी अन्यान्य धर्मोंकी तरह व्यर्थ नहीं होता। गुणातीत धर्म होनेसे इसका विनाश सम्भव नहीं है; यह मेरे द्वारा पूरी तरहसे रक्षित है॥ २०॥

यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत्।
तदायासो निरर्थः स्याद्भयादेरिव सत्तम॥ २१॥

हे सत्तम-प्रवर (सज्जनोंमें श्रेष्ठ) उद्धव! भय-शोक आदिके कारण पलायन, क्रन्दन इत्यादि जो चेष्टाएँ हैं, वे व्यर्थ ही हैं। यदि ये चेष्टाएँ परमात्मारूपी मेरे उद्देश्यसे निष्काम भावसे समर्पण कर दी जाती हैं, तो वे धर्मस्वरूप हो जाती हैं। भय, शोकादिके प्रयास व्यर्थ हैं—वे निज विषयको पाकर जिस प्रकार स्वयं हो ही जाते हैं, उसी प्रकार मुझे विषयरूपमें पाकर भजन हो ही जाता है। भक्तिके लिये जो यत्न किया जाता है, वह भक्तिमें अतिशय अनुरागका द्योतक होता है॥ २१॥

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥ २२॥

बुद्धिमानोंका यथार्थ विवेक एवं मनीषियोंका (चतुर मनुष्योंका) उत्कृष्ट चातुर्य इसीमें है कि वे इस असत्य (नश्वर)—मर्त्य देह द्वारा इसी जन्ममें सत्य एवं अमृतस्वरूप मुझे प्राप्त कर लें। प्राकृत राज्यमें रहते हुए भी प्राकृत-विकार-रहित होनेपर अप्राकृत फल-प्राप्ति सम्भव है॥ २२॥

एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य संग्रहः।
समासव्यासविधिना देवानामपि दुर्गमः॥ २३॥

हे उद्धव! ब्रह्म-तत्त्वको निरूपण करनेवाला यह समग्र-सार मैंने तुम्हें संक्षेप और विस्तार—दोनों प्रकारसे सुना दिया। यह ब्रह्म-विचार देवताओंके लिये भी दुर्ज्ञेय है॥ २३॥

अभीक्ष्णशास्ते गदितं ज्ञानं विस्पष्टयुक्तिमत्।
एतद्विज्ञाय मुच्येत पुरुषो नष्टसंशयः॥ २४॥

हे उद्धव! मैंने सुस्पष्ट एवं युक्तियुक्त ज्ञानका तुम्हारे निकट बार-बार वर्णन किया है। जो मनुष्य इसे जान लेता है, वह समस्त संशयोंसे रहित होकर मुक्त हो जाता है॥ २४॥

सुविविक्तं तव प्रश्नं मयैतदपि धारयेत्।
सनातनं ब्रह्मगुह्यं परं ब्रह्माधिगच्छति॥ २५॥

जो तुम्हारे प्रश्न तथा मेरे सुविस्तृत उत्तरोंका और इस उपाख्यानका तत्त्वानुसन्धान करेंगे, इन प्रसङ्गोंको धारण करेंगे, वे वेदोंके रहस्यभूत सनातन परब्रह्मके स्वरूपको प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे॥ २५॥

य एतन्मम भक्तेषु सम्प्रदद्यात् सुपुष्कलम्।
तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मना॥ २६॥

जो मेरे भक्तोंको प्रभूत एवं पुष्कलरूपमें सम्यक् प्रकारसे यह तत्त्वविषयक उपदेश प्रदान करता है, मैं उस ब्रह्मोपदेशकके लिये स्वयं ही अपने-आपका दान कर देता हूँ। अतः श्रद्धावानोंको हरि-भक्ति-वितरण अवश्य करना चाहिए॥ २६॥

य एतत् समधीयीत पवित्रं परमं शुचि।
स पूयेताहरहर्मां ज्ञानदीपेन दर्शयन्॥ २७॥

यह उपाख्यान परम पवित्र एवं दूसरोंके चित्तको भी विशुद्ध करनेवाला है। जो इस तत्त्वज्ञानका उच्च स्वरसे पाठ करते हैं तथा दूसरे मनुष्योंकी दृष्टिमें भी ज्ञान-प्रदीप द्वारा मेरे स्वरूपका प्रकाश करते हैं—वे स्वयं विशुद्ध रहते हैं। सेवा-परायण होनेपर जीव परम-पवित्र एवं शुचि होता है, उसमें किसी प्रकारका अज्ञानान्धकार रह नहीं सकता॥ २७॥

य एतच्छ्रद्धया नित्यमव्यग्रः शृणुयान्नरः।
मयि भक्तिं परां कुर्वन् कर्मभिर्न स बध्यते॥ २८॥

जो मनुष्य सावधानीपूर्वक अर्थात् अविचलित चित्तसे इसका सदा-सर्वदा श्रवण करता है, वह मेरी परम भक्ति अर्जित करता है और कभी भी कर्मके बन्धनमें नहीं पड़ता॥ २८॥

अप्युद्धव त्वया ब्रह्म सखे समवधारितम्।
अपि ते विगतो मोहः शोकश्चासौ मनोभवः॥ २९॥

हे उद्धव! हे सखे! तुमने मेरे द्वारा कथित इस ब्रह्म-तत्त्वको अच्छी प्रकारसे समझ लिया न? तुम्हारे पूर्ववर्त्ती मानसिक शोक, मोह दूर हो गये तो? तुम्हारे हृदयमें अब कोई शोक तो नहीं है न? सारे सन्देह छिन्न हो गये हैं न? (ज्ञातव्य है कि नित्यसिद्ध एवं त्रिगुणातीत उद्धवको ज्ञानादि ग्रहण करानेके लिये अपनी शक्ति द्वारा मोह उत्पन्न किया है और ज्ञानादिके उपदेश द्वारा उनका मोह स्वयं ही दूर किया है। अब लीलापूर्वक जिज्ञासा कर रहे हैं)॥ २९॥

नैतत् त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च।
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम्॥ ३०॥

जो दाम्भिक, वञ्चक, नास्तिक, श्रद्धाहीन (श्रवणकी इच्छासे रहित), दुर्विनीत (उद्धत) एवं मेरे भक्त नहीं हैं—उन लोगोंको मेरा यह उपदेश प्रदान न करना॥ ३०॥

एतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च।
साधवे शुचये ब्रूयाद्भक्तिः स्यात् शूद्रयोषिताम्॥ ३१॥

जो पूर्वोक्त दोषोंसे रहित हैं, ब्राह्मण-हितैषी हैं, प्रेमी हैं, साधु हैं, एवं शुद्धचित्त हैं—उन सबको मेरी भक्तिकी बातें बतलाना। (ये सब अपने-अपने प्राकृत-वर्ण-धर्मका त्याग करके भगवत्-सेवोन्मुख हो सकते हैं।) शूद्र (सामान्य श्रमिक) एवं स्त्रियोंमें यदि मेरे प्रति भक्ति है, तो उनके लिये भी ये उपदेश प्रदान करना। भक्तिके कारण उन्हें भी श्रवणका अधिकार प्राप्त है॥ ३१॥

नैतद् विज्ञाय जिज्ञासेर्ज्ञातव्यमवशिष्यते।
पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते॥ ३२॥

दिव्य, सुस्वादु, अमृत-पान करनेके बाद मनुष्यको जिस प्रकार अन्य कुछ पान करनेकी प्रवृत्ति ही नहीं रहती, उसी प्रकार यह तत्त्व जान लेनेपर तत्त्व-जिज्ञासुके लिये और कुछ जाननेका विषय अवशिष्ट नहीं रहता। मेरे भक्त तो भक्तिसे ही कृतार्थ रहते हैं, उन्हें ज्ञानसे क्या प्रयोजन है?॥ ३२॥

ज्ञाने कर्मणि योगे च वार्तायां दण्डधारणे।
यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः॥ ३३॥

हे उद्धव! ज्ञान, कर्म, योग, कृषि इत्यादि वाणिज्य एवं दण्डनीति द्वारा मनुष्योंके जिस धर्मादि चतुवर्गरूप प्रयोजनकी सिद्धि होती है, मेरे भक्त मेरी प्राप्तिसे ही सभी पुरुषार्थोंके अधिकारी हो जाते हैं। हे वत्स! तुम्हारे जैसे अनन्य भक्तोंके लिये चारों प्रकारका फल केवल मैं ही हूँ। ज्ञानसे मोक्ष, वेद-विहित कर्मका फल धर्म, योगका फल अणिमादि सिद्धि—सिद्धि एवं ऐश्वर्य कामके ही अन्तर्गत हैं—इन सबसे आंशिक फल प्राप्त होता है, सम्पूर्ण नहीं। चतुर्विध पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिये जिस साधन-सम्पत्तिकी आवश्यकता है, मेरा आश्रय करनेपर उस साधनके बिना ही सम्पूर्ण फल प्राप्त हो जाता है॥ ३३॥

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥ ३४॥

हे प्रणयी उद्धव! मनुष्य जिस समय यदृच्छासे समस्त कर्मोंकी चेष्टा एवं प्रापञ्चिक ज्ञान इत्यादिका परित्याग करके मेरे लिये आत्मसमर्पण कर देता है, उस समय वह योगी, ज्ञानी आदिसे कुछ विलक्षण वैकुण्ठ-वस्तुकी सेवा करनेका अभिलाषी होता है। परिणामतः वह विशिष्ट माननीयरूपमें गण्य होकर अमृतत्वको प्राप्त कर लेता है तथा मेरे समान ऐश्वर्यका भागी हो जाता है॥ ३४॥

श्रीशुक उवाच—

स एवमादर्शितयोगमार्ग-
स्तदोत्तमःश्लोकवचो निशम्य।
बद्धाञ्जलिः प्रीत्युपरुद्धकण्ठो
न किञ्चिदूचेऽश्रुपरिप्लुताक्षः॥ ३५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको योगमार्गका उपदेश दिया। भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंको सुनकर प्रेमसे उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया, नेत्रोंसे प्रेमाश्रु प्लावित होने लगे, हाथ जोड़कर चुपचाप खड़े रहे, वाणीसे कुछ भी उच्चारण न कर सके॥ ३५॥

विष्टभ्य चित्तं प्रणयावघूर्णं
धैर्येण राजन् बहुमन्यमानः।
कृताञ्जलिः प्राह यदुप्रवीरं
शीर्ष्णा स्पृशंस्तच्चरणारविन्दम्॥ ३६॥

हे राजन्! तदनन्तर प्रणय-विक्षुब्ध अर्थात् प्रेमावेशके कारण अत्यन्त व्यग्रचित्तको उन्होंने धैर्यपूर्वक स्थिर किया। अपनेको अत्यन्त कृतार्थ मानते हुए मस्तक झुकाकर यदुवंश-शिरोमणि भगवान्के चरणारविन्दयुगलका स्पर्श किया और हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगे—॥ ३६॥

श्रीउद्धव उवाच—

विद्रावितो मोहमहान्धकारो
य आश्रितो मे तव सन्निधानात्।
विभावसोः किं नु समीपगस्य
शीतं तमो भीः प्रभवन्त्यजाद्य॥ ३७॥

श्रीउद्धवने कहा—हे अज! हे आदिपुरुष! आप ब्रह्मादिके मूल कारण हैं। मैंने इससे पूर्व जिस मोह-रूप महा-अन्धकारका आश्रय कर रखा था, तो हे सिद्धान्त-रहस्य-प्रदीप! आपके सान्निध्यसे

अब मेरा वह अन्धकार सम्पूर्णरूपसे दूर हो गया है। जो सूर्यके समीप रहता है, उसके लिये शैत्य, अन्धकार अथवा तज्जनित भय किस प्रकार रह सकते हैं?॥ ३७॥

प्रत्यर्पितो मे भवतानुकम्पिना
भृत्याय विज्ञानमयः प्रदीपः।
हित्वा कृतज्ञस्तव पादमूलं
कोऽन्यं समीयाच्छरणं त्वदीयम्॥ ३८॥

हे प्रभो! (मैंने आत्मा-बुद्धि-इन्द्रियादिके साथ आपके प्रति आत्मनिवेदन किया था) आपने परम करुणा करते हुए मुझ जैसे सेवकको स्वरूप-ज्ञान-प्रदीप प्रदानकर पूर्णकृत किया है। आपके ऐसे उपकारोंको अनुभव करके ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो आपके चरण-कमलके आश्रयका त्याग करके किसी अन्य आश्रयको स्वीकार करेगा?॥ ३८॥

वृक्णश्च मे सुदृढः स्नेहपाशो
दाशार्हवृष्ण्यन्धकसात्वतेषु ।
प्रसारितः सृष्टिविवृद्धये त्वया
स्वमायया ह्यात्मसुबोधहेतिना॥ ३९॥

हे देव! सृष्टि-वृद्धिकी कामनासे आपने अपनी मायासे दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक, यादवादि सज्जनोंके साथ जो मेरा सुदृढ़ स्नेह-पाश विस्तृत किया था (मैं इनको अपना सम्बन्धी मानकर इन कुलोंकी वंश-वृद्धि एवं दिग्-दिगन्त व्यापिनी विजयकी कामना करता था), आज आपने आत्मतत्त्व-ज्ञानरूप शस्त्र द्वारा उस स्नेहपाशको काट दिया है। अब आपके रूप, गुण, कथा, सेवा, माधुर्यका आस्वाद-रूप स्नेहपाश सदा-सर्वदा मेरा भूषण बने॥ ३९॥

नमोऽस्तु ते महायोगिन् प्रपन्नमनुशाधि माम्।
यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी॥ ४०॥

हे महायोगिन्! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे देव! आपके चरणारविन्दमें नित्यकाल मेरी आसक्ति रहे, अनन्य अनपायिनी भक्ति बनी रहे—अपने इस शरणागतको इस प्रकारकी शिक्षा प्रदान करें। (आप अपने योगबलसे सर्वत्र ही मुझे आनन्द प्रदान करते रहे हैं)॥ ४०॥

श्रीभगवानुवाच—

गच्छोद्धव मयादिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम्।
तत्र मत्पादतीर्थोदे स्नानोपस्पर्शनैः शुचिः॥ ४१॥
ईक्षयालकनन्दाया विधूताशेषकल्मषः।
वसानो वल्कलान्यङ्ग वन्यभुक् सुखनिःस्पृहः॥ ४२॥
तितिक्षुर्द्वन्द्वमात्राणां सुशीलः संयतेन्द्रियः।
शान्तः समाहितधिया ज्ञानविज्ञानसंयुतः॥ ४३॥
मत्तोऽनुशिक्षितं यत्ते विविक्तमनुभावयन्।
मय्यावेशितवाक्चित्तो मद्धर्मनिरतो भव।
अतिव्रज्य गतीस्तिस्रो मामेष्यसि ततः परम्॥ ४४॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे प्रिय उद्धव! तुम मेरे उपदेशानुसार (लोक-संग्रहके लिये) बदरिकाश्रम जाना, वहाँ मेरे चरणोंसे निःसृत तीर्थ-जलसे स्नान-आचमन करके अपने आपको पवित्र करना, अलकनन्दाके दर्शनसे (स्नानादिके पहले ही दर्शन मात्र से) समस्त पापोंसे मुक्त होकर वल्कल-वस्त्र पहनना, वन्य फल-मूलका आहार करना, सुखसे निःस्पृह रहना, शीत-उष्णादि द्वन्द्वोंके प्रति सहिष्णु रहना, सुशील एवं सौम्य स्वभाव रखना एवं आत्म-संयमी रहना, शान्त एवं ज्ञान-विज्ञानसे संयुक्त होकर निर्जनमें (एकान्तमें) मुझसे सीखे हुए समस्त तत्त्व-विषयपर अनुभवपूर्वक निरन्तर चिन्तन-मनन करना, वाचनिक एवं मानसिक अर्थात् वाक् एवं मनकी वृत्तियोंको मुझमें समर्पण करके भक्तिधर्ममें (भागवत-धर्ममें) निरत रहना। तब तुम त्रिगुणात्मक गतियोंको अतिक्रम करके उनसे

परे मेरा सामीप्य प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाओगे। (हे उद्धव! यादव-परिकरोंमें मेरे समान होनेके कारण तुम मेरी प्रतिमूर्त्ति हो, तुम मुझसे अणुमात्र भी न्यून नहीं हो। जो कार्य मैं स्वयं करना चाहता था, वह मैं तुमसे करवा रहा हूँ। पहले व्रजभूमिमें भेजा था, अब बदरिकाश्रममें भेज रहा हूँ। मिथिला आदि भूतल प्रदेशमें, सुतलमें, वैकुण्ठादिमें जाकर मैं श्रुतदेव, बहुलाश्व, बलि, वैकुण्ठनाथको अपना दर्शन एवं ज्ञान देकर कृतार्थ कर आया हूँ। तुम बदरिकाश्रम जाकर वहाँके लोगोंको आनन्द प्रदान करना। यही मेरा कार्य है। सबको आनन्द प्रदान करनेके कारण तुम्हारा नाम उद्धव यथार्थ ही है। मेरे अवतारके एक सौ पच्चीस वर्ष बीत गये हैं। बदरिकाश्रम स्थित श्रीनर-नारायणादि तुमसे जिज्ञासाएँ करेंगे—तुम मुझसे शिक्षित ज्ञान-विज्ञानके अनुभवकी सारी बातें उन्हें बतलाना)॥ ४१-४४॥

श्रीशुक उवाच—

स एवमुक्तो हरिमेधसोद्धवः
प्रदक्षिणं तं परिसृत्य पादयोः।
शिरो निधायाश्रुकलाभिरार्द्रधी-
र्न्यषिञ्चदद्वन्द्वपरोऽप्यपक्रमे ॥ ४५॥

श्रीशुकदेव कहते हैं—हे राजन्! जिनका स्मरण करनेपर संसारके पाप-ताप छिन्न हो जाते हैं, ऐसे स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको इस प्रकार आदेश दिया। तब उद्धवने उनकी परिक्रमा की और उनके श्रीचरणोंमें मस्तक रख दिया। परीक्षित्! उद्धव सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे स्वभावतः मुक्त थे, तथापि वहाँसे चलते समय उनका चित्त विरहसे कातर हो रहा था। नेत्रोंसे प्रवाहित अश्रु-धाराओंसे उन्होंने श्रीकृष्णके चरणयुगलको अभिषिक्त कर दिया॥ ४५॥

सुदुस्त्यजस्नेहवियोगकातरो
न शक्नुवंस्तं परिहातुमातुरः।

कृच्छ्रं ययौ मूर्द्धनि भर्त्तृपादुके
बिभ्रन्नमस्कृत्य ययौ पुनः पुनः॥ ४६॥

वहाँसे उद्धव चलनेका उपक्रम तो कर रहे थे, परन्तु श्रीकृष्णका स्नेह सुदुस्त्यज्य है, उनके विरहसे कातर होकर वे उस स्थानका त्याग नहीं कर पा रहे थे। विह्वल होनेके कारण अतिशय कष्टका अनुभव कर रहे थे, तब श्रीकृष्णने कृपा करते हुए उनको अपनी चरण-पादुकाएँ प्रदान कीं, जिन्हें वे मस्तकपर धारणकर बारम्बार नमस्कार करते रहे, बादमें आज्ञा पालन करते हुए वहाँसे बदरिकाश्रमकी ओर चल दिये। भगवद्-विरह एक ओर असह्य है, परन्तु दूसरी ओर सब प्रकारसे प्रतिपाल्य भी है। (श्रीधरस्वामीपाद कहते हैं कि उद्धवने बदरिकाश्रम जाते हुए सुनाकि भगवान् प्रभास क्षेत्रकी ओर चले गये हैं, तब वे भी पीछे-पीछे गये थे। जब भगवान्के वंशका उपसंहार हो गया, तब भगवान्को एकान्तमें बैठे हुए देखा, तब मैत्रेय ऋषि भी वहाँ आ गये थे। दोनोंको भगवान्ने उपदेश दिया था। भगवान्से उपदिष्ट विषयका चिन्तन करते हुए वे भगवान्की आज्ञासे बदरिकाश्रम चले गये।)॥ ४६॥

ततस्तमन्तर्हृदि सन्निवेश्य
गतो महाभागवतो विशालाम्।
यथोपदिष्टां जगदेकबन्धुना
ततः समास्थाय हरेरगाद्गतिम्॥ ४७॥

अनन्तर महाभागवत उद्धवने जगत्के एकमात्र बन्धु भगवान् श्रीकृष्णको अपने हृदयमें स्थापन किया और अनन्यशरण श्रीकृष्णके बदरिकाश्रम पहुँचे। वहाँ पर तपस्या की और श्रीकृष्णके आदेशानुसार उनके ही स्वरूपको, उनके ही धामको प्राप्त हुए। अर्थात् उद्धव वैकुण्ठ-स्थित द्वारका लौट आये॥ ४७॥

य एतदानन्दसमुद्रसम्भृतं
ज्ञानामृतं भागवताय भाषितम्।

कृष्णेन योगेश्वरसेविताङ्घ्रिणा
सच्छ्रद्धयासेव्य जगद्विमुच्यते॥ ४८॥

जो शंङ्कर, ब्रह्मादि योगेश्वरोंके भी आराध्य हैं, उन श्रीकृष्णने अपने परमभक्त उद्धवको उपदेश दिया। यह उपदेश-ज्ञानामृत आनन्द-महासागरका सार है। भगवत्-भक्तिसे भावित जो मनुष्य प्रगाढ़ श्रद्धाके साथ इसका किञ्चित् मात्र भी सेवन करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। उनके संसर्गसे समस्त जगत् ही मुक्त हो जाता है। भगवद्-भक्तोंकी श्रद्धापूर्वक सेवा करनेपर जीवोंका संसार-मोचन होता है तथा भगवद्-भक्ति भी प्राप्त होती है—उनकी अनायास मुक्तिके विषयमें कहना ही क्या है?॥ ४८॥

भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं
निगमकृदुपजह्रे भृङ्गवद्वेदसारम्।
अमृतमुदधितश्चापाययद्भृत्यवर्गान्
पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे उद्धवस्य बदर्याश्रमप्रवेशोनामैकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥

अब अन्तमें श्रीशुकदेव गोस्वामी जगद्गुरुको प्रणाम करते हुए कहते हैं कि वेद-रचयिता भगवान् श्रीकृष्णने प्रवृत्तिमार्गी एवं निवृत्तिमार्गी जीवोंके भव-भय-भञ्जन हेतु सम्पूर्ण वेद पुष्पके उद्यानसे मधुकरके समान ज्ञान-विज्ञानके सारभागस्वरूप-वेदतात्पर्यरूप इस भक्तिरसामृतका सङ्कलन किया है। उन्होंने पहले भी समुद्रसे अमृत उद्धृत करके असुरोंकी वञ्चना की और अमृतको अपने अनुगत देवताओंको पान कराया था। मैं जगत्के आदिकारण कृष्ण नामक पुरुषश्रेष्ठको प्रणाम करता हूँ॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके उनतीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रिंशोऽध्यायः

यदुकुलका संहार

राजोवाच—

ततो महाभागवत उद्धवे निर्गते वनम्।
द्वारवत्यां किमकरोद्भगवान् भूतभावनः॥ १॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे मुनिवर! जब महाभागवत उद्धव बदरीकाश्रमको चले गये, तब निखिल भूतभावन (समस्त जीवोंका पालन करनेवाले) भगवान् श्रीकृष्णने द्वारकामें क्या लीला रची, उसका वर्णन करें॥ १॥

ब्रह्मशापोपसंसृष्टे स्वकुले यादवर्षभः।
प्रेयसीं सर्वनेत्राणां तनुं स कथमत्यजत्॥ २॥

ब्रह्मशापसे अपने वंशका उपसंहार होनेके पश्चात् यादवोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने शाप-वचनके सम्मानके लिये सर्वजन-नयन-मनोरम-आनन्दप्रद-अतिप्रिय श्रीविग्रहका त्याग कैसे किया, वह कृपा करके मुझे बतलाइए (सच्चिदानन्दस्वरूप होनेके कारण श्रीविग्रहका त्याग असम्भव है)॥ २॥

प्रत्याक्रष्टुं नयनमबला यत्र लग्नं शेकुः
कर्णाविष्टं न सरति ततो यत् सतामात्मलग्नम्।
यच्छ्रीर्वाचां जनयति रतिं किं नु मानं कवीनां
दृष्ट्वा जिष्णोर्युधि रथगतं यच्च तत्साम्यमीयुः॥ ३॥

अपने-अपने नेत्रोंसे दर्शन करके स्त्रियाँ जब उनके श्रीविग्रहके सौन्दर्यमें मोहित हो जाती थीं, तब वहाँसे वे अपनी दृष्टि लौटानेमें समर्थ नहीं हो पाती थीं। जब उनकी रूप-माधुरीका वर्णन साधुओंके कर्णछिद्रके मार्गसे हृदयमें प्रवेश करता है, तब ऐसा

हृदयस्थ (चिरलय) हो जाता है कि कभी वहाँसे हटता ही नहीं है। उनका सौन्दर्य कवियोंकी वाणीमें (काव्य-रचनामें) उल्लास भर देता है और अतिशय सम्मान बढ़ा देता है। महाभारतके युद्धके समय जब वे मेरे दादा अर्जुनके रथपर विराजमान थे, तब उनके श्रीविग्रहकी अनुपम शोभाका दर्शन करनेके कारण मृत पुरुषोंको सारूप्यकी (स्वरूपताकी) प्राप्ति हुई थी। ऐसे अद्भुत एवं प्रिय श्रीविग्रहका अन्तर्धान किस प्रकार हुआ—इसका वर्णन कीजिए। (आत्माराम साधुओंके हृदयमें गुणमय वस्तु रह नहीं सकती, नित्य प्रेयसी लक्ष्मी आदि आह्लादिनी शक्तियाँ भी प्राकृत वस्तुमें आसक्त नहीं होतीं—अतः कृष्णके विग्रहके त्यागका वर्णन करनेवाले मुनि कृष्ण-मायासे मोहित ही हैं)॥ ३॥

श्रीऋषिरुवाच—

दिवि भुव्यन्तरिक्षे च महोत्पातान् समुत्थितान्।
दृष्ट्वासीनान् सुधर्मायां कृष्णः प्राह यदूनिदम्॥ ४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—भगवान् श्रीकृष्णने जब सूर्यके चारों ओर वृत्ताकार फैला हुआ प्रभा-मण्डल, भूमण्डलपर भूकम्प एवं अन्तरिक्षमें दिग्दाह आदि सर्वत्र ही विविध महोत्पातोंको उठते देखा, तब सुधर्मा नामकी निज सभामें उपस्थित यादवोंसे इस प्रकार कहा—॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच—

एते घोरा महोत्पाता द्वार्वत्यां यमकेतवः।
मुहूर्त्तमपि न स्थेयमत्र यदुपुङ्गवाः॥ ५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे श्रेष्ठ यदुवंशियो! द्वारकामें इस समय यम-पताकाके समान मृत्युसूचक अति भीषण उत्पात उपस्थित हो रहे हैं। अतः अब क्षणभर भी यहाँ रहना हमारे लिये उचित नहीं है॥ ५॥

स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च शङ्खोद्धारं व्रजन्त्वितः।
वयं प्रभासं यास्यामो यत्र प्रत्यक् सरस्वती॥ ६॥

अतः स्त्रियाँ, बच्चे एवं वृद्ध इस स्थानसे शङ्खोद्धार-क्षेत्रकी ओर जाएँ। हम लोग प्रभास क्षेत्र चलें, जहाँ सरस्वती पश्चिमकी ओर प्रवाहित होती हुई समुद्रमें जा मिली है॥ ६॥

तत्राभिषिच्य शुचय उपोष्य सुसमाहिताः।
देवताः पूजयिष्यामः स्नपनालेपनार्हणैः॥ ७॥

हम प्रभासक्षेत्रमें सरस्वती नदीमें स्नान करके पवित्र होंगे तथा उपवास द्वारा संयत-चित्त होकर सुगन्धित तेल, चन्दन-लेपन एवं अन्य पूजोपहार द्रव्योंसे देवताओंकी पूजा करेंगे॥ ७॥

ब्राह्मणांस्तु महाभागान् कृतस्वस्त्ययना वयम्।
गोभूहिरण्यवासोभिर्गजाश्वरथवेश्मभिः ॥ ८॥

महाभाग ब्राह्मण हमारे लिये स्वस्त्ययनादि शान्ति-कृत्योंका अनुष्ठान करेंगे और हम बहुत-सी गायों, पृथ्वी, स्वर्ण, वस्त्र, हाथी, घोड़े, रथ गृह-दानादिके द्वारा उन विप्रोंका सम्मान करेंगे॥ ८॥

विधिरेष ह्यरिष्टघ्नो मङ्गलायनमुत्तमम्।
देवद्विजगवां पूजा भूतेषु परमो भवः॥ ९॥

यही विधि समस्त विघ्नोंका नाश करनेवाली एवं परम मङ्गलको साधित करनेका उपाय है, विशेषरूपसे देवताओं, ब्राह्मणों एवं गायोंकी पूजा देवलोकादिमें उत्कृष्ट जन्मादिका कारण होती है॥ ९॥

इति सर्वे समाकर्ण्य यदुवृद्धा मधुद्विषः।
तथेति नौभिरुत्तीर्य प्रभासं प्रययू रथैः॥ १०॥

मधुरिपु भगवान् श्रीकृष्णके इन वचनोंको सुनकर सभी वृद्ध यदुवंशियोंने 'तथास्तु'—'ऐसा ही हो' कहकर अनुमोदित किया। उन्होने नौकाओंके द्वारा समुद्र पार किया। तटपर उतरकर वे रथोंपर सवार हुए और प्रभासकी ओर चल पड़े॥ १०॥

तस्मिन् भगवतादिष्टं यदुदेवेन यादवाः।
चक्रुः परमया भक्त्या सर्वश्रेयोपबृंहितम्॥ ११॥

प्रभासक्षेत्र पहुँचकर सभी यादवोंने परम भक्तिके साथ यदु-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके आदेशानुसार सारे माङ्गलिक कृत्य सम्पन्न किये तथा अन्यान्य नानाविध स्वस्तिवाचन आदि श्रेयस्कर कार्योंको भी बड़ी श्रद्धाके साथ सम्पन्न किया॥ ११॥

ततस्तस्मिन् महापानं पपुर्मैरेयकं मधु।
दिष्टविभ्रंशितधियो यद्द्रवैर्भ्रश्यते मतिः॥ १२॥

तदनन्तर दैववश उनकी मति हर ली गयी। उन्होंने सुस्वादु एवं अति मधुर मैरेयक नामक मदिराका प्रचुर मात्रामें पान कर लिया। इससे उनकी बुद्धिका नाश हो गया। (उन्होंने सोचा कि दानादि माङ्गलिक कार्योंके सम्पादनसे हम विप्र-शापसे मुक्त हो गये हैं, अतः मदिरा-पान करके अन्तर्धान होकर स्वर्ग पहुँच जाएँगे)॥ १२॥

महापानाभिमत्तानां वीराणां दृप्तचेतसाम्।
कृष्णमायाविमूढ़ानां सङ्कर्षः सुमहानभूत्॥ १३॥

अनन्तर कृष्ण-मायासे मोहित एवं मदिरा-पानसे प्रमत्त (उन्मत्त) यादव-वीरोंका हृदय गर्वसे भर गया। इन बलवान् यादवोंमें परस्पर तुमुल कलहका आरम्भ हो गया। (मदिरा-पानसे भी अधिक प्रमुख हेतु था कृष्ण-मायासे विमूढ़ होना)॥ १३॥

ययुधुः क्रोधसंरब्धा वेलायामाततायिनः।
धनुर्भिरसिभिर्भल्लैर्गदाभिस्तोमरर्ष्टिभिः ॥ १४॥

अनन्तर आततायी यादव-वीर क्रोधाविष्टचित्तसे समुद्रके तटपर ही धनुष-बाण, तलवार, भाले, गदा, तोमर, ऋष्टि आदि अस्त्रोंके द्वारा परस्पर युद्ध करने लगे॥ १४॥

पतत्पताकै रथकुञ्जरादिभिः
खरोष्ट्रगोभिर्महिषैर्नरैरपि ।

मिथः समेत्याश्वतरैः सुदुर्मदा
न्यहन् श्ररैर्दद्धिरिव द्विपा वने॥ १५॥

वन्य हाथी जिस प्रकार अपने दाँतोंसे एक-दूसरे पर प्रहार करते हैं, उसी प्रकार सुदुर्मद (मदोन्मत्त) एवं क्रोधाविष्ट वीर भी फहराती पताकाओंसे युक्त रथों, हाथियों, गधों, ऊँटों, गायों, भैंसों, मनुष्यों एवं घोड़ोंपर चढ़कर समुद्रके तटपर ही बाणोंके द्वारा एक दूसरेके प्राण हरण करनेके लिये उद्यत हो गये॥ १५॥

प्रद्युम्नसाम्बौ युधि रूढ़मत्सरा-
वक्रूभोजावनिरुद्धसात्यकी ।
सुभद्रसंग्रामजितौ सुदारुणौ
गदौ सुमित्रासुरथौ समीयतुः॥ १६॥

प्रद्युम्न एवं साम्ब, अक्रूर एवं भोज, अनिरुद्ध एवं सात्यकि, सुभद्र एवं संग्रामजित्, कृष्णानुज गद एवं कृष्णनन्दनगद, सुमित्र एवं सुरथ इत्यादि योद्धा शत्रुतासे भर गये और बड़े ही दारुण-रूपमें एक-दूसरेका वध करनेके लिये तत्पर हो गये॥ १६॥

अन्ये च ये वै निशठोल्मुकादयः
सहस्रजिच्छतजिद्भानुमुख्याः ।
अन्योन्यमासाद्य मदान्धकारिता
जघ्नुर्मुकुन्देन विमोहिता भृशम्॥ १७॥

इनके अतिरिक्त निशठ, उल्मुक, सहस्रजित्, शतजित् और भानु इत्यादि यादववीर भी भगवान् श्रीकृष्णकी मायासे मोहित हो गये। मदान्धतातो उनके सिर पर सवार थी। इसीसे परिचालित होकर और भी भीषणरूपमें एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे॥ १७॥

दाशार्हवृष्ण्यन्धकभोजसात्वता
मध्वर्बुदा माथुरशूरसेनाः।
विसर्ज्जनाः कुकुराः कुन्तयश्च
मिथस्त जघ्नुः सुविसृज्य सौहृदम्॥ १८॥

दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक, भोज, सात्वत, मधु, अर्बुद, माथुर, शूरसेन, विसर्जन, कुक्कुर और कुन्ति वंशमें उत्पन्न वीर सम्यक्‌रूपसे बन्धुत्वका भाव परित्याग करके परस्पर वध करने लगे॥ १८॥

पुत्रा अयुध्यन् पितृभिर्भ्रातृभिश्च
स्वस्रीयदौहित्रपितृव्यमातुलैः ।
मित्राणि मित्रैः सुहृदः सुहृद्भि-
र्ज्ञातींस्त्वहन् ज्ञातय एव मूढ़ाः॥ १९॥

मूढ़ता एवं मदान्धतावश पुत्र पिताके साथ, भाई भाईके साथ, मामा भांजेके साथ, नाना दौहित्रके साथ, भतीजा चाचाके साथ, मित्र मित्रके साथ, सुहृत् सुहृत्‌के साथ युद्ध करने लग गये। मूर्ख सम्बन्धी अपने ही सम्बन्धियों पर (समगोत्री आदि रिश्तेदारों पर) प्रहार करनेके लिये उद्यत हो गये॥ १९॥

शरेषु हीयमाणेषु भज्यमानेषु धन्वसु।
शस्त्रेषु क्षीयमाणेषु मुष्टिभिर्जह्रुरेरकाः॥ २०॥

जब सब बाण समाप्त हो गये, धनुष टूट गये एवं शस्त्रास्त्र क्षयको प्राप्त हो गये, तब वे अपनी मुट्ठियोंसे एरका नामक लम्बे-लम्बे डंठलवाली घास उखाड़ने लगे। यह वही घास थी, जो ऋषियोंके शापके कारण लौहके (मुसलके) चूर्णसे उत्पन्न हुई थी॥ २०॥

ता वज्रकल्पा ह्यभवन् परिघा मुष्टिना धृताः।
जघ्नुर्द्विषस्तैः कृष्णेन वार्यमाणास्तु तञ्च ते॥ २१॥

उनकी मुट्ठीके संयोगमात्रसे ही एरका डंठल वज्रके समान मजबूत मुद्‌गरके रूपमें परिणत हो गये। वे उन्हें मुद्‌गरके समान ही धारण करने लगे। श्रीकृष्णने इसके लिये मना भी किया, परन्तु वे अपने विद्वेषियोंके साथ श्रीकृष्ण पर ही प्रहार करने लगे॥ २१॥

प्रत्यनीकं मन्यमाना बलभद्रञ्च मोहिताः।
हन्तुं कृतधियो राजन्नापन्ना आततायिनः॥ २२॥

हे राजन्! इन बुद्धि-भ्रमित (मूढ़) आततायियोंने बलदेवजीको भी शत्रु समझ लिया और उनके वधके लिये कृतसङ्कल्प होकर उनकी ओर दौड़ पड़े॥ २२॥

अथ तावपि सङ्क्रुद्धावुद्यम्य कुरुनन्दन।
एरकामुष्टिपरिघौ चरन्तौ जघ्नतुर्युधि॥ २३॥

हे कुरुनन्दन! इसके बाद बलराम एवं श्रीकृष्ण भी क्रोधित हो गये और एरकाको दोनों मुट्ठियोंसे उखाड़-उखाड़कर और उसके डंठलोंको मुद्गरकी भाँति धारणकर युद्धक्षेत्रमें विचरण करते हुए प्रतिपक्षियोंका संहार करने लगे॥ २३॥

ब्रह्मशापोपसृष्टानां कृष्णमायावृतात्मनाम्।
स्पर्धाक्रोधः क्षयं निन्ये वैणवोऽग्निर्यथा वनम्॥ २४॥

बाँसोंकी रगड़से उत्पन्न अग्नि जिस प्रकार बाँसके वनको जला डालती है, उसी प्रकार कृष्णकी मायासे आवृत-चित्त एवं ब्रह्मशापसे आक्रान्त यादवोंका स्पर्द्धाजनित क्रोध अपने ही वंशके क्षयका साधन बन गया। क्रोधने उनके वंशको ही ध्वंस कर दिया॥ २४॥

एवं नष्टेषु सर्वेषु कुलेषु स्वेषु केशवः।
अवतारितो भुवो भार इति मेनेऽवशेषितः॥ २५॥

अपने समस्त कुलको सम्पूर्ण रूपसे नष्ट हुआ देखकर श्रीकृष्णने सोचा कि अब मैंने पृथ्वीका समस्त भार ही उतार दिया है॥ २५॥

रामः समुद्रवेलायां योगमास्थाय पौरुषम्।
तत्याज लोकं मानुष्यं संयोज्यात्मानमात्मनि॥ २६॥

उस समय बलराम समुद्र-तटपर आसीन हो गये। ध्यान-योगसे परमपुरुषका चिन्तन करते हुए उन्होंने परमात्मामें अपने चित्तको स्थिर किया—आत्मामें ही आत्मस्वरूपका संयोग करके मनुष्यलोकका (मनुष्य शरीरका) त्याग कर दिया। बलराम स्वरूपसे महावैकुण्ठमें और निज अंश अनन्तरूपसे पाताललोकमें प्रस्थान कर गये॥ २६॥

रामनिर्याणमालोक्य भगवान् देवकीसुतः।
निषसाद धरोपस्थे तूष्णीमासाद्य पिप्पलम्॥ २७॥

देवकीसुत भगवान् श्रीकृष्ण बलरामकी निर्याण-लीलाको (अप्रकट-लीलाको) देखकर उसी समय समीपवर्त्ती एक पीपलके वृक्षके नीचे मौन होकर धरतीपर ही बैठ गये॥ २७॥

बिभ्रच्चतुर्भुजं रूपं भ्राजिष्णु प्रभया स्वया।
दिशो वितिमिराः कुर्वन् विधूम इव पावकः॥ २८॥
श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं तप्तहाटकवर्चसम्।
कौशेयाम्बरयुग्मेन परिवीतं सुमङ्गलम्॥ २९॥
सुन्दरस्मितवक्त्राब्जं नीलकुन्तलमण्डितम्।
पुण्डरीकाभिरामाक्षं स्फुरन्मकरकुण्डलम्॥ ३०॥
कटिसूत्रब्रह्मसूत्रकिरीटकटकाङ्गदैः ।
हारनूपुरमुद्राभिः कौस्तुभेन विराजितम्॥ ३१॥
वनमालापरीताङ्गं मूर्त्तिमद्भिर्निजायुधैः।
कृत्वोरौ दक्षिणे पादमासीनं पङ्कजारुणम्॥ ३२॥

उस समय भगवान् श्रीकृष्णने चतुर्भुज रूप धारण किया, जो निर्धूम अग्निके समान अपनी अङ्गप्रभासे समस्त दिग्मण्डलके अन्धकारको दूर करते हुए प्रकाशवान् हो रहा था। वर्षाकालीन निविड़ मेघ सदृश नीलवर्ण, श्रीवत्स चिह्नसे सुशोभित वक्षस्थल, तप्तकाञ्चन प्रदीप्त देह, मङ्गलमय कान्ति, कौशेय-वस्त्र-युगल (रेशमी पीताम्बर-दुपट्टा एवं धोती) परिहित, मुख-कमल रक्ताभ एवं ईषत् हास्यसे विभूषित, नील कुन्तलावलीसे मण्डित मस्तक एवं उसकी लटकनसे विलसित कपोल-द्वय पुण्डरीकके समान सुकुमार एवं मनोहर नयन-युगल, प्रस्फुरित-प्रदीप्त (चमचमाते) मकराकृति कुण्डलोंसे विभूषित कर्णद्वय, कटिमें कटिसूत्र (मेखला), स्कन्धदेशमें यज्ञसूत्र (ब्रह्मसूत्र), मस्तकपर किरीट, कलाइयोंमें कङ्कन, बाहुओंमें अङ्गद, अङ्गुलियोंमें अङ्गुठियाँ, कण्ठमें विराजित हार एवं कौस्तुभ,

नूपुर परिहित चरण-द्वय ध्वज-वज्र-अङ्कुश आदि मुद्राओंसे विलसित, वनमालासे वेष्टित श्रीअङ्ग, मूर्त्तिमान् शङ्ख-चक्र-गदादि अपने आयुधों द्वारा चारों दिशाओंसे परिवेष्टित-परिसेवित, देदीप्यमान, सुमङ्गल रूप धारण किये हुए वे अपने दाहिने उरुदेशपर (जांघपर) पङ्कजतुल्य रक्तिमप्रभ अपना बाँया चरण रखकर बैठे हुए थे॥ २८-३२॥

मुसलावशेषायःखण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा।
मृगास्याकारं तच्चरणं विव्याध मृगशङ्कया॥ ३३॥

यादवोंके द्वारा चूर्णित मुसलसे अवशिष्ट लोहेके खण्डसे जरा नामक व्याधने एक बाण बना लिया था। उस समय मृगके मुखके समान आकृति-विशिष्ट श्रीकृष्णका चरण उस व्याधको दूरसे सचमुचका मृग ही जान पड़ा। उसने उस बाणसे श्रीकृष्णके चरणको बिद्ध कर दिया। (वस्तुतः बाणसे चरणका स्पर्श मात्र हुआ है, विद्ध नहीं हुआ है। श्रीकृष्णके अङ्ग सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। व्याध स्वयं भयभीत होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा है, उसने दोनों-चरणोंमें मस्तकसे प्रणाम किया है। यह कहीं नहीं कहा गया है कि उसने चरणसे शरको निकाला)॥ ३३॥

चतुर्भुजं तं पुरुषं दृष्ट्वा स कृतकिल्बिषः।
भीतः पपात शिरसा पादयोरसुरद्विषः॥ ३४॥

अनन्तर जब इस जरा नामक व्याधने चतुर्भुज श्रीकृष्णको देखा, तो वह समझ गया कि उससे अपराध हो गया है। वह व्याध नतमस्तक होकर असुरारि कृष्णके चरण-युगलमें गिर पड़ा एवं उनसे निवेदन करने लगा॥ ३४॥

अजानता कृतमिदं पापेन मधुसूदन।
क्षन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमश्लोक मेऽनघ॥ ३५॥

हे उत्तमश्लोक! हे मधुसूदन! मैं अतीव दुराचारी हूँ। मैंने अज्ञानताके कारण यह महापाप कर डाला है। हे अनघ! आप मेरे अपराधको क्षमा कर दीजिए॥ ३५॥

यस्यानुस्मरणं नृणामज्ञानध्वान्तनाशनम्।
वदन्ति तस्य ते विष्णो मयासाधु कृतं प्रभो॥ ३६॥

हे सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् प्रभो! ज्ञानीजन जिनके निरन्तर ध्यानको अज्ञानरूपी अशेष अन्धकारको नाश करनेवाला बतलाते हैं, ऐसे आपके प्रति मैंने अक्षम्य असाधु कृत्य किया है॥ ३६॥

तन्माशु जहि वैकुण्ठ पाप्मानं मृगलुब्धकम्।
यथा पुनरहं त्वेवं न कुर्यां सदतिक्रमम्॥ ३७॥

अतएव हे वैकुण्ठ! मुझ मृगलुब्धक दुराचारीसे पुनः साधुओंके प्रति ऐसा अकरणीय अपराध न हो, इसलिये आप मुझे अति शीघ्र ही मार डालिये। (छप्पन करोड़से भी अधिक यदुवीरोंकी महायुद्धमें मृत्यु हुई थी—रक्तकी नदी प्रवाहित हो रही थी, अतः उस समय व्याधका मृग-शिकारके लिये आना किस प्रकारसे सम्भव था? पुनः भीरु स्वभाव मृगोंकी वहाँ उपस्थितिकी सम्भावना भी नहीं थी। सूर्यास्तके समय सरस्वती नदीका स्पर्श करके मौन धारण करके बैठना और तब व्याधका वहाँ आना—यह कृष्ण-प्रेरणासे ही सम्भव है)॥ ३७॥

यस्यात्मयोगरचितं न विदुर्विरिञ्चो
रुद्रादयोऽस्य तनयाः पतयो गिरां ये।
त्वन्मायया पिहितदृष्टय एतदञ्जः
किं तस्य ते वयमसद्गतयो गृणीमः॥ ३८॥

हे प्रभो! ब्रह्मा एवं उनकी सन्तति परम्परा, रुद्रादि देवता एवं अन्यान्य वेदद्रष्टा ऋषिगण (बृहस्पति आदि) भी आपकी मायासे आच्छादित-दृष्टि होनेके कारण आपकी स्वाधीन मायासे रचित ऋषि-शापादिरूप वृतान्तोंके रहस्यको जाननेमें समर्थ नहीं हैं, तब मुझ-जैसा पाप-योनि-सम्भूत, व्याधवृत्तिसम्पन्न क्षुद्र मनुष्य आपकी महिमाका किस प्रकारसे वर्णन कर सकता है?॥ ३८॥

श्रीभगवानुवाच—

मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे।
याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम्॥ ३९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे जरा! उठो, डरो मत। तुमने मेरा अभिलषित कार्य ही सम्पन्न किया है। अब मेरी अनुमतिसे तुम पुण्यवानोंके प्राप्य—स्वर्गलोकमें जाओ॥ ३९॥

इत्यादिष्टो भगवता कृष्णेनेच्छाशरीरिणा।
त्रिः परिक्रम्य तं नत्वा विमानेन दिवं ययौ॥ ४०॥

श्रीशुकदेव कहते हैं—परीक्षित्! स्वतन्त्र इच्छामय भगवान् श्रीकृष्ण अपनी इच्छासे ही शरीर धारण करते हैं। जब उन्होंने जरा व्याधको यह आदेश दिया, तब उसने उनकी तीन बार परिक्रमा की, प्रणाम किया और विमानपर सवार होकर स्वर्ग लोक चला गया॥ ४०॥

दारुकः कृष्णपदवीमन्विच्छन्नधिगम्य ताम्।
वायुं तुलसिकामोदमाघ्रायाभिमुखं ययौ॥ ४१॥

उसी अवसर पर कृष्ण-सारथी दारुक श्रीकृष्णके अवस्थान-क्षेत्रका अनुसन्धान करते-करते उनके समीपवर्त्ती स्थान पर पहुँचा और वहाँ भगवान्के द्वारा धारणकी हुई तुलसीकी गन्धसे आमोदित वायुका आघ्राण करते हुए, उनकी उपस्थितिका अनुमान करके उनके सम्मुख उपस्थित हो गया॥ ४१॥

तं तत्र तिग्मद्युभिरायुधैर्वृतं
ह्यश्वत्थमूले कृतकेतनं पतिम्।
स्नेहप्लुतात्मा निपपात पादयो
रथादवप्लुत्य सबाष्पलोचनः॥ ४२॥

वहाँ अश्वत्थके मूलमें समासीन तीक्ष्ण-द्युतिमय-मूर्त्तिमान्-चक्रादि आयुधोंसे समन्वित भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करके दारुकका हृदय स्नेहसे आर्द्र हो गया, लोचन वाष्पाकुलित हो गये। वह रथसे उतरा और भगवान्के चरणोंमें गिर पड़ा और उनसे कहने लगा—॥ ४२॥

अपश्यतस्त्वच्चरणाम्बुजं प्रभो
दृष्टिः प्रनष्टा तमसि प्रविष्टा।
दिशो न जाने न लभे च शान्तिं
यथा निशायामुडुपे प्रनष्टे॥ ४३॥

'हे प्रभो! निशाकालमें चन्द्रमाके दिखायी न देनेपर लोगोंको जिस प्रकारसे दिग्भ्रान्ति हो जाती है—उसी प्रकार आपके श्रीपादपद्मका दर्शन न करनेसे मेरी दृष्टि लुप्त हो गयी है, अन्धकारमें प्रविष्ट व्यक्तिके समान न तो दिशाका ज्ञान हो रहा है और न ही किसी प्रकारकी शान्ति मिल रही है'॥ ४३॥

इति ब्रुवति सूते वै रथो गरुडलाञ्छनः।
खमुत्पपात राजेन्द्र साश्वध्वज उदीक्षतः॥ ४४॥

हे राजेन्द्र! दारुकने इस प्रकारसे कहना आरम्भ ही किया था कि गरुड-चिह्नित-रथ घोड़ों एवं पताकाओंके साथ उसीके सम्मुख आकाशमें उड़ गया। (भगवान्‌का इस प्रकारसे स्वधाम-गमन युधिष्ठिर, अर्जुनादिके प्रेमवर्द्धनके लिये है। वैराग्य तो उनका स्पष्ट ही है)॥ ४४॥

तमन्वगच्छन् दिव्यानि विष्णुप्रहरणानि च।
तेनातिविस्मितात्मानं सूतमाह जनार्दनः॥ ४५॥

दिव्य वैष्णव-अस्त्र (श्रीकृष्णके आयुध)—चक्रादि भी रथके पीछे-पीछे चले गये। यह देखकर दारुकका हृदय अतिशय विस्मयसे भर गया। तब भगवान्‌ने उसको सम्बोधन करते हुए कहा—॥ ४५॥

गच्छ द्वारवतीं सूत ज्ञातीनां निधनं मिथः।
सङ्कर्षणस्य निर्य्याणं बन्धुभ्यो ब्रूहि मद्दशाम्॥ ४६॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे दारुक! तुम यहाँसे द्वारका चले जाओ। वहाँ बन्धु-बान्धवोंको यदुवंशियोंके पारस्परिक युद्धमें उनके निधन, भैया

बलरामका योगमार्गके द्वारा महाप्रयाण एवं मेरे भी स्वधाम-गमनका वर्णन करना॥ ४६॥

द्वारकायाञ्च न स्थेयं भवद्भिश्च स्वबन्धुभिः।
मया त्यक्तां यदुपुरीं समुद्रः प्लावयिष्यति॥ ४७॥

जैसे ही मैं द्वारकापुरीसे प्रस्थान करूँगा, वैसे ही समुद्र द्वारकापुरीको जलसे प्लावित करेगा। अतः तुम्हें एवं तुम्हारे बन्धुओं-पारिवारिकजनोंके लिये यहाँ द्वारकामें रहना उचित नहीं है॥ ४७॥

स्वं स्वं परिग्रहं सर्वे आदाय पितरौ च नः।
अर्जुनेनाविताः सर्व इन्द्रप्रस्थं गमिष्यथ॥ ४८॥

सभी यादव अपने-अपने परिजन एवं मेरे माता-पिता (देवकी-वसुदेव) को साथ लेकर अर्जुनके संरक्षणमें रक्षित होकर इन्द्रप्रस्थ चले जाएँ॥ ४८॥

त्वं तु मद्धर्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः।
मन्मायारचितामेतां विज्ञायोपशमं व्रज॥ ४९॥

हे दारुक! तुम भी मेरे भक्तिधर्मका आश्रय लेकर ज्ञाननिष्ठ हो जाओ। सभीके प्रति उदासीन होकर इन सभी लीलाओंको मेरी मायासे रचित (साधारण जनोंको भ्रम दिखानके लिये यह लीला है) जानकर शान्त रहना। (व्यर्थमें ही शोक मत करना)॥ ४९॥

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य नमस्कृत्य पुनः पुनः।
तत्पादौ शीर्ष्ण्युपाधाय दुर्मनाः प्रययौ पुरीम्॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे श्रीभगवदुद्धवसंवादे यदुकुलसंहारो नाम त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥

अनन्तर दारुकने श्रीकृष्णकी यह आज्ञा प्राप्त करके उनकी परिक्रमा की, चरणोंमें अपना मस्तक रखा एवं पुनः-पुनः नमस्कार

करते हुए (कुलके विनष्ट हो जानेके कारण) दुःखीचित्तसे द्वारकाकी ओर चल दिये॥५०॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके तीसवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकत्रिंशोऽध्यायः

श्रीभगवान्‌का स्वधामगमन

श्रीशुक उवाच—

अथ तत्रागमद्‌ब्रह्म भवान्या च समं भवः।
महेन्द्रप्रमुखा देवा मुनयः सप्रजेश्वराः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—अनन्तर ब्रह्मा, पार्वतीके साथ शङ्कर, मरीचि आदि प्रजापतियोंके साथ इन्द्रादि प्रमुख देवता एवं सनकादि मुनि द्वारकामें (प्रभासक्षेत्रमें) आये॥ १॥

पितरः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः।
चारणाः यक्षरक्षांसि किन्नराप्सरसो द्विजाः॥ २॥
द्रष्टुकामा भगवतो निर्य्याणं परमोत्सुकाः।
गायन्तश्च गृणन्तश्च शौरेः कर्म्माणि जन्म च॥ ३॥

पितृगण, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, महानाग, चारण, यक्ष, रक्ष, किन्नर, अप्सरा एवं गरुड़लोकवासी पक्षी सभी भगवान्‌की प्रयाण-लीलाके दर्शनकी कामनासे अत्यन्त उत्सुकताके साथ शौरि श्रीकृष्णके जन्म, चरित एवं लीलाओंका कीर्त्तन एवं स्तव-स्तुति करते हुए वहाँ उपस्थित हो गये॥ २-३॥

ववृषुः पुष्पवर्षाणि विमानावलिभिर्नभः।
कुर्वन्तः सङ्कुलं राजन् भक्त्या परमया युताः॥ ४॥

हे राजन्! उन सबके विमानों द्वारा आकाशमण्डल भर गया। वे परम भक्तिके साथ भगवान्‌पर पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे॥ ४॥

भगवान् पितामहं वीक्ष्य विभूतीरात्मनो विभुः।
संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत्॥ ५॥

विभु भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मा एवं अपने अंश-सम्भूत इन्द्रादि देवताओंको देखकर अपने चित्तको अपने परमात्म-स्वरूपमें स्थित किया और कमलके समान अपने नेत्रोंको बन्द कर लिया॥ ५॥

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥ ६॥

जो सभीकी ध्यान-धारणाके विशुद्ध विषयीभूत हैं अर्थात् जिनके ध्यान एवं धारणासे सभीको मङ्गलकी प्राप्ति होती है, उन भगवान् श्रीकृष्णने लोकाभिराम (लोक-चक्षुओंके लिये परम मनोरम एवं आनन्दप्रद) शुद्ध-जम्बूनद-स्वर्णवत् अपने श्रीविग्रहको आग्नेयी (अग्निमयी)-योगधारणासे दग्ध नहीं किया, अपितु योग-धारणासे सशरीर निज धामको चले गये (भगवान्ने कहा भी था—वह्नि मध्ये स्मरेत् रूपं ममैतद् ध्यानमङ्गलम् (११.१४.३७) अर्थात् अग्निमें मेरे स्वरूपका ध्यान करे, जो ध्यानका शुभ विषय है)॥ ६॥

दिवि दुन्दुभयो नेदुः पेतुः सुमनसश्च खात्।
सत्यं धर्म्मो धृतिर्भूमेः कीर्त्तिः श्रीश्चानु तं ययुः॥ ७॥

उस समय स्वर्गमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं, आकाशसे पुष्प-राशिका वर्षण होने लगा। सत्य, धर्म, धैर्य, कीर्त्ति और श्री—इन सभी गुणोंने पृथ्वीको छोड़कर श्रीकृष्णका अनुगमन किया। जो सत्य एवं धर्म कुमति द्वारा पराभूत हो रहे थे, वे कृष्णके अन्तर्धानके समय पुनः जाग्रत हो उठे और उनके साथ चल दिये॥ ७॥

देवादयो ब्रह्ममुख्या न विशन्तं स्वधामनि।
अविज्ञातगतिं कृष्णं ददृशुश्चातिविस्मिताः॥ ८॥

ब्रह्मादि देवता, ऋषिगण इत्यादि अज्ञेयगति (जिनकी गति, मन एवं वाणीसे परे है) श्रीकृष्णको अपने धाममें प्रवेश करते हुए न देख सके—कहाँसे चले गये, वे जान ही नहीं पाये। किसी-किसी

स्थानपर किसी-किसीने (उनके पार्षदोंने) देखा, तो वे अति विस्मित हो उठे॥ ८॥

सौदामन्या यथाकाशे यान्त्या हित्वाभ्रमण्डलम्।
गतिर्न लक्ष्यते मर्त्यैस्तथा कृष्णस्य दैवतैः॥ ९॥

सौदामिनी (बिजली) जैसे मेघमण्डलको छोड़कर आकाशमें प्रवेश कर जाती है, उसकी गतिको कोई भी नहीं जान सकता, उसी प्रकार भूमण्डलको त्यागकर स्वलोकमें प्रवेशके समय श्रीकृष्णकी गति भी देवताओंके लिये भी अलक्षित थी॥ ९॥

ब्रह्मरुद्रादयस्ते तु दृष्ट्वा योगगतिं हरेः।
विस्मितास्तां प्रशंसन्तः स्वं स्वं लोकं ययुस्तदा॥ १०॥

ब्रह्मा, रुद्र आदि सभी प्रमुख देवता श्रीकृष्णके योग-प्रभावको देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उनकी परम योगगतिकी प्रशंसा करते-करते प्रसन्नचित्तसे वे अपने-अपने लोकोंमें प्रस्थान कर गये॥ १०॥

राजन् परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा
मायाविड़म्बनमवेहि यथा नटस्य।
सृष्ट्वात्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते
संहृत्य चात्ममहिनोपरतः स आस्ते॥ ११॥

हे राजन्! जिस प्रकार नट अपने स्वरूपमें अविकृत रहकर ही रङ्गमञ्चपर दर्शकोंके समक्ष जन्म-मरण आदि विविध खेलोंका अभिनय करता है, उसी प्रकार परमात्मा श्रीकृष्णका भी यदुकुलमें आविर्भाव-तिरोभाव अर्थात् मनुष्योंके समान जन्म-लीला करना और फिर उसे संवरण कर लेना—उनकी मायाका विलासमात्र है। वस्तुतः वे परमपुरुष स्वयं ही इस जगत्की सृष्टि करते हैं, अन्तर्यामीरूपसे उनमें प्रविष्ट होकर विहार करते हैं और प्रलयकालमें संहार लीला करके अपने अनन्त महिमामय स्वरूपमें शान्त भावसे अवस्थित हो जाते हैं॥ ११॥

मर्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतं
त्वाञ्चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धम्।
जिग्येऽन्तकान्तकमपीशमसावनीशः
किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम्॥ १२॥

जिन्होंने यमपुरीसे गुरुपुत्रको सशरीर लाकर पुनः उसके माता-पिताके समीप लौटा दिया था, तुम्हारा शरीर ब्रह्मास्त्रसे दग्ध हो गया था, तब जिन शरणागत-रक्षक भगवान्‌ने तुम्हारी रक्षा की थी, जिन्होंने संग्राममें मृत्युञ्जय को भी पराजित कर दिया था और जिन्होंने अपने शरीरपर प्रहार करनेवाले अत्यन्त अपराधी व्याधको भी सदेह स्वर्ग भेज दिया—वे भगवान् श्रीकृष्ण क्या अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ थे? कदापि नहीं। (वे तो अपने पार्षदोंके साथ दृश्यरूपमें सदा ही विराजमान हैं। हाँ, वाञ्छित भजनके अभावमें उनका दर्शन असम्भव है)॥ १२॥

तथाप्यशेषस्थितिसम्भवाप्यये-
ष्वनन्यहेतुर्यदशेषशक्तिधृक् ।
नैच्छत् प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं
मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन्॥ १३॥

यद्यपि अशेष शक्तिशाली (सम्पूर्ण शक्तियाँ धारण करनेवाले) भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण चराचरकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार कार्योंके निरपेक्ष (अनन्य) कारण-स्वरूप हैं, तथापि उन्हें इस शरीरको इस मर्त्यलोकमें रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। (भगवान्‌को मर्त्यलोककी अपेक्षा नहीं है। ब्रह्मादिकी प्रार्थनासे ही उनका मर्त्यलोकमें आविर्भाव है और उनकी ही प्रार्थनासे अपने धाममें गमन है।) आत्मनिष्ठोंकी दिव्यगति ही प्रकृष्ट अर्थात् सर्वाङ्गसुन्दर है, यह दिखलानेके लिये ही यदुवंशके संहारके पश्चात् उन्होंने मृत्युलोकमें अपने श्रीविग्रहको रखना उचित नहीं समझा। (तात्पर्य यह है कि भगवान् मनुष्योको यह शिक्षा देना चाहते हैं कि आत्मनिष्ठको इस मर्त्यशरीरसे क्या प्रयोजन है। वह इस शरीरको

बचाये रखनेकी चेष्टा न करे अन्यथा योग-बलसे देहकी सिद्धि करके वे इस भौतिक जगत्में ही रमण करने लगेंगे। जो कदापि उचित नहीं है।)॥ १३॥

य एतां प्रातरुत्थाय कृष्णस्य पदवीं पराम्।
प्रयतः कीर्त्तयेद्भक्त्या तामेवाप्नोत्यनुत्तमाम्॥ १४॥

जो पुरुष प्रातःकाल उठकर एकाग्रचित्तसे भक्तिपूर्वक श्रीकृष्णके इस दिव्य परमधामगमनकी कथाका कीर्त्तन करेगा, उसे भगवान्का वही सर्वश्रेष्ठ परमपद प्राप्त होगा। भगवान्की स्वधाम-गमन लीला सच्चिदानन्द-स्वरूप ही है॥ १४॥

दारुको द्वारकामेत्य वसुदेवोग्रसेनयोः।
पतित्वा चरणावस्रैर्न्यषिञ्चत् कृष्णविच्युतः॥ १५॥

इधर दारुक भगवान् श्रीकृष्णके विरहसे व्याकुल होकर द्वारका लौट आया और वसुदेवजी और उग्रसेनके चरणोंमें गिरकर आँसुओंसे उन्हें अभिषिक्त करने लगा। (भगवान् चाहते थे कि वसुदेव आदिको भी अपने लोकोंकी प्राप्ति हो जाय।)॥ १५॥

कथयामास निधनं वृष्णीनां कृत्स्नशो नृप।
तच्छ्रुत्वोद्विग्नहृदया जनाः शोकविमूर्च्छिताः॥ १६॥
तत्र स्म त्वरिता जग्मुः कृष्णविश्लेषविह्वलाः।
व्यसवः शेरते यत्र ज्ञातयो घ्नन्त आननम्॥ १७॥

हे राजन्! दारुकने उनको यदुवंशियोंके निधनका सम्पूर्ण वृतान्त सुना दिया, जिसे सुनकर उनका चित्त उद्विग्न हो गया तथा वे शोकसे मूर्च्छित हो गये। कृष्ण-विरहमें विह्वलताके कारण वे अपने हाथोंसे अपने सिरको पीटते हुए शीघ्र ही उस स्थानपर पहुँचे, जहाँ उनके भाई-बन्धु निष्प्राण पड़े थे॥ १७॥

देवकी रोहिणी चैव वसुदेवस्तथा सुतौ।
कृष्णरामावपश्यन्तः शोकार्त्ता विजहुः स्मृतिम्॥ १८॥

माता देवकी, रोहिणी एवं वसुदेव अपने प्यारे श्रीकृष्ण-बलरामको न देखकर शोकाकुलताके कारण अपनी सुध-बुध खो बैठे। (जिस प्रकार भगवान्‌के नित्य परिकर प्रद्युम्न, अनिरुद्धादिका अंश द्वारकासे प्रभास गया था, उसी प्रकार देवकी एवं रोहिणी आदिका अंश ही प्रभासमें आया था, मूलस्वरूप देवकी इत्यादि द्वारकामें ही जागतिक लोगोंकी आँखोंसे अदृश्य होकर विराजमान थीं)॥ १८॥

प्राणांश्च विजहुस्तत्र भगवद्‌विरहातुराः।
उपगुह्य पतींस्तात चितामारुरुहुः स्त्रियः॥ १९॥

तदनन्तर हे तात! श्रीकृष्णके विरहसे व्याकुल होकर देवकी आदिने वहींपर अपने प्राण छोड़ दिये। स्त्रियोंने अपने-अपने पतियोंके शवोंको हृदयसे लगाया और चितापर चढ़कर उनके साथ भस्म हो गयीं॥ १९॥

रामपत्न्यश्च तद्देहमुपगुह्याग्निमाविशन्।
वसुदेवपत्न्यस्तद्‌गात्रं प्रद्युम्नादीन् हरेः स्नुषाः।
कृष्णपत्न्योऽविशन्नग्निं रुक्मिण्याद्यास्तदात्मिकाः॥ २०॥

बलरामकी पत्नियाँ उनके शरीरको, वसुदेवकी पत्नियाँ उनके शरीरको, भगवान्‌की पुत्र वधुएँ अपने-अपने पतियोंको आलिङ्गन करके चिताग्निमें प्रवेश कर गयीं। श्रीरुक्मिणी आदि श्रीकृष्णकी पटरानियाँ तद्‌गतचित्त होकर अग्निमें प्रविष्ट हो गयीं॥ २०॥

अर्जुनः प्रेयसः सख्युः कृष्णस्य विरहातुरः।
आत्मानं सान्त्वयामास कृष्णगीतैः सदुक्तिभिः॥ २१॥

अर्जुन अपने प्रिय सुहृत् श्रीकृष्णके विरहमें अत्यन्त कातर थे, परन्तु उन्होंने कुरुक्षेत्र-समरकालमें श्रीकृष्ण द्वारा गीतोक्त सदुपदेशोंके स्मरण द्वारा (यथा अज्ञानी संसार मुझ अव्यय एवं अजन्माको नहीं जानता आदिके द्वारा) स्वयंको स्थिर किया॥ २१॥

बन्धूनां नष्टगोत्राणामर्जुनः साम्परायिकम्।
हतानां कारयामास यथावदनुपूर्वशः॥ २२॥

जिनकी सन्तति परम्परामें कोई बचा न था, अर्जुनने ऐसे निःसन्तान यादव-बन्धुओंके यथाक्रमसे (एक-एक करके) पिण्डोदकादि सभी और्ध्वदैहिक-कृत्य यथाविधि सम्पन्न करवाये॥ २२॥

द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत् क्षणात्।
वर्जयित्वा महाराज श्रीमद्भगवदालयम्॥ २३॥

हे महाराज! भगवान् श्रीहरिने जैसे ही द्वारकापुरीका परित्याग किया, वैसे ही समुद्रने श्रीकृष्णके निवास-स्थानको छोड़कर समस्त पुरीको क्षणकालमें ही जल-प्लावनसे विध्वस्त कर दिया। (जिस द्वारकाका निर्माण देवताओंके शिल्पी विश्वकर्माने किया हो—सुधर्मा सभाभवनको स्वर्गसे लाया गया हो—उसका विध्वंस होना सम्भव नहीं है—यह श्रीकृष्णकी लीलामात्र है)॥ २३॥

नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः।
स्मृत्याशेषाशुभहरं सर्वमङ्गलमङ्गलम्॥ २४॥

भगवान् मधुसूदन द्वारका-स्थित अपने मन्दिरमें नित्यकाल ही विराजमान हैं। समस्त मङ्गलोंके मङ्गल-स्वरूप उस मन्दिरके स्मरणमात्रसे ही मनुष्योंके सभी प्रकारके विघ्न नष्ट हो जाते हैं तथा परम मङ्गलकी प्राप्ति होती है॥ २४॥

स्त्रीबालवृद्धानादाय हतशेषान् धनञ्जयः।
इन्द्रप्रस्थं समावेश्य वज्रं तत्राभ्यषेचयत्॥ २५॥

धनञ्जय अर्जुनने युद्धसे बचे हुए स्त्री, बच्चों एवं वृद्धोंको ले जाकर पाण्डवोंकी राजधानी इन्द्रप्रस्थमें स्थापित किया। उन्होंने अनिरुद्धपुत्र वज्रको वहाँके राजाके पदपर अभिषिक्त किया॥ २५॥

श्रुत्वा सुहृद्वधं राजन्नर्जुनात्ते पितामहाः।
त्वान्तु वंशधरं कृत्वा जग्मुः सर्वे महापथम्॥ २६॥

हे राजन्! तुम्हारे पितामह युधिष्ठिरादिने अर्जुनके मुखसे सुहृत्गणोंके निधनकी बात सुनी, तो तुमको वंशधरके रूपमें राजपद पर संस्थापित करके हिमालयकी ओर महाप्रस्थान कर गये॥ २६॥

य एतद्देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च।
कीर्त्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ २७॥

जो मनुष्य श्रद्धाके साथ देवताओंके भी देवता भगवान् श्रीकृष्णके इन जन्म-चरित-लीलाओंका कीर्त्तन करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ २७॥

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यामेकादशस्कन्धे भगवानस्य स्वधामगमनो नामैकत्रिंशोऽध्यायः॥ ३१॥

जो मानव श्रीमद्भागवत पुराण अथवा अन्यान्य पुराणोंमें वर्णित निखिल सौन्दर्य-माधुर्य-निधि भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अनुष्ठित परममङ्गलप्रद मनोहर अवतार-चरित, विस्मयकारी वीर्यवार्त्ता, चारु-रुचिर एवं परमानन्दप्रय बाल्यलीला, मधुरातिमधुर एवं मनोज्ञ कैशोर-लीला आदिका सङ्कीर्त्तन करता है, वह परमहंसजनोंके एकमात्र शरण्य (प्राप्तव्य) श्रीकृष्णके प्रति परम भक्ति प्राप्त करता है॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके इकतीसवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वादशः स्कन्धः

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

द्वादश स्कन्धकी कथाका सार

महाभागवत श्रीशुकदेव गोस्वामीने दसवें एवं ग्यारहवें स्कन्धमें चन्द्रवंशावतंस श्रीकृष्णचन्द्रकी चरितामृत-कथाका वर्णन करनेके बाद उसी चन्द्रवंशकी अन्तिम स्थितिके प्रसङ्गमें बतलाया कि जरासन्धके पुत्र सहदेवसे रिपुञ्जय पर्यन्त बीस राजाओंके राज्यके बाद रिपुञ्जयका मन्त्री शुनक राजा रिपुञ्जयका वध करके अपने पुत्र प्रद्योतको राजा बनाएगा। उसके बाद उसके वंशमें पाँच राजाओंके बाद क्रमशः शिशुनाग, मौर्य, शुङ्ग, काण्ववंशीयगण, आन्ध्रजातीयगण, आभीर, गर्दभी, कङ्क, यवन, तुरस्क (तुर्क), गुरुण्ड, मौल, पाँचकिलकिला, आन्ध्र, बाह्लिक इत्यादि राजा राज्य करेंगे। तत्पश्चात् विभिन्न प्रदेशोंमें शूद्रप्राय एवं म्लेच्छप्राय अधर्मपरायण राजाओंका शासनाधिकार होगा।

कलिकी वृद्धिके साथ-साथ पाखण्ड-धर्म भी प्रबल होता जाएगा। सभी वर्ण शूद्रप्राय, गौएँ बकरियोंके समान एवं आश्रम गृहप्राय हो जाएँगे तथा बन्धुत्व यौवन-सम्बन्धमें पर्यवसित हो जाएगा। तब भगवान् कल्किदेव शम्भल ग्राममें विष्णुयश ब्राह्मणके गृहमें अवतीर्ण होकर राजवेशी दस्युओंका संहार करेंगे। इसीसे सत्ययुगके आगमनकी सूचना प्राप्त होगी।

जब पृथ्वी देखती है कि राजा लोग, जो मृत्युके खिलौने-स्वरूप हैं, वे मुझे जीत लेना चाहते हैं, तब वह हँसने लगती है और कहती है कि मनु आदि सभी राजा आये और समय-समयपर मेरा त्याग करके चले गये। वस्तुतः पृथ्वी अजेय है एवं इसे अवश्य ही छोड़कर जाना पड़ेगा, तब भी लोग सम्पूर्ण पृथ्वी अथवा उसके कुछ अंशके लिए व्यर्थ ही परस्पर युद्ध-कलह किया करते हैं। जगत् अनित्य एवं असार है, मात्र कृष्णभक्ति

ही समस्त अमङ्गलोंका नाश करने वाली है, यही जीवका परम पुरुषार्थ है।

सत्ययुगमें चार चरणोंसे विशिष्ट धर्मका त्रेतादि युगमें क्रमशः एक-एक चरण ह्रास होते-होते कलिमें यह धर्म मात्र एक पादमें पर्यवसित हो जाता है और वह भी धीरे-धीरे क्षीण होकर विलुप्त होता जाता है। उस समय पाखण्डता, नीचता एवं शिश्नोदरपरायणता प्रबल हो जाती हैं। फिर भी, सर्वदोषाकर कलिका एक महद् गुण यह है कि केवल कृष्ण-कीर्त्तन द्वारा समस्त आसक्तियोंसे मुक्त होकर परम वस्तु—श्रीकृष्णको प्राप्त किया जा सकता है।

एक हजार चतुर्युग ब्रह्माका एक दिन होता है और उतने ही समय तक उनकी रात होती है—यह रात ब्रह्माका निद्राकाल होती है। उनके निद्राकालमें नैमित्तिक प्रलय होता है—उस समय तीनों लोकोंका विनाश हो जाता है। ब्रह्माके आयुषकालका सौ वर्ष पूर्ण होनेपर प्राकृत प्रलय होता है। उस समय महदादि तत्त्वोंका एवं ब्रह्माण्डका ध्वंस हो जाता है। वास्तव वस्तुका ज्ञान प्राप्त होनेपर जब प्रपञ्चकी पृथक् प्रतीतिका लय हो जाता है, तब उसको आत्यन्तिक लय कहते हैं। कालवेगके प्रभावसे प्रत्येक क्षण देहादिका जो क्षय है, उसे नित्य-प्रलय कहते हैं। संसार तो सृष्टि-प्रलयके अधीन है। भगवत्-लीला-कथा-सेवन भव-सिन्धु-तरणका उपाय है।

इसके बाद श्रीशुकदेव महाराज परीक्षित्को मृत्युकी चिन्ताका त्यागकर और आत्मस्थ होकर वासुदेवके नित्य-निरन्तर ध्यानमें मग्न होनेका उपदेश देते हैं। ऐसा होनेपर तक्षक-दंशनकी यन्त्रणाका अनुभव उन्हें नहीं होगा।

श्रीहरिके लीलामृतसे पूर्ण भागवती कथाका श्रवण करके श्रीपरीक्षित् महाराजने अपनी इन्द्रियोंकी वृत्तिको भगवान्के श्रीचरणोंमें नियुक्त कर दिया और अपने चित्तका भी समर्पण करके

प्राणोंके परित्यागके लिए श्रीशुकदेवसे अनुमतिकी प्रार्थना करने लगे। श्रीशुकदेवने भी परीक्षित्‌को प्राण त्याग करनेके लिए आज्ञा प्रदान की और इच्छानुसार प्रस्थान कर गये। संशय-मुक्त महाराज परीक्षित् आसनपर बैठकर परमात्माके ध्यानमें निमग्न हो गये। तक्षक वहाँ आया और उसने उनको डस लिया। इससे परीक्षित् महाराजकी देह भस्मीभूत हो गयी।

परीक्षित्-पुत्र जन्मेजय पिताके वियोगके संवादसे क्रुद्ध हो गये और सर्प-यज्ञ आरम्भकर सर्पोंका विनाश करने लगे। तक्षक इन्द्रके शरणागत होनेके कारण उनके यज्ञानलमें पतित नहीं हुआ। यह देखकर राजाने मुनियोंको रक्षकके (इन्द्रके) साथ तक्षकको मन्त्र द्वारा आकर्षित करनेका आदेश किया। तदनुसार तक्षकके साथ देवराज इन्द्र भी मन्त्र द्वारा आकृष्ट हो रहे हैं—यह देखकर बृहस्पतिने सिद्धान्तपूर्ण वचनोंसे जन्मेजयको जीव-हिंसासे रोका।

ब्रह्माने ॐकार द्वारा चारों वेदोंकी सृष्टि करके अपने पुत्रोंको उनका अध्ययन कराया था। द्वापरयुगमें भगवान् व्यासदेवने उन वेदोंको विभाजित कर दिया एवं ऋषियोंने सम्प्रदायानुसार इसका अभ्यास किया। याज्ञवल्क्य ऋषिसे पठित समस्त वेदोंको गुरुकी आज्ञासे उद्‌गीर्ण करने पर मुनियोंने तित्तिर पक्षीके रूपमें उनको ग्रहण कर लिया। इसीलिए यजुर्वेदीय शाखाओंका नाम तैत्तिरीय पड़ गया।

अनन्तर श्रीसूतजीने अथर्ववेदका विस्तार, उसके अध्यायिकोंके नाम, पौराणिकोंके नाम, पुराणोंके लक्षण एवं अठारह पुराणोंके नाम बतलाये हैं।

श्रीमार्कण्डेय ऋषिने छह मन्वन्तर तक श्रीहरिकी आराधना की। इन्द्रने उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिए सानुचर कामदेवको भेजा। कामदेव उनसे पराभूत हो गया। अब मार्कण्डेय ऋषिपर अनुग्रह करनेके लिए श्रीनर-नारायण उनके निकट उपस्थित हुए। ऋषिने श्रीहरिकी पूजा करके विचित्र भाषामें उनकी स्तुति की।

भगवान् उनसे सन्तुष्ट हो गये और उनसे वरदान माँगनेके लिए कहा। मार्कण्डेयने भगवान्‌की मायाके वैभवको देखनेकी अभिलाषा की। भगवान् 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये। कुछ ही समय बाद मार्कण्डेय जब सन्ध्या-वन्दन कर रहे थे कि अकस्मात् त्रिभुवन प्रलय-जलमें प्लावित हो गया। मार्कण्डेय घोर कष्टके साथ जलमें इधर-उधर भ्रमण करते रहे, तभी उन्होंने वट-पत्र-शायी एक सुन्दर शिशुको अपने पैरके अंगूठेका पान करते देखा। वे उनके निकट गये और शिशुके निःश्वासके साथ उसके शरीरमें प्रवेश कर गये। ऋषिने उसके शरीरमें सम्पूर्ण विश्वको देखा। कुछ समय बाद वे शिशुके प्रश्वासके साथ बाहर आये और पुनः प्रलय-पयोधिमें पतित हो गये। उन्हें ज्ञात हो गया कि वह शिशु ही उनके आराध्यदेव अधोक्षज भगवान् श्रीहरि हैं। वे उनका आलिङ्गन करनेके लिए उद्यत हुए कि भगवान् अन्तर्धान हो गये; प्रलय भी अदृश्य हो गया। मार्कण्डेय भगवान्‌की मायाके वैभवका अनुभव करके उन्हीं भगवान् नारायणके शरणागत हो गये। एक दिन पार्वतीजीके साथ भगवान् शङ्कर आकाश मार्गसे विचरण कर रहे थे कि उन्होंने समाधिमें मग्न मार्कण्डेय ऋषिको देखा। पार्वतीजीकी इच्छासे शङ्कर उन्हें सिद्धि प्रदान करनेके लिए उनके समीप आये। निरुद्ध-चित्तवृत्ति मार्कण्डेयको उनके आगमनका बोध नहीं हुआ, तब भगवान् शिव मार्कण्डेयके हृदयाकाशमें प्रवेश कर गये। इससे उनकी समाधि भङ्ग हो गयी। मार्कण्डेयने शङ्कर एवं पार्वतीके चरणोंकी पूजा-वन्दना की और उन दोनोंकी अभीष्ट सेवा सम्पन्न हो सके—इस वाञ्छित वरकी प्रार्थना की।

भगवान् शङ्कर मार्कण्डेयसे सन्तुष्ट हो गये। वे भगवान्‌के भक्तोंको अभीष्ट वर प्रदान करनेवाले हैं। मार्कण्डेयने भगवान् शङ्करकी स्तुति करके एक और वरकी प्रार्थना की कि श्रीहरि, उनके भक्त और भगवान् शङ्करमें उनकी अविचल भक्ति बनी रहे। शङ्कर मार्कण्डेयकी भगवद्-भक्ति देखकर बहुत प्रसन्न हुए

और उन्हें प्रलय-पर्यन्त अजरत्व, अमरत्व, त्रैकालिक-ज्ञान एवं पुराणोंका आचार्यत्व प्रदान किया।

इसके बाद श्रीसूत गोस्वामीने शौनकजीके प्रश्नोंके अनुसार श्रीहरिके अङ्ग, उपाङ्ग, आयुध, वेश एवं अमृतत्व-प्राप्तिके उपाय-स्वरूप क्रियायोगका निरूपण किया। उन्होंने आदित्यके बारह मासोंके नाम, उनके व्यूह-स्वरूप देवताओंके नाम एवं कर्मोंका भी वर्णन किया।

श्रीमद्भागवत ग्रन्थमें वर्णित विषयोंके सार-स्वरूप वर्णनके अन्तमें श्रीसूत गोस्वामीने कहा—भगवद्-गुणावली ही सत्य है, उसके अतिरिक्त जो भी वाक्य हैं, सब असत् हैं। भगवत्-कथा मङ्गलजनक एवं नित्यानन्द प्रदान करने वाली है। असार-ग्राही लोग ही भगवदितर कथाओंमें रत रहते हैं। विष्णु-भक्तिरहित ज्ञानका एवं ईश्वरमें अनर्पित कर्मका कोई मूल्य नहीं है। श्रीमद्भागवत-श्रवण-कीर्त्तनादिसे आत्मा पवित्र होती है एवं मनुष्य समस्त पापों एवं समस्त भयोंसे मुक्त होकर परमपदको प्राप्त होते हैं। इसके पाठ करनेपर समस्त वेद-पाठका फल प्राप्त हो जाता है।

अनन्तर पुराण-संहिताओंकी समष्टि, श्रीमद्भागवतकी वस्तु, उसकी प्रयोजनीयता, उसके दानकी महिमा, उसका सर्वश्रेष्ठत्व एवं भगवत् प्रणामके द्वारा श्रीमद्भागवतकी कथाको विश्राम दिया गया है।

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीमद्भागवतम्

द्वादशः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

कलियुगके राजवंशोंका वर्णन

श्रीराजोवाच—

स्वधामानुगते कृष्णे यदुवंशविभूषणे।
कस्य वंशोऽभवत् पृथ्व्यामेतदाचक्ष्व मे मुने॥ १॥

महाराज परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! यदुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण जब अपने परमधाम पधार गये, तब पृथ्वीपर किस वंशका राज्य हुआ? अब किसका राज्य होगा? आप कृपा करके मुझे यह बतलाइये॥ १॥

श्रीशुक उवाच—

योऽन्त्यः पुरञ्जयो नाम भविष्यो बारहद्रथः।
तस्यामात्यस्तु शुनको हत्वा स्वामिनमात्मजम्॥ २॥
प्रद्योतसंज्ञं राजानं कर्त्ता यत्पालकः सुतः।
विशाखयूपस्तत्पुत्रो भविता राजकस्ततः॥ ३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! नवम-स्कन्धके अन्तिम भागमें मैंने तुम्हें रिपुञ्जय नामक राजाके विषयमें बताया था। उसका दूसरा नाम था पुरञ्जय। उसका जन्म जरासन्धके वंशमें हुआ था। उसका शुनक नामक मन्त्री उसका वध करके प्रद्योत नामक अपने पुत्रको राजा बनाएगा। (पुरञ्जय-वंश परम्परा यहाँ नष्ट हो गयी)। प्रद्योतका पुत्र होगा पालक, पालकका पुत्र होगा

विशाखयूप और विशाखयूपका पुत्र होगा राजक—इस क्रमसे राजत्व चलेगा।

नवम स्कन्धमें चन्द्रवंश शाखाके पुरुवंशमें उपरिचर वसु बृहद्रथ, जरासन्ध, सहदेवसे लेकर रिपुञ्जय (पुरञ्जय) तक भावी बीस राजाओंके विषयमें बताया गया था। इसके बाद यह वंश सङ्करादि दोषोंसे मलिन हो गया था। चन्द्रवंश-शिरोमणि श्रीकृष्णचन्द्रके चरितामृत कथा-सिन्धुमें निमज्जित होकर आनन्द प्राप्त करनेवालोंको इस वंशमें दूसरी शाखाओंसे वैराग्य-प्राप्तिके कारण यह वंशावली कही जा रही है॥ २-३॥

नन्दिवर्द्धनस्तत्पुत्रः पञ्च प्रद्योतना इमे।
अष्टत्रिंशोत्तरशतं भोक्ष्यन्ति पृथिवीं नृपाः॥ ४॥

राजकका नन्दिवर्द्धन नामक पुत्र होगा। इन पाँचों राजाओंको प्रद्योतन नामसे ही जाना जाएगा। ये एक सौ अड़तीस वर्षों तक पृथ्वीका उपभोग करेंगे॥ ४॥

शिशुनागस्ततो भाव्यः काकवर्णस्तु तत्सुतः।
क्षेमधर्मा तस्य सुतः क्षेत्रज्ञः क्षेमधर्मजः॥ ५॥

नन्दिवर्द्धनसे शिशुनाग नामक राजा होगा। शिशुनागका काकवर्ण, उसका क्षेमधर्मा और क्षेमधर्माका पुत्र क्षेत्रज्ञ होगा॥ ५॥

विधिसारः सुतस्तस्याजातशत्रुर्भविष्यति।
दर्भकस्तत्सुतो भावी दर्भकस्याजयः स्मृतः॥ ६॥

क्षेत्रज्ञका विधिसार, विधिसारसे अजातशत्रु, अजातशत्रुसे दर्भक, और दर्भकसे अजय जन्म ग्रहण करेगा॥ ६॥

नन्दिवर्द्धन आजेयो महानन्दिः सुतस्ततः।
शिशुनागा दशैवैते षष्ट्युत्तरशतत्रयम्॥ ७॥
समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कुरुश्रेष्ठ कलौ नृपाः।
महानन्दिसुतो राजन् शूद्रागर्भोद्भवो बली॥ ८॥

महापद्मपतिः कश्चिन्नन्दः क्षत्रविनाशकृत्।
ततो नृपा भविष्यन्ति शूद्रप्रायास्त्वधार्मिकाः॥ ९॥

तत्पश्चात् अजयसे नन्दिवर्द्धन, नन्दिवर्द्धनसे महानन्दि जन्म ग्रहण करेगा। हे परीक्षित्! कलियुगमें शिशुनाग-वंशके ये दस राजा तीन सौ साठ वर्षों तक पृथ्वीपर राज्य करेंगे। हे राजन्! अनन्तर महानन्दिके औरससे किसी शूद्राके गर्भसे नन्द नामक एक बलवान् राजा जन्म ग्रहण करेगा, जो महापद्म नामक निधिका अधिपति होगा। इसलिए इसे लोग 'महापद्म' भी कहेंगे। यह क्षत्रियोंके विनाशका कारण बनेगा। उसी समयसे राजागण शूद्रप्राय एवं अधार्मिक हो जाएँगे॥ ७-९॥

स एकच्छत्रां पृथिवीमनुल्लङ्घितशासनः।
शासिष्यति महापद्मो द्वितीय इव भार्गवः॥ १०॥

महापद्मपति नन्द पृथ्वीका एकच्छत्र शासक होगा। उसके शासनकी गति अप्रतिहत होगी। क्षत्रियोंके विनाशमें हेतु होनेकी दृष्टिसे तो उसे दूसरा परशुराम ही समझना चाहिए॥ १०॥

तस्य चाष्टौ भविष्यन्ति सुमाल्य प्रमुखाः सुताः।
य इमं भोक्ष्यन्ति महीं राजानश्च शतं समाः॥ ११॥

उसके सुमाल्य आदि आठ पुत्र होंगे। वे सभी राजा होंगे और सौ वर्षोंतक इस पृथ्वीका उपभोग करेंगे॥ ११॥

नव नन्दान् द्विजः कश्चित् प्रपन्नानुद्धरिष्यति।
तेषामभावे जगतीं मौर्य्या भोक्ष्यन्ति वै कलौ॥ १२॥

चाणक्य नामका (कौटिल्य, वात्स्यायनादि नामोंसे भी प्रसिद्ध) कोई एक ब्राह्मण विश्वविख्यात राजा नन्द एवं उसके आठ पुत्रोंका (नव-नन्दका) संहार कर डालेगा। उनकी अनुपस्थितिमें कलियुगमें मौर्यवंशीय राजा पृथ्वी पर शासन करेंगे॥ १२॥

स एव चन्द्रगुप्तं वै द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति।
तत्सुतो वारिसारस्तु ततश्चाशोकवर्द्धनः॥ १३॥

यही चाणक्य ही मौर्यवंशीय आदि (प्रथम) पुरुष चन्द्रगुप्त मौर्यको राजाके पदपर अभिषिक्त करेगा। अनन्तर चन्द्रगुप्तका पुत्र वारिसार एवं वारिसारका पुत्र अशोकवर्द्धन राजा बनेगा॥ १३॥

सुयशा भविता तस्य सङ्गतः सुयशःसुतः।
शालिशूकस्ततस्तस्य सोमशर्मा भविष्यति
शतधन्वा ततस्तस्य भविता तद्बृहद्रथः॥ १४॥

अनन्तर अशोकवर्द्धनसे सुयशा, सुयशासे सङ्गत, सङ्गतसे शालिशूक, शालिशूकसे सोमशर्मा, सोमशर्मासे शतधन्वा एवं शतधन्वासे बृहद्रथका जन्म होगा। (चन्द्रगुप्तसे मौर्यवंशियोंकी संख्या नौ ही होती है। विष्णु पुराणके अनुसार मौर्यवंशके पाँचवें राजाका नाम दशरथ होगा। दशरथको लेकर मौर्यवंशके दस राजा होंगे।)॥ १४॥

मौर्य्या ह्येते दश नृपाः सप्तत्रिंशच्छतोत्तरम्।
समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कलौ कुरुकुलोद्वह॥ १५॥

हे कुरुवंशधर! मौर्य संज्ञक ये दस राजा कलियुगमें एक सौ सैंतीस वर्षों तक पृथ्वी पर राज्य करेंगे॥ १५॥

अग्निमित्रस्ततस्तस्मात् सुज्येष्ठो भविता ततः।
वसुमित्रो भद्रकश्च पुलिन्दो भविता सुतः॥ १६॥
ततो घोषः सुतस्तस्माद्वज्रमित्रो भविष्यति।
ततो भागवतस्तस्माद्देवभूतिः कूरूद्वह॥ १७॥
शुङ्गा दशैते भोक्ष्यन्ति भूमिं वर्षशताधिकम्।
ततः काण्वानियं भूमिर्यास्यत्यल्पगुणान् नृप॥ १८॥

अनन्तर बृहद्रथका सेनापति (पुष्पमित्र) विष्णुमित्र बृहद्रथका वध करके राज्यपर अधिकार करेगा। वह शुङ्गवंशीय राजाओंमें प्रथम राजा होगा। उसका पुत्र अग्निमित्र, अग्निमित्रका पुत्र सुज्येष्ठ, सुज्येष्ठका पुत्र वसुमित्र, वसुमित्रका पुत्र भद्रक, भद्रकका पुत्र पुलिन्द, पुलिन्दका पुत्र घोष, घोषका पुत्र वज्रमित्र, वज्रमित्रका पुत्र भागवत तथा भागवतका पुत्र देवभूति—ये शुङ्ग नामके दस राजा सौ वर्षोंसे

भी अधिक समय तक (चक्रवर्त्ती ठाकुरके अनुसार एक सौ बारह वर्षों तक) पृथ्वी पर राज्य करेंगे। इसके बाद यह पृथ्वी कण्ववंशियोंके हस्तगत हो जाएगी। कण्ववंशीराजा अपने पूर्ववर्त्ती शासकोंकी तुलनामें कम गुणवाले होंगे॥ १६-१८॥

शुङ्गं हत्वा देवभूतिं काण्वोऽमात्यस्तु कामिनम्।
स्वयं करिष्यते राज्यं वसुदेवो महामतिः॥ १९॥

देवभूति पर-स्त्री कामी होगा। इसीका मन्त्री कण्ववंशीय महामति वसुदेव इस देवभूतिका वध कर देगा और अपनी बुद्धिके बलपर स्वयं राजा बन जाएगा॥ १९॥

तस्य पुत्रस्तु भूमित्रस्तस्य नारायणः सुतः।
नारायणस्य भविता सुशर्मा नाम विश्रुतः॥ २०॥
काण्वायना इमे भूमिं चत्वारिंशच्च पञ्च च।
शतानि त्रीणि भोक्ष्यन्ति वर्षाणाञ्च कलौ युगे॥ २१॥

वसुदेवका पुत्र भूमित्र, भूमित्रका पुत्र नारायण, नारायणका पुत्र सुशर्मा होगा। चतुर्थ काण्व सुशर्मा बड़ा यशस्वी होगा—ये सभी कण्ववंशीय राजागण काण्वायन कहलायेंगे, जो कलियुगमें तीन सौ पैंतालीस वर्षों तक राज्य करेंगे॥ २०-२१॥

हत्वा काण्वं सुशर्माणं तद्भृत्यो वृषलो बली।
गां भोक्ष्यत्यन्ध्रजातीयः कञ्चित् कालमसत्तमः॥ २२॥

अनन्तर काण्व सुशर्माका एक सेवक होगा बलि, जो गो-भक्षण करनेवाला अन्ध्र जातिका शूद्र होगा और भयङ्कर दुष्ट होगा। यह सुशर्माको मारकर कुछ समयतक राज्य भोग करेगा॥ २२॥

कृष्णनामाथ तद्भ्राता भविता पृथिवीपतिः।
श्रीशान्तकर्णस्तत्पुत्रः पौर्णमासस्तु तत्सुतः॥ २३॥
लम्बोदरस्तु तत्पुत्रस्तस्माच्चिबिलको नृपः।
मेघस्वातिश्चिबिलकादटमानास्तु तस्य च॥ २४॥

अनिष्टकर्म्मा हालेयस्तलकस्तस्य चात्मजः।
पुरीषभीरुस्तत्पुत्रस्ततो राजा सुनन्दनः॥ २५॥
चकोरो बहवो यत्र शिवस्वातिररिन्दमः।
तस्यापि गोमतीपुत्रः पुरीमान् भविता ततः॥ २६॥
मेदशिराः शिवस्कन्दो यज्ञश्रीस्तत्सुतस्ततः।
विजयस्तत्सुतो भाव्यश्चन्द्रविज्ञः सलोमधिः॥ २७॥
एते त्रिंशन्नृपतयश्चत्वार्य्यब्दशतानि च।
षट्पञ्चाशच्च पृथिवीं भोक्ष्यन्ति कुरुनन्दन॥ २८॥

इसके पश्चात् उसका भाई कृष्ण पृथ्वीपति होगा। कृष्णका पुत्र श्रीशान्तकर्ण, श्रीशान्तकर्णका पुत्र पौर्णमास राजा बनेगा। पौर्णमासका पुत्र लम्बोदर, लम्बोदरका पुत्र चिबिलक होगा। चिबिलकका पुत्र मेघस्वाति, मेघस्वातिका पुत्र अटमान, अटमानका पुत्र अनिष्टकर्मा, अनिष्टकर्माका पुत्र हालेय, हालेयका पुत्र तलक, तलकका पुत्र पुरीषभीरु और पुरीषभीरुका पुत्र सुनन्दन राजा होगा। तत्पश्चात् सुनन्दनका पुत्र चकोर होगा; चकोरके आठ पुत्र होंगे, जो सभी 'बहु' राजा कहलायेंगे। इन बहु संज्ञक आठ राजाओंमें सबसे छोटेका नाम होगा शिवस्वाति। वह बड़ा वीर होगा। शत्रुओंका दमन करेगा। शिवस्वातिका पुत्र गोमती और उसका पुत्र पुरीमान् होगा। पुरीमान्का मेदःशिरा, मेदःशिराका शिवस्कन्द, शिवस्कन्दका यज्ञश्री, यज्ञश्रीका विजय और विजयके दो पुत्र होंगे—चन्द्रविज्ञ और लोमधि। हे कुरुनन्दन! ये तीस राजा चार सौ छप्पन वर्षोंतक पृथ्वीका राज्य भोगेंगे॥ २३-२८॥

सप्ताभीरा आवभृत्या दश गर्द्दभिनो नृपाः।
कङ्काः षोडश भूपाला भविष्यन्त्यतिलोलुपाः॥ २९॥

अनन्तर अवभृति-नगरीमें उत्पन्न आभीर नामक अथवा आभीर जातीय सात नरपति, गर्दभि नामक दस नरपति एवं कङ्क नामक सोलह राजा पृथ्वीपर राज्य करेंगे—ये सभी अति लोभी होंगे॥ २९॥

ततोऽष्टौ यवना भाव्याश्चतुर्दश तुरुष्ककाः।
भूयो दश गुरुण्डाश्च मौला एकादशैव तु॥ ३०॥

तत्पश्चात् आठ यवन नृपति, चौदह तुरुष्क (तुर्क) राजा, दस गुरुण्ड नामक राजा एवं ग्यारह मौल नामक राजा राज्यका भोग करेंगे॥ ३०॥

एते भोक्ष्यन्ति पृथिवीं दशवर्षशतानि च।
नवाधिकाञ्च नवतिं मौला एकादश क्षितिम्॥ ३१॥
भोक्ष्यन्त्यब्दशतान्यङ्ग त्रीणि तैः संस्थिते ततः।
किलिकिलायां नृपतयो भूतनन्दोऽथ वङ्गिरिः॥ ३२॥
शिशुनन्दिश्च तद्भ्राता यशोनन्दिः प्रवीरकः।
इत्येते वै वर्षशतं भविष्यन्त्यधिकानि षट्॥ ३३॥

हे राजन्! मौल राजाओंके अतिरिक्त आभीर इत्यादि पैंसठ राजा एक हजार निन्यानबे वर्षोंतक तथा ग्यारह मौन नरपति तीन सौ वर्षतक पृथ्वीका शासन करेंगे। जब उनका अवसान हो जाएगा, तब किलकिला नामकी नगरीमें भूतनन्द, वङ्गिरि, शिशुनन्दि तथा उसका भाई यशोनन्दि, प्रवीरक—ये एक सौ छः वर्षतक पृथ्वीपर राज्य करेंगे॥ ३१-३३॥

तेषां त्रयोदश सुता भवितारश्च बाह्लिकाः।
पुष्पमित्रोऽथ राजन्यो दुर्मित्रोऽस्य तथैव च॥ ३४॥
एककाला इमे भूपाः सप्तान्ध्राः सप्त कौशलाः।
विदूरपतयो भाव्या निषधास्तत एव हि॥ ३५॥

पूर्वोक्त भूतनन्द इत्यादि राजाओंके बाह्लिक नामक तेरह पुत्र होंगे। ये सभी बाह्लिक कहे जाएँगे। अनन्तर बाह्लिकोंमें से ही पुष्पमित्र नामक क्षत्रिय एवं उसका पुत्र दुर्मित्र राज्य करेगा। बाह्लिकवंशी राजागण अलग-अलग खण्ड-राज्योंके (विभिन्न प्रदेशोंके) मण्डलपति होंगे। इनमें से अन्ध्रदेशके सात एवं कोशलदेशके भी सात अधिपति

होंगे, तो कुछ विदुर-भूमिके शासक एवं कुछ निषध-देशके स्वामी होंगे॥ ३४-३५॥

मागधानान्तु भविता विश्वस्फूर्जिः पुरञ्जयः।
करिष्यत्यपरो वर्णान् पुलिन्दयदुमद्रकान्॥ ३६॥

अनन्तर प्राचीन पुरञ्जय (पुरोंको जीतनेवाला) नामसे प्रसिद्ध, उसके ही समान एक और विश्वस्फूर्जि नामक द्वितीय पुरञ्जय होगा, जो मागधगणोंका राजा बनेगा। वह ब्राह्मणादि वर्णोंको म्लेच्छोंके समान पुलिन्द, यदु, मद्रक इत्यादि हीन जातियोंमें परिणत कर देगा॥ ३६॥

प्रजाश्चाब्रह्मभूयिष्ठाः स्थापयिष्यति दुर्म्मतिः।
वीर्य्यवान् क्षत्रमुत्साद्य पद्मवत्यां स वै पुरी।
अनुगङ्गामाप्रयागं गुप्तां भोक्ष्यति मेदिनीम्॥ ३७॥

दुष्टबुद्धि, महाबलवान् विश्वस्फूर्जि राज्यमें त्रिवर्णसे (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्योंसे) बहिर्भूत प्रजाओंकी (शूद्रोंकी) स्थापना अर्थात् रक्षा करेगा तथा क्षत्रियोंको उखाड़ फेंकेगा। वह पद्मावती-नगरीमें रहकर (उसे अपनी राजधानी बनाकर) गङ्गाद्वारसे (हरिद्वारसे) प्रयाग पर्यन्त अपने बाहुबलसे रक्षित राज्यका उपभोग करेगा॥ ३७॥

सौराष्ट्रावन्त्याभीराश्च शूरा अर्बुदमालवाः।
व्रात्या द्विजा भविष्यन्ति शूद्रप्राया जनाधिपाः॥ ३८॥

अनन्तर सौराष्ट्र, अवन्ती, आभीर, शूर, अर्बुद एवं मालवदेशके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सभी प्रजागण उपनयन-रहित अर्थात् संस्कारहीन हो जायेंगे और राजा भी शूद्रप्राय हो जाएँगे॥ ३८॥

सिन्धोस्तटं चन्द्रभागां कौन्तीं काश्मीरमण्डलम्।
भोक्ष्यन्ति शूद्रा व्रात्याद्या म्लेच्छाश्चाब्रह्मवर्चसः॥ ३९॥

अनन्तर सिन्धुतटपर, चन्द्रभागाके तटपर, कौन्ती एवं काश्मीर-मण्डलमें वेदाचार-रहित एवं संस्कार-च्युत नाममात्रके ब्राह्मणादि द्विजातीय (पतित ब्राह्मणों), म्लेच्छों एवं शूद्रोंका शासन होगा॥ ३९॥

तुल्यकाला इमे राजन् म्लेच्छप्रायाश्च भूभृतः।
एतेऽधर्म्मानृतपराः फल्गुदास्तीव्रमन्यवः॥ ४०॥

हे राजन्! ये सब-के-सब म्लेच्छ-प्राय राजा एक ही समयमें नाना भूखण्डोंमें शासन करेंगे। ये बड़े अधार्मिक, असत्यपरायण, अल्पदानशील और प्रचण्ड क्रोधी होंगे॥ ४०॥

स्त्रीबालगोद्विजघ्नाश्च परदारधनादृताः।
उदितास्तमितप्राया अल्पसत्त्वाल्पकायुषः॥ ४१॥
असंस्कृताः क्रियाहीना रजसा तमसावृताः।
प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः॥ ४२॥

तत्कालीन राजा स्त्री, बालक, गाय एवं ब्राह्मणोंका वध करनेवाले होंगे। परस्त्री एवं परधन हड़प लेनेके लिए सदैव लोलुप रहेंगे, हर्ष-शोकादि बहुल होंगे अर्थात् क्षणमें हँसेंगे, क्षणमें रोएँगे, पराक्रम नाम मात्रका होगा, आयु अल्प होगी, असंस्कृत अर्थात् गर्भाधानादि संस्कारसे रहित, यज्ञादि क्रियाओंसे रहित एवं रज एवं तमोगुणसे आच्छन्न रहेंगे, क्षत्रियराजके रूपमें म्लेच्छ ही प्रजाओंका धनादि-अपहरण-रूप शोषण करेंगे॥ ४१-४२॥

तत्राथास्ते जनपदास्तच्छीलाचारवादिनः।
अन्योन्यतो राजभिश्च क्षयं यास्यन्ति पीडिताः॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे राजवंशानुकीर्त्तनं नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

पूर्वोक्त विकृत राजाओंकी परिचालनामें प्रजाएँ भी उनके आचार, चरित्र एवं भाषाका अनुकरण करेंगी। (यथा राजा तथा प्रजा) ये प्रजागण राजाओंके अत्याचारसे त्रस्त एवं परस्पर भी उत्पीड़ित होकर विनाशको प्राप्त हो जायेंगे॥ ४३॥

आचार्यगण कहते हैं कि भागवतोंको इस धर्म-विप्लवसे किञ्चित् मात्र भी भयकी आवश्यकता नहीं है, जब तक कि लोकदृष्टिसे अगोचर भगवान्की परमप्रतीक-स्वरूप श्रीभागवत भूतल पर

नित्यस्वरूपमें विद्यमान है। प्रबल कलि भागवत-धर्मके सेवापरायण भक्तोंका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकता।

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके पहले अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

भगवान् कल्किका अवतार, तात्कालिक अधार्मिकोंका विनाश तथा सत्ययुगका आरंभ

श्रीशुक उवाच—

ततश्चानुदिनं धर्मः सत्यं शौचं क्षमा दया।
कालेन बलिना राजन् नङ्क्ष्यत्यायुर्बलं स्मृतिः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! तदनन्तर महाबलवान् कलियुगके प्रभावसे दिन प्रतिदिन मनुष्योंके धर्म, सत्य, क्षमा, दया, पवित्रता, आयु, बल और स्मरणशक्तिका उत्तरोत्तर लोप होता जाएगा॥ १॥

वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदयः।
धर्मन्यायव्यवस्थायां कारणं बलमेव हि॥ २॥

कलियुगमें धन ही मनुष्योंकी कुलीनता, सदाचार एवं सद्गुणोंके उत्कर्षका बोध करानेवाला होगा तथा जिसके पास शक्ति होगी, धर्म एवं न्यायकी व्यवस्था उसीके अनुकूल होगी॥ २॥

दाम्पत्येऽभिरुचिर्हेतुर्मायैव व्यावहारिके।
स्त्रीत्वे पुंस्त्वे च हि रतिर्विप्रत्वे सूत्रमेव हि॥ ३॥

दाम्पत्य सम्बन्ध कुल एवं आचारके आधार पर नहीं, पारस्परिक अनुराग-आसक्तिके आधारपर होंगे, क्रय-विक्रयादिमें उत्कर्षता (व्यवहार-कुशलता) का हेतु कपटता होगी, स्त्री-पुरुषके श्रेष्ठत्वका विचार रति-कौशलसे किया जाएगा एवं ब्राह्मणत्वका निर्णय भी सूत्रमात्र (जनेऊ-परिधान-मात्र) से ही होगा॥ ३॥

लिङ्गमेवाश्रमख्यातावन्योन्यापत्तिकारणम्।
अवृत्त्या न्यायदौर्बल्यं पाण्डित्ये चापलं वचः॥ ४॥

ब्रह्मचर्य, संन्यास आदि अन्यान्य आश्रमोंके उत्कर्ष एवं अपकर्ष परिचय-विशेषमें दण्ड, कमण्डलु एवं अजिन (मृगचर्म) आदि चिह्न ही होंगे, एक आश्रमसे दूसरे आश्रमकी स्वीकृतिके विषयमें भी शिखा, दण्डादिका परित्याग एवं परिग्रहण ही साक्षी-स्वरूप होंगे, ज्ञान एवं सदाचार नहीं। अर्थादि-दानमें (रिश्वतादि देनेमें) असमर्थ होनेपर न्यायमें पराजय होगी और पाण्डित्य-निर्णयमें वाक्पटुता ही निर्णायक होगी॥ ४॥

अनाढ्यतैवासाधुत्वे साधुत्वे दम्भ एव तु।
स्वीकार एव चोद्वाहे स्नानमेव प्रसाधनम्॥ ५॥

दारिद्र्य असाधुताका (चोरी आदि अभियोगका) ज्ञापक होगा और दम्भ-प्रदर्शनसे साधुताका निश्चय होगा, वचनकी स्वीकृति मात्र ही विवाहकी परिचायक होगी और स्नान किये बिना मात्र केश-परिष्कार एवं सजना-सँवरना स्नान मान लिया जाएगा॥ ५॥

दूरे वार्ययनं तीर्थं लावण्यं केशधारणम्।
उदरम्भरता स्वार्थः सत्यत्वे धाष्ट्यमेव हि।
दाक्ष्यं कुटुम्बभरणं यशोऽर्थे धर्मसेवनम्॥ ६॥

दूर स्थित जलाशय तीर्थ माने जाएँगे (गुरु आदि नहीं), कुञ्चित केशोंको धारण करना लावण्यका प्रतीक होगा, अपने उदरका पोषण (स्वार्थ) ही प्रधान पुरुषार्थ माना जाएगा (धर्मादि नहीं), शठता (धृष्टता) युक्त वचनोंसे सत्यकी प्रतिष्ठा होगी, कुटुम्ब (पुत्र, कलत्रादि) का परिपोषण ही दक्षताका निरूपक होगा। यश-प्राप्तिके लिए ही धर्मानुष्ठानकी आवश्यकता समझी जाएगी॥ ६॥

एवं प्रजाभिर्दुष्टाभिराकीर्णे क्षितिमण्डले।
ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्राणां यो बली भविता नृपः॥ ७॥

इस प्रकार दुष्ट प्रजाओंके द्वारा सम्पूर्ण क्षितिमण्डल भर जाएगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रमें जो बलवान् होंगे, वे ही राजा होंगे॥ ७॥

प्रजा हि लुब्धै राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्युधर्मभिः।
आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम्॥ ८॥

लोभी, निर्दय, दस्यु राजाओं द्वारा बलपूर्वक स्त्रियों एवं धनका अपहरण कर लिये जानेपर प्रजाएँ अपने-अपने गृहोंको त्यागकर दुर्गम जंगलों एवं पर्वतोंका आश्रय करेंगी॥ ८॥

शाकमूलामिषक्षौद्र - फलपुष्पाष्टिभोजनाः।
अनावृष्ट्या विनङ्क्ष्यन्ति दुर्भिक्षकरपीडिताः॥ ९॥

उस समयकी प्रजाएँ दुर्भिक्ष एवं राजकीय करोंके अतिशय भारसे प्रपीड़ित होकर शाक, कन्द-मूल, मांस, वन्य-मधु, फल, मूल और बीज-गुठली आदि भोजन करनेसे देह धारण करनेमें असमर्थ हो जाएँगी। अनावृष्टिके कारण सूखा (दुर्भिक्ष) पड़ जाएगा और प्रजा विनाशको प्राप्त होगी॥ ९॥

शीतवातातपप्रावृड्हिमैरन्योन्यतः प्रजाः।
क्षुत्तृड्भ्यां व्याधिभिश्चैव सन्तप्स्यन्ते च चिन्तया॥ १०॥

मानव एकके बाद दूसरा—इस प्रकारसे शीत (कड़ाकेकी सर्दी) आँधी, भयङ्कर गर्मी, मुसलाधार वर्षा, पाला, परस्पर विवाद, भूख, प्यास, रोग एवं दुश्चिन्ताओंके कारण सन्तप्त रहेंगे॥ १०॥

त्रिंशद्विंशतिवर्षाणि परमायुः कलौ नृणाम्॥ ११॥

कलियुगमें मनुष्योंकी परमायु मात्र पचास वर्षकी होगी॥ ११॥

क्षीयमाणेषु देहेषु देहिनां कलिदोषतः।
वर्णाश्रमवतां धर्मे नष्टे वेदपथ नृणाम्॥ १२॥
पाषण्डप्रचुरे धर्मे दस्युप्रायेषु राजसु।
चौर्यानृतवृथाहिंसा नानावृत्तिषु वै नृषु॥ १३॥
शूद्रप्रायेषु वर्णेषु छागप्रायासु धेनुषु।
गृहप्रायेष्वाश्रमेषु यौनप्रायेषु बन्धुषु॥ १४॥

अणुप्रायास्वोषधीषु शमीप्रायेषु स्थास्नुषु।
विद्युत्प्रायेषु मेघेषु शून्यप्रायेषु सद्मसु॥ १५॥
इत्थं कलौ गतप्राये जनेषु खरधर्मिषु।
धर्मत्राणाय सत्त्वेन भगवानवतरिष्यति॥ १६॥

कलिके दोषोंके कारण मनुष्योंके शरीर क्रमशः छोटे-छोटे एवं रोगोंके कारण क्षीयमाण होंगे, मनुष्योंके लिये वर्ण एवं आश्रमके धर्मोंको बतानेवाला वेद-मार्ग नष्ट हो जाएगा, धर्ममें पाखण्डकी प्रचुरता हो जाएगी, राजा दस्युप्राय होंगे, मानवोंकी जीविका चोरी, झूठ, वृथा (निरपराधकी) हिंसा आदि विविध दुष्कर्मों पर निर्भर होगी, सभी वर्ण शूद्रप्राय हो जाएँगे, गौएँ बकरियोंके समान छोटी एवं अल्प दूध देनेवाली हो जाएँगी, वानप्रस्थ एवं संन्यास आदि विरक्त आश्रम गृहप्राय अर्थात् घर-गृहस्थी जैसे हो जाएँगे। मात्र वैवाहिक-सम्बन्धसे ही कुटुम्बिता एवं बन्धुत्व माना जाएगा, ओषधियाँ (धान, गेंहूँ आदि वृक्षावलियाँ) श्यामाक (एक प्रकारका अन्न) के समान अल्पाकार एवं अल्प रसवाली हो जायेंगी, सभी वृक्ष शमी नामक छोटे वृक्षके समान एवं कँटीले हो जायेंगे, बादल बहुत होंगे, बिजली भी बहुत चमकेगी, परन्तु वर्षा नहीं होगी, घर वेदाचरण धर्मादिसे रहित सूने-सूनेसे हो जायेंगे। जब कलियुग प्रायः समाप्त होने लगेगा, तब मनुष्योंका स्वभाव गदहोंके समान दुःसह चेष्टापरायण हो जायेगा। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण धर्मकी रक्षाके लिए सत्त्वगुणका आश्रय लेकर अवतीर्ण होंगे॥ १२-१६॥

चराचरगुरोर्विष्णोरीश्वरस्याखिलात्मनः।
धर्मत्राणाय साधूनां जन्म कर्मापनुत्तये॥ १७॥

चराचरगुरु, सर्वान्तर्यामी, जगदीश्वर, भगवान् श्रीहरिका आविर्भाव कर्मबन्धनसे साधुओंके मोक्षके लिए एवं धर्मकी रक्षाके लिए होता है॥ १७॥

शम्भलग्राममुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति॥ १८॥

शम्भल नामक ग्रामके प्रधान सज्जनप्रवर विष्णुयश नामक एक सदाशय (श्रेष्ठ) ब्राह्मणके घरमें भगवान् कल्कि अवतार ग्रहण करेंगे॥ १८॥

अश्वमाशुगमारुह्य देवदत्तं जगत्पतिः।
असिनासाधुदमनमष्टैश्वर्यगुणान्वितः ॥ १९॥
विचरन्नाशुना क्षौण्यां हयेनाप्रतिमद्युतिः।
नृपलिङ्गच्छदो दस्यून् कोटिशो निहनिष्यति॥ २०॥

अणिमादि अष्ट सिद्धियों एवं सत्यसङ्कल्पादि गुणोंसे समन्वित, अतुलनीय कान्तिसे युक्त जगदीश्वर भगवान् कल्किदेव द्रुतगामी एवं असाधु दमनकारी देवदत्त नामक अश्व पर सवार होकर आएँगे और भूमण्डल पर विचरण करते हुए तलवार द्वारा बड़ी तीव्रतासे छद्म राजवेशधारी असंख्य दस्युओंका संहार करेंगे॥ २०॥

अथ तेषां भविष्यन्ति मनांसि विशदानि वै।
वासुदेवाङ्गरागाति - पुण्यगन्धानिलस्पृशाम्।
पौरजानपदानां वै हतेष्वखिलदस्युषु॥ २१॥

इस प्रकार जब सब-के-सब डाकुओंका संहार हो जाएगा, तब भगवान् वासुदेवके चन्दन आदि अङ्गरागोंके सौरभसे युक्त वायुका स्पर्श पाकर नगरकी और देशकी सारी प्रजाओंका चित्त पवित्र हो जाएगा॥ २१॥

तेषां प्रजाविसर्गश्च स्थविष्ठः सम्भविष्यति।
वासुदेवे भगवति सत्त्वमूर्त्तौ हृदि स्थिते॥ २२॥

उस समय सत्त्वमूर्त्ति भगवान् वासुदेव देशवासियोंके हृदयमें विराजमान होंगे, उसके फलस्वरूप वे जनपदवासी प्रभूत सन्तति (सन्तान) सृष्ट करेंगे॥ २२॥

यदावतीर्णो भगवान् कल्किर्धर्मपतिर्हरिः।
कृतं भविष्यति तदा प्रजासूतिश्च सात्त्विकी॥ २३॥

धर्मके स्वामी कल्किरूपी भगवान् श्रीहरि जिस कालमें अवतीर्ण होंगे, उस समय सत्ययुगका प्रारंभ होगा तथा पुण्यशाली एवं सात्त्विकी प्रजाओंकी सृष्टि होगी॥ २३॥

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पती।
एकराशौ समेष्यन्ति भविष्यति तदा कृतम्॥ २४॥

जिस समय चन्द्रमा, सूर्य और बृहस्पति पुष्य-नक्षत्रके आश्रित होकर कर्कट राशिमें अवस्थान करते हैं, उस समय सत्ययुगका आरम्भ होता है॥ २४॥

येऽतीता वर्त्तमाना ये भविष्यन्ति च पार्थिवाः।
ते त उद्देशतः प्रोक्ता वंशीयाः सोमसूर्ययोः॥ २५॥

हे राजन्! चन्द्रवंशीय और सूर्यवंशीय जो राजा पहले थे, वर्त्तमान हैं और भविष्यमें होंगे—उन राजाओंका मैंने संक्षेपमें वर्णन किया है॥ २५॥

आरभ्य भवतो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्।
एतद्वर्षसहस्रन्तु शतं पञ्चदशोत्तरम्॥ २६॥

हे राजन्! तुम्हारे जन्मकालसे महानन्दि-सुत राजा नन्दके राज्याभिषेक तक एक हजार एक सौ पचास वर्ष बीत जाएँगे॥ २६॥

सप्तर्षीणान्तु यौ पूर्वौ दृश्येते उदितौ दिवि।
तयोस्तु मध्ये नक्षत्रं दृश्यते यत् समं निशि॥ २७॥
तेनैव ऋषयो युक्तास्तिष्ठन्त्यब्दशतं नृणाम्।
ते त्वदीये द्विजाः काले अधुना चाश्रिता मघाः॥ २८॥

(अब कलिके उत्पत्तिकाल एवं वृद्धिकालका निरूपण करनेके लिए विशेष काल-ज्ञान बतला रहे हैं।) आकाशमें पूर्व दिशामें

सात तारोंसे युक्त शकटाकार-सप्तर्षि मण्डलके उदय कालमें दो तारे पहले दिखायी देते हैं—क्रतु एवं पुलह। उनके बीचमें रात्रिकालमें दक्षिणोत्तर-रेखामें समदेशमें अवस्थित अश्विनी आदि नक्षत्रोंमें से जो एक नक्षत्र दिखायी देता है, उस नक्षत्रसे युक्त होकर सप्तर्षिगण मनुष्योंकी गणनाके परिमाणसे सौ वर्षों तक अवस्थान करते हैं। हे राजन्! तुम्हारे इस राजत्व-कालमें सप्तर्षिगण मघा नक्षत्रको आश्रय करके स्थित हैं।

ये सप्तर्षि जिस समय मघा नक्षत्रका आश्रय करते हैं, उस समय श्रीकृष्णचन्द्रका अन्तर्धान एवं कलिका प्रवेश होता है। पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रमें सप्त ऋषियोंके आनेपर कलिकी वृद्धि होती है। नन्दादि राजाओंसे कलि-वृद्धिका प्रारम्भ हो जाएगा॥ २७-२८॥

विष्णोर्भगवतो भानुः कृष्णाख्योऽसौ दिवं गतः।
तदाविशत् कलिर्लोकं पापे यद्रमते जनः॥ २९॥

भगवान् विष्णुका कृष्ण नामक शुद्धसत्त्वमय विग्रह जिस समय वैकुण्ठमें प्रवेश कर गया, उस समयसे ही कलियुग पृथ्वीमें प्रविष्ट हो गया और उसने लोगोंके हृदयों पर अधिकार कर लिया। इसी कारण लोग पापमें आसक्त हो गये हैं। (भगवान् सूर्य—श्रीकृष्णकी किरणरूप जो वैकुण्ठनाथ हैं, उनके वैकुण्ठमें जानेपर श्रीकृष्ण इस नामसे परिपूर्ण-ख्याति हैं जिनकी, वे प्रकाशित रहते हैं।)॥ २९॥

यावत् स पादपद्माभ्यां स्पृशन्नास्ते रमापतिः।
तावत् कलिर्वै पृथिवीं पराक्रन्तुं न चाशकत्॥ ३०॥

रमापति श्रीकृष्ण जिस समय तक अपने पादपद्म-युगलसे पृथ्वीका स्पर्श करके विराजमान रहे, तब तक कलियुग पृथ्वीतलपर आक्रमण नहीं कर सका॥ ३०॥

यदा देवर्षयः सप्त मघासु विचरन्ति हि।
तदा प्रवृत्तस्तु कलिर्द्वादशाब्दशतात्मकः॥ ३१॥

जिस समय मघा नक्षत्रमें सप्तर्षिगण विचरण करते हैं, उस समयसे ही कलिका प्रारम्भ होता है एवं दैव-परिमाणानुसार बारह सौ वर्षों तक उसका भोग होता है। मनुष्य गणनासे यह काल चार लाख बत्तीस हजार वर्षोंका है॥ ३१॥

यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढां महर्षयः।
तदा नन्दात् प्रभृत्येष कलिर्वृद्धिं गमिष्यति॥ ३२॥

जिस समय सप्तर्षिगण मघा नक्षत्रसे पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रकी ओर जाएँगे, उस समय कलियुग प्रद्योतन नामक राजाके राजत्व-कालसे वृद्धिको प्राप्त करता हुआ राजा नन्दके समयसे और अधिक वृद्धि प्राप्त करेगा॥ ३२॥

यस्मिन् कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदाहनि।
प्रतिपन्नं कलियुगमिति प्राहुः पुराविदः॥ ३३॥

जिस दिवस, जिस क्षणमें श्रीकृष्ण वैकुण्ठगत हुए, उस दिवस, उस क्षण ही कलियुगने पृथ्वी पर प्रवेश कर लिया था—पुरातत्त्ववेत्ता विद्वानोंका यह कथन है।

नियमानुसार युगके सन्ध्यांश शेष रहने पर कलिका आरम्भ हो जाता है, अतः कलिने द्यूत क्रीड़ा एवं द्रौपदी-वस्त्राकर्षणके समय प्रवेश तो कर लिया था, परन्तु भगवान्‌के प्रभावसे उसका प्रवेश व्यर्थ हो गया॥ ३३॥

दिव्याब्दानां सहस्रान्ते चतुर्थे तु पुनः कृतम्।
भविष्यति तदा नृणां मन आत्मप्रकाशकम्॥ ३४॥

दिव्य (देवताओंके) एक हजार वर्ष बीत जानेके बाद चतुर्थ कलियुगमें सन्ध्यांशका समय शेष रहने पर पुनः सत्ययुगका प्रवेश होगा और मानवोंका हृदय अपना यथार्थ स्वरूप जाननेमें समर्थ होगा अर्थात् मनुष्योंका मन आत्माका प्रकाश करनेवाला बन जायेगा॥ ३४॥

इत्येष मानवो वंशो यथा संख्यायते भुवि।
तथा विट्शूद्रविप्राणां तास्ता ज्ञेया युगे युगे॥ ३५॥

पृथ्वीपर मनुवंशीय राजाओंकी उच्च-निम्न अवस्थाओंका मैंने वर्णन किया तथा जिस परिमाणमें उनकी संख्या (गणना) बतलायी, उसी प्रकारसे उन-उन स्थलोंपर स्थित ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्रोंका भी युग-युगमें अवस्था भेद, एवं वंशजातगत संख्या-भेद वर्णन न करने पर भी जान लेना चाहिए॥ ३५॥

एतेषां नामलिङ्गानां पुरुषाणां महात्मनाम्।
कथामात्रावशिष्टानां कीर्त्तिरेव स्थिता भुवि॥ ३६॥

जिन राजाओंका मैंने वर्णन किया, अब उनका नाम-मात्र ही उनकी पहचान है और ये नाम भी पौराणिक कथाओंमें ही विद्यमान रहेंगे। अब इन महापुरुषोंकी कीर्त्ति ही पृथ्वी पर शेष रह गयी है, न इनका राज्य है और न ही इनकी सन्तति-परम्परा॥ ३६॥

देवापिः शान्तनोर्भ्राता मरुश्चेक्ष्वाकुवंशजः।
कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ॥ ३७॥

चन्द्रवंशीय शान्तनु (भीष्मपितामहके पिता) राजाका भाई देवापि एवं सूर्यवंशीय मरु—ये दोनों इस समय कलाप-ग्राममें (योगियोंके निवास-रूपमें प्रसिद्ध एक स्थान पर) रह रहे हैं। श्रीकृष्णके निकट शिक्षा-प्राप्तिके कारण ये महायोगबलसे युक्त हो गये हैं॥ ३७॥

ताविहैत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ।
वर्णाश्रमयुतं धर्मं पूर्ववत् प्रथयिष्यतः॥ ३८॥

कलियुगकी समाप्तिपर सत्ययुगके आरम्भमें ये दोनों भगवान्के आदेशसे इस लोकालयमें आयेंगे और सत्ययुगादिके समान पुनः वर्णाश्रम धर्मका विस्तार (प्रसार) करेंगे॥ ३८॥

कृतं त्रेता द्वापरञ्च कलिश्चेति चतुर्युगम्।
अनेन क्रमयोगेन भुवि प्राणिषु वर्त्तते॥ ३९॥

सत्य, त्रेता, द्वापर एवं कलि—ये चारों युग एक-एक करके पृथ्वी पर लोगोंके हृदयमें अपना प्रभाव दिखाते रहते हैं॥ ३९॥

राजन्नेते मया प्रोक्ता नरदेवास्तथापरे।
भूमौ ममत्वं कृत्वान्ते हित्वेमां निधनं गताः॥ ४०॥

हे राजन्! मैंने जो देवतुल्य राजाओं, विप्र, वैश्य, शूद्रादि एवं अन्यान्य ब्राह्मणादि कुलोमें उत्पन्न मनुष्योंका उल्लेख किया, ये सभी पहले तो इस धरा पर ममताका (मैं-मेरा भावका) विस्तार करते हैं और बादमें इस पृथ्वीका त्याग करके निधनको प्राप्त हो जाते हैं॥ ४०॥

कृमिविड्भस्मसंज्ञान्ते राजनाम्नोऽपि यस्य च।
भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः॥ ४१॥

इन राजा नामधारी शरीरोंके मरणके बाद कृमि (कीड़ा), विष्ठा, भस्म इत्यादि नाम हो जाते हैं। जो व्यक्ति इस अनित्य देहके पोषणके लिए प्राणियोंकी हिंसा करता है, वह न तो अपना स्वार्थ जानता है, और न ही परमार्थ। प्राणियोंकी हिंसासे तो नरककी प्राप्ति होती है॥ ४१॥

कथं सेयमखण्डा भूः पूर्वैर्मे पुरुषैर्धृता।
मत्पुत्रस्य च पौत्रस्य मत्पूर्वा वंशजस्य वा॥ ४२॥

यह अखण्ड (समग्र) धरती मेरे पूर्वजों द्वारा सुरक्षित थी, सम्प्रति मेरे शासनाधीन है—इस प्रकार ममतावान् पुरुष चिन्ता करता रहता है कि यह अखण्ड भूमण्डल मेरे न रहनेपर मेरे पुत्र-पौत्रादि, परवर्त्ती वंशजोंको किस प्रकार प्राप्त होगा?॥ ४२॥

तेजोऽबन्नमयं कायं गृहीत्वात्मतयाबुधाः।
महीं ममतया चोभौ हित्वान्तेऽदर्शनं गताः॥ ४३॥

अज्ञानी मानव ममतामें पड़कर क्षिति, जल एवं तेजोमय क्षणभङ्गुर देहको अपना आत्मा मान लेता है और पृथ्वीको

अपनी वस्तु। अन्तमें दोनोंका ही त्यागकर अन्य लोकोंमें चला जाता है॥ ४३॥

ये ये भूपतयो राजन् भुञ्जन्ति भुवमोजसा।
कालेन ते कृताः सर्वे कथामात्राः कथासु च॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे कलिधर्मो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

हे राजन्! प्राचीन कालमें जिन समस्त राजाओंने अपने प्रबल प्रतापसे राज्यका (पृथ्वीका) भोग किया था, इस समय वे पौराणिक कहानियोंमें कथारूपमें अवशिष्ट रह गये हैं (इतिहासके विषय बनकर रह गये हैं)—उनका अब कोई चिन्ह विद्यमान नहीं है॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके दूसरे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

भूमि-गीत, युगधर्म एवं कलियुगके दोषोंसे बचनेका उपाय—नाम-सङ्कीर्तन

श्रीशुक उवाच—

दृष्ट्वात्मनि जये व्यग्रान् नृपान् हसति भूरियम्।
अहो मा विजिगीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! यह पृथ्वी अपनेको जीतनेवाले राजाओंको अपने प्रयासोंमें व्यग्र देखकर हृदयमें उनका इस प्रकारसे उपहास करती है—अहो! ये राजा मृत्युके क्रीड़ा-साधन-पदार्थ अर्थात् खिलौने-स्वरूप हैं और मुझे जीतना चाहते हैं। कैसा आश्चर्य है?॥ १॥

काम एष नरेन्द्राणां मोघः स्याद्विदुषामपि।
येन फेनोपमे पिण्डे येऽतिविश्रम्भिता नृपाः॥ २॥

इस कामनासे विमूढ़ होकर ये राजागण फेनके बुलबुलेके समान इस अनित्य, क्षणभङ्गुर देहपर अत्यधिक विश्वास करते हैं। राजा ही नहीं, पण्डित भी ऐसी कामनाएँ करते हैं, किन्तु उनकी ये आशा-अभिलाषाएँ कभी सफल नहीं होतीं॥ २॥

पूर्व्वं निर्जित्य षड्वर्गं जेष्यामो राजमन्त्रिणः।
ततः सचिवपौराप्त-करीन्द्रानस्य कण्टकान्॥ ३॥
एवं क्रमेण जेष्यामः पृथ्वीं सागरमेखलाम्।
इत्याशाबद्धहृदया न पश्यन्त्यन्तिकेऽन्तकम्॥ ४॥

ये लोग सोचते हैं कि प्रथमतः मैं इन्द्रिय-षड्वर्गको (मन सहित पाँचों इन्द्रियोंको) जीतकर शक्तिका सञ्चय करूँगा, तत्पश्चात् राज-मन्त्रियोंको वशीभूत करके अन्यान्य अमात्य, पुरवासी (नागरिक),

सुहृद्-बन्धु-बान्धव एवं हस्ति-रक्षकोंको भी वशमें कर लूँगा। अनन्तर कण्टक-स्वरूप शत्रुओंको भी उन्मूलित करके समुद्र पर्यन्त समस्त पृथ्वीको क्रमशः जीत लूँगा। इस प्रकार ये राजागण हृदयमें बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधे रहते हैं, जिससे इन्हें अपने समीप स्थित मृत्यु दिखायी नहीं देती॥ ३-४॥

समुद्रावरणां जित्वा मां विशन्त्यब्धिमोजसा।
कियदात्मजयस्यैतन्मुक्तिरात्मजये फलम्॥ ५॥

कोई-कोई राजा तो समुद्र पर्यन्त पृथ्वीको जीतकर समुद्रके पार दूसरे देशों पर विजय प्राप्त करनेके लिये उत्साहपूर्वक समुद्र-यात्रा करते हैं, अति तृष्णाके कारण समुद्रके रत्नोंका भी आहरण कर लेना चाहते हैं—परन्तु ये अतिशय मूर्ख हैं, क्योंकि इन्द्रिय-संयमका परम फल मुक्ति है, राजाओंको जीतना तो इस आत्म-संयमका अति तुच्छ फल है।

हिरण्यकशिपुकी आत्मसंयमपूर्वक तपस्या देव-दलनके लिए थी तो रावणकी इन्द्रिय भोगके लिए—अतः ऐसा आत्म-संयम निरर्थक है॥ ५॥

यां विसृज्यैव मनवस्तत्सुताश्च कुरूद्वह।
गता यथागतं युद्धे तां मां जेष्यन्त्यबुद्धयः॥ ६॥

हे कुरुनन्दन! पृथ्वी कहती है—महर्षि मनु एवं उनके वंशधर राजा युद्धमें जयकी आशाका परित्याग करके अपने-अपने ज्ञानानुसार विरक्त हो गये थे। वे मुझे ज्यों-की-त्यों छोड़कर जहाँ से आये थे, वहीं प्रस्थान कर गये। अब ये अबोध मुझे जीत लेनेका प्रयास करना चाहते हैं॥ ६॥

मत्कृते पितृपुत्राणां भ्रातृणाञ्चापि विग्रहः।
जायते ह्यसतां राज्ये ममताबद्धचेतसाम्॥ ७॥

मेरा भोग करनेके लिए जिनका हृदय ममतासे आबद्ध हो जाता है—ऐसे दुष्ट पिता-पुत्र एवं भाई-भाई मेरे लिए परस्पर कलह करते हैं॥ ७॥

ममैवेयं मही कृत्स्ना न ते मूढेति वादिनः।
स्पर्द्धमाना मिथो घ्नन्ति म्रियन्ते मत्कृते नृपाः॥ ८॥

'हे मूर्ख! यह समस्त धरती मेरी है, तुम्हारी नहीं'—इस प्रकार कहते हुए ये मन्दबुद्धि राजागण परस्पर स्पर्द्धा करते हैं, मेरे लिए एक-दूसरेको मारते हैं और स्वयं भी पञ्चत्वको प्राप्त हो जाते हैं॥ ८॥

पृथुः पुरूरवा गाधिर्नहुषो भरतोऽर्जुनः।
मान्धाता सगरो रामः खट्वाङ्गो धुन्धुहा रघुः॥ ९॥
तृणबिन्दुर्ययातिश्च शर्यातिः शन्तनुर्गयः।
भगीरथः कुवलयाश्वः ककुत्स्थो नैषधो नृगः॥ १०॥
हिरण्यकशिपुर्वृत्रो रावणो लोकरावणः।
नमुचिः शम्बरो भौमो हिरण्याक्षोऽथ तारकः॥ ११॥
अन्ये च बहवो दैत्या राजानो ये महेश्वराः।
सर्वे सर्वविदः शूराः सर्वे सर्वजितोऽजिताः॥ १२॥
ममतां मय्यवर्त्तन्त कृत्वोच्चैर्मर्त्त्यधर्मिणः।
कथावशेषाः कालेन ह्यकृतार्थाः कृता विभो॥ १३॥

पृथु, पुरूरवा, गाधि, नहुष, भरत, कार्त्तवीर्यार्जुन, मान्धाता, सगर, राम (इस नामका कोई अन्य राजा, दाशरथि राम नहीं), खट्वाङ्ग, धुन्धुमार, रघु, तृणबिन्दु, ययाति, शर्याति, शन्तनु, गय, भगीरथ, कुवलयाश्व, ककुत्स्थ, नैषध, नृग, हिरण्यकशिपु, वृत्र, लोकभयङ्कर (संसारको रुलानेवाला) रावण, नमुचि, शम्बर, भौमासुर, हिरण्याक्ष और तारकासुर तथा अन्य बहुत-से दैत्य और शक्तिशाली नरपति हो गये हैं, वे सभी सर्वज्ञ थे, शूर थे, सर्वजयी थे, पूर्ण-मनोरथ थे, रूप-गुणके द्वारा परम यशस्वी थे, अपराजेय होनेपर भी मेरे प्रति अतिशय ममता युक्त थे, किन्तु ये सभी मर्त्त्यधर्मा अकृतार्थ होकर कालके द्वारा ग्रसित हो गये। अब तो इनकी कथा मात्र ही शेष रह गयी है॥ ९-१३॥

कथा इमास्ते कथिता महीयसां,
विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो,
वचो विभूतीर्न तु पारमार्थ्यम्॥ १४॥

हे राजन्! मैंने तुम्हारे निकट विज्ञान (महनीय प्रियव्रतादि महीपालोंका भगवत्-अनुभव) एवं वैराग्यका विकास करनेके उद्देश्यसे इन प्रतापी महापुरुषोंके चरितका वर्णन किया है (जिससे विषयीकी असारताका ज्ञान और संसारसे वैराग्य हो जाय)। इस जगत्में ये यशका विस्तार करते हुए परिणाममें मृत्यु दशाको प्राप्त हुए हैं। यह समग्र चरित-वर्णन वाग्-विलास मात्र है, पारमार्थिक-सत्य नहीं।॥ १४॥

यस्तूत्तमःश्लोकगुणानुवादः,
संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं,
कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः॥ १५॥

महाजन नित्य-निरन्तर सर्वविघ्नविनाशन-स्वरूप उत्तमश्लोक श्रीकृष्णके चरित्रकी महिमाका निरन्तर गुणगान करते हैं, श्रीकृष्णकी विशुद्ध भक्तिके अभिलाषी हर दिन, हर क्षण उनकी कथाओंका ही श्रवण करें। वस्तुतः भगवान् एवं भगवद्-भक्तोंका गुण-कीर्त्तन एवं श्रवण भक्तिका आकर है।

वंशावली श्रवणकी भी उपकारिता एवं उपयोगिता इसलिए है कि मनुष्योंमें एक ओर तो स्वधर्माचरण करते हुए ज्ञान-वैराग्य युक्त भक्तिका उदय हो और दूसरी ओर अवैधानिक कृत्योंके कारण मानव किस तरह कलुषित हो जाते हैं—यह जानकर साधु मानव सावधान हों॥ १५॥

श्रीराजोवाच—

केनोपायेन भगवन् कलेर्दोषान् कलौ जनाः।
विधमिष्यन्त्युपचितांस्तन्मे ब्रूहि यथा मुने॥ १६॥

महाराज परीक्षित्ने कहा—हे भगवन्! कलियुगमें राशि-राशि दोष सञ्चित हैं—ये समयके साथ वृद्धिको प्राप्त होते रहते हैं। उन दोषोंको मनुष्य किस उपायके द्वारा नाश करेंगे, हे मुनिवर! उसका यथावत् वर्णन कीजिए॥ १६॥

युगानि युगधर्माश्च मानं प्रलयकल्पयोः।
कालस्येश्वररूपस्य गतिं विष्णोर्महात्मनः॥ १७॥

हे देव! इसके अतिरिक्त युगोंके नाम, युगधर्म, उनकी स्थिति और प्रलयकालके मान और जगदीश्वर कालरूपी भगवान् विष्णुके स्वरूप-ज्ञानके विषयमें भी कृपापूर्वक अनुग्रहकर वर्णन करें॥ १७॥

श्रीशुक उवाच—

कृते प्रवर्त्तते धर्मश्चतुष्पात् तज्जनैर्धृतः।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप॥ १८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! सत्ययुगमें तत्कालीन लोगों द्वारा अनुष्ठित धर्म चार चरणोंसे युक्त था। सत्य, दया, तप एवं दान—ये चार गुण ही उसके चार चरण भी हैं—जिनका लोग पूरी निष्ठाके साथ पालन करते थे॥ १८॥

सन्तुष्टाः करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः।
आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः॥ १९॥

सत्ययुगके मनुष्य प्रायः सन्तोषी, करुणावान्, मैत्रीभावयुक्त, शान्त, दान्त (जितेन्द्रिय), सहिष्णु (सुख एवं दुःखको समानरूपसे सहन करनेवाले), आत्मतृप्त, समदर्शी और आत्म-अनुशीलनमें तत्पर रहते हैं॥ १९॥

त्रेतायां धर्मपादानां तुर्य्यांशो हीयते शनैः।
अधर्मपादैरनृतहिंसाऽसन्तोषविग्रहैः॥ २०॥

परीक्षित्! धर्मके समान अधर्मके भी चार चरण हैं—असत्य, हिंसा, असन्तोष और कलह। त्रेतायुगमें इनके प्रभावसे धीरे-धीरे अधर्मके सत्य आदि चरणोंका चतुर्थांश क्षीण हो जाता है अर्थात्

असत्यके द्वारा सत्य, हिंसाके द्वारा दया, असन्तोषके द्वारा तपस्या और कलहके द्वारा शौच इत्यादि अधर्म अंशों द्वारा क्रमशः चतुष्पाद धर्मका एक चतुर्थांश क्षय हो जाता है॥ २०॥

तदा क्रियातपोनिष्ठा नातिहिंस्रा न लम्पटाः।
त्रैवर्गिकास्त्रयीवृद्धा वर्णा ब्रह्मोत्तरा नृप॥ २१॥

हे राजन्! उस समय मनुष्य यज्ञादि कर्मकाण्ड एवं तपस्यामें निष्ठा रखते हैं। वे प्रायः अहिंसक एवं अलम्पट (नारियोंमें आसक्ति रहित) होते हैं तथा धर्म, अर्थ एवं कामरूप त्रिवर्गके साधक होते हैं। अधिकांश लोग वेद-विद्यामें समृद्ध (पारङ्गत) होते हैं और हे राजन्! समग्र जातियोंमें ब्राह्मणोंकी ही प्रधानता रहती है॥ २१॥

तपःसत्यदयादानेष्वद्धर्धं ह्रस्वति द्वापरे।
हिंसातुष्ट्यनृतद्वेषैर्धर्म्मस्याधर्मलक्षणैः॥ २२॥

द्वापरयुगमें हिंसा, असन्तोष, मिथ्या एवं द्वेषरूप अधर्म द्वारा दया, तपस्या, सत्य एवं दानरूप धर्मके चरणोंका अर्द्धांश (आधा भाग) क्षीण हो जाता है॥ २२॥

यशस्विनो महाशीलाः स्वाध्यायाध्ययने रताः।
आढ्याः कुटुम्बिनो हृष्टा वर्णाः क्षत्रद्विजोत्तराः॥ २३॥

इस युगमें वर्ण-धर्माश्रित सभी मनुष्य यशस्वी अर्थात् प्रशंसाप्रिय, उत्तम स्वभाववाले, वेदाध्ययनमें निरत, समृद्ध, बड़े-बड़े कुटुम्बवाले एवं प्रसन्नचित्त होते हैं। द्वापरयुगमें ब्राह्मण एवं क्षत्रियोंकी प्रधानता रहती है॥ २३॥

कलौ तु धर्मपादानां तुर्य्यांशोऽधर्महेतुभिः।
एधमानैः क्षीयमाणो ह्यन्ते सोऽपि विनङ्क्ष्यति॥ २४॥

कलियुगमें धर्मके चरणोंका चतुर्थांश (चौथा भाग) ही शेष रहता है। वह भी अधर्मके बढ़ते रहनेके कारण क्षीयमाण होकर युगका अन्त होते-होते सम्पूर्णरूपसे लुप्त हो जाता है॥ २४॥

तस्मिन् लुब्धा दुराचारा निर्दयाः शुष्कवैरिणः।
दुर्भगा भूरितर्षाश्च शूद्रदासोत्तराः प्रजाः॥ २५॥

कलियुगी मनुष्य लोभी, दुराचारी, निर्दय, शुष्क अर्थात् निष्प्रयोजन कलह-रत, दुर्भाग्ययुक्त एवं विषय-तृष्णाओंसे अतिशय ग्रस्त होते हैं। कलियुगका अन्त होते-होते शूद्र एवं केवटोंकी प्रधानता हो जाती है॥ २५॥

सत्त्वं रजस्तम इति दृश्यन्ते पुरुषे गुणाः।
कालसञ्चोदितास्ते वै परिवर्त्तन्त आत्मनि॥ २६॥

स्वभावतः सभी मनुष्योंमें सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण दिखायी देते हैं, किन्तु युग-भेद एवं कालकी प्रेरणाके तारतम्यके अनुसार इन सभी गुणोंका ह्रास-वृद्धिरूप परिवर्त्तन होते रहते हैं।

जैसे सूर्यादि ग्रहोंकी भोगकालमें कई अन्तर्दशाएँ होती हैं, उसी प्रकार एक युगमें भी चार युग होते हैं। यही कारण है कि कलियुगमें कभी धर्मका ह्रास और कभी वृद्धि होती है। अन्तःकरणमें भी गुणत्रय यातायात करते हैं॥ २६॥

प्रभवन्ति यदा सत्त्वे मनोबुद्धीन्द्रियाणि च।
तदा कृतयुगं विद्याज्ज्ञाने तपसि यद्रुचिः॥ २७॥

जिस समय मन, बुद्धि एवं इन्द्रियाँ सत्त्वगुणमें अतिशय प्रतिष्ठित अपना कार्य करती हैं तथा मनुष्योंकी ज्ञान एवं तपस्यामें विशेष रुचि होती है, उस समयको सत्ययुग समझना चाहिए॥ २७॥

यदा कर्मसु काम्येषु भक्तिर्यशसि देहिनाम्।
तदा त्रेता रजोवृत्तिरिति जानीहि बुद्धिमन्॥ २८॥

हे बुद्धिमन् परीक्षित्! जिस क्षण काम्य (सकाम) कर्मों एवं यशके विषयमें मनुष्योंकी आसक्ति दिखायी देती है, उस समय जान लेना चाहिए कि रजोगुणकी प्रधानतायुक्त त्रेतायुगका प्रवर्त्तन हो रहा है॥ २८॥

यदा लोभस्त्वसन्तोषो मानो दम्भोऽथ मत्सरः।
कर्म्मणाञ्चापि काम्यानां द्वापरं तद्रजस्तमः॥ २९॥

जिस समय लोभ, असन्तोष, मान, दम्भ, मत्सरता एवं काम्य कर्मोंमें अनुराग तथा अधर्ममें प्रेम दिखायी देता है, उस समय रजः-तमोगुण-प्राधान्ययुक्त द्वापरयुग जानना चाहिए॥ २९॥

यदा मायानृतं तन्द्रा निद्रा हिंसा विषादनम्।
शोकमोहो भय दैन्यं स कलिस्तामसः स्मृतः॥ ३०॥

जिस समय प्रवञ्चना (धोखा, कपट), मिथ्या, तन्द्रा, निद्रा, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय, दैन्य इत्यादि प्रवृत्तियाँ दिखायी देती हैं, उसे तमोगुण प्रधान कलियुग जान लेना चाहिए। इस युगमें अधर्ममें प्रीति रहती है॥ ३०॥

यस्मात् क्षुद्रदृशो मर्त्याः क्षुद्रभाग्या महाशनाः।
कामिनो वित्तहीनाश्च स्वैरिण्यश्च स्त्रियोऽसतीः॥ ३१॥

यही कारण है कि कलियुगमें मनुष्य क्षुद्र-दृष्टि (मन्दमति) होते हैं, भाग्य भी अल्प होता है, वे प्रचुर-भोजी (अत्याहारी एवं हर समय भोजनकी प्रवृत्तिवाले), दरिद्र होनेपर भी कामनापरायण (बड़ी-बड़ी कामनाएँ-कल्पनाएँ करनेवाले) होते हैं एवं स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी तथा असती होती हैं॥ ३१॥

दस्यूत्कृष्टा जनपदा वेदाः पाषण्डदूषिताः।
राजानश्च प्रजाभक्षाः शिश्नोदरपरा द्विजाः॥ ३२॥

जनपद (देश, गाँव, कस्बा सभी) दस्युओं (डाकुओं एवं लुटेरों) से भरे हुए, वेद पाखण्डियों द्वारा कुव्याख्याओंसे (मनमाने अर्थोंसे) दूषित, शासक प्रजा-पीड़क (प्रजाओंको बिना कोई सुविधा दिये समस्त धन हड़पनेवाले) और ब्राह्मण काम-लम्पट तथा उदर-पूरक होंगे॥ ३२॥

अव्रता वटवोऽशौचा भिक्षवश्च कुटुम्बिनः।
तपस्विनो ग्रामवासा न्यासिनोऽत्यर्थलोलुपाः॥ ३३॥

कलियुगमें ब्रह्मचारी उपनयनादि आचार, ब्रह्मचर्य व्रत एवं शुचितासे रहित होंगे, गृहस्थ भिक्षा दान न करके स्वयं भिक्षाजीवी हो जायेंगे, तपस्वी अर्थात् वानप्रस्थी वनका त्याग करके ग्रामवासी हो जायेंगे और गृहस्थोंको ही अपनी तपस्या दिखाएँगे तथा सर्वत्यागी संन्यासी अतिशय धन-लोलुप (अर्थ-पिशाच) होंगे॥ ३३॥

ह्रस्वकाया महाहारा भूर्यपत्या गतह्रियः।
शश्वत्कटुकभाषिण्यश्चौर्यमायोरुसाहसाः॥ ३४॥

कलिकालमें स्त्रियाँ क्षुद्रकाया (छोटे आकारवाली), बहुभोजन परायणा, बहुसन्तान जनयित्री, निर्लज्जा, सर्वदा कटुभाषिणी एवं चोरी और कपटतामें अनियन्त्रित साहस करनेवाली होंगी॥ ३४॥

पणयिष्यन्ति वै क्षुद्राः किराटाः कूटकारिणः।
अनापद्यपि मंस्यन्ते वार्त्तां साधुजुगुप्सिताम्॥ ३५॥

क्षुद्र व्यापारी अधर्म एवं कपटसे युक्त होकर क्रय-विक्रयादि व्यवसाय करेंगे। मनुष्य आपत् काल न रहने पर भी साधुओं द्वारा निन्दित एवं घृणित वृत्तियोंको उत्तम मानकर अपनी जीविका चलाएँगे॥ ३५॥

पतिं त्यक्ष्यन्ति निर्द्रव्यं भृत्या अप्यखिलोत्तमम्।
भृत्यं विपन्नं पतयः कौलं गाश्चापयस्विनीः॥ ३६॥

सर्वगुणयुक्त सम्पन्न स्वामी यदि दरिद्र हो जाता है, तो सेवकगण उसे छोड़कर दूसरे स्थानोंपर चले जाते हैं और स्वामी भी कार्यमें असमर्थ होनेपर अथवा रोगसे विपन्न होनेपर वंशपरम्परागत पुराने भृत्योंका त्याग कर देते हैं। स्त्रियाँ निर्धन होनेपर पतिको और गो-स्वामी दुग्धहीन होनेपर अथवा वृद्ध होनेपर गायोंका त्याग कर देते हैं॥ ३६॥

पितृभ्रातृसुहृज्ज्ञातीन् हित्वा सौरतसौहृदाः।
ननान्दृश्यालसंवादा दीनाः स्त्रैणाः कलौ नराः॥ ३७॥

कलियुगमें यौन-सम्बन्धके आधारपर ही सौहार्द्र प्रतिष्ठित होगा। मनुष्य स्त्रैण, कामासक्त एवं विषयवासनाके वशीभूत होकर अति दीन (कृपण) हो जायेंगे। वे पिता, माता, भाई, सुहृत् (शुभचिन्तक मित्र) एवं ज्ञातिगणोंको (निकट-सम्बन्धियोंको) छोड़कर पत्नीके भाई, बहन अर्थात् साले, सालियोंके साथ मन्त्रणा (सलाह) करेंगे॥ ३७॥

शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः।
धर्मं वक्ष्यन्त्यधर्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनम्॥ ३८॥

शूद्रगण जीविकार्जनकी अभिलाषासे दण्डादिवेश, तपस्वीवेश धारण करके दानका प्रतिग्रह (सञ्चय) करेंगे एवं धर्मतत्त्वज्ञानसे हीन व्यक्ति धर्मवक्ताके श्रेष्ठपदपर आसीन होकर अधिकारपूर्वक धर्मकी व्याख्या करेंगे॥ ३८॥

नित्यमुद्विग्नमनसो दुर्भिक्षकरकर्शिताः।
निरन्ने भूतले राजन् अनावृष्टिभयातुराः॥ ३९॥
वासोऽन्नपानशयन - व्यवाय - स्नानभूषणैः।
हीनाः पिशाचसन्दर्शा भविष्यन्ति कलौ प्रजाः॥ ४०॥

हे राजन्! कलियुगमें पृथ्वीपर अन्नका अभाव होनेके कारण दुर्भिक्ष पड़ेगा, प्रजा अनावृष्टि (सूखे)के भयसे कातर रहेगी, साथ ही राजकर दानकी पीड़ासे उसका हृदय निरन्तर उद्विग्न एवं विचलित रहेगा—इस तरह प्रजा अति कष्टपूर्वक समय व्यतीत करेगी। उनके लिए पर्याप्त वस्त्र, पेय पदार्थ, अन्न, शय्याका (सोनेके लिये जमीनका) अभाव रहेगा। दाम्पत्य-सुख एवं स्नानसे भी वर्जित रहेंगे, सजने-सँवरनेके लिए आभूषण भी नहीं होंगे। इस कालके लोग पिशाच-सदृश होते जाएँगे॥ ३९-४०॥

कलौ काकिणिकेऽप्यर्थे विगृह्य त्यक्तसौहृदाः।
त्यक्ष्यन्ति च प्रियान् प्राणान् हनिष्यन्ति स्वकानपि॥ ४१॥

कलियुगके मनुष्य मात्र बीस रुपये जैसी छोटी-सी राशि (कौड़ी-कौड़ी)के लिए सौहार्द्र भावका विसर्जन करके कलह करेंगे।

सर्वापेक्षा अपने प्रिय प्राणोंका भी परित्यागकर आत्मघाती बनेंगे, स्वजनोंके प्राणोंका भी संहार कर डालेंगे॥ ४१॥

न रक्षिष्यन्ति मनुजाः स्थविरौ पितरावपि।
पुत्रान् भार्य्याञ्च कुलजां क्षुद्राः शिश्नोदरम्भराः॥ ४२॥

अपनी जननेन्द्रियकी तृप्ति और पेट भरनेमें लगे हुए क्षुद्र पुरुष अपने वृद्ध पिता, माता, सत्कुलोत्पन्न पत्नी एवं समस्त कार्योंमें कुशल अपने पुत्रोंका भी भरण-पोषण नहीं कर पाएँगे॥ ४२॥

कलौ न राजन् जगतां परं गुरुं,
त्रिलोकनाथानतपादपङ्कजम्।
प्रायेण मर्त्त्या भगवन्तमच्युतं,
यक्ष्यन्ति पाषण्डविभिन्नचेतसः॥ ४३॥

हे राजन्! कलियुगमें मनुष्य पाखण्डियोंकी प्रेरणासे प्रायशः विकृतचित्त एवं हतज्ञान हो जाते हैं। वे जगत्के परमगुरु भगवान् श्रीहरिकी आराधना नहीं करते, जिनके श्रीपादपद्मोंकी त्रिलोकपति ब्रह्मादि देवगण मस्तक झुकाकर वन्दना करते हैं॥ ४३॥

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान्।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः॥ ४४॥

म्रियमाण (मरनेवाला) व्यक्ति असहाय एवं आतुर होकर शय्यापर (बिस्तर पर) गिरता है और इसी पतित अवस्थामें विवश होकर जिनका नाम उच्चारण करके कर्मरूप अर्गलाके (जंजीरोंके) बन्धनसे मुक्त होकर उत्तमगतिको प्राप्त कर लेता है, कलियुगके मनुष्य उन्हीं भगवान् श्रीहरिकी आराधना नहीं करते॥ ४४॥

पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान्।
सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः॥ ४५॥

चिन्तन-ध्यानके द्वारा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण जब हृदयमें विराजित हो जाते हैं, तो मनुष्योंके धार्मिक कृत्योंमें जो द्रव्य-सम्बन्धी, देश-सम्बन्धी, चित्तजात-वैगुण्यादि कलिकृत जितने भी दोष हैं, पूर्व एवं पर अर्थात् अनन्त जन्मजात जितने भी पातक हैं, उन सबका वे हरण कर लेते हैं॥ ४५॥

श्रुतः सङ्कीर्त्तितो ध्यातः पूजितश्चादृतोऽपि वा।
नृणां धुनोति भगवान् हृत्स्थो जन्मायुताशुभम्॥ ४६॥

भगवान् श्रीहरि श्रुत, कीर्त्तित, चिन्तित, पूजित अथवा केवल भक्ति-भाव द्वारा आदृत होनेपर उसी समय हृदयमें प्रकट हो जाते हैं और मनुष्योंके सहस्रों जन्मोंसे अर्जित पाप-पुण्योंका क्षय कर देते हैं॥ ४६॥

यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हन्ति धातुजम्।
एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम्॥ ४७॥

जिस प्रकार सोनेके साथ संयुक्त होनेपर तद्गत (उसमें मिली हुई) ताम्र आदि धातुओंके संसर्ग-जनित मालिन्यादि दोषोंको अग्नि नष्ट कर देती है, परन्तु जल आदि दूसरे पदार्थ उस मालिन्यादिको दूर नहीं कर सकते, उसी प्रकार भगवान् श्रीहरि युक्त-योगियोंके (साधकोंके) हृदयमें अवस्थित रहकर उनकी पाप-पुण्यात्मक वासना-राशिको विनष्ट कर देते हैं, जबकि योग (यम, नियम) आदिके द्वारा यह सम्भव नहीं है॥ ४७॥

विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री-तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा, यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते॥ ४८॥

भगवान् श्रीहरिके हृदयमें विराजमान होनेपर मनुष्यके अन्तःकरणकी जैसी वास्तविक शुद्धि होती है, देवताओंकी आराधना, तपस्या, प्राणायाम, समस्त प्राणियोंके प्रति हितैषिता, तीर्थ-स्नान, व्रत, दान एवं जप आदि किसी भी साधनसे वैसी शुद्धि नहीं होती॥ ४८॥

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशवम्।
म्रियमाणो ह्यवहितस्ततो यासि परां गतिम्॥ ४९॥

अतएव हे राजन्! सर्वतोभावसे सावधान होकर भगवान् श्रीहरिको अपने हृदयमें प्रतिष्ठित कर लो। अनुक्षण (हर पल) उनके ध्यानके विषयमें सावधान रहनेसे मृत्यु-कालमें उनका स्मरण होगा तथा मरणोत्तरकालमें तुम परमगतिको प्राप्त करोगे॥ ४९॥

म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान् परमेश्वरः।
आत्मभावं नयत्यङ्ग सर्वात्मा सर्वसंश्रयः॥ ५०॥

सभी मर्त्यवान् जीवोंको सब प्रकारसे परम ऐश्वर्यशाली भगवान्का ही ध्यान करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार ध्यान करनेसे सबके परमाश्रय, सर्वात्मा, सर्वान्तर्यामी भगवान् उनको अपना स्वरूप प्रदान करते हैं॥ ५०॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥ ५१॥

हे राजन्! यद्यपि कलियुग समस्त दोषोंका आश्रय (खजाना) है, परन्तु इसमें एक महान् गुण है कि कलियुगमें भगवान् श्रीकृष्णका नाम-सङ्कीर्तन करने मात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जैसे एक राजा असंख्य दस्युओंको मार डालता है, उसी प्रकार नाम-सङ्कीर्त्तन समस्त दोषोंको नष्ट कर देता है॥ ५१॥

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे युगानुवर्णनं नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

सत्ययुगमें भगवान्का ध्यान करनेसे, त्रेतायुगमें बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधिपूर्वक उनका

अर्चन करनेसे जो फल प्राप्त होता है वह समस्त फल कलियुगमें एकमात्र श्रीहरिके नाम-कीर्त्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है। सर्वयुगगत भगवत्-प्राप्तिके सभी साधन यह कलियुग-विशेष अकेला ही प्रदान कर देता है॥५२॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके तीसरे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

चार प्रकारके प्रलय

श्रीशुक उवाच—

कालस्ते परमाण्वादिर्द्विपरार्द्धावधिर्नृप।
कथितो युगमानञ्च शृणु कल्पलयावपि॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीजीने कहा—हे राजन्! मैंने परमाणुसे लेकर द्विपरार्ध पर्यन्त कालका स्वरूप और सत्यादि युगका काल-परिमाण तुम्हें पहले (तीसरे स्कन्धमें) बतलाया था। अब मैं तुम्हें कल्पकी स्थिति एवं लयके विषयमें बतला रहा हूँ, सुनो॥ १॥

चतुर्युगसहस्रन्तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते।
स कल्पो यत्र मनवश्चतुर्दश विशाम्पते॥ २॥

हे पृथ्वीश्वर! मानव-परिमाणसे चार-सहस्र युगोंका (चार युगोंका एक हजार चक्र परिमित) काल ब्रह्माके दिवा-भागमें (एक दिन) कहा गया है, इसीका नाम कल्प है। इस कल्पमें क्रमशः चौदह मनु उत्पन्न होते हैं॥ २॥

तदन्ते प्रलयस्तावान् ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता।
त्रयो लोका इमे तत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि॥ ३॥

पूर्वोक्त कल्परूप ब्राह्म-दिवाकालके अवसानमें उतने ही परिमित कालमें अर्थात् चार-सहस्र युग ब्रह्माकी रात्रि भी कही गयी है—यही प्रलयकाल है। यह परिदृश्यमान् त्रिलोक इसी ब्रह्मरात्रिमें लयको प्राप्त हो जाता है (जितना बड़ा कल्प होता है, उतनी ही बड़ी ब्रह्माकी रात्रि भी होती है)॥ ३॥

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक्।
शेनेऽनन्तासनो विश्वमात्मसात्कृत्य चात्मभूः॥ ४॥

इसीको नैमित्तिक (चार प्रकारके प्रलयमें-से प्रथम) प्रलय कहा गया है। उस समय अनन्तासनस्थित (शेषशायी) विश्वस्रष्टा नारायण विश्वका उपसंहार करके उसे अपनेमें आत्मसात् कर अनन्त शय्यापर शयन करते हैं। आत्मभू ब्रह्माजी भी उनमें प्रवेश करके निद्राको प्राप्त हो जाते हैं। ब्रह्माजीकी निद्राको निमित्त बनाकर तीनों लोकोंका प्रलय होता है, इसी कारण इसे नैमित्तिक प्रलय कहा जाता है, इसे दैनन्दिन प्रलय भी कहते हैं। (आत्मभू ब्रह्मा एवं भगवान् विष्णुमें अभेदकी विवक्षा भी द्रष्टव्य है)॥ ४॥

द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै॥ ५॥

परमेष्ठि ब्रह्माका मनुष्योंकी दृष्टिसे दो परार्द्धका और स्वयं ब्रह्माजीके अपने मानसे सौ वर्षका आयुष्काल (दिनके बाद रात और रातके बाद दिन—इस प्रकारसे सौ वर्ष) समाप्त होनेपर महत्तत्त्व, अहङ्कार एवं पञ्च तन्मात्राएँ—इस सप्त प्रकृतिका लोप हो जाता है। प्रकृति-जात होनेसे इनके लयको प्राकृतिक लय कहा जाता है॥ ५॥

एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते।
अण्डकोषस्तु सङ्घातो विघात उपसादिते॥ ६॥

हे राजन्! इस समय काल द्वारा विघातक कारण उपस्थित होनेपर अर्थात् विनाशकाल (प्रलयकाल) निकटवर्त्ती होनेपर महदादि सप्त प्रकृतियोंका समष्टिरूप (मिश्रणसे बना हुआ) ब्रह्माण्ड अपने स्थूलरूपका परित्याग करके अपनी मूल अवस्था प्रकृतिमें विलीन हो जाता है—इसीलिए इसे प्राकृतिक लय कहते हैं। (महदादि तत्त्वोंका समूह ही ब्रह्माण्ड कोष है)॥ ६॥

पर्ज्जन्यः शतवर्षाणि भूमौ राजन् न वर्षति।
तदा निरन्ने ह्यन्योन्यं भक्ष्यमाणाः क्षुधार्दिताः।
क्षयं यास्यन्ति शनकैः कालेनोपद्रुताः प्रजाः॥ ७॥

हे राजन्! उस समय सौ वर्षों तक मेघ पृथ्वीपर जल नहीं बरसाते, अतः अन्नके अभावमें प्रजागण क्षुधासे आर्त्त होकर एक-दूसरेका भक्षण करते हैं और इस प्रकार कालके उत्पीड़नसे वे क्रमशः (धीरे-धीरे) नष्ट हो जाते हैं॥ ७॥

सामुद्रं दैहिकं भौमं रसं सांवर्त्तको रविः।
रश्मिभिः पिबते घौरैः सर्वं नैव विमुञ्चति॥ ८॥

उस समय सांवर्त्तक नामक प्रलयकालीन सूर्य अपनी प्रखर किरणोंसे समुद्रस्थ जल, भूमिस्थ रस एवं देहस्थ रक्त पर्यन्त समस्त रसोंका आकर्षण कर लेते हैं, किन्तु बिन्दु मात्र भी रस-वर्षण नहीं करते॥ ८॥

ततः संवर्त्तको वह्निः सङ्कर्षणमुखोत्थितः।
दहत्यनिलवेगोत्थः शून्यान् भू-विवरानथ॥ ९॥

अनन्तर सङ्कर्षणके मुखसे उत्थित संवर्त्तक नामक प्रलयानल वायुवेगसे और भी उठता हुआ प्राणियोंसे रहित (क्योंकि सूर्यके द्वारा देहस्थित रसको पहले ही खींच लिये जानेसे प्राणी मर चुके होते हैं) पातालादि भू-विवरोंको दग्ध कर देता है॥ ९॥

उपर्यधः समन्ताच्च शिखाभिर्वह्निसूर्ययोः।
दह्यमानं विभात्यण्डं दग्धगोमयपिण्डवत्॥ १०॥

उस समय ऊर्ध्वदेशसे सूर्यकी किरणें और अधोदेशसे आगकी लपटें—इनसे ब्रह्माण्ड चारों ओरसे दग्ध होने लगता है और वह अग्निसे दह्यमान गोबरके पिण्डके (उपले अर्थात् दहकते अङ्गारके समान प्रतीत होता है॥ १०॥

ततः प्रचण्डपवनो वर्षाणामधिकं शतम्।
परः सांवर्त्तको वाति धूम्रं खं रजसावृतम्॥ ११॥

अनन्तर अति प्रचण्ड सांवर्त्तक नामक प्रलयानिल सौ वर्षोंसे भी अधिक समय तक प्रवाहित होता रहता है, जिससे आकाशमण्डल धूलसे आवृत एवं धूमाच्छन्न होकर धूम्रवर्णका हो जाता है॥ ११॥

ततो मेघकुलान्यङ्ग चित्रवर्णान्यनेकशः।
शतं वर्षाणि वर्षन्ति नदन्ति रभसस्वनैः॥ १२॥

हे राजन्! उसके बाद विविध प्रकारकी एवं विचित्र वर्णोंकी मेघमालाएँ आकाशमें भीषण स्वरसे गर्जनाएँ करती हैं और सौ वर्षोंतक वारि-वर्षण होता रहता है॥ १२॥

तत एकोदकं विश्वं ब्रह्माण्डविवरान्तरम्॥ १३॥

उस समय ब्रह्माण्ड-विवरके भीतरका सम्पूर्ण विश्व जलमय (जलमग्न) हो जाता है और वह जलसे पूर्ण एक समुद्र बन जाता है॥ १३॥

तदा भूमेर्गन्धगुणं ग्रसन्त्याप उदप्लवे।
ग्रस्तगन्धा तु पृथिवी प्रलयत्वाय कल्पते॥ १४॥

सम्पूर्ण विश्वमें जलप्लावन होनेके कारण जल भूमिके गन्ध गुणको ग्रस लेता है, गन्धहीन होनेके कारण पृथ्वीका सम्पूर्णरूपसे अभाव हो जाता है—वह जल (प्रलय-पयोधि) ही बन जाती है अर्थात् पृथ्वी घुलकर जल ही बन जाती है॥ १४॥

अपां रसमथो तेजस्ता लीयन्तेऽथ नीरसाः।
ग्रसते तेजसो रूपं वायुस्तद्रहितं तदा॥ १५॥
लीयते चानिले तेजो वायोः खं ग्रसते गुणम्।
स वै विशति खं राजंस्ततश्च नभसो गुणम्॥ १६॥
शब्दं ग्रसति भूतादिर्नभस्तमनु लीयते।
तैजसश्चेन्द्रियाण्यङ्ग देवान् वैकारिको गुणैः॥ १७॥
महान् ग्रसत्यहङ्कारं गुणाः सत्त्वादयश्च तम्।
ग्रसतेऽव्याकृतं राजन् गुणान् कालेन चोदितम्॥ १८॥
न तस्य कालावयवैः परिणामादयो गुणाः।
अनाद्यनन्तमव्यक्तं नित्यं कारणमव्ययम्॥ १९॥

अनन्तर रूप-रहित होकर तेज (अग्नि) जलके रस-गुणका शोषण कर लेता है, तब जल नीरस होकर प्रलय-योग्य होकर तेजमें सम्पूर्णरूपसे लीन हो जाता है। वायु तेजके रूप-गुणको ग्रस लेता है, तब रूप-रहित होकर तेज वायुमें लीन हो जाता है। तदनन्तर आकाश वायुके स्पर्श-गुणको हरण कर लेता है, तब स्पर्श-गुण-हीन वायु आकाशमें प्रवेश कर जाती है। उसके बाद तामस अहङ्कार आकाशके शब्द-गुणको हर लेता है, तब निःशब्द आकाश तामस अहङ्कारमें लीन हो जाता है। इसी प्रकार तैजस (राजस) अहङ्कार इन्द्रियोंको ग्रास कर लेता है। हे राजन्! वैकारिक (सात्त्विक) अहङ्कार इन्द्रियाधिष्ठातृ देवताओंको उनकी वृत्तियोंके सहित ग्रस लेता है अर्थात् साम्यावस्थाको प्राप्त हो जाती है। राजस अहङ्कार द्वारा इन्द्रियोंको ग्रस लिये जानेपर महत्तत्त्व अपनी-अपनी वृत्तियोंके साथ पूर्वोक्त तीनों प्रकारके अहङ्कारको अपनेमें लीन कर लेता है। तदनन्तर सत्त्वादि गुण-त्रय महत्तत्त्वको ग्रस लेते हैं और अव्याकृत प्रकृति कालसे प्रेरित होकर—इन सत्त्वादि गुणत्रयको ग्रास कर जाती है (कालके अवयव दिन, रात, पक्षादि द्वारा प्रकृतिके क्षयादि परिणाम नहीं होते)। तात्पर्य यह है कि यह प्रकृति स्वयं अनादि (प्रथम विकार—जन्म) अनन्त (द्वितीय विकार—अन्त) अव्यक्त (तृतीय विकार—अस्तित्व) नित्य, सर्वदा एकरूपविशिष्ट अर्थात् एक रूप रहनेवाली (चतुर्थ विकार—वृद्धि) अव्यय (पञ्चम विकार—अपक्षय) एवं प्रधानके काल-अवयव अहोरात्रादि (क्षण-पल-दिन-रात-मास-वर्ष आदि) कालांश द्वारा परिणाम—(विपरिणामरूप षष्ठ विकार) से रहित है। अतः प्रकृतिमें षडादि विकार नहीं है॥ १५-१९॥

न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं
तमो रजो वा महदादयोऽमी।
न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा
न सन्निवेशः खलु लोककल्पः॥ २०॥

न स्वप्नजाग्रन्न च तत् सुषुप्तं
न खं जलं भूरनिलोऽग्निरर्कः।
संसुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं
तन्मूलभूतं पदमामनन्ति॥ २१॥

कारणात्मक प्रकृतिकी इस अव्यक्त अवस्था (प्रधान) में स्थूल अथवा सूक्ष्मरूपसे वाणी, मन प्रवेश नहीं कर पाते। सत्त्व, रज एवं तमोगुण, महत्तत्त्व, अहङ्कारादि भाव-पदार्थ (विकारादि), प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय एवं इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता—कोई भी उसमें प्रकाश पानेमें समर्थ नहीं होते। न तो स्वर्गादि लोक-रूप रचना-विशेषकी स्थिति रहती है (प्रकृतिमें लोक-रूप-संनिवेश अर्थात् रचना-विशेष प्रकृतिमें नहीं हैं) और न ही कल्पना अर्थात् सृष्टिके समय जो लोक रहते हैं, उनकी कल्पना भी प्रकृतिमें नहीं रहती है। स्वप्न, जाग्रदवस्था अथवा सुषुप्ति—तीनों अवस्थाएँ नहीं रहतीं तथा आकाश, जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि, सूर्य भी उसमें वर्त्तमान नहीं रहते। इसी सोये हुए के समान, शून्य-सदृश अचिन्तनीय (तर्क द्वारा अनुमानसे परे) अव्याकृत-संज्ञक तत्त्वको ही समस्त भाव पदार्थोंका (भौतिक सृष्टिका) मूलीभूत कारण कहा जाता है॥ २०-२१॥

लयः प्राकृतिको ह्येष पुरुषाव्यक्तयोर्यदा।
शक्तयः सम्प्रलीयन्ते विवशाः कालविद्रुताः॥ २२॥

जिस समय पुरुष एवं प्रकृति दोनोंकी सत्त्वादि शक्तियाँ काल-विप्लवसे विवश होकर सम्यक्रूपसे प्रकृतिमें (अपने मूल रूपमें) लयको प्राप्त होती हैं, वही प्रलय प्राकृतिक प्रलयके नामसे कहा जाता है। पुरुष एवं अव्यक्तकी कभी भी कोई क्षति नहीं है॥ २२॥

बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम्।
दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामाद्यन्तवदवस्तु यत्॥ २३॥

अब भावनामय आत्यन्तिक प्रलयका वर्णन करते हैं—बुद्धि, इन्द्रिय एवं पदार्थ आदि प्रपञ्चके अधिष्ठान ब्रह्म ही बुद्धि, इन्द्रिय

एवं पदार्थके (विषय अर्थात् इन्द्रिय-अनुभूतिके) रूपोंमें प्रकाशित होते हैं, परन्तु ये बुद्धि इत्यादि प्रपञ्च तो आदि-अन्त-युक्त (उत्पत्ति-लय-विशिष्ट) हैं तथा (इन्द्रियग्राह्य कनक-कुण्डलादिके समान) दृश्य हैं। बुद्धि आदिकी आश्रयसे (अपने परम आधारसे) पृथक् सत्ता न रहनेके कारण घटादिके समान वस्तुरूपमें परिचित होनेपर भी नित्यकाल न रहनेके कारण परमार्थतः अवस्तु (असत्य पदार्थ) ही हैं। (ब्रह्मगोपालपुरी आदि भगवत्-धाम दृश्य होनेपर भी निर्गुणत्वके कारण नित्य हैं) सीमित इन्द्रियोंके द्वारा अनुभूत वस्तु नित्य नहीं हो सकती। इस प्रकार सभी सूक्ष्म एवं भौतिक रूप परमेश्वरकी शक्तिसे दृश्य बनते हैं और प्रलयकालमें वे अदृश्य (अप्रकट) हो जाते हैं। अपने प्रसरण एवं विलयनका एक ही स्रोत होनेके कारण ये मूल-रूपसे पृथक् नहीं हैं॥ २३॥

दीपश्चक्षुश्च रूपञ्च ज्योतिषो न पृथग्भवेत्।
एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमादृतात्॥ २४॥

रूपग्राहक नेत्र (इन्द्रिय) रूपग्रहण करनेके विषयमें करण-स्वरूप प्रदीप एवं ग्राह्य (दृश्य) रूप—ये तीनों पदार्थ जिस प्रकार तेजसे (अग्नि तत्त्वसे) भिन्न नहीं हैं, तेजके अंश हैं—तेज रूप ही है, उसी प्रकार विषयग्राहिका बुद्धि, विषय ग्रहणमें करण-स्वरूप इन्द्रियाँ तथा ग्राह्य विषय—ये भी सत्य-स्वरूप ब्रह्मवस्तुसे पृथक् नहीं हैं (इनका पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है)—ब्रह्म रूप ही हैं, परन्तु ब्रह्म कार्यवस्तुसे (प्रपञ्चादिसे) सर्वथा भिन्न हैं॥ २४॥

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते।
मायामात्रमिदं राजन् नानात्वं प्रत्यगात्मनि॥ २५॥

हे राजन्! जागरण, स्वप्न एवं सुषुप्ति—ये बुद्धिकी तीन अवस्थाएँ विशेषरूपसे कही गयी हैं। जिस प्रकार बुद्धिकी ये तीनों वृत्तियाँ मिथ्या हैं, उसी प्रकार हे राजन्! प्रत्यगात्मामें (शुद्ध जीवमें) विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ रूप नानात्वका जो ज्ञान है, वह श्रीमायाका विलास मात्र है। बुद्धिगत नानात्वका एकमात्र सत्य आत्मासे कोई

सम्बन्ध नहीं है। (जब बुद्धि ही असत्य है, तो उसकी अवस्थाएँ सत्य कैसे हो सकती हैं?॥ २५॥

यथा जलधरा व्योम्नि भवन्ति न भवन्ति च।
ब्रह्मणीदं तथा विश्वमवयव्युदयाप्ययात्॥ २६॥

मेघ जिस प्रकार आकाशमें उदय एवं लयको प्राप्त होते हैं अर्थात् कभी रहते हैं और कभी नहीं रहते हैं, उसी प्रकार यह सावयव (घटादिके समान आदि-अन्त युक्त अवयवी) विश्व भी ब्रह्म-वस्तुमें कभी उदित होता है एवं कभी लयको प्राप्त होता है। अतएव आद्यन्त भावविशिष्ट होनेके कारण यह विश्व सत्पदार्थ नहीं है, अनित्य है। (मेघमालाका दृष्टान्त जगत्की आगमपायी अवस्थाको सूचित करनेके लिये है, मिथ्यात्वको नहीं) ब्रह्म जगत्की अवधि है॥ २६॥

सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्व्वावयविनामिह।
विनार्थेन प्रतीयेरन् पटस्येवाङ्ग तन्तवः॥ २७॥

हे राजन्! वेदान्तशास्त्रमें कार्यवस्तुके कारणमात्रको ही सत्यरूपमें कहा गया है। इस लोकमें जो भी अवयवी पदार्थ हैं, उनके न रहने पर भी उनके कारण अवयव पृथक्रूपमें सत्य माने जाते हैं, जैसे कि कार्य-पदार्थ—वस्त्रकी सत्ताके बिना भी कारण-पदार्थ तन्तुओंकी सत्ता प्रतीत होती है। अतः कार्य एवं कारण वस्तुका ऐक्य दर्शन वस्त्र एवं तन्तुके समान है॥ २७॥

यत् सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स भ्रमः।
अन्योन्यापाश्रयात् सर्वमाद्यन्तवदवस्तु यत्॥ २८॥

जगत्में जितने भी पदार्थ प्रतीयमान होते हैं, वे सभी मिथ्या हैं, क्योंकि कार्य-कारण भावके विचारसे वे पदार्थ अन्योन्याश्रयी अर्थात् परस्पर अपेक्षा-युक्त हैं, अतः उनका निरूपण करना असम्भव है। आत्मसिद्धि-विषयमें जो पदार्थ परापेक्षी (एक-दूसरेके सापेक्ष) हैं—वे सभी आदि एवं अन्तयुक्त होनेके कारण भ्रामक

(मिथ्या), अवस्तु अथवा अमूलक हैं। (सामान्य कारण एवं विशेष कार्य—इस प्रकारका भेद दोनोंके आदि एवं अन्तसे युक्त होनेके कारण भ्रामक हैं। कारणका स्वभाव कार्यके बिना अनुभव नहीं किया जा सकता। अग्निकी दाहिका शक्ति वस्तुके राख होनेमें देखी जाती है—इस तरह दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। जबकि क्लेदन शक्ति वस्त्रके भीगनेमें देखी जाती है। सामान्यके बिना विशेषकी और विशेषके बिना सामान्यकी प्रतीति नहीं होती। अन्योन्याश्रित होनेके कारण दोनों ही आदि एवं अन्तसे युक्त हैं। समस्त कारणोंके कारण ब्रह्मका न आदि है और न अन्त।)॥ २८॥

विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा।
न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेच्चित्सम आत्मवत्॥ २९॥

यह विकारभूत पदार्थ—प्रपञ्च यद्यपि प्रकाशमान् दिखायी देता है, तथापि ब्रह्म-वस्तुके प्रकाशके बिना इसका निरूपण अणुमात्र भी नहीं किया जा सकता अर्थात् अपने अधिष्ठान-स्वरूप ब्रह्मसे यह भिन्न नहीं हो सकता। यदि ब्रह्मवस्तुके बिना इसकी सत्ताका निरूपण सम्भव होता, तो यह प्रपञ्च भी ब्रह्म-तुल्य स्व-प्रकाश एवं एकरूप-विशिष्ट होता, नित्य एवं अव्यय होता, चित्-रूप होता। प्रपञ्च शुद्ध वस्तुके समान नित्य एवं अव्यय नहीं है। मरुस्थलमें दृश्यमान मृग-मरीचिका वास्तवमें प्रकाशकी अभिव्यक्ति है—जलका मिथ्या प्राकट्य प्रकाशका विशिष्ट रूपान्तर है—इसी प्रकार यह प्रपञ्च भगवान्का प्रकाश-विशेष है जो उनकी बहिरङ्ग शक्ति द्वारा रचित है।॥ २९॥

न हि सत्यस्य नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते।
नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयोरिव॥ ३०॥

परम सत्य चित् पदार्थका (आत्म-वस्तुका) नानात्व (भौतिक द्वैत) नहीं है। यदि अज्ञ व्यक्ति इसमें नानात्व (द्वैत) मानता है, तो उसकी इस भेद-प्रतीतिको औपाधिक (उपाधि-जन्य अथवा मनःकल्पित) मात्र जानना चाहिए। एक ही आकाशकी घटाकाश

और महाकाश रूपोंमें भेद प्रतीति, आकाशस्थ सूर्यका तथा जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यका नानात्व (भिन्न-भिन्न) रूपोंमें बोध तथा देहस्थ वायु एवं बाह्य वायुका पार्थक्य ज्ञान अज्ञताके बोधक है॥ ३०॥

यथा हिरण्यं बहुधा समीयते,
नृभिः क्रियाभिर्व्यवहारवर्त्मसु।
एवं वचोभिर्भगवानधोक्षजो,
व्याख्यायते लौकिकवैदिकैर्जनैः॥ ३१॥

मानव व्यवहार-मार्गमें जिस प्रकार एक ही स्वर्णका रचना-भेदसे कटक, कुण्डल इत्यादि विविध रूपोंमें दर्शन करता है, उसी प्रकार अहङ्कार उपाधिसे युक्त मनुष्य लौकिक एवं वैदिक वाक्यों द्वारा अधोक्षज श्रीहरिका विभिन्न रूपोंमें वर्णन करते हैं॥ ३१॥

यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो,
ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः।
एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो,
ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः॥ ३२॥

मेघ जिस प्रकार सूर्य-रश्मियोंके परिणाम-विशेषसे उत्पन्न होते हैं एवं सूर्य द्वारा ही प्रकाशित होते हैं, तथापि वे ही मेघ सूर्यके अंशभूत नेत्रोंके सूर्य-दर्शन पथमें प्रतिबन्धक होते हैं (सूर्यकी किरणें मेघरूपमें परिणत होकर वर्षण करती हैं, अग्निमें प्रदत्त आहुतिको सम्पूर्ण रूपसे सूर्यतक पहुँचाती हैं, सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है, उसीसे प्रजाकी सृष्टि होती है—इस प्रकार सूर्यकी प्रभा ही मेघ है और सूर्य द्वारा ही प्रकाशित है, परन्तु वे मेघ ही सूर्य-किरणरूप चक्षुओंके लिए आवरण बन जाते हैं), इसी प्रकार ब्रह्म-वस्तुसे उत्पन्न एवं उसके द्वारा प्रकाशित अहङ्कार ब्रह्मांशभूत जीवके ब्रह्म-रूप दर्शनमें प्रतिबन्धक बन जाता है अर्थात् अहङ्कार द्वारा जीव अपना ही बन्धन कर लेता है, ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं कर पाता॥ ३२॥

घनो यदार्कप्रभवो विदीर्यते,
चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा।
यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो,
जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत्॥ ३३॥

जिस समय सूर्यसे उत्पन्न मेघ वायु-सञ्चालन द्वारा विदीर्ण (तितर-बितर) हो जाते हैं, उस समय नेत्र अपने स्वरूपभूत सूर्यका दर्शन कर पानेमें समर्थ होते हैं, उसी प्रकार जिस समय आत्माकी उपाधि अहङ्कार—ब्रह्म जिज्ञासा द्वारा तिरोहित हो जाती है, उस समय जीव भी स्वरूपभूत ब्रह्मका दर्शन (अनुभव) करता है, उनके स्वरूपका अनुक्षण स्मरण करता है। (उल्लूके नेत्र जैसे सूर्यको देख नहीं सकते, उसी प्रकार अभक्त ज्ञानियोंके चक्षु ब्रह्म-स्वरूपका दर्शन नहीं कर सकते।)॥ ३३॥

यदैवमेतेन विवेकहेतिना,
मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम्।
छित्त्वाच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते,
तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग संप्लवम्॥ ३४॥

हे राजन्! जीव जिस समय पूर्वोक्त क्रमसे भगवत्-स्मरण-रूप विवेकास्त्र द्वारा मायामय अहङ्कारकृत आत्म-बन्धनका (अहङ्कार ही आत्माका बन्धन है) छेदन करके अच्युत भगवान्‌में परिपूर्णरूपसे आत्मानुभवसे सम्पन्न होता है अर्थात् पूर्ण ब्रह्मानुभवमें सुदृढ़ ध्यान द्वारा स्थिरचित्त हो जाता है, तब इस मायामुक्त वास्तविक अवस्थाको आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं॥ ३४॥

नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परन्तप।
उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः सम्प्रचक्षते॥ ३५॥

हे शत्रुपातन परीक्षित्! कोई-कोई सूक्ष्म-तत्त्वदर्शीगण कहते हैं कि ब्रह्मादिसे लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति

एवं प्रलय हर क्षण होते रहते हैं—इसी कारण इसे नित्य प्रलय कहते हैं॥ ३५॥

कालस्रोतोजवेनाशु ह्रियमाणस्य नित्यदा।
परिणामिनामवस्थास्ता जन्मप्रलयहेतवः॥ ३६॥

नदी-प्रवाह, प्रदीप-शिखा इत्यादि प्रतिक्षण परिणामशील (बदलते रहनेवाले) पदार्थोंका जिस प्रकारसे उच्च-नीच अवस्था-भेद (बदलती अवस्थाएँ) दिखायी देता है, कालरूप स्रोतके वेग (प्रवाह) द्वारा आशु (अति शीघ्रतापूर्वक) परिवर्त्तनशील इस देहादिका भी उसी प्रकारसे प्रतिक्षण अवस्था-भेद (बाल्य, पौगण्ड, जन्म, लय) ही जन्म-मृत्युका कारण होता है॥ ३६॥

अनाद्यन्तवतानेन कालेनेश्वरमूर्त्तिना।
अवस्था नैव दृश्यन्ते वियति ज्योतिषामिव॥ ३७॥

आकाशमें सञ्चरणशील (हर समय चलते रहनेवाले) चन्द्रादि ज्योतिष्क-मण्डलका जिस प्रकार सूक्ष्म गति-भेद परिलक्षित नहीं होता, उसी प्रकार ईश्वरांशभूत आद्यन्तरहित इस कालके प्रभावसे प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाला अवस्था-भेद (बाल्य, तारुण्यादि) भी दिखायी नहीं देता। वस्तुतः किसी भी परिणामी पदार्थकी परिवर्त्तित-अवस्था परिदृष्ट नहीं होती। प्रदेशान्तरमें स्थितिको देखकर जैसे चन्द्रादिकी गतिकी कल्पना की जाती है, उसी प्रकार बाल्य, तारुण्यादि अवस्थाओंको देखकर उनके मध्यमें होनेवाली सूक्ष्म अवस्थाओंकी कल्पना कर ली जाती है॥ ३७॥

नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिको लयः।
आत्यन्तिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशी॥ ३८॥

हे राजन्! मैंने तुम्हारे निकट नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यन्तिक—प्रलयके चार प्रकारोंका वर्णन किया। वास्तवमें कालकी सूक्ष्म गति ऐसी ही है॥ ३८॥

एताः कुरुश्रेष्ठ जगद्विधातु-
र्नारायणस्याखिलसत्त्वधाम्नः ।
लीलाकथास्ते कथिताः समासतः,
कात्स्न्र्येन नाजोऽप्यभिधातुमीशः॥ ३९॥

हे कुरुश्रेष्ठ! अखिल जीवोंके आश्रय जगत्कर्त्ता नारायणका यह समस्त लीला-चरित्र संक्षेपमें मैंने तुमको बतलाया। परन्तु इसका सम्पूर्णरूपसे वर्णन करनेमें ब्रह्मा भी समर्थ नहीं हो सकते॥ ३९॥

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-
र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण,
पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य॥ ४०॥

जो लोग आध्यात्मिक आदि अनेक प्रकारके दुःख-दावानलसे दग्ध हो रहे हैं अथवा जो लोग अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरसे पार जानेके अभिलाषी हैं, उनके लिए पुरुषोत्तम भगवान् श्रीहरिकी लीला-कथारूप रसके सेवनके अतिरिक्त अन्य कोई साधन, कोई नौका नहीं है॥ ४०॥

पुराणसंहितामेतामृषिर्नारायणोऽव्ययः।
नारदाय पुरा प्राह कृष्णद्वैपायनाय सः॥ ४१॥

मैंने जो कुछ तुम्हें बतलाया, वही श्रीमद्भागवत महापुराण संहिता है। पूर्वकालमें सनातन (अव्यय) नारायण ऋषिने नारदजीको यही उपदेश प्रदान किया था और देवर्षि नारदने इसी उपदेशको मेरे पिता महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासको सुनाया था। (श्रोताओंके श्रीमद्भागवतके सुहृद करनेके लिये सम्प्रदायकी प्रवृत्ति बतलाई गई है)॥ ४१॥

स वै मह्यं महाराज भगवान् बादरायणः।
इमां भागवतीं प्रीतः संहितां वेदसम्मिताम्॥ ४२॥

हे महाराज! भगवान् वेदव्यासने सन्तुष्ट होकर इसी भागवत-संहिताका उपदेश मुझे प्रदान किया था। शुकदेवजीके इस कथनका अभिप्राय यह है कि श्रीमद्भागवतका पठन, पाठन, श्रवण करना-कराना इत्यादि श्रीगुरु सम्प्रदायके शुद्ध अविच्छिन्न अनुसरणमें श्रौत-परम्परासे करना चाहिए॥ ४२॥

इमां वक्ष्यत्यसौ सूत ऋषिभ्यो नैमिषालये।
दीर्घसत्रे कुरुश्रेष्ठ संपृष्टः शौनकादिभिः॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे प्रलयवर्णनं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

हे कुरुश्रेष्ठ! (सूतजी आगे ही बैठे थे, अङ्गुली द्वारा उनको निर्देश करते हुए कहते हैं कि) अब इसके बाद ये सुविख्यात पौराणिक वक्ता सूतजी नैमिषक्षेत्रमें दीर्घकाल तक चलनेवाले यज्ञकालमें शौनकादि ऋषियों द्वारा जिज्ञासित होनेपर उन्हें यही पुराण-संहिता सुनाएँगे॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके चौथे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

श्रीशुकदेवजीका अन्तिम उपदेश

श्रीशुक उवाच—

अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान् हरिः।
यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीजीने कहा—हे राजन्! ब्रह्मा जिनके प्रसाद-सम्भूत हैं एवं रुद्र जिनके क्रोध-सम्भूत हैं (वस्तुतः ये दोनों भगवान्‌के शुद्ध-सत्त्व-स्वरूप ही हैं)—ऐसे विश्वनियन्ता भगवान् श्रीहरिका इस श्रीमद्भागवत ग्रन्थमें निरन्तर कीर्त्तन हुआ है—अतएव जो इस महापुराणका श्रवण कीर्त्तन करते हैं—उन्हें किसी प्रकारके भयकी शङ्का रह नहीं सकती। (राजा परीक्षित्‌के तक्षकके काटनेसे मृत्युके भयको दूर किया गया है। जिनके कृपा प्रसादसे जगत्-स्रष्टा एवं क्रोधसे जगत्-संहारक रुद्र उत्पन्न हुए हैं—ऐसे श्रीहरिकी कथाका श्रवण कर लेनेपर दूसरे किसीका क्या भय हो सकता है? 'प्रसाद' शब्दसे रजोगुणकी वृत्तिस्वरूप हर्ष (क्रोधका विलोम शब्द) को कहा गया है।)॥ १॥

त्वन्तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥ २॥

हे राजन्! तुम 'मैं मरूँगा' इस पशुबुद्धिको विवेक द्वारा नष्ट कर दो (परीक्षित्‌में पाशविक बुद्धि नहीं थी, किन्तु अर्जुनके समान सभीको लक्ष्य करके ऐसा कहा गया है)। तुम जीवात्मा हो, देहसे सर्वथा भिन्न हो। (कथा-श्रवणसे कृतकृत्य भी हो गये हो) यह शरीर पहले नहीं था, अब उत्पन्न हुआ, फिर नष्ट हो जाएगा—इस शरीरकी भाँति तुम पहले अविद्यमान थे, अब जन्म हुआ है और आगे मर जाओगे—यह यथार्थ नहीं है॥ २॥

न भविष्ससि भूत्वा त्वं पुत्रपौत्रादिरूपवान्।
वीजाङ्कुरवद्देहादेर्व्यतिरिक्तो यथानलः॥ ३॥

अग्नि जिस प्रकार उत्पत्ति एवं विनाशशील काष्ठादि पदार्थोंसे भिन्न है, उसी प्रकार तुम भी आद्यन्तयुक्त देहादि पदार्थोंसे भिन्न वस्तु हो। अतएव तुम पुत्र-पौत्रादि रूपमें बीजाङ्कुर प्रवाह क्रमसे (बीजसे अङ्कुर, अङ्कुरसे बीजके समान) उत्पन्न नहीं होओगे। देहसे देहका जन्म होता है, आत्माका नहीं॥ ३॥

स्वप्ने यथा शिरश्छेदं पञ्चत्वाद्यात्मनः स्वयम्।
यस्मात् पश्यति देहस्य तत आत्मा ह्यजोऽमरः॥ ४॥

जन्म-मरणादि अवस्थावान् देहसे आत्माका पार्थक्य है—स्वप्नमें अपने शिरच्छेदनका द्रष्टा आत्मा देहसे पृथक् है, इसी प्रकार जागरण कालमें भी देहसे पृथक्-स्वरूप आत्मा देहकी पञ्चत्वादि दशाका दृष्टा है—अतः आत्माकी मृत्यु इत्यादि ज्ञान भ्रम मात्र है। वस्तुतः आत्मा अज (जन्म रहित) एवं अमर (मरण-रहित) है॥ ४॥

घटे भिन्ने घटाकाश आकाशः स्याद्यथा पुरा।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः॥ ५॥

घटरूप उपाधिके नष्ट होनेपर घटोपहिताकाशांश (घट उपाधिसे युक्त घटके भीतर आकाशका अंश) जिस प्रकार पूर्ववत् (पहलेकी तरह) निरुपाधिक (बिना किसी उपाधिके) भावको प्राप्त रहता है अर्थात् पहलेकी तरह ही आकाश बना रहता है, उसी प्रकार स्थूल एवं सूक्ष्म देहके विनाश होनेपर तत्त्वज्ञानके द्वारा जीवात्माका ब्रह्म-सम्बन्ध बना रहता है अर्थात् जीवात्मा अपनी स्वरूप-स्थितिको धारण करता है।

जैसे घट रहनेपर भी आकाश पहले अनावृत रहता है, निरुपाधिक रहता है, उसी प्रकार घटके फूट जानेपर भी आकाश अनावृत ही रहता है। घटके अन्तर एवं बाहरमें आकाश वर्त्तमान रहनेके कारण आकाशका घट किस प्रकारसे आवरण कर सकता

है? उसी प्रकार अजीव अर्थात् जीवसे भिन्न परमात्मा सर्वव्यापक होकर विराजमान रहते हैं, उनको आवृत नहीं किया जा सकता॥ ५॥

मनः सृजति वै देहान् गुणान् कर्माणि चात्मनः।
तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः॥ ६॥

मन दैव द्वारा प्रेरित होकर जहाँ-जहाँ धावित होता है, उस-उस स्थलपर वह आत्माके विकारजात देह (विषय), गुण एवं कर्म इत्यादिकी सृष्टि करता है—दैवमाया मनकी सृष्टि करती है। अतएव माया (अविद्या) आदि उपाधियोंके सम्बन्धसे ही जीवकी संसार-दशा उत्पन्न होती है॥ ६॥

स्नेहाधिष्ठानवर्त्त्यग्नि-संयोगो यावदीयते।
तावद्दीपस्य दीपत्वमेवं देहकृतो भवः।
रजःसत्त्वतमोवृत्त्या जायतेऽथ विनश्यति॥ ७॥

जबतक तेल, दीपाधार (तेल रखनेका पात्र), वर्त्तिका एवं अग्निका संयोग रहता है, तबतक दीपके ज्योतिमय पदार्थका दीपत्व अर्थात् ज्वालारूप परिणाम दिखायी देता है, उसी प्रकार तैल-स्थानीय कर्म, उसका अधिष्ठान मन, वर्त्तिका स्थानीय देह, अग्नि-संयोग स्थानीय चैतन्यका अध्यास रहता है, तबतक संसार-दशा (दीपत्व स्थानीय) रहती है, जन्म-मृत्युका चक्र चलता रहता है। रज, सत्त्व एवं तमोगुणकी वृत्तियोंके परिणामके कारण संसार-दशा उत्पन्न, स्थित एवं विनष्ट होती है। हे राजन्! तत्त्वज्ञान होनेपर संसार-दशा नष्ट हो जाती है। देहके साथ संयोग होनेपर आत्माका यह संसार है॥ ७॥

न तत्रात्मा स्वयंज्योतिर्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः।
आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः॥ ८॥

दृश्य स्थूल एवं अदृश्य सूक्ष्म देहोंसे भिन्न स्वयंज्योति-स्वरूप आत्मवस्तु निर्विकार (देहादि प्रपञ्चसे परे), अनन्त (जन्म-मरण रहित), निरुपम (उपमा रहित अर्थात् आत्माकी उपमा आत्मा

ही है) एवं अपरिवर्त्तनशील आकाशके समान आत्मा सम्पूर्ण प्रपञ्चका अधिष्ठान होनेके कारण देहमें प्रतीयमान होनेपर भी कभी नष्ट नहीं होती। अतः दीपके समान संसारका ही नाश होता है, ज्योति-स्वरूप आत्माका नहीं॥ ८॥

एवमात्मानमात्मस्थमात्मनैवामृश प्रभो।
बुद्ध्यानुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया॥ ९॥

हे राजन्! इस प्रकार पूर्वोक्त क्रमसे (विशुद्ध विवेकसे) वासुदेवका निरन्तर ध्यान करो। ऐसी सद्व्यवसायवती, ध्यानमयी, अनुमान-गर्भिणी (दृष्ट-दृश्य-अन्वय-व्यतिरेकसे युक्त) बुद्धि एवं मनके द्वारा तुम देहादि उपाधिरूप आवरणके भीतर स्थित आत्मस्वरूपका विचार करो कि आत्मा देहसे पृथक् है॥ ९॥

चोदितो विप्रवाक्येन न त्वां धक्ष्यति तक्षकः।
मृत्यवो नोपधक्ष्यन्ति मृत्यूनां मृत्युमीश्वरम्॥ १०॥

ऐसा होनेपर विप्रशापके द्वारा प्रेरित तक्षक अपने दंशनके द्वारा तुम्हें दग्ध नहीं कर सकेगा। मूर्त्तिमान् मृत्यु, मृत्युके हेतुभूत ब्रह्मशापादि तुम्हें किञ्चित्मात्र भी कष्ट नहीं दे पाएँगे। तुम अब देहादि उपाधियोंसे मुक्त, भक्तिविघ्नविनाशक एवं स्वतन्त्र-स्वरूप हो। तुम्हें कोई पीड़ित नहीं कर सकता॥ १०॥

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।
एवं समीक्ष्य चात्मानमात्मन्याधाय निष्कले॥ ११॥
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः।
न द्रक्ष्यसि शरीरञ्च विश्वञ्च पृथगात्मनः॥ १२॥

"मैं ही ब्रह्मनामक परमधाम हूँ, मैं ही परमपद ब्रह्म हूँ" (मैं संसारी नहीं हूँ, मैं परमेश्वरका हूँ, सूर्यके समान चित्कण हूँ—मैं निष्कल-देह-रहित अर्थात् भौतिक गन्तव्यसे रहित हूँ) इस प्रकार चिन्तन करते हुए निरुपाधिक ब्रह्म-वस्तुमें अपने चित्तका समर्पण कर दो। तब तुम लपलपाती जिह्वा द्वारा अपने ओष्ठ-प्रान्तको

चाटनेवाले तथा विषाक्त मुख द्वारा अपने पैरोंका दंशन करनेवाले तक्षकको, अपनी देहको तथा इस विश्वको आत्मवस्तुसे पृथक्‌रूपमें दर्शन नहीं करोगे। श्रीकृष्णके चरण-कमलके साक्षात्कार-रूप आनन्दमूर्च्छाको प्राप्त करके तुम्हें आत्मासे पृथक् कुछ भी अनुभव न होगा॥ ११-१२॥

एतत्ते कथितं तात यदात्मा पृष्टवान् नृप।
हरेर्विश्वात्मनश्चेष्टां किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ १३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे ब्रह्मोपदेशो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

हे वत्स! परीक्षित्! तुमने मुझसे सर्वान्तर्यामी श्रीहरिके लीलाचरितके विषयमें प्रश्न किया था, इसलिए मैंने उसका वर्णन किया। अब इसके बाद और क्या सुनना चाहते हो, यह बतलाओ॥ १३॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके पाँचवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

परीक्षित्‌की परमगति, जन्मेजयका सर्पसत्र और वेदोंके शाखाभेद

श्रीसूत उवाच—

एतन्निशम्य मुनिनाभिहितं परीक्षिद्-
व्यासात्मजेन निखिलात्मदृशा समेन।
तत्पादमूलमुपसृत्य नतेन मूर्ध्ना
बद्धाञ्जलिस्तमिदमाह स विष्णुरातः॥ १॥

श्रीसूतगोस्वामीने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! श्रीव्यासनन्दन शुकदेव निखिलात्मदर्शी (निखिलात्म श्रीकृष्ण शुकदेवको देखते हैं एवं शुकदेव सम्पूर्ण जगत्‌में श्रीकृष्णका अनुभव करते हैं) एवं समबुद्धिसम्पन्न हैं। (तात्कालिक ब्रह्मोपदेश द्वारा किसी-किसी निर्विशेष ज्ञानीके मनको भी आनन्दित करते हैं) विष्णुरात महाराज परीक्षित्‌ने उनके मुखसे कहे गये भागवत-वचनोंका श्रवण किया। अनन्तर उन्होंने उनके चरण-कमलोंमें मस्तक झुकाया एवं हाथ जोड़कर उनसे कहने लगे॥ १॥

श्रीराजोवाच—

सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना।
श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः॥ २॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे मुनिवर! मैंने साक्षात्‌रूपसे जिन्हें अपने गर्भमें देखा, अपने बाल्यकालमें देखा, आपने उन्हीं अनादि-अनन्त श्रीहरिकी चरित-कथा सुनायी है। इसीलिए हे करुण हृदय! मैं आपके द्वारा अनुगृहीत एवं कृतार्थ हुआ हूँ॥ २॥

नात्यद्भुतमहं मन्ये महतामच्युतात्मनाम्।
अज्ञेषु तापतप्तेषु भूतेषु यदनुग्रहः॥ ३॥

जो सांसारिक त्रितापसे सन्तप्त हैं एवं आत्म-परित्राणसे अनभिज्ञ हैं, ऐसे जीवोंपर कृष्णासक्त-चित्त महापुरुषोंके अनुग्रहको मैं आश्चर्य नहीं मानता॥ ३॥

पुराणसंहितामेतामश्रौष्म भवतो वयम्।
यस्यां खलूत्तमःश्लोको भगवाननुवर्ण्यते॥ ४॥

मुनिवर! मैंने आपसे भागवती पुराण संहिताका श्रवण किया। इसमें उत्तमःश्लोक भगवान् श्रीहरि निरन्तर वर्णित हुए हैं, अन्य जो कुछ भी वर्णन हुआ है, वह भगवत्-वर्णनके पोषणके लिए है॥ ४॥

भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न विभेम्यहम्।
प्रविष्टो ब्रह्मनिर्वाणमभयं दर्शितं त्वया॥ ५॥

हे भगवन्! मैं आपके द्वारा प्रदर्शित (उपदिष्ट) अभय-कैवल्य रूप ब्रह्मपदको प्राप्त हो गया हूँ। अतः तक्षकादि मृत्युके कारणोंसे मैं भयभीत नहीं हूँ। (परीक्षित्के कहनेका अभिप्राय है कि उसके जैसे भक्तोंके लिए निर्वाण मोक्ष निश्चय ही असह्य है, तक्षकादि अथवा अन्य किसी भी कारणसे जन्म-जन्मान्तरमें मृत्यु प्राप्त हो—उसका डर नहीं है। ब्रह्म-निर्वाणका उपदेश अधिक भय उत्पन्न करनेवाला है—यह परीक्षित्का श्रीमन् मुनीन्द्र शुकदेवके प्रति परिहासमय आक्षेप व्यक्त है और श्रीशुकदेवजीके द्वारा परीक्षित् महाराजकी भक्ति-निष्ठाकी परीक्षा है, जैसा कि उन्होंने प्रायोवेशनके आरम्भमें ही प्रतिज्ञा की थी कि ब्रह्म-निर्वाणमें उनकी रुचि नहीं है। परीक्षित्जीकी अभिलाषा है कि इस सृष्टिमें जब-जब भी जन्म हो, तब-तब श्रीभगवान्में रति, भगवदाश्रित महत्पुरुषोंका सङ्ग, सर्व मैत्री एवं ब्राह्मणोंके लिए परमादर रहे॥ ५॥

अनुजानीहि मां ब्रह्मन् वाचं यच्छाम्यधोक्षजे।
मुक्तकामाशयं चेतः प्रवेश्य विसृजाम्यसून्॥ ६॥

हे ब्रह्मन्! मैं अधोक्षज—इन्द्रियातीत श्रीहरिके चरणोंमें अपनी सम्पूर्ण इन्द्रिय-वृत्तिको लगाकर एवं विषय-वासनासे रहित अपने चित्तको उन्हींके चरणोंमें समर्पणकर प्राणोंका परित्याग करूँ, आप इस विषयमें अनुमति प्रदान करें। (शुकदेवने कहा था कि अब और क्या श्रवण करना चाहते हो, तो राजाका उत्तर है कि मैं पूर्णरूपेण कृतार्थ हूँ, अब अपने प्राणोंका परित्याग करना चाहता हूँ।)॥ ६॥

अज्ञानञ्च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञान-निष्ठया।
भवता दर्शितं क्षेमं परं भगवतः पदम्॥ ७॥

आपके द्वारा उपदिष्ट भगवत् विषयक ज्ञान और विज्ञानमें (ऐश्वर्य और माधुर्यके अनुभवमें) परिनिष्ठित हो जानेसे मेरा अज्ञान एवं उसका संस्कार भी सर्वदाके लिए नष्ट हो गया है। आपने भगवान् श्रीहरिके परमकल्याणप्रद स्वरूपका मुझे साक्षात्कार भी करा दिया है॥ ७॥

श्रीसूत उवाच—

इत्युक्तस्तमनुज्ञाप्य भगवान् बादरायणिः।
जगाम भिक्षुभिः साकं नरदेवेन पूजितः॥ ८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—महाराज परीक्षित्की प्रार्थनाके अनुसार शुकदेव गोस्वामीने उन्हें प्राण-त्यागके विषयमें अनुमति प्रदान की। अनन्तर राजाके द्वारा पूजित होकर श्रीशुकदेव गोस्वामी संन्यासियोंके (मुनीन्द्रगणोंके) साथ यथाभिलाष स्थानपर चले गये॥ ८॥

परीक्षिदपि राजर्षिरात्मन्यात्मानमात्मना।
समाधाय परं दध्यावस्पन्दासुर्यथा तरुः॥ ९॥

प्राक्कूले बर्हिष्यासीनो गङ्गाकूल उदङ्मुखः।
ब्रह्मभूतो महायोगी निःसङ्गश्छिन्नसंशयः॥ १०॥

समस्त प्रकारके संशयोंसे मुक्त, सभी आसक्तियोंसे असङ्ग, ब्रह्मस्वरूपज्ञ महायोगी राजर्षि परीक्षित् गङ्गाके तटपर पूर्वाग्र कुशासनपर उत्तरमुख होकर आसीन हो गये। उन्होंने बुद्धि द्वारा मनको आत्मवस्तुमें समाहित किया और स्पन्दन-रहित-वृक्षके स्थाणु (ठूँठ) के समान निश्चल भावसे परमात्माके ध्यानमें मग्न हो गये॥ ९-१०॥

तक्षकः प्रहितो विप्राः क्रुद्धेन द्विजसूनुना।
हन्तुकामो नृपं गच्छन् ददर्श पथि कश्यपम्॥ ११॥

हे विप्रगणो (शौनकादि ऋषियो)! तदनन्तर क्रुद्ध मुनिकुमार शृङ्गीके द्वारा भेजा हुआ तक्षक सर्प राजा परीक्षित्को डसनेके लिए उनके पास चला। पथपर उसने कश्यप नामक एक विषहारी ब्राह्मणको देखा॥ ११॥

तं तर्पयित्वा द्रविणैर्निवर्त्त्य विषहारिणम्।
द्विजरूपप्रतिच्छन्नः कामरूपोऽदशन्नृपम्॥ १२॥

तक्षकने अभिलषित धन द्वारा कश्यपको सन्तुष्टकर वहाँसे लौटा दिया। तक्षक इच्छानुसार रूप धारण करनेमें सक्षम था। उसने छद्म ब्राह्मणका वेश बनाया और राजा परीक्षित्को डस लिया। (कश्यप मुनि विष-चिकित्साके द्वारा परीक्षित्की रक्षाके लिए आ रहे थे। पथपर तक्षकने देखा कि जिस वट-वृक्षको उसने अपने जहरीले दाँतोंसे क्षार-क्षार कर दिया था, उसीको कश्यप मुनिने अङ्कुरादि क्रमसे पुनः जीवित कर दिया है।)॥ १२॥

ब्रह्मभूतस्य राजर्षेर्देहोऽहिगरलाग्निना।
बभूव भस्मसात् सद्यः पश्यतां सर्वदेहिनाम्॥ १३॥

इसके बाद सभी प्राणियोंके समक्ष ही राजर्षि परीक्षित्की देह तक्षककी विषरूप अग्निसे तत्क्षण ही भस्मीभूत हो गयी। राजा परीक्षित् तो पहले ही ब्रह्मभूत (ब्रह्म-स्वरूपज्ञ) हो गये थे। (यथा पुत्र अपने पिताके मृत शरीरका दाह-संस्कार करता है उसी प्रकार विषाग्निसे राजाका शरीर भस्म हुआ है।)॥ १३॥

हाहाकारो महानासीद्भुवि खे दिक्षु सर्वतः।
विस्मिता ह्यभवन् सर्व देवासुरनरादयः॥ १४॥

उस समय भूलोकमें, आकाशमें एवं सभी दिशाओंमें महा हाहाकारकी ध्वनि उठी। असुर, देवता एवं मनुष्य सभी विस्मित रह गये॥ १४॥

देवदुन्दुभयो नेदुर्गन्धर्वाप्सरसो जगुः।
ववृषुः पुष्पवर्षाणि विबुधाः साधुवादिनः॥ १५॥

उस समय देवता दुन्दुभियाँ बजाने लगे, गन्धर्व एवं अप्सराएँ जयगान करने लगे तथा देवता साधुवाद करते-करते पुष्पोंकी वर्षा करने लगे॥ १५॥

जन्मेजयः स्वपितरं श्रुत्वा तक्षकभक्षितम्।
यथाजुहाव संक्रुद्धो नागान् सत्रे सह द्विजैः॥ १६॥

जन्मेजयने जब सुना कि तक्षकने पिताको मार दिया है, तो वह क्रोधित हो उठा। उसने जगत्‌को सर्पोंसे रहित करनेका निश्चय कर लिया। वह ब्राह्मणोंके साथ मिलकर यज्ञानलमें सर्पोंको यथाविधि आहुति देने लगा॥ १६॥

सर्पसत्रे समिद्धाग्नौ दह्यमानान् महोरगान्।
दृष्ट्वेन्द्रं भयसंविग्नस्तक्षकः शरणं ययौ॥ १७॥

तक्षकने देखा कि सर्प-यज्ञकी प्रचण्ड अग्निमें बड़े-बड़े सर्प दग्ध हो रहे हैं। तब उसका चित्त भयसे विह्वल हो गया और वह इन्द्रकी शरणमें पहुँचा॥ १७॥

अपश्यंस्तक्षकं तत्र राजा पारीक्षितो द्विजान्।
उवाच तक्षकः कस्मान्न दह्येतोरगाधमः॥ १८॥

राजा जन्मेजयने यज्ञमें तक्षकको उपस्थित नहीं देखा, तो ब्राह्मणोंसे कहा—'हे ब्राह्मणो! सर्पाधम तक्षक अभी तक अग्निमें दग्ध क्यों नहीं हुआ?'॥ १८॥

तं गोपायति राजेन्द्र शक्रः शरणमागतम्।
तेन संस्तम्भितः सर्पस्तस्मान्नाग्नौ पतत्यसौ॥ १९॥

ब्राह्मणोंने कहा—हे राजन्! शरणागत तक्षककी रक्षा इन्द्र कर रहे हैं। उन्होंने तक्षकको वहीं स्तम्भित कर दिया है अर्थात् अपने आसनसे बाँधकर रखा है, इसी कारण वह अग्निमें नहीं गिर रहा है॥ १९॥

पारीक्षित इति श्रुत्वा प्राहर्त्विज उदारधीः।
सहेन्द्रस्तक्षको विप्रा नाग्नौ किमिति पात्यते॥ २०॥

जन्मेजय प्रशस्त बुद्धिसम्पन्न (उदारधी) थे। ब्राह्मणोंके वचन सुनकर उन्होंने कहा—हे ब्राह्मणो! आप इन्द्रके साथ ही तक्षकको अग्निकुण्डमें क्यों नहीं गिरा देते?॥ २०॥

तच्छ्रुत्वा जुहुवुर्विप्राः सहेन्द्रं तक्षकं मखे।
तक्षकाशु पतस्वेह सहेन्द्रेण मरुत्वता॥ २१॥

ब्राह्मण जन्मेजयके इन वचनोंको सुनकर 'मरुद्गणयुक्त इन्द्रके सहित हे तक्षक! शीघ्र ही अग्निमें गिर पड़ो' इस प्रकारसे आकर्षण मन्त्र उच्चारण करके यज्ञमें इन्द्रके साथ तक्षकका आह्वान करने लगे। (वायु देवताने ही आकर बताया था कि तक्षककी रक्षा इन्द्र कर रहे हैं)॥ २१॥

इति ब्रह्मोदिताक्षेपैः स्थानादिन्द्रः प्रचालितः।
बभूव संभ्रान्तमतिः सविमानः सतक्षकः॥ २२॥

ब्राह्मणों द्वारा उच्चारित पूर्वोक्त आक्षेप-वचनोंसे (अपमानपूर्ण वचनोंसे) इन्द्रका चित्त विक्षिप्त हो गया। विमानपर विराजमान इन्द्र अपने विमान एवं तक्षकके साथ अपने स्थानसे विचलित होने लगे। (वे अतिशय घबरा गये और उनका विमान चक्कर काटने लगा)॥ २२॥

तं पतन्तं विमानेन सहतक्षकमम्बरात्।
विलोक्याङ्गिरसः प्राह राजानं तं बृहस्पतिः॥ २३॥

उस समय अङ्गिरानन्दन बृहस्पतिजीने देखा कि आकाशसे देवराज इन्द्र विमान और तक्षकके साथ ही यज्ञानलमें गिर रहे हैं; तब उन्होंने राजा जन्मेजयसे कहा—॥ २३॥

नैष त्वया मनुष्येन्द्र वधमर्हति सर्पराट्।
अनेन पीतममृतमथवा अजरामरः॥ २४॥

'हे महाराज! यह सर्पराज तक्षक अमृत पान कर चुका है, इसलिए जरा एवं मृत्युसे रहित हो गया है—अब वह अजर एवं अमर है। अतः यह तक्षक आपके द्वारा नहीं मारा जा सकता॥ २४॥

जीवितं मरणं जन्तोर्गतिः स्वेनैव कर्मणा।
राजंस्ततोऽन्यो नान्यस्य प्रदाता सुखदुःखयोः॥ २५॥

हे राजन्! स्वयंसे उपार्जित कर्म-बन्धनसे ही जीवको जीवन, मरण एवं लोकान्तर-गतिकी प्राप्ति होती है, कर्मके बिना अन्य कोई भी जीवका सुख-दुःख प्रदाता नहीं है। (यह व्यवस्था निकृष्ट जीवके लिए है—तुम्हारे पिताकी तो अश्वत्थामाके अस्त्रसे रक्षा स्वयं कृष्णने की है, अपने प्रिय श्रीशुकदेवजी द्वारा उपदेश प्रदान कराके अपने धामकी प्राप्ति करायी है, तक्षक तो निमित्त मात्र है। दुर्मरणके कारण तुम्हारे पिताकी दुर्गति इसनेकी है, ऐसी शङ्का आप न करें।)॥ २५॥

सर्पचौराग्निविद्युद्भ्यः क्षुत्तृड्व्याध्यादिभिर्नृप।
पञ्चत्वमृच्छते जन्तुर्भुङ्क्ते आरब्धकर्म तत्॥ २६॥

हे राजन्! सर्प, चोर, आग, बिजली, भूख, प्यास एवं रोगादि द्वारा जो पञ्चत्वकी प्राप्ति है, वह और कुछ नहीं, केवल प्रारब्ध-कर्मोंका भोग मात्र है। (तुम्हारे पिता भक्त है, उनका प्रारब्ध-भोग नहीं है। सर्प आदि अपने कर्मके कारण ही दंशनादि करते हैं, इस विषयमें वे भी स्वतन्त्र नहीं हैं।)॥ २६॥

तस्मात् सत्रमिदं राजन् संस्थीयेताभिचारिकम्।
सर्पा अनागसो दग्धा जनैर्दिष्टं हि भुज्यते॥ २७॥

अतएव हे राजन्! इस आभिचारिक यज्ञको इसी समय रोक दो। आपने बहुत-से निरपराध सर्पोंको जला दिया है, इसमें आपका अपराध नहीं है, प्राणी मात्र ही अपने-अपने पूर्वकर्मोंका (भाग्य-फलका) भोग करता है॥ २७॥

श्रीसूत उवाच—

इत्युक्तः स तथेत्याह महर्षेर्मानयन् वचः।
सर्पसत्रादुपरतः पूजयामास वाक्पतिम्॥ २८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—महर्षि बृहस्पतिके इन वचनोंको जन्मेजयने श्रद्धाके साथ शिरोधार्य किया। उन्होंने शीघ्र ही ब्राह्मणोंको सर्प-यज्ञ-समापनका आदेश दिया। सर्प-यज्ञसे निवृत्त होकर उन्होंने बृहस्पतिकी पूजा की। (आभिचारिक यज्ञ निन्दनीय माने गये हैं)॥ २८॥

सैषा विष्णोर्महामायाबाध्ययालक्षणा यया।
मुह्यन्त्यस्यैवात्मभूता भूतेषु गुणवृत्तिभिः॥ २९॥

भगवान् विष्णुकी माया अचिन्त्या (अतर्क्या) एवं अलङ्घनीया (अबाध्या) है। इस मायाकी शक्तिके अनिवार्य प्रभावसे विष्णुके अंशभूत सभी प्राणी देहादिमें क्रोध इत्यादि गुणजात वृत्तियों एवं देहमें आत्मज्ञानरूप मोहको प्राप्त होते हैं। (यही कारण है कि ब्राह्मणको क्रोध आया, राजाको शाप हुआ और मृत्यु हुई तथा जन्मेजयको भी क्रोध आया और बहुत सारे सर्प मारे गये।)॥ २९॥

न यत्र दम्भीत्यभया विराजिता
मायात्मवादेऽसकृदात्मवादिभिः।
न यद्विवादो विविधस्तदाश्रयो
मनश्च सङ्कल्पविकल्पवृत्ति यत्॥ ३०॥

न यत्र सृज्यं सृजतोभयोः परं
श्रेयश्च जीवस्त्रिभिरन्वितस्त्वहम्।
तदेतदुत्सादितबाध्यबाधकं
निषिध्य चोर्मीन् विरमेत तन्मुनिः॥ ३१॥

विष्णुस्वरूपमें माया अपने प्रभावका विस्तार नहीं कर सकती। दम्भयुक्त पुरुषपर इसका आक्रमण होता है अर्थात् 'यह पुरुष दम्भी, कपटी है'—इस प्रकारकी बुद्धिमें बार-बार प्रतीत होनेवाली जिस मायाका निरन्तर उल्लेख होता है, वही माया विष्णुमें एवं उनके भक्तोंमें दम्भ न रहनेके कारण भयभीत एवं निष्प्रभ रहती है। आत्मवादीगणों द्वारा आत्मवादकी चर्चा पुनः-पुनः प्रवर्तित होनेपर माया वहाँ निर्भयतापूर्वक रह नहीं सकती। जहाँ विष्णु-स्वरूप स्फुरित होता है तथा निरन्तर प्रामाणित विष्णु-विषयक चर्चा रहती है, वहाँ न तो मायाश्रित विवाद-संवाद रहते हैं और न ही संकल्प-विकल्परूपा (निर्णय-संशयात्मकरूपा) मनकी मायिकी वृत्तियाँ रहती हैं। सृजन करनेवाले कारकोंके साथ कर्म एवं उनके साधनसे प्राप्य स्वर्गादि फल भी वहाँ विद्यमान नहीं रहते। सृज्य (सृजित वस्तुएँ) एवं स्रष्टाके स्वयं ही पृथक्रूपसे स्फुरित होनेपर फलकी स्फूर्त्ति नहीं रहती। स्रष्टा, सृज्य एवं फल भावत्रययुक्त, सत्त्वादि गुणत्रययुक्त एवं जागरादि तीन गुणोंसे युक्त अहङ्कारात्मक जीवभावका (बद्ध आत्माका) वहाँ अवस्थान नहीं होता। बाध्य (जीव-दशा) एवं बाधक (गुण-दशा) से जो रहित है, उसे आत्मस्वरूप परम सत्य जानना चाहिए। मुनिगण इन अहङ्कारादि ऊर्मियोंको निरस्त (बाधित) करके इसी आत्मस्वरूप परमसत्यमें विशेषरूपसे विहार करते हैं। (आत्मस्वरूपज्ञ न किसीके द्वारा बाधित होते हैं और न ही विरोधी होते हैं।)॥ ३०-३१॥

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्-
यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।

विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा,
हृदोपगुह्यावसितं समाहितैः॥ ३२॥

पूर्वोक्त जिस वस्तुका (विष्णुपदका) समाधिमग्न भक्तों द्वारा ध्यानादिके (पुनः-पुनः स्मरणके अभ्यास) द्वारा हृदयमें उपलब्धि होना निश्चित हुआ है, अनन्यभाव युक्त वे भक्त परम वस्तुसे भिन्न वस्तुका 'नेति नेति'—यह अनुकूल नहीं है, यह अनुकूल नहीं है—इस विचार क्रमसे देहात्म ज्ञानादिका—(देह, गेह, पुत्र, स्त्री आदिका) एवं क्षुद्र दौरात्म्यका अर्थात् अहं-ममतास्पद वस्तुओंका परित्याग करके उस वस्तुका उत्तम वैष्णव-स्वरूपकी प्राप्तिके रूपमें निर्देश करते हैं। यह सौभाग्य अर्थात् वैष्णव पद अर्थात् विष्णु-स्वरूप ऐकान्तिक भक्तोंके हृदयमें गोपनरूपमें अवस्थित अनन्य सौहार्द अनुभूत होता है, अन्यको नहीं॥ ३२॥

त एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत् परमं पदम्।
अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम्॥ ३३॥

विष्णुके परम-पद अथवा स्वरूपसे वे ही अवगत हो सकते हैं, जिनके अन्तःकरणमें देहज 'मैं' बुद्धि तथा गेहज 'मेरा' बुद्धि इस प्रकारका दौरात्म्य (दुर्जनता) रूप दोष नहीं है॥ ३३॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ ३४॥

हे शौनकादि ऋषियो! निन्दा-तिरस्कार इत्यादि प्रतिवादोंको सहन कर ले, कटूक्तियों द्वारा किसीको उत्तर न दे, किसीकी भी अवज्ञा न करे, किसीके भी साथ वैर भाव न रखे, विपक्षीसे भी द्वेष न करे—रागानुगीय रसिक भक्तोंको इस प्रकारसे रहना चाहिए। (यदि कोई अपराध होता है, तो विष्णु-पद तिरोहित हो जाता है।)॥ ३४॥

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
यत्पादाम्बुरुहध्यानात् संहितामध्यगामिमाम्॥ ३५॥

जिनके पादपद्मोंके चिन्तनके प्रभावसे मैंने इस भागवती संहिताको श्रीशुकदेवके श्रीमुखसे अध्ययन किया है—उन अकुण्ठज्ञानसम्पन्न, अप्रतिहत-प्रभाव भगवान् श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ३५॥

श्रीशौनक उवाच—

पैलादिभिर्व्यासशिष्यैर्वेदाचार्यैर्महात्मभिः ।
वेदाश्च कथिता व्यस्ता एतत् सौम्याभिधेहि नः॥ ३६॥

श्रीशौनक ऋषिने पूछा—हे सौम्य सूतजी! वेदव्यासके शिष्य पैलादि वेदाचार्य, महात्मागणोंने व्यासदेव द्वारा विभक्त वेदोंका जिस रूपमें वर्णन किया है, वह हमें बतलाइए। (संहिता शब्द सुनकर ऋषियोंके हृदयमें यह स्वाभाविक जिज्ञासा हुई है)॥ ३६॥

श्रीसूत उवाच—

समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद्विभाव्यते॥ ३७॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे ब्रह्मन्! समाहित-चित्त परमेष्ठी ब्रह्माके हृदयाकाशसे सर्वप्रथम एक नाद (शब्द) उत्पन्न हुआ। कर्णपुटके आच्छादनसे (कर्ण-छिद्र बन्द करनेपर) श्रवण-वृत्तिके निरुद्ध होनेपर (बाह्य श्रवण-क्रियाके रुकनेपर) भी हृदयके अन्तरमें इस ध्वनिको अनुभव किया जा सकता है॥ ३७॥

यदुपासनया ब्रह्मन् योगिनो मलमात्मनः।
द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम्॥ ३८॥

हे ब्रह्मन्! योगीगण भी उसी अनाहत नादकी उपासनाके द्वारा आत्माके आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक—इन तीन प्रकारके आत्ममलको (द्रव्य, क्रिया एवं कारकरूपी मलको) नष्ट करके परमगति अर्थात् मोक्षपद प्राप्त करते हैं॥ ३८॥

ततोऽभूत् त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट्।
यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः॥ ३९॥

हे मुनिवर! उक्त नादसे अव्यक्त-प्रभव (अस्पष्ट उत्पत्ति है जिसकी), स्वराट् (स्वयं प्रकाशमान्) त्रिमात्रात्मक प्रणव अर्थात् 'अ' कार, 'उ' कार एवं 'म' कार रूप तीन मात्राओंसे युक्त ॐकार प्रादुर्भूत हुआ। यह ॐकार परब्रह्मके बोधका द्वार-स्वरूप है, यह ज्ञानियोंके लिए ब्रह्म-स्वरूप (परम निर्विशेष सत्य), योगियोंके लिए परमात्माका लिङ्ग-स्वरूप तथा भक्तोंके लिए भगवत्-स्वरूप है॥ ३९॥

शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्।
येन वाग्व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः॥ ४०॥

स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः।
स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम्॥ ४१॥

इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी परमात्मामें स्वाभाविक ज्ञान रहता है। श्रवणेन्द्रियकी वृत्तिसे रहित होनेकी दशामें भी वे इस स्फोट (अव्यक्त एवं नित्य सूक्ष्म) ॐकार ध्वनिका श्रवण करते हैं। यह ॐकार हृदयके आकाशमें आत्मासे प्रकाशित होता है और इसी ॐकारसे बृहती अर्थात् वेद-लक्षणा वाणी प्रकाशित होती है। यह ॐकार निज आश्रय ब्रह्म-वस्तुका, परमात्म-वस्तुका, भगवत् वस्तुका साक्षात् वाचक है। यह ॐकार सम्पूर्ण मन्त्रोंका रहस्य एवं उपनिषद् तथा वेदोंका सनातन बीज-स्वरूप है। ब्रह्म-स्वरूप होनेके कारण सर्वदा एकरूप (अविकारी) है॥ ४०-४१॥

तस्य ह्यासंस्त्रयो वर्णा अकाराद्या भृगूद्वह।
धार्य्यन्ते यैस्त्रयो भावा गुणनामार्थवृत्तयः॥ ४२॥

हे भार्गववर शौनकजी! ॐकारसे 'अ' कार, 'उ' कार एवं 'म' कार रूप तीन वर्ण प्रकट हुए। यह त्रिवर्णात्मक प्रणव ऋक्-यजुः-सामरूप नामत्रय, सत्त्व-रजः-तम—गुणत्रय, भू-भुवः-स्वः लोकत्रय एवं जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति—वृत्तित्रयको धारण करता है। ॐकार माधुर्य-ओज-प्रसाद—शब्द-गुण एवं अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जना

शब्द-वृत्तिको उसी प्रकार धारण करता है, जिस प्रकार वट-बीज वट-वृक्षको धारण करता है तथा वट-वृक्ष स्कन्ध, शाखा, पुष्प एवं फलादि धारण करता है॥ ४२॥

ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद्भगवानजः ।
अन्तस्थोष्मस्वरस्पर्श-ह्रस्वदीर्घादिलक्षणम्॥ ४३॥

अनन्तर सर्वशक्तिमान् चतुर्मुख ब्रह्माजीने पाठक्रमका निर्देश करते हुए अक्षर-समष्टिकी सृष्टि की—उसका स्वरूप है यथा—य, र, ल, व—अन्तःस्थ, श, ष, स, ह—उष्म, अकारादिसे औकारादि पर्यन्त चौदह-स्वर—स्वरोंके ह्रस्व, दीर्घादि भेद, ककारादिसे म पर्यन्त स्पर्श अर्थात् व्यञ्जन एवं व्यञ्जनोंके जिह्वामूलीयादि भेद—इसीको अक्षर-समाम्नाय अर्थात् वर्णमाला कहते हैं॥ ४३॥

तेनासौ चतुरो वेदांश्चतुर्भिर्वदनैर्विभुः।
सव्याहृतिकान् सोङ्कारांश्चातुर्होत्रविवक्षया॥ ४४॥

तदनन्तर सर्वशक्तिमान् चतुर्मुख ब्रह्माजीने अक्षर-समाम्नाय द्वारा होता, उद्गाता, अध्वर्यु एवं बह्वृच (ब्रह्मा)—इन चार प्रकारके याज्ञिक पुरोहितोंके चातुर्होत्र कर्मोंके उपदेशके लिए ॐकार द्वारा सप्रणव एवं भूरादि (भूः, भुवः, स्वः आदि) व्याहृतियोंके साथ अपने चार मुखोंसे चारों वेदोंको प्रकट किया॥ ४४॥

पुत्रानध्यापायत् तांस्तु ब्रह्मर्षीन् ब्रह्मकोविदान्।
ते तु धर्मोपदेष्टारः स्वपुत्रेभ्यः समादिशन्॥ ४५॥

ब्रह्माजीने वेदोच्चारणादिमें निपुण मरीचि आदि ब्रह्मर्षि पुत्रोंको वेदोंका अध्ययन कराया। धर्मोपदेष्टा इन मरीचि आदिने भी अपने-अपने पुत्रोंको उसी विषयमें उपदेश प्रदान किया॥ ४५॥

ते परम्परया प्राप्तास्तत्तच्छिष्यैर्धृतव्रतैः।
चतुर्युगेष्वथ व्यस्ता द्वापरादौ महर्षिभिः॥ ४६॥

संयमादि व्रताचरणशील मरीचि आदिके शिष्य-प्रशिष्योंके द्वारा चारों युगोंमें ही गुरुपरम्परासे वेद प्राप्त होते रहे अर्थात् सम्प्रदायके

रूपमें वेदोंकी रक्षा होती रही। अन्ततः द्वापर युगके अन्तमें व्यासादि महर्षियों द्वारा उनका विभाजन किया गया॥ ४६॥

क्षीणायुषः क्षीणसत्त्वान् दुर्मेधान् वीक्ष्य कालतः।
वेदान् ब्रह्मर्षयो व्यस्यन् हृदिस्थाच्युतचोदिताः॥ ४७॥

उस समय व्यासादि ब्रह्मर्षियोंने कालके प्रभावसे मनुष्योंकी अल्प आयु, अल्प बल और अल्प बुद्धि देखकर अन्तर्यामी श्रीहरिके द्वारा प्रेरित हो करके ही वेदका विभाग किया था। श्रीहरिकी प्रेरणासे किये वेद-विभाजनका हमें समादर करना चाहिये॥ ४७॥

अस्मिन्नप्यन्तरे ब्रह्मन् भगवान् लोकभावनः।
ब्रह्मेशाद्यैर्लोकपालैर्याचितो धर्मगुप्तये॥ ४८॥
पराशरात् सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः।
अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम्॥ ४९॥

हे महाभाग! ब्रह्मन्! इसी वैवस्वत मन्वन्तरमें ही त्रिलोकपालक भगवान् श्रीहरिने ब्रह्मा, शिव आदि लोकपालोंके द्वारा धर्म रक्षाके लिए प्रार्थना किये जानेपर पराशर मुनिसे सत्यवतीके जठरसे (गर्भसे) मायाके सात्त्विक अंशसे आविर्भूत होकर (अवतार लेकर) वेद शास्त्रको चार विभागोंमें विभक्त किया था॥ ४८-४९॥

ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः।
चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव॥ ५०॥

समूहमें संग्रहीत पद्मराग, हीरक इत्यादि विविध मणियोंको विचारपूर्वक जैसे पृथक्-पृथक् कूटोंमें (वर्गोंमें) विभक्त कर दिया जाता है, उसी प्रकार व्यासदेवने ऋक्, अथर्व, यजुः एवं साम मन्त्रोंको प्रकरण भेदके अनुसार उद्धृत करके चार संहिताओंका प्रणयन किया॥ ५०॥

तासां स चतुरः शिष्यानुपाहूय महामतिः।
एकैकां संहितां ब्रह्मन्नेकैकस्मै ददौ विभुः॥ ५१॥

हे ब्रह्मन्! अनन्तर महामति, शक्तिमान् वेदव्यासने अपने चारों शिष्योंको समीपमें बुलाया और प्रत्येकको एक-एक संहिताके विषयमें उपदेश प्रदान किया॥ ५१॥

पैलाय संहितामाद्यां बह्वृचाख्यामुवाच ह।
वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम्॥ ५२॥
साम्नां जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम्।
अथर्वाङ्गिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे॥ ५३॥

उन्होंने पैल नामक शिष्यको 'बह्वृच' नामकी प्रथम ऋक् संहिता, वैशम्पायनको गद्यात्मक 'निगद' नामकी यजुः संहिता, जैमिनिको 'छन्दोग' नामकी साम-संहिता और सुमन्तको 'अथर्वाङ्गिरस' संहिताके विषयमें (अथर्ववेदका) उपदेश प्रदान किया॥ ५२-५३॥

पैलः स्वसंहितामूचे इन्द्र प्रमितये मुनिः।
बाष्कलाय च सोऽप्याह शिष्येभ्यः संहितां स्वकाम्॥ ५४॥
चतुर्द्धा व्यस्य बोध्याय याज्ञवल्क्याय भार्गव।
पराशरायाग्निमित्रे इन्द्रप्रमितिरात्मवान्॥ ५५॥
अध्यापयत् संहितां स्वां माण्डूकेयमृषिं कविम्।
तस्य शिष्यो देवमित्रः सौभर्यादिभ्य ऊचिवान्॥ ५६॥

अनन्तर पैल मुनिने अपनी ऋक् संहिताको दो भागोंमें विभक्त करके इन्द्र-प्रमिति एवं बाष्कल नामक दो शिष्योंको उपदेश प्रदान किया। बाष्कलने अपनी संहिताको चार भागोंमें विभाजित करके बोध्य, याज्ञवल्क्य, पराशर एवं अग्निमित्रको अध्ययन कराया। महामति इन्द्र-प्रमितिने विद्वान् ऋषि माण्डूकेयको (निज पुत्रको) अपनी संहिताका उपदेश प्रदान किया। माण्डूकेयके शिष्य देवमित्रने सौभरि इत्यादि मुनियोंको तद्विषयक उपदेश प्रदान किया॥ ५४-५६॥

शाकल्यस्तत्सुतः स्वान्तु पञ्चधा व्यस्य संहिताम्।
वात्स्य-मुद्गलशालीय-गोखल्य-शिशिरेष्वधात्॥ ५७॥

माण्डूकेयके पुत्र शाकल्यने अपनी संहिताके पाँच विभाग करके उन्हें वात्स्य, मुद्गल, शालीय, गोखल्य और शिशिर नामक पाँच शिष्योंको उपदिष्ट किया॥ ५७॥

जातूकर्ण्यश्च तच्छिष्यः सनिरुक्तां स्वसंहिताम्।
बलाक-पैलजावाल-विरजेभ्यो ददौ मुनिः॥ ५८॥

शाकल्यके शिष्य जातूकर्ण्य मुनिने अपनी संहिताको तीन भागोंमें विभक्त किया। उन्होंने वैदिक पदोंके अर्थकी व्याख्याके अनुरूप एक निरुक्त शास्त्रका (वैदिक शब्दसंग्रह-चतुर्थ अनुभागका) भी प्रणयन किया। इन चारों ग्रन्थोंके एक-एक भागको उन्होंने बलाक, पैल, जाबाल एवं विरज नामक अपने चार शिष्योंको अर्पण कर दिया॥ ५८॥

बाष्कलिः प्रतिशाखाभ्यो वालखिल्याख्यसंहिताम्।
चक्रे वालायनिर्भज्यः काशारश्चैव तां दधुः॥ ५९॥

बाष्कल-पुत्र बाष्कलिने प्रत्येक शाखासे मन्त्रोंका संग्रह करके वालखिल्य नामकी संहिताका प्रणयन किया। वालायनि, भज्य एवं काशार—इन्होंने इस संहिताको ग्रहण किया। (इन तीनोंको दैत्यवंशका माना गया है।)॥ ५९॥

बह्वृचाः संहिता ह्येता एभिर्ब्रह्मर्षिभिर्धृताः।
श्रुत्वैतच्छन्दसां व्यासं सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ६०॥

पूर्वोक्त पैलादि ब्रह्मर्षियोंने सम्प्रदायके (शिष्य परम्पराके) अनुसार ऋग्वेदीय (बह्वृच) विविध संहिताओंका अभ्यास (अध्ययन-अध्यापन) किया। इस छन्द-विभागके (वैदिकस्तात्रोंके विभाजनके) श्रवण करनेपर मानव समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं॥ ६०॥

वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्वर्यवोऽभवन्।
यच्चेरुर्ब्रह्महत्यांहःक्षपणं स्वगुरोर्व्रतम्॥ ६१॥

यजुर्वेद संहिताके अध्यायी वैशम्पायनके शिष्यगण अध्वर्यु हुए। उन्होंने अपने गुरुके ब्रह्म-हत्या-जनित पापके नाशके लिए विहित

व्रतका आचरण किया था—इसलिए ये शिष्य चरक-अध्वर्यु एवं यजुर्वेदज्ञ संज्ञाओंसे अभिहित हुए॥ ६१॥

याज्ञवल्क्यश्च तच्छिष्य आहाहो भगवन् कियत्।
चरितेनाल्पसाराणां चरिष्येऽहं सुदुश्चरम्॥ ६२॥

उक्त व्रताचरणके समयमें ही वैशम्पायनके एक और शिष्य याज्ञवल्क्यने कहा—हे गुरुदेव! इन अल्पशक्ति सम्पन्न शिष्योंके प्रायश्चित्ताचरणसे आपको कितना-सा फल प्राप्त होगा? ये विरत हों; आराम करें; मैं अकेले ही इनकी अपेक्षा अधिक फलप्रद सुदुष्कर-तपश्चर्या (प्रायश्चित्तरूप व्रताचरण) करूँगा॥ ६२॥

इत्युक्तो गुरुरप्याह कुपितो याह्यलं त्वया।
विप्रावमन्त्रा शिष्येण मदधीतं त्यजाश्विति॥ ६३॥

याज्ञवल्क्यके इन वचनोंसे गुरु वैशम्पायन क्रोधित हो गये। उन्होंने कहा—ब्राह्मणका अपमान करनेवाले तुम्हारे जैसे शिष्यकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं है (विनीत शिष्योंको अल्पशक्तिवान् कहकर तिरस्कार क्यों करते हो); तुम यहाँसे दूर चले जाओ। तुमने मुझसे अब तक जो अध्ययन किया है, उसका शीघ्र परित्याग कर दो॥ ६३॥

देवरातसुतः सोऽपि छर्दित्वा यजुषां गणम्।
ततो गतोऽथ मुनयो ददृशुस्तान् यजुर्गणान्॥ ६४॥
यजूंषि तित्तिरा भूत्वा तल्लोलुपतयाददुः।
तैत्तिरीया इति यजुःशाखा आसन् सुपेशलाः॥ ६५॥

तब गुरुके आदेशसे देवरात-पुत्र याज्ञवल्क्यने उनसे अधीत यजुर्वेदीय मन्त्रोंको उद्गीर्ण (वमन) कर उन्हें बाहर कर दिया और वहाँसे प्रस्थान कर गये। अनन्तर मुनियोंने इन उद्गीर्ण मन्त्रोंको साक्षात् देवस्वरूपमें देखा। उन मन्त्रोंको ग्रहण करनेकी लोलुपताके कारण उन्होंने तित्तिर (तीतर) पक्षीका रूप धारण किया तथा सम्पूर्ण यजुर्वेदको ग्रहण कर लिया। (वमन कृत वस्तु ब्राह्मणके

द्वारा ग्रहण करना उचित नहीं है, अतः तीतर रूप धारण किया है।) इसी कारण अति रमणीय एवं सुरम्य यजुर्वेदीय शाखाएँ तैत्तिरीय नामसे प्रसिद्ध हुईं॥ ६४-६५॥

याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मंश्छन्दांस्यधिगवेषयन्।
गुरोरविद्यमानानि सूपतस्थेऽर्कमीश्वरम्॥ ६६॥

हे ब्रह्मन् शौनकजी! इसके बाद याज्ञवल्क्यने जितनी भी वेद विद्या उनके गुरुके पास थी, उनसे अज्ञात तथा उनसे भी अधिक वेदज्ञानकी गवेषणाकी अभिलाषासे वेदाधिपति सूर्यदेवकी सम्यक् उपासना एवं स्तुति की॥ ६६॥

श्रीयाज्ञवल्क्य उवाच—

ॐ नमो भगवते आदित्यायाखिलजगतामात्म-
स्वरूपेण काल-स्वरूपेण च चतुर्विधभूतनिकायानां
ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि चाकाश
इवोपाधिनाव्यवधीयमानो भवानेक एव क्षणलव-
निमेषावयवोपचित-संवत्सरगणेनापामादान-
विसर्गाभ्यामिमां लोकयात्रामनुवहति॥ ६७॥

श्रीयाज्ञवल्क्यजी इस प्रकार स्तुति करने लगे—हे ॐकार-स्वरूप भगवन् आदित्य! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे देव! आप एक होकर भी अखिल जगत्के अन्तरमें आत्मस्वरूपमें तथा बाहर कालरूपमें विराजित हैं। आप ब्रह्मादिसे लेकर स्तम्ब (घासकी पत्ती) तक चार प्रकारके (जरायुज, अण्डज, स्वेदज एवं उद्भिज्ज) प्राणियोंके निकेतन स्थान—समग्र जगत्के अन्तर और बाहरमें उपाधिके द्वारा अनाच्छादितरूपसे अवस्थित होकर अर्थात् उपाधिके धर्मोंसे असङ्ग रहकर आकाशवत् रहते हैं (जिस प्रकार आकाश अपनेमें विद्यमान बादलोंसे आच्छादित नहीं हो सकता, उसी प्रकार आप भौतिक (मिथ्या) उपाधियोंसे आच्छादित नहीं हो सकते।) क्षण, लव, निमेष इत्यादि अवयवोंसे (काल-खण्डोंसे) संघटित

संवत्सर-समष्टि द्वारा आप अपने तेजसे पृथ्वीका रसाकर्षण करके प्रत्येक वर्ष जलराशिका (वृष्टिका) दान करते हैं। इस प्रकार आदान-प्रदानके (शोषण-विसर्गके) साथ लोकोंका पालन करते हुए आप संसार-यात्राका सम्पादन करते हैं॥ ६७॥

यदु ह वाव विबुधर्षभ सवितरदस्तपत्यनुसवनमहरहराम्नाय-
विधिनोपतिष्ठमानानामखिल-दुरितवृजिनबीजावभर्जन
भगवतः समभिधीमहि तपन मण्डलम्॥ ६८॥

हे विबुधवर (देवश्रेष्ठ) सवितः! आप नित्य (प्रतिदिन) तीनों सन्ध्याओंमें वेद-विधिसे उपासना करनेवाले मनुष्योंकी सम्पूर्ण दुष्कृति, उसके फलस्वरूप दुःख एवं उसके बीजस्वरूप अज्ञानका विनाश कर देते हैं। हे तपन देव! हे भगवन्! मैं आपके इस प्रकाशमान् (तेजोमय) मण्डलके सम्मुख रहकर आपका ध्यान करता हूँ॥ ६८॥

य इह वाव स्थिरचरनिकराणां निजनिकेतनानां
मन-इन्द्रियासुगणाननात्मनः स्वयमात्मान्तर्यामी प्रचोदयति॥ ६९॥

हे जगत् पिता! यह चराचर जगत् आपका निकेतन-स्वरूप है। आप स्वयं अन्तर्यामी आत्मस्वरूप होकर स्थावर, जङ्गम सभीके जड़, मन, इन्द्रिय, एवं प्राणोंको प्रेरणा देते हुए उनको अपने-अपने कार्योंमें नियुक्त करते हैं॥ ६९॥

य एवेमं लोकमतिकराल-वदनान्धकारसंज्ञाजगर-
ग्रहगिलितं मृतकमिव विचेतनमवलोक्यानुकम्पया
परमकारुणिक ईक्षयैवोत्थाप्याहरहरनुसवनं श्रेयसि
स्वधर्माख्यात्मावस्थाने प्रवर्तयति॥ ७०॥

हे परम कारुणिक! आप इस जगत्को अति करालमुख अन्धकार (अज्ञान) रूप अजगरके द्वारा ग्रस्त, मृतप्राय एवं अचेतन देखकर अपने कृपा-कटाक्षपातसे (दया-दृष्टि-दानसे) उसे जाग्रत करते हैं; इस तरह आप अति करुणाकर हैं। आप

प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओंमें पुष्पात्माओंको आत्मतत्त्वमें अवस्थानरूप परमकल्याणप्रद स्वधर्ममें लगाते हैं अर्थात् आत्मोपासनामें प्रवर्त्तित (प्रेरित) करते हैं॥ ७०॥

अवनिपतिरिवासाधूनां भयमुदीरयन्नटति परित
आशापालैस्तत्र तत्र कमलकोशाञ्जलिभिरुपहृतार्हणः॥ ७१॥

आप पृथ्वीपतिके (राजाके) समान सर्वत्र परिभ्रमण करते हुए दुष्टोंके अन्तरमें भयका सञ्चार करते हैं। आपके उद्रेकका सञ्चारण-मार्गमें इन्द्रादि दिक्पालगण कमल-कोषके समान अपनी अञ्जलियोंके द्वारा अर्घ्य एवं आदरपूर्ण भेंटें आदि प्रदान करके आपकी उपासना करते हैं॥ ७१॥

अथ ह भगवंस्तव चरणनलिनयुगलं त्रिभुवन-
गुरुभिरभिवन्दितमहमयातयामयजुष्काम उपसरामीति॥ ७२॥

हे भगवन्! आप इतने महिमामण्डित हैं कि तीनों लोकोंके सभी पूजनीय जन आपके चरण-युगलकी वन्दना करते हैं, अतः आप त्रिभुवन पूजनीय महानुभावोंके द्वारा भी पूजनीय हैं। मैंने दूसरोंके द्वारा अज्ञात (अयातयाम अर्थात् नित्य-नवीन) यजुर्वेद मन्त्रोंकी प्राप्ति हेतु आपके चरण-कमलोंका आश्रय लिया है॥ ७२॥

श्रीसूत उवाच—

एवं स्तुतः स भगवान् वाजिरूपधरो रविः।
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादितः॥ ७३॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—याज्ञवल्क्यके द्वारा इस प्रकार अभिवन्दित एवं सन्तुष्ट होकर सूर्यदेवने अश्व रूप धारण किया और ऋषि याज्ञवल्क्यको अन्योंके द्वारा अविज्ञात यजुर्वेदके मन्त्रोंका उपदेश प्रदान किया। इससे पहले ये मन्त्र किसीको भी प्राप्त न थे॥ ७३॥

यजुर्भिरकरोच्छाखा दश पञ्चशतैर्विभुः।
जगृहुर्वाजसन्यस्ताः काण्वमाध्यन्दिनादयः॥ ७४॥

परम शक्तिमान् याज्ञवल्क्यने सैकड़ों यजुर्वेदीय मन्त्रों द्वारा पंद्रह शाखाओंका प्रणयन किया। काण्व, माध्यन्दिन आदि ऋषियोंने इन समस्त शाखाओंका अध्ययन किया। अश्वरूपी सूर्यके वाजस् अर्थात् अश्वकेशरसे (अयालोंसे) निःसृत होनेके कारण इन शाखाओंको वाजसनेयी कहा जाता है॥ ७४॥

जैमिनेः सामगस्यासीत् सुमन्तुस्तनयो मुनिः।
सुत्वांस्तु तत्सुतस्ताभ्यामेकैकां प्राह संहिताम्॥ ७५॥

सामवेदज्ञ जैमिनिका पुत्र सुमन्तु और सुमन्तुका सुत्वान् नामक पुत्र था। जैमिनिने अपनी संहिताको दो भागोंमें विभक्त किया तथा पुत्र और पौत्रको एक-एक शाखाका उपदेश प्रदान किया॥ ७५॥

सुकर्मा चापि तच्छिष्यः सामवेदतरोर्महान्।
सहस्रसंहिताभेदं चक्रे साम्नां ततो द्विजः॥ ७६॥
हिरण्यनाभः कौशल्यः पौष्यञ्जिश्च सुकर्मणः।
शिष्यौ जगृहतुश्चान्य आवन्त्यो ब्रह्मवित्तमः॥ ७७॥

हे द्विज! जैमिनिके अति मेधावी शिष्य सुकर्माने भी सामवेदरूप महातरुको एक हजार शाखाओंमें विभक्त कर दिया। शौनकजी! इसके बाद सुकर्माके शिष्य कुशल-तनय हिरण्यनाभ एवं पौष्यञ्जि—ये दो शिष्य तथा आवन्त्य नामक अन्य ब्रह्मज्ञ-प्रवर शिष्यने इन सभी संहिताओंको ग्रहण किया। इस प्रकार सामवेदका विस्तार हुआ॥ ७६-७७॥

उदीच्याः सामगाः शिष्या आसन् पञ्चशतानि वै।
पौष्यञ्ज्यावन्त्ययोश्चापि तांश्च प्राच्यान् प्रचक्षते॥ ७८॥

पौष्यञ्जि, आवन्त्य और हिरण्यनाभके उत्तरदेशीय पाँच सौ सामवेदज्ञ शिष्य थे। उन्होंने कालान्तरमें उत्तरदेशीय और पूर्वदेशीय शिष्योंको उस विषयमें उपदेश दिया। वे उत्तरदेशीय निवासी होनेके कारण उदीच्य सामवेदी कहलाये, कालक्रमसे उन्हींको प्राच्य सामवेदी भी कहते हैं। उन्होंने एक-एक संहिताका अध्ययन किया॥ ७८॥

लौगाक्षिर्माङ्गलिः कुल्यः कुशीदः कुक्षिरेव च।
पौष्यञ्जिशिष्या जगृहुः संहितास्ते शतं शतम्॥ ७९॥

पौष्यञ्जिके और भी शिष्य थे—लौगाक्षि, माङ्गलि, कुल्य, कुशीद और कुक्षि। इनमेंसे प्रत्येकने सौ-सौ संहिताओंका अध्ययन किया॥ ७९॥

कृतो हिरण्यनाभस्य चतुर्विंशतिसंहिताः।
शिष्य ऊचे स्वशिष्येभ्यः शेषा आवन्त्य आत्मवान्॥ ८०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे वेदशाखाप्रणयनं नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

हिरण्यनाभके शिष्य कृत नामक मुनिने अपने शिष्योंको चौबीस साम संहिताओंका अध्ययन कराया। कुछ प्रसिद्ध संहिताएँ शेष रह गयी थीं, उन्हें आत्मवान् आवन्त्यने अपने शिष्योंको प्रदान कर दिया॥ ८०॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके छठे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

अथर्ववेदकी शाखाओं एवं पुराणोंके नाम तथा लक्षण

श्रीसूत उवाच—

अथर्ववित् सुमन्तुश्च शिष्यमध्यापयत् स्वकाम्।
संहितां सोऽपि पथ्याय वेददर्शाय चोक्तवान्॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—सुमन्तुमुनि अथर्ववेदके ज्ञाता थे। उन्होंने अपने निस्सीम तेजयुक्त कबन्ध नामक प्रिय शिष्यको अपनी संहिताके विषयमें उपदेश प्रदान किया। कबन्धने उसे दो भागोंमें विभक्तकर पथ्य और वेददर्श नामक दो शिष्योंको उस विषयमें उपदेश प्रदान किया॥ १॥

शौक्लायनिर्ब्रह्मबलिर्मोदोषः पिप्पलायनिः।
वेददर्शस्य शिष्यास्ते पथ्यशिष्यानथो शृणु।
कुमुदः शुनको ब्रह्मन् जाजलिश्चाप्यथर्ववित्॥ २॥

वेददर्शके चार शिष्य हुए—शौक्लायनि, ब्रह्मबलि, मोदोष और पिप्पलायनि। वेददर्शने अपनी संहिताको चार भागोंमें विभक्त करके इन चार शिष्योंको पढ़ाया। अब पथ्यके शिष्योंके नाम सुनो। हे ब्रह्मन्! ये शिष्य थे—कुमुद, शुनक और जाजलि—इन सबने पथ्यसे अथर्ववेदका अध्ययन किया था॥ २॥

बभ्रुः शिष्योऽथाङ्गिरसः सैन्धवायन एव च।
अधीयेतां संहिते द्वे सावर्ण्याद्यास्तथापरे॥ ३॥

अनन्तर अङ्गिराके पुत्र शुनकके शिष्य बभ्रु एवं सैन्धवायन—इन दोनोंने शुनक द्वारा विभक्त अथर्ववेदकी तीन शाखाओंका अध्ययन किया। इसके बाद सैन्धवायन आदिके शिष्य सावर्ण्य आदिने भी इन शाखाओंकी शिक्षा प्राप्त की॥ ३॥

नक्षत्रकल्पः शान्तिश्च कश्यपाङ्गिरसादयः।
एते आथर्वणाचार्याः शृणु पौराणिकान् मुने॥ ४॥

हे मुनिवर! नक्षत्रकल्प, शान्तिकल्प, कश्यप, आङ्गिरस आदि अथर्ववेदके आचार्य थे। हे मुनि! अब पौराणिकोंके नाम सुनो॥ ४॥

त्रय्यारुणिः कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रणः।
वैशम्पायन-हारीतौ षड्वै पौराणिका इमे॥ ५॥

त्रय्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, वैशम्पायन एवं हारीत—ये छहों पुराणोंके आचार्य हैं॥ ५॥

अधीयन्त व्यासशिष्यात् संहितां मत्पितुर्मुखात्।
एकैकामहमेतेषां शिष्यः सर्वाः समध्यगाम्॥ ६॥

श्रीव्यासदेवके शिष्य मेरे पिता रोमहर्षणसे इन छह जनोंने एक-एक करके पुराण संहिताओंका अध्ययन किया। मैं इन छहों पुराण-आचार्योंका शिष्य हूँ। मैंने इन आचार्योंसे सभी (छहों) संहिताओंका सम्यक्रूपेण अध्ययन किया है॥ ६॥

कश्यपोऽहञ्च सावर्णी रामशिष्योऽकृतव्रणः।
अधीमहि व्यासशिष्याच्चतस्रो मूलसंहिताः॥ ७॥

उन छह संहिताओंके अतिरिक्त और भी चार मूल संहिताएँ थीं। मुनि कश्यप, सावर्णि एवं परशुरामजीके शिष्य अकृतव्रत तथा इन सबके साथ मैंने भी व्यासजीके शिष्य अपने पिता श्रीरोमहर्षणजीसे इन मूल चार संहिताओंका अध्ययन किया है। (रोमहर्षणने पुराणोंको चार मूल संहिताओंमें विभाजित कर दिया था।)॥ ७॥

पुराणलक्षणं ब्रह्मन् ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम्।
शृणुष्व बुद्धिमाश्रित्य वेदशास्त्रानुसारतः॥ ८॥

हे ब्रह्मन्! अब वेदशाखाके अनुसार ब्रह्मर्षियों द्वारा निरूपित पुराणोंके लक्षणोंको समाहित चित्तसे श्रवण करो॥ ८॥

सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्तिरक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः॥ ९॥
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः।
केचित् पञ्चविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया॥ १०॥

पुराणज्ञ पण्डितोंने पुराण प्रसङ्गमें इस विश्वका प्रकाश (ब्रह्माण्डकी सृस्टि), विसर्ग (लोक एवं जीवोंकी सृष्टि), विश्वके लोगोंकी वृत्ति (पालन-पोषण), भरण (रक्षा), मन्वन्तर (विभिन्न मनुओंका शासनकाल), वंश (महान् राजओंके वंश), वंशानुचरित (राजाओंके कार्यकलाप), संस्था (प्रलय अथवा निरोध), कारण (हेतु—कर्मवासना शब्दसे कही जानेवाली ऊतियाँ) एवं अपाश्रय (आश्रय)—इन दस लक्षणोंसे युक्त शास्त्रको पुराण कहा है। हे मुनिवर! कोई-कोई दस लक्षणोंसे युक्त शास्त्रको महापुराण एवं पाँच लक्षणों (सृष्टि, गौणसृष्टि या परिसर्ग, राजवंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित) से युक्त शास्त्रको उपपुराण कहते हैं॥ ९-१०॥

अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः ।
भूतसूक्ष्मेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते॥ ११॥

लक्षणोंको विस्तारपूर्वक कहते हैं—अव्याकृत (अव्यक्तावस्था) प्रधानके गुणोंमें जब क्षोभ उत्पन्न होता है—तब उससे महत् तत्त्व उत्पन्न होता है—महत् तत्त्वसे त्रिविध अहङ्कार (तामस, राजस और वैकारिक) की उत्पत्ति होती है। त्रिविध अहङ्कारसे भूत, तन्मात्राएँ, इन्द्रिय, विषय एवं इन्द्रियाधिष्ठातृ देवताओंकी उत्पत्ति 'सृष्टि' नामसे कही जाती है॥ ११॥

पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद्बीजं चराचरम्॥ १२॥

ईश्वरके अनुग्रहसे सामर्थ्य प्राप्त करके महत्तत्त्वादि सदसद् (शुभाशुभ) पूर्वकर्मवासनाओंके अनुसार जीव-उपाधि स्वरूप चराचरकी (जीव नामक शरीरोंकी) उत्पत्ति करते हैं। इसी उत्पत्ति

अर्थात् कार्य-प्रवाहका (एक बीजसे दूसरे बीजके समान सृष्टिका नाम 'विसर्ग' है॥ १२॥

वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च।
कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा॥ १३॥

चर प्राणियोंके जीवन-निर्वाहकी अथवा भरण-पोषणकी विधिको वृत्ति कहते हैं। चर प्राणियोंकी उपजीविकाकी सामग्री (वृत्ति) साधारणतः अचरभूतगण (जड़प्राणी) ही हैं, चर प्राणियोंके दुग्धादि भी जीवनोपाय हैं। मनुष्योंमें कुछने स्वभाववश कामनाके अनुसार तथा कुछने विधि-वाक्योंकी प्रेरणाके अनुसार यज्ञादि कराना तथा खेती-व्यवसायादिको जीविकाके निर्वाहके लिए निश्चित किया है॥ १३॥

रक्षाच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे।
तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः॥ १४॥

पक्षी इत्यादि तिर्यक् योनि, मनुष्य, ऋषि एवं देवताओंमें भगवान् श्रीहरिके जो युग-युगमें अवतार होते हैं, उन-उन अवतारोंमें वे वेद-द्वेषी दैत्योंका वध करते हैं, भगवान्की यह दैत्य-विनाशन-अवतार लीला ही 'रक्षा' नामसे कही जाती है। दुष्टोंका निग्रह करके भगवान् सभी समय बड़े-बड़े भयोंसे अपने भक्तोंकी रक्षा करते हैं। वस्तुतः परमेश्वरका अनुग्रह (पोषण) ही 'रक्षण' है।॥ १४॥

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
ऋषयोंऽशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते॥ १५॥

स्वायम्भुवादि मनु, इन्द्रादि देवता, मनुपुत्र, प्रधान-प्रधान देवता, सप्त ऋषि एवं भगवान्के अंशावतार—ये छह (षड्विध अथवा षडङ्ग) जन जिस समय अपने-अपने अधिकारमें प्रवृत्त होते हैं अर्थात् अपना-अपना कृत्य करते हैं, उसी समयको मन्वन्तर कहा जाता है। मन्वन्तरोंको सद्धर्म भी कहते हैं॥ १५॥

राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः।
वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये॥ १६॥

ब्रह्माजीसे उत्पन्न त्रैकालिक अर्थात् भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य तक की सन्तान-परम्पराको वंश कहा जाता है और उन विशुद्ध राजाओं तथा उन राजाओंके सुप्रसिद्ध वंशधरोंके (अर्थात् प्रियव्रत, ध्रुव, पृथु इत्यादिके) चरित्रको वंशानुचरित कहा जाता है॥ १६॥

नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः।
संस्थेति कविभिः प्रोक्तश्चतुर्द्धास्य स्वभावतः॥ १७॥

अतीतदर्शी विद्वानोंने इस विश्वके नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य एवं आत्यन्तिक—इन चार प्रकारके स्वभावतः मायिक लयका 'संस्था' नामसे वर्णन किया है। संस्थाको ही प्रलय कहते हैं॥ १७॥

हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः।
यञ्चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे॥ १८॥

इस जगत्के सर्गादि कार्योंका निमित्त कारण अर्थात् हेतु जीव है। अविद्याके कारण यह जीव कर्म करता है—यह कर्म-कर्त्ता जीव एवं उसका अदृष्ट ही विश्व-सृष्टि इत्यादि कार्योंका हेतु अथवा निमित्त बन जाता है। चैतन्य प्राधान्यकी दृष्टिसे देखनेवाले इस जीवको अनुशयी (मायिक उपाधिके साथ प्रकृतिमें शयन करनेवाला मायिक शरीरस्थ) कहते हैं, तो दूसरे इसे अव्याकृत (अव्यक्त) अर्थात् साधुसङ्गवश भक्ति-पथ पर रहनेवाला अप्राकृत चिन्मय पार्षद शरीरवान् भी कहते हैं। भगवान् इस जगत्में बद्ध जीवोंके ऐहिक विषय-भोगके लिए, पारलौकिक विषय भोगके लिए, आत्माकी मुक्ति एवं भक्तिकी प्राप्तिके लिए जीवोंके बुद्धि, इन्द्रिय, मन एवं प्राणोंका सृजन करते हैं। अन्यथारूपका त्याग करके स्वरूपमें अवस्थान, विशेषरूपसे चिद्घन शरीर प्राप्त करके अवस्थित होनेको मुक्ति कहा जाता है। बद्धावस्थामें जीवको यह उपलब्धि नहीं हो सकती॥ १८॥

व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
मायामयेषु तद्ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः॥ १९॥

जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिरूप अवस्थाओंमें—इनकी अभिमानी विश्व-तैजस-प्राज्ञरूप मायामय जीव-वृत्तियोंमें जो अन्वय-व्यतिरेकरूपसे अर्थात् विश्व, तैजस प्राज्ञ—इन वृत्तियोंमें साक्षीरूपसे अन्वित हैं तथा समाधि आदिमें जिनका व्यतिरेक रहता है तथा जो इनमें ओतप्रोतरूपसे वर्त्तमान रहनेपर भी इनसे परे तुरीय आदि रूपोंमें भी पृथक्‌रूपसे वर्त्तमान हैं—संसारकी प्रतीति एवं बाधमें भी अधिरूठानकी अवधिभूत ब्रह्म-वस्तुको अपाश्रय नामसे कहा गया है॥ १९॥

पदार्थेषु यथा द्रव्यं सन्मात्रं रूपनामसु।
बीजादिपञ्चतान्तासु ह्यवस्थासु युतायुतम्॥ २०॥

मिट्टी आदि पदार्थ जिस प्रकारसे घट आदि पदार्थोंमें युक्त अर्थात् अन्वित भावसे और उनके अतिरिक्त स्थानोंमें उनसे अयुक्त अर्थात् अनन्वित भावसे अवस्थित हैं; विशेषतः रूप एवं नामोंमें सत्तामात्रसे अवस्थित हैं, उसी प्रकार गर्भाधान आदिसे पञ्चत्व तक देहकी सभी अवस्थाओंमें जो साक्षी और अधिष्ठानके रूपमें युक्त एवं अयुक्त हैं—वह ब्रह्म वस्तु ही अपाश्रय (अद्वितीय आश्रय) है॥ २०॥

विरमेत यदा चित्तं हित्वा वृत्तित्रयं स्वयम्।
योगेन वा तदात्मानं वेदेहाया निवर्त्तते॥ २१॥

चित्त जिस समय जाग्रदादि तीनों वृत्तियोंका परिहार करके स्वभावतः अथवा योगाभ्यासके कारण विषयोंसे विरत हो जाता है, उस समय आत्म-स्वरूपकी उपलब्धि होती है और साधक सांसारिक चेष्टाओंसे उपरत हो जाता है। उदराग्नि जिस प्रकार भुक्त द्रव्योंको जीर्ण कर डालती है, इसी न्यायसे (उसी प्रकार) चित्त केवला भक्ति-श्रवण-कीर्त्तनादि द्वारा स्वयं ही तीनों वृत्तियों एवं तीनों गुणोंको त्याग करके परमात्माका अनुभव करता है॥ २१॥

एवं लक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविदः।
मुनयोऽष्टादश प्राहुः क्षुल्लकानि महान्ति च॥ २२॥

हे शौनकजी! पुराणज्ञ मुनिगण इन लक्षणोंसे युक्त अठारह उपपुराण एवं अठारह महापुराणोंका निर्णय करते हैं। इनमें कोई-कोई तो क्षुद्र कलेवर हैं और कोई आकारमें बृहत् हैं॥ २२॥

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवञ्च शैवं लैङ्गं सगारुडम्।
नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कान्द-संज्ञितम्॥ २३॥
भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम्।
वाराहं मात्स्यं कौर्मं च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट्॥ २४॥

उनके नाम ये हैं—ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, लिङ्गपुराण, गरुड़पुराण, नारदपुराण, भागवतपुराण, अग्निपुराण, स्कन्दपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, मार्कण्डेय-पुराण, वामनपुराण, वराहपुराण, मत्स्यपुराण, कूर्मपुराण और ब्रह्माण्डपुराण ये अठारह महापुराण हैं॥ २३-२४॥

ब्रह्मन्निदं समाख्यातं शाखाप्रणयनं मुनेः।
शिष्यशिष्यप्रशिष्याणां ब्रह्मतेजोविवर्द्धनम्॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे पुराणलक्षणवर्णनं सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

हे ब्रह्मन्! महर्षि वेदव्यासने वेद-पुराणकी शाखाओंका विस्तार किया, जिनका मैंने तुम्हारे लिए वर्णन किया। शिष्य-प्रशिष्य परम्परासे जो इन वेद-संहिता एवं पुराण-संहिताओंको कहते-सुनते हैं, उनके ब्रह्म-तेजकी वृद्धि होती है।

पुराण-प्रकाश भगवान्‌की एक अपूर्व दयाका दान है। पृथ्वी पर यदि पुराणोंका प्रचार न होता, तो आज हम भगवान्‌के मत्स्य, कूर्मादि अवतारोंको जान नहीं पाते और राम, कृष्ण आदिकी मधुर लीलाओंके आस्वादनसे वञ्चित रह जाते॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके सातवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीकी तपस्या और वर-प्राप्ति

श्रीशौनक उवाच—

सूत जीव चिरं साधो वद नो वदतां वर।
तमस्यपारे भ्रमतां नृणां त्वं पारदर्शनः॥ १॥

श्रीशौनकजीने कहा—हे वाग्मिवर (प्रवक्ताओंमें श्रेष्ठ) सूतजी! आप चिरञ्जीवी हों। आप इस दुस्तर संसारमें (अज्ञानान्धकारमें) भटकनेवाले मनुष्योंके पथ-प्रदर्शक हैं। (मार्कण्डेय पुराणका नाम सुनते ही शौनकादि ऋषियोंको मार्कण्डेयकी चरितावलीको जाननेकी उत्सुकता हुई है।)॥ १॥

आहुश्चिरायुषमृषिं मृकण्डु-तनयं जनाः।
यः कल्पान्ते ह्युर्व्वरितो येन ग्रस्तमिदं जगत्॥ २॥

स वा अस्मत्कुलोत्पन्नः कल्पेऽस्मिन् भार्गवर्षभः।
नैवाधुनापि भूतानां संप्लवः कोऽपि जायते॥ ३॥

एक एवार्णवे भ्राम्यन् ददर्श पुरुषं किल।
वटपत्रपुटे तोकं शयानन्त्वेकमद्भुतम्॥ ४॥

एष नः संशयो भूयान् सूत कौतूहलं यतः।
तं नश्छिन्धि महायोगिन् पुराणेष्वपि सम्मतः॥ ५॥

मनुष्य मृकण्ड-तनय मार्कण्डेय ऋषिको चिरञ्जीवी कहते हैं। प्रलयकालमें जब यह जगत् विध्वस्त हो गया था, तब एकमात्र वे ही बचे थे। हे सूतजी! भृगुवंशियोंमें श्रेष्ठ मार्कण्डेयजी इसी कल्पमें हमारे वंशमें उत्पन्न हुए हैं और इस कल्पमें अब तक कोई प्रलय नहीं हुआ है, फिर वे अकेले प्रलय-समुद्रमें किस प्रकार विचरण करते रहे? हम यह प्रवाद सुनते आये

हैं कि प्रलय-पयोधिमें (एकार्णवमें) विचरण करते हुए उन्होंने अक्षय-वटके पत्तेके दोनेमें सोये हुए बालकाकृति एक अद्भुत पुरुषको देखा था। हे महायोगिन्! इस विषयमें हमारे मनमें महा सन्देह है। आप सभी वादियोंके द्वारा पुराणज्ञरूपमें सम्मत हैं। हे सूतजी! हमें बड़ा कौतूहल हो रहा है। आप हमारे इस सन्देहको मिटा दीजिए॥ २-५॥

श्रीसूत उवाच—

प्रश्नस्त्वया महर्षेऽयं कृतो लोकभ्रमापहः।
नारायणकथा यत्र गीता कलिमलापहा॥ ६॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे महर्षे! जिसका वर्णन करनेसे कलिमल-विनाशक भगवान्‌के कथा-चरितका गुणगान होगा तथा जिसे जानकर लोकभ्रम अर्थात् मनुष्योंके संशयका नाश होगा, आपने उसी विषयसे सम्बन्धित प्रश्न किया है॥ ६॥

प्राप्तद्विजातिसंस्कारो मार्कण्डेयः पितुः क्रमात्।
छन्दांस्यधीत्य धर्मेण तपःस्वाध्यायसंयुतः॥ ७॥
बृहद्व्रतधरः शान्तो जटिलो वल्कलाम्बरः।
बिभ्रत् कमण्डलुं दण्डमुपवीतं समेखलम्॥ ८॥
कृष्णाजिनं साक्षसूत्रं कुशांश्च नियमर्द्धये।
अग्न्यर्कगुरुविप्रात्मस्वर्च्चयन् सन्ध्ययोर्हरिम्॥ ९॥
सायं प्रातः स गुरवे भैक्ष्यमाहृत्य वाग्यतः।
बुभुजे गुर्वनुज्ञातः सकृन्नोचेदुपोषितः॥ १०॥
एवं तपःस्वाध्यायपरो वर्षाणामयुतायुतम्।
आराधयन् हृषीकेशं जिग्ये मृत्युं सुदुर्जयम्॥ ११॥

मार्कण्डेयने अपने पितासे गर्भाधानादिसे लेकर उपनयन तक सभी संस्कार विधि-विधानसे प्राप्त किये। उन्होंने वेदोंका अध्ययन किया, तपस्या की, स्वाध्यायमें लगे रहे और तब वे एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी बन गये। वे सदैव शान्त रहते थे, जटाएँ एवं बल्कल

(वृक्षकी छाल) धारण करते थे। धर्मकी वृद्धिके लिये मेखला (कटिसूत्र), यज्ञोपवीत, दण्ड, कमण्डलु, अक्षसूत्र (कमलके बीजकी जपमाला), कालामृगचर्म एवं कुश धारण करके प्रातः और सायंकालमें अग्नि, सूर्य, गुरु, ब्राह्मण एवं आत्मामें विराजमान श्रीहरिकी आराधना-अर्चना करते थे। प्रातः एवं सायंकाल भिक्षामें जो भी लाते, वह सब गुरुजीके लिए उपहारस्वरूप निवेदन कर देते। उनकी अनुमति होनेपर ही मौन भावसे एक बार भोजन करते, अन्यथा उपवास करते। इस प्रकार उन्होंने तपस्या एवं वेदपाठमें रत रहकर अयुत-अयुत वर्षों तक भगवान् हृषीकेशकी आराधना करके दुर्जय मृत्युको भी जीत लिया था॥ ७-११॥

ब्रह्मा भृगुर्भवो दक्षो ब्रह्मपुत्राश्च येऽपरे।
नृदेव-पितृभूतानि तेनासन्नतिविस्मिताः॥ १२॥

उस समय ब्रह्मा, भृगु, शिव, दक्ष एवं अन्यान्य ब्रह्माजीके पुत्र, मनुष्य, देवता, पितरगण, भूतगण सभी उनके इस दुष्कर कार्यको (दुर्जय मृत्युपर विजयको) देखकर अतिशय विस्मित हो गये॥ १२॥

इत्थं बृहद्व्रतधरस्तपःस्वाध्याय-संयमैः।
दध्यावधोक्षजं योगी ध्वस्तक्लेशान्तरात्मना॥ १३॥

महायोगी मार्कण्डेयने वेदपाठ (तपस्या) एवं संयम (आत्मानुशासन) द्वारा नैष्ठिक ब्रह्मचर्यको धारण किया—उनके रागादि सम्पूर्ण क्लेश ध्वस्त हो गये, कोई कामना न रही। अपने निवृत्त-चित्तको उन्होंने अन्तरात्माकी ओर प्रत्याहृत किया (मोड़ लिया) और शुद्ध अन्तःकरणमें भगवान् श्रीहरिका ध्यान करने लगे॥ १३॥

तस्यैवं युञ्जतश्चित्तं महायोगेन योगिनः।
व्यतीयाय महान् कालो मन्वन्तरषडात्मकः॥ १४॥

महायोगी मार्कण्डेयने अमोघ योगके द्वारा श्रीहरिमें चित्तका ऐसा संयोग किया कि छह मन्वन्तर तकका दीर्घ समय ध्यानमें ही व्यतीत हो गया॥ १४॥

एतत् पुरन्दरो ज्ञात्वा सप्तमेऽस्मिन् किलान्तरे।
तपोविशङ्कितो ब्रह्मन्नारेभे तद्विघातनम्॥ १५॥

हे ब्रह्मन्! इस सप्तम मन्वन्तरमें इन्द्रको जब उनकी तपस्याके विषयमें ज्ञात हुआ, तो उन्होंने स्व-पद-च्युतिकी आशङ्कासे (तपस्या द्वारा मेरा स्थान ग्रहणकर लेंगे) उनकी तपस्यामें विघ्न डालना आरम्भ कर दिया॥ १५॥

गन्धर्वाप्सरसः कामं वसन्तमलयानिलौ।
मुनये प्रेषयामास रजस्तोकमदौ तथा॥ १६॥

इन्द्रने मार्कण्डेयजीकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिए गन्धर्व, अप्सराएँ, कामदेव, वसन्त, मलयानिल, रजोगुणके अत्यन्त प्रिय पुत्र लोभ और मद—इन सबको उनके आश्रमपर भेजा॥ १६॥

ते वै तदाश्रमं जग्मुर्हिमाद्रेः पार्श्व उत्तरे।
पुष्पभद्रा नदी यत्र चित्राख्या च शिला विभो॥ १७॥

हे विभो! ये सभी मार्कण्डेय-आश्रममें उपस्थित हुए, जो हिमालयके उत्तर भागमें अवस्थित था। इस स्थान पर पुष्पभद्रा नदी एवं चित्रा नामकी शिला वर्त्तमान है॥ १७॥

तदाश्रमपदं पुण्यं पुण्यद्रुमलताञ्चितम्।
पुण्यद्विजकुलाकीर्णं पुण्यामलजलाशयम्॥ १८॥
मत्तभ्रमरसङ्गीतं मत्तकोकिलकूजितम्।
मत्तबर्हिनटाटोपं मत्तद्विजकुलाकुलम्॥ १९॥
वायुः प्रविष्ट आदाय हिमनिर्झरशीकरान्।
सुमनोभिः परिष्वक्तो ववावुत्तम्भयन् स्मरम्॥ २०॥

उस समय मार्कण्डेयजीका आश्रम पुण्य विमल जलाशयसे युक्त था और मलय-पवन प्रवाहित हो रहा था। पुण्य वृक्षावली आकर्षक लताओंसे सुशोभित थी। पुण्य-पावन मुनिगण चारों ओर विराजित थे। पुष्पोंके मकरन्दका पान करके मदमत्त हुए भ्रमरोंका सङ्गीत मुखरित (गुञ्जार) हो रहा था, तो प्रमत्त कोकिल-वृन्दका

कूजन मुखरित हो रहा था। उनमत्त मयूर विचित्र पंख फैलाकर कलापूर्ण नृत्य करते हुए अत्यन्त गर्वके साथ के-का रव कर रहे थे। मत्त विहग-कुलसे वह आश्रम सङ्कुलित था। इस अपूर्व आश्रममें पुण्य सलिल प्रविष्ट होकर सुशीतल निर्झरके जल-बिन्दुओंको लेकर सुगन्धित कुसुम-राशिका आलिङ्गन करनेके कारण प्राणियोंके चित्तमें कामवेगको उद्दीप्त करते हुए प्रवाहित हो रहा था॥ १८-२०॥

उद्यच्चन्द्रनिशावक्त्रः प्रवालस्तवकालिभिः।
गोपद्रुमलताजालैस्तत्रासीत् कुसुमाकरः॥ २१॥

आश्रममें वसन्त ऋतुका आविर्भाव हो गया था। सन्ध्याका समय था। उदीयमान चन्द्रमाकी (अर्थात् निशा-नायकके मुखकी) ज्योत्स्ना सन्ध्या-कालको दीप्त कर रही थी। वृक्षोंकी पंक्तियोंपर नवीन पल्लवोंके स्तवक (गुच्छे) संलग्न थे। लताएँ वृक्षोंका आलिङ्गन करते हुए अति शोभा पा रही थीं॥ २१॥

अन्वीयमानो गन्धर्वैर्गीतवादित्रयूथकैः।
अदृश्यतात्तचापेषुः स्वःस्त्रीयूथपतिः स्मरः॥ २२॥

इतने ही में हाथोंमें धनुष-बाण (सम्मोहनादि बाण) लिये कामदेव दिखायी दिया। अखिल गीत-वाद्यादिमें पारङ्गत गन्धर्व उसके पीछे-पीछे आ रहे थे। अप्सराओंका झुण्ड भी उसके साथ-साथ चला आ रहा था॥ २२॥

हुत्वाग्निं समुपासीनं ददृशुः शक्रकिङ्कराः।
मीलिताक्षं दुराधर्षं मूर्त्तिमन्तमिवानलम्॥ २३॥

अग्निहोत्र होमकी समाप्तिके बाद दुराधर्ष अर्थात् अद्भुत तेजसे सम्पन्न मुनि आँखें बन्द करके भगवान्का ध्यान कर रहे थे—इस अवस्थामें उनको देखकर इन्द्रके अनुचरोंको अनुभव हुआ कि अग्निदेव ही साक्षात् मूर्त्तिमान होकर विराजमान हों॥ २३॥

ननृतुस्तस्य पुरतः स्त्रियोऽथो गायका जगुः।
मृदङ्गवीणापणवैर्वाद्यं चक्रुर्मनोरमम्॥ २४॥

उस समय अप्सराएँ उनके सम्मुख नृत्य करने लगीं, गायकवृन्द सुमधुर गान करने लगे और वादक मृदङ्ग-वीणा-पणव इत्यादि यन्त्रोंके द्वारा मनोरम वाद्य बजाने लगे॥ २४॥

सन्दधेऽस्त्रं स्वधनुषि कामः पञ्चमुखं तदा।
मधुर्मनो रजस्तोक इन्द्रभृत्या व्यकम्पयन्॥ २५॥

कन्दर्पने भी उसी समय अपने पुष्प-निर्मित शरासनपर पञ्चमुख (शोषण, मोहन, सन्दीपन, तापन एवं मादन) अस्त्रका सन्धान किया। वसन्त, लोभ, मद एवं अन्यान्य इन्द्रके सेवक भी ऋषि मार्कण्डेयके चित्तमें चाञ्चल्य उत्पन्न करनेकी चेष्टा करने लगे॥ २५॥

क्रीडन्त्याः पुञ्जिकस्थल्याः कन्दुकैः स्तनगौरवात्।
भृशमुद्विग्नमध्यायाः केशविस्रंसितस्रजः॥ २६॥
इतस्ततो भ्रमदृष्टेश्चलन्त्या अनुकन्दुकम्।
वायुर्ज्जहार तद्वासः सूक्ष्मं त्रुटितमेखलम्॥ २७॥

पुञ्जिकस्थली नामकी कोई अप्सरा गेंद खेलनेमें व्यस्त थी। स्तनोंके भारके कारण उसका मध्य कटिभाग लचक जाता था। कन्दुककी उछालकी दिशामें उसके नेत्र इधर-उधर सञ्चालित हो रहे थे, केशोंमें सुसज्जित पुष्पमालाओंसे पुष्प धरतीपर झड़ रहे थे, कन्दुकके पीछे दौड़नेके कारण उसकी मेखला टूट गयी, जिससे उसके सूक्ष्म वसन (झीने वस्त्र) को वायु सहसा उड़ा ले चली॥ २६-२७॥

विससर्ज तदा बाणं मत्वा तं स्वजितं स्मरः।
सर्वं तत्राभवन्मोघमनीशस्य यथोद्यमः॥ २८॥

इतने ही में कन्दर्पने विचार किया कि मुनिको मेरे द्वारा जीत लिया गया है, अतः उसने अपने काम-बाणका मुनिपर सन्धान कर दिया। जिस तरह अनीश अर्थात् दैवानुकूल्य-रहित (नास्तिक अथवा भाग्यरहित) व्यक्तिकी सभी चेष्टाएँ व्यर्थ हो जाती हैं, उसी प्रकार मुनिपर प्रयुक्त कामदेवके सभी साधन व्यर्थ हो गये॥ २८॥

त इत्थमपकुर्वन्तो मुनेस्तत्तेजसा मुने।
दह्यमाना निववृतुः प्रबोध्याहिमिवार्भकाः॥ २९॥

हे मुने! बालक जिस प्रकार सोये हुए साँपको जगाकर बादमें 'अब क्या होगा' यह सोचकर उसके प्रतापसे डरकर भाग जाते हैं, उसी प्रकार इन्द्रके अनुचरोंने मुनिके प्रतिकूल आचरण तो किया, किन्तु बादमें उनके तेजसे उत्पीड़ित (दग्ध) होकर वहाँसे भाग गये॥ २९॥

इतीन्द्रानुचरैर्ब्रह्मन् धर्षितोऽपि महामुनिः।
यन्नागादहमो भावं न तच्चित्रं महत्सु हि॥ ३०॥

हे ब्रह्मन्! इन्द्रके अनुचरोंने महामुनि मार्कण्डेयपर धृष्टतापूर्वक आक्रमण किया, किन्तु स्वयं ही पराजित हो गये। "मैंने कामदेवको जीत लिया"—यह अहङ्कारजनित विकार महामुनिमें उदित ही नहीं हुआ। महापुरुषोंका ऐसा चरित्र होना कोई विचित्र बात नहीं है॥ ३०॥

दृष्ट्वा निस्तेजसं कामं सगणं भगवान् स्वराट्।
श्रुत्वानुभावं ब्रह्मर्षेर्विस्मयं समगात् परम्॥ ३१॥

बलशाली इन्द्रने अनुचरोंके साथ कामदेवके पराभवको देखा और योगशक्तिसम्पन्न मार्कण्डेय ऋषिके प्रभावको देखा, तो वे अतिशय विस्मित हो उठे॥ ३१॥

तस्यैवं युञ्जतश्चित्तं तपःस्वाध्यायसंयमैः।
अनुग्रहायाविरासीन्नरनारायणो हरिः॥ ३२॥

मार्कण्डेय ऋषि तपस्या, वेदाभ्यास एवं संयम द्वारा अपने चित्तको भगवान्‌में अर्पित करके योगाभ्यासरत रहते थे, तब उनपर अनुग्रह-प्रसादके लिए भगवान् श्रीहरि नर-नारायणरूपोंमें वहाँ उपस्थित हुए॥ ३२॥

तौ शुक्लकृष्णौ नवकञ्जलोचनौ,
चतुर्भुजौ रौरववल्कलाम्बरौ।

पवित्रपाणी उपवीतकं त्रिवृत्,
कमण्डलुं दण्डमृजुञ्च वैणवम्॥ ३३॥
पद्माक्षमालामुत जन्तुमार्ज्जनं,
वेदञ्च साक्षात्तप एव रूपिणौ।
तपत्तडिद्वर्णपिशङ्गरोचिषा,
प्रांशू दधानौ विबुधर्षभार्चितौ॥ ३४॥

भगवान् श्रीहरिके नरनारायणरूपी विग्रह युगलमें एक शुक्लवर्णका था और दूसरा कृष्णवर्णका था। उन दोनोंके नेत्र नवीन कमलकी शोभासे युक्त अतिप्रफुल्लित थे, चार-चार भुजाएँ थीं, उन्होंने कृष्ण-अजिन (कालेमृगका चर्म) एवं तरु-बल्कल (पेड़की छाल) पहन रखे थे, त्रिगुणीकृत नवसूत्र निर्मित उपवीत (तीन सूत्रोंवाला जनेऊ) पहन रखा था (मानो वे त्रिवृत् होकर बाहरकी वस्तुओंको पवित्र कर रहे थे), वे पावनकारी श्रीकरकमलोंमें कमण्डलु, बाँससे निर्मित सीधा दण्ड, पद्मबीज-रचित जपमाला एवं जीव-शुद्धि करनेवाले कुशमुष्ठि (डाभकी मुट्ठी) को धारण किये हुए थे, देदीप्यमान विद्युतके समान तेज था, पिङ्गल-द्युति (लालिमायुक्त भूरे-से रंग) के कारण ऐसा प्रतीत होता था मानो तप ही मूर्त्तिमान हो गया हो, विग्रह उन्नत था (ऊँचा कद था) एवं श्रेष्ठ देवताओं द्वारा सम्मानित हो रहे थे॥ ३३-३४॥

ते वै भगवतो रूपे नरनारायणावृषी।
दृष्ट्वोत्थायादरेणोच्चैर्ननामाङ्गेन दण्डवत्॥ ३५॥

उस समय श्रीहरिकी युगल-मूर्त्ति-नर-नारायण ऋषियोंको देखकर मार्कण्डेय ऋषि आसनसे उठे एवं अतिशय आदरके साथ पृथ्वीपर लेटकर साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम किया॥ ३५॥

स तत्सन्दर्शनानन्द-निर्वृतात्मेन्द्रियाशयः।
हृष्टरोमाश्रुपूर्णाक्षो न सेहे तावुदीक्षितुम्॥ ३६॥

उन्हें देखते ही मार्कण्डेय ऋषि आनन्दसे सराबोर हो गये, उनके देह, इन्द्रियाँ एवं मन स्वस्थ एवं तृप्त हो गये, कलेवर पुलकित एवं रोमाञ्चित हो गया, आँखोंमें आनन्दाश्रु छलक आये, जिस कारण वे श्रीनर-नारायण ऋषियोंको देख पानेमें समर्थ नहीं हो पा रहे थे॥ ३६॥

उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्व औत्सुक्यादाश्लिषन्निव।
नमो नम इतीशानौ बभाषे गद्गदाक्षरम्॥ ३७॥

अनन्तर वे उठकर खड़े हो गये, अति विनम्र भावसे अपने दोनों हाथ जोड़े। मार्कण्डेय ऋषिको इतनी उत्सुकता हुई मानो वे उन दोनोंका आलिङ्गन कर लेंगे, स्वर गद्गद् हो उठा और बार-बार मात्र यही कहने लगे—नमस्कार, नमस्कार॥ ३७॥

तयोरासनमादाय पादयोरवनिज्य च।
अर्हणेनानुलेपेन धूपमाल्यैरपूजयत्॥ ३८॥

अतःपर मार्कण्डेय ऋषिने उन दोनोंको आसन प्रदान किया तथा उनके चरणोंको धोकर चन्दन आदि उपलेपन, द्रव्य, धूप, माला और अन्यान्य उपहारोंके द्वारा उनकी पूजा की॥ ३८॥

सुखमासनमासीनौ प्रसादाभिमुखौ मुनी।
पुनरानम्य पादाभ्यां गरिष्ठाविदमब्रवीत्॥ ३९॥

अनन्तर परम पूज्यतम दोनों मुनि सुखपूर्वक आसनपर विराजमान हो गये। वे दोनों मार्कण्डेय ऋषिपर अनुग्रह वर्षण करनेके लिए उद्यत थे। मार्कण्डेय ऋषिने पुनः श्रीनर-नारायण ऋषियोंके चरणोंकी वन्दना की और इस प्रकार स्तुति करने लगे॥ ३९॥

श्रीमार्कण्डेय उवाच—

किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः
संस्पन्दते तमनु वाङ्मनइन्द्रियाणि।
स्पन्दन्ति वै तनुभृतामज-शर्वयोश्च
स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः॥ ४०॥

श्रीमार्कण्डेय ऋषिने कहा—हे विभो! आपकी प्रेरणासे समस्त प्राणी, ब्रह्मा, शङ्कर एवं मेरे भी प्राण स्पन्दित हो रहे हैं, प्राणोंके स्पन्दनको लक्ष्य करके ही वाक्, मन एवं अन्यान्य इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होती हैं (अर्थात् आपकी प्रेरणासे प्राणोंकी शक्तिका सञ्चार होनेपर इन्द्रियोंमें बोलनेकी शक्ति अनुप्राणित होती है)। सभीके प्रेरक होनेपर भी आप अपने भजन करनेवालोंके आत्म-बन्धु-स्वरूप हैं, मैं आपकी क्या स्तुति करूँ? (भजनके प्रत्युपकारमें असमर्थ होनेपर आप ऋणीके समान अपने भक्तोंके प्रेमके वशीभूत रहते हो, उनके बन्धनमें बँध जाते हो, आपका कृपा-वैभव अद्भुत है।)॥ ४०॥

मूर्त्ती इमे भगवतो भगवंस्त्रिलोक्याः
क्षेमाय तापविरामाय च मृत्युजित्यै।
नाना बिभर्ष्यवितुमन्यतनूर्यथेदं
सृष्ट्वा पुनर्ग्रससि सर्वमिवोर्णनाभिः॥ ४१॥

हे भगवन्! आपके ये दोनों मूर्त्तिमान विग्रह त्रिलोकीका पालन, दुःख-निवृत्ति एवं मृत्यु-विजय अर्थात् उनके मोक्षके लिए प्रकट हुए हैं। आप इस विश्वके पालन (रक्षण) के लिए मत्स्य, कूर्मादि नानाविध विग्रह स्वीकार करते हैं। आप इस विश्वकी सृष्टि करके स्वयं इसका उसी प्रकार उपसंहार (लय) कर लेते हैं, जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) सूत्रकी सृष्टि करके स्वयं उसको निगल लेती है। (ऐसे नैमित्तिक अवताररूपोंमें भगवान् अपनी लीला करके पुनः आत्मगोपन कर लेते हैं।)॥ ४१॥

तस्यावितुः स्थिरचरेशितुरङ्घ्रिमूलं
यत्स्थं न कर्मगुणकालरजः स्पृशन्ति।
यद्वै स्तुवन्ति निनमन्ति यजन्त्यभीक्ष्णं
ध्यायन्ति वेदहृदया मुनयस्तदाप्त्यै॥ ४२॥

हे भगवन्! गुण, कर्म एवं काल-जनित पाप अथवा अन्यान्य तापादि दुःख आपके आश्रित सेवकोंको अभिभूत (स्पर्श) भी नहीं

कर सकते। वेद-रहस्य-ज्ञाता ऋषि आपकी प्राप्तिके लिए निरन्तर स्तव, प्रणाम, आराधना एवं ध्यान करते हैं। मैं स्थावर-जङ्गमके अन्तर्यामी, जगत्-रक्षणरत आपके श्रीचरणारविन्दकी आराधना करता हूँ। (जब पूर्ण वस्तुका सान्निध्य प्राप्त होता है, तब साधककी कर्ममें प्रवृत्ति नहीं रहती, न ही त्रैगुण्य उसे ताड़ित करते हैं और न ही उसे काल क्षुभित कर पाता है। तात्कालिकता स्थितियाँ भी भक्तका स्पर्श नहीं कर पातीं।)॥ ४२॥

नान्यं तवाङ्घ्र्युपनयादपवर्गमूर्त्तेः
क्षेमं जनस्य परितोभिय ईश विद्मः।
ब्रह्मा बिभेत्यलमतो द्विपरार्द्धधिष्ण्यः
कालस्य ते किमुत तत्कृतभौतिकानाम्॥ ४३॥

हे ईश (सम्पूर्ण जगत्के नियामक प्रभो! सभी जीव सर्वत्र ही चारों ओर से भयभीत हैं। उन जीवोंके लिए आपके श्रीचरण अपवर्गस्वरूप हैं अर्थात् मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं। आपके इन्हीं श्रीचरणोंकी प्राप्तिके अतिरिक्त अन्य कोई मङ्गल मेरी समझमें नहीं आता। द्विपरार्द्ध काल तक रहनेवाले ये ब्रह्मा भी आपके शासनमें (नियमनमें) रहनेवाले कुटिल-भ्रूकुटि-स्वरूप कालसे हर क्षण अत्यन्त भयभीत रहते हैं, तब ऐसे उन ब्रह्मासे सृष्ट भौतिक प्राणियोंके भयोंके विषयमें क्या कहा जाय!॥ ४३॥

तद्वै भजाम्यृतधियस्तव पादमूलं,
हित्वेदमात्मच्छदि चात्मगुरोः परस्य।
देहाद्यपार्थमसदन्त्यमभिज्ञमात्रं ,
विन्देत ते तर्हि सर्वमनीषितार्थम्॥ ४४॥

इसलिए मैं आत्माके स्वरूपका आच्छादन करनेवाले, जो निरतिशय तुच्छ, विनाशशील, स्वरूपतः आत्मासे पृथक्रूपमें जिसकी सत्ता नहीं है, उन देह-गेहादिके सम्बन्धका परित्याग करके आपके श्रीचरणोंका भजन करता हूँ। आप सर्वदा सत्य ज्ञानसे सम्पन्न, जीवोंके नियन्ता-स्वरूप अर्थात् जीवोंके परम गुरु एवं सर्वश्रेष्ठ

ज्ञान-स्वरूप हैं। मनुष्य आपकी सेवा करके आपसे अपने सभी अभीष्ट पदार्थ प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाते हैं॥ ४४॥

सत्त्वं रजस्तम इतीश तवात्मबन्धो
मायामयाः स्थितिलयोदयहेतवोऽस्य।
लीला धृता यदपि सत्त्वमयी प्रशान्त्यै
नान्ये नृणां व्यसनमोहभियश्च याभ्याम्॥ ४५॥

हे अनाथजीवबन्धो! हे जगदीश! यद्यपि आप इस विश्वकी सृष्टि-स्थिति-संहारके कारणरूपमें सत्त्व-रज एवं तमोगुणरूप मायामय लीलाओंको स्वीकार करते हैं, तथापि सात्त्विकी लीलाएँ ही बद्ध मनुष्योंके मोक्षका कारण हुआ करती हैं। राजस (सुष्टि आदि) एवं तामस (संहार आदि) लीलाएँ मङ्गलकी विघातक अर्थात् अनिष्टकारिणी एवं दुःख, मोह तथा भयजनक होती हैं, उनसे मुक्ति-प्राप्तिकी सम्भावना नहीं है। इन्द्र, चन्द्रादि देवता भी नश्वर हैं, उनकी सेवासे मायातीत आपकी प्राप्ति किस प्रकार होगी?॥ ४५॥

तस्मात्तवेह भगवन्नथ तावकानां
शुक्लां तनुं स्वदयितां कुशला भजन्ति।
यत् सात्वताः पुरुषरूपमुशन्ति सत्त्वं
लोको यतोऽभयमुतात्मसुखं न चान्यत्॥ ४६॥

हे भगवन्! जिस सत्त्वगुणसे वैकुण्ठ-पद की प्राप्ति होती है, भय नहीं रहता एवं हृदय आत्मानन्दसे परिपूर्ण रहता है। (अर्थात् जिस स्थान पर पतनका हेतुभूत भय नहीं है एवं कर्मफलके परिवर्त्तमें सर्वदा आत्मसुख है, वही वैकुण्ठ है, यहाँ शुद्ध सत्त्व है, अन्य प्राकृत सत्त्व नहीं) पाञ्चरात्र शास्त्रानुयायी भक्त इसी कारण इस सत्त्वगुणको ईश्वरका स्वरूप मानते हैं, दूसरे राजसी एवं तामसी गुणोंको नहीं। इसीलिए विवेकीगण इस जगत्में स्वाभीष्ट आपके 'श्रीनारायण' संज्ञक विशुद्ध विग्रहको एवं आपके निजगणोंमें 'नर' संज्ञक शुद्धविग्रहकी उपासना करते हैं॥ ४६॥

तस्मै नमो भगवते पुरुषाय भूम्ने,
विश्वाय विश्वगुरवे परदैवताय।
नारायणाय ऋषये च नरोत्तमाय,
हंसाय संयतगिरे निगमेश्वराय॥ ४७॥

हे भगवन्! आपको नमस्कार है। हे भूमापुरुष! पुरुषाकार होनेपर भी आप सर्वव्यापक हैं, आपको नमस्कार है! हे विश्वमूर्त्ते! आप विश्वरूप अर्थात् देव, मनुष्य एवं तिर्यगादि सर्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप विश्वगुरु अर्थात् भक्ति, ज्ञान, वैराग्यके उपदेष्टा हैं, आपको नमस्कार है। आप परम दैवत हैं अर्थात् आप उपदेष्टा ही नहीं हैं, बल्कि परमाभीष्ट एवं परम पूजनीय हैं, आपको नमस्कार है। नर-नारायण दोनों ही एक अवतार हैं, अतः युगलस्वरूप सर्वव्यापी पुरुषस्वरूप भगवान् नारायण ऋषिको एवं नरोत्तमको नमस्कार है। विवाह नहीं करनेके कारण आप हंसस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप संयतवाक्य (मौनपरायण) एवं निगमेश्वर (वेदमार्गके प्रवर्त्तक) हैं, आपको नमस्कार है॥ ४७॥

यं वै न वेद वितथाक्षपथैर्भ्रमद्धीः
सन्तं स्वकेष्वसुषु हृद्यपि दृक्पथेषु।
तन्माययावृतमतिः स उ एव साक्षा-
दाद्यस्तवाखिलगुरोरुपसाद्य वेदम्॥ ४८॥

कपटतापूर्ण इन्द्रिय-मार्गमें जिन व्यक्तियोंकी बुद्धि आपकी मायासे आवृत होकर विभ्रान्त (मोहित) हो गयी है, वे अपने इन्द्रियादि करणोंमें, रूपादि विषयोंमें एवं अपने अन्तःकरणमें निरन्तर नियन्तारूपसे (नियामकरूपसे) अवस्थित (वर्त्तमान) रहनेवाले आपके स्वरूपको जान नहीं सकते, ऐसे अनभिज्ञ व्यक्ति जगत्गुरुरूपमें आपके द्वारा प्रवर्तित वेदज्ञान प्राप्त करके भी आपको साक्षात्रूपसे समझ नहीं सकते। अखिल-गुरु-स्वरूप साक्षात् आपसे वेद प्राप्त करके जब आदि ब्रह्माजी आपको जान नहीं सकते, तब औरोंकी तो बात ही क्या है? आप अधोक्षज हैं; अतः

निगमपथका आश्रय करनेपर ही आपका साक्षात्कार होता है, वैकुण्ठवस्तु इन्द्रियज ज्ञानके लिए अप्रमेय है॥ ४८॥

यद्दर्शनं निगम आत्मरहःप्रकाशं
मुह्यन्ति यत्र कवयोऽजपरा यतन्तः।
तं सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलं
वन्दे महापुरुषमात्मनिगूढबोधम्॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे श्रीनारायणस्तवो नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

हे भगवन्! रहस्य-प्रकाशक एकमात्र वेदसे ही आपका ज्ञान प्राप्त होता है, ब्रह्मादि प्रमुख ज्ञानी सांख्य, योगादि मार्गोंसे आपके स्वरूपकी उपलब्धिके विषयमें प्रयास किया करते हैं, परन्तु आपके स्वरूपके विषयमें मोहित ही रहते हैं। आप सांख्यादिवादीगणोंके विभिन्न वादानुयायी विषयोंके अनुरूप अनुसरण करते हुए विभिन्न स्वभाव प्रकट करते हैं अर्थात् सांख्य आदि वादियोंके जो भिन्न-भिन्न प्रकारके वाद हैं, उन्हीं वादोंके अनुसार आप अपना रूप बना लेते हैं। जीवोंके निकट देहादि उपाधियोंमें आपका स्वरूपज्ञान निगूढ़ (छिपा हुआ) रहता है। ऐसे हे महापुरुष! मैं आपकी वन्दना करता हूँ॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके आठवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

नवमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीका माया-दर्शन

श्रीसूत उवाच—

संस्तुतो भगवानित्थं मार्कण्डेयेन धीमता।
नारायणो नरसखः प्रीत आह भृगूद्वहम्॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीजीने कहा—महामति मार्कण्डेयजीने जब इस प्रकार स्तव-वन्दन किया, तब नर-सखा भगवान् नारायण प्रसन्न होकर उनसे कहने लगे॥ १॥

श्रीभगवानुवाच—

भो भो ब्रह्मर्षिवर्योऽसि सिद्ध आत्मसमाधिना।
मयि भक्त्यानपायिन्या तपःस्वाध्याय-संयमैः॥ २॥

भगवान्‌ने कहा—हे ब्रह्मर्षिप्रवर! तुम मुझमें चित्तकी एकाग्रता तथा अविचल भक्ति, मद्‌विषयक तपस्या, वेदाभ्यास एवं अपने संयम (ब्रह्मचर्य) द्वारा सिद्धि प्राप्त कर चुके हो॥ २॥

वयं ते परितुष्टाः स्म त्वद्‌बृहद्‌व्रतचर्यया।
वरं प्रतीच्छ भद्रं ते वरदोऽस्मि त्वदीप्सितम्॥ ३॥

आजीवन ब्रह्मचर्यमें तुम्हारी निष्ठा देखकर हम सन्तुष्ट हुए हैं। मैं वर प्रदान करनेमें समर्थ हूँ, तुम वर माँगो। तुम्हें जो अभीष्ट हो, मैं उसे पूर्ण कर सकता हूँ—तुम्हारा कल्याण हो॥ ३॥

श्रीऋषिरुवाच—

जितं ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराच्युत।
वरेणैतावतालं नो यद्भवान् समदृश्यत॥ ४॥

मार्कण्डेय ऋषिने कहा—हे शरणागत जनोंके दुःख हर लेनेवाले! हे देवदेवेश! हे अच्युत! आपने वर प्रदान करनेमें अपना आग्रह दिखाकर अपना उत्कर्ष प्रकाश किया है। मैंने जो आपका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त किया है, वही मेरा अभीष्ट वरदान था॥ ४॥

गृहीत्वाजादयो यस्य श्रीमत्पादाब्जदर्शनम्।
मनसा योगपक्वेन स भवान् मेऽक्षिगोचरः॥ ५॥

प्राकृत मनुष्योंने अपने योगबलसे परिपक्व चित्तसे जिनके श्रीचरणकमलोंका साक्षात्कार प्राप्त करके ब्रह्मादि पद प्राप्त किया है, आज वे ही आप मेरे नयन-पथ-गोचर हुए हैं॥ ५॥

अथाप्यम्बुजपत्राक्ष पुण्यश्लोकशिखामणे।
द्रक्ष्ये मायां यया लोकः सपालो वेद सद्भिदाम्॥ ६॥

हे पुण्यश्लोक-चूड़ामणे! पद्मपलाश-नयन! यद्यपि मेरे लिए आपका दर्शन ही यथेष्ट है, तथापि आपकी जिस माया शक्तिसे लोकपालोंके सहित सभी लोग सद्वस्तुमें (अद्वितीय वस्तु ब्रह्ममें) भेदका दर्शन करते हैं, मैं आपकी उसी मायाका दर्शन करना चाहता हूँ॥ ६॥

श्रीसूत उवाच—

इतीडितोऽर्चितः काममृषिणा भगवान् मुने।
तथेति स स्मयन् प्रागाद्बदर्याश्रममीश्वरः॥ ७॥

श्रीसूतजीने कहा—हे मुनिवर! शौनकजी! भगवान् जगदीश्वर नरनारायणने ऋषि मार्कण्डेय द्वारा इस प्रकारसे वन्दित एवं यथेष्टरूपमें पूजित होकर मुस्कुराते हुए 'तथास्तु' कहा एवं बदरिकाश्रमकी ओर प्रस्थान कर गये। (जिस प्रकार पिता परिणामतः दुःखद कर्मका आग्रह होनेपर अपने हठी पुत्रको रोक नहीं पाता, इसी प्रकार अपनी माया शक्तिका परिणाम जानकर परन्तु भक्तके आनन्दको देखकर भगवान् हँस पड़े थे।)॥ ७॥

तमेव चिन्तयन्नर्थमृषिः स्वाश्रम एव सः।
वसन्नग्न्यर्कसोमाम्बु-भू-वायु-वियदात्मसु॥ ८॥
ध्यायन् सर्व्वत्र च हरिं भावद्रव्यैरपूजयत्।
क्वचित् पूजां विसस्मार प्रेमप्रसरसंप्लुतः॥ ९॥

अनन्तर मार्कण्डेय अपने आश्रममें रहकर भगवान्की माया-दर्शनरूप प्रयोजनसे नित्य चिन्तन किया करते। वे अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, भूमि, वायु, आकाश एवं आत्मामें सर्वत्र श्रीहरिका ध्यान एवं मानसोपचारसे (मानसिक द्रव्योंसे) पूजा करते। कभी-कभी तो प्रेमरससे अभिभूत होकर पूजाके विधि-विधानको ही भूल जाते॥ ८-९॥

तस्यैकदा भृगुश्रेष्ठ पुष्पभद्रातटे मुनेः।
उपासीनस्य सन्ध्यायां ब्रह्मन् वायुरभून्महान्॥ १०॥

हे भृगुवर! एक बार मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय पुष्पभद्रा नदीके किनारे बैठे हुए सन्ध्यावन्दन कर रहे थे कि तभी प्रचण्ड वायु प्रवाहित होने लगी॥ १०॥

तं चण्डशब्दं समुदीरयन्तं
बलाहका अन्वभवन् करालाः।
अक्षस्थविष्ठा मुमुचुस्तडिद्भिः
स्वनन्त उच्चैरभि वर्षधाराः॥ ११॥

इस वायुसे अति प्रचण्ड ध्वनि हो रही थी, इसके पीछे-पीछे गर्जन-तर्जन करते मेघ भी आकाशमें छा गये। बिजली कड़कड़ाने लगी। रथके अक्ष अर्थात् धूरेके समान जलकी स्थूल धाराएँ मुसलाधार वर्षा करने लगीं॥ ११॥

ततो व्यदृश्यन्त चतुःसमुद्राः
समन्ततः क्ष्मातलमाग्रसन्तः।
समीरवेगोर्मिभिरुग्रनक्र -
महाभयावर्त्तगभीरघोषाः ॥ १२॥

अनन्तर चारों दिशाओंसे चारों महासागर महाभयङ्कर शब्द करते हुए ऐसे उमड़े चले आये मानो धरतीको निगल लेंगे, तूफानी हवाओंके कारण गम्भीर घोष करती हुई तरङ्ग मालाएँ उठ-उठकर भूतलको प्लावित करती-सी दिखायी दे रही थीं, भयानक भँवर ऊँचे-ऊँचे उठ रहे थे, स्थान-स्थानपर उग्र मगर उछलते हुए बड़े डरावने लग रहे थे॥ १२॥

अन्तर्बहिश्चाद्भिरतिद्युभिः खरैः
शतह्रदाभीरुपतापितं जगत्।
चतुर्विधं वीक्ष्य सहात्मना मुनि-
र्जलाप्लुतां क्ष्मां विमनाः समत्रसत्॥ १३॥

उस समय सम्पूर्ण पृथ्वी सर्वत्र प्रसारित जलराशिसे आप्लावित हो गयी, जलकी उत्ताल तरङ्गें स्वर्गमण्डलको स्पर्श करने लगीं, सूर्यकी प्रखर रश्मियों एवं विद्युत-कणों द्वारा उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज एवं जरायुज—चारों प्रकारके भौतिक पदार्थ अन्तर एवं बाहरसे उत्तप्त हो गये। यह देखकर ऋषि अति सन्तप्त एवं खिन्न हो गये। उनका हृदय उदास हो गया। वे अत्यधिक भयभीत हो गये॥ १३॥

तस्यैवमुद्वीक्षत ऊर्मिभीषणः
प्रभञ्जनाघूर्णितवार्महार्णवः ।
आपूर्यमाणो वरषद्भिरम्बुदैः
क्ष्मामप्यधाद्द्वीपवर्षाद्रिभिः समम्॥ १४॥

ऋषिने उत्कण्ठित चित्तसे देखा कि इसी समय मुसलाधार वर्षण करते हुए मेघोंने सर्वतोभावसे महासमुद्रको और भी भर दिया है, प्रलय-पयोधिमें भयङ्कर तरङ्गमालाएँ उठ रही हैं, आँधीके वेगसे उमड़ते-घुमड़ते समुद्रने द्वीप, वर्ष एवं पर्वतोंके साथ सम्पूर्ण पृथ्वीको आच्छादित कर दिया है—सबकुछ जलमग्न हो गया है॥ १४॥

सक्ष्मान्तरिक्षं सदिवं सभागणं
त्रैलोक्यमासीत् सह दिग्भिराप्लुतम्।
स एक एवोर्वरितो महामुनि-
र्बभ्राम विक्षिप्य जटा जडान्धवत्॥ १५॥

उस समय भूमण्डल एवं अन्तरीक्षमें स्थित प्राणी, स्वर्गस्थ देवतागण, ज्योतिष्क-मण्डल, सम्पूर्ण त्रिलोक ही जलमें प्लावित हो गया। एकमात्र मार्कण्डेय ही बचे रहे। तब वे अपनी जटाओंको बिखेरते हुए अन्धे एवं जड़ व्यक्तिके समान जलमें यहाँ-वहाँ भ्रमण करने लगे॥ १५॥

क्षुत्तृट्परीतो मकरैस्तिमिङ्गिलै-
रुपद्रुतो वीचिनभस्वताहतः।
तमस्यपारे पतितो भ्रमन् दिशो
न वेद खं गाञ्च परिश्रमेषितः॥ १६॥

इस प्रकारसे मार्कण्डेय ऋषि दुस्तर अन्धकारमें पतित, क्षुधा- तृष्णासे ग्रस्त, मकर, तिमिङ्गिल इत्यादि जल-जन्तुओंसे उत्पीड़ित, उत्तुङ्ग तरङ्गों युक्त अन्धड़से आहत एवं परिश्रान्त होकर दिक्-दिगन्तमें भ्रमण करते रहे। उस भयङ्कर जलराशिके मध्य उन्हें दिशा, आकाश अथवा पृथ्वीका कोई ओर-छोर ही ज्ञात न हुआ॥ १६॥

क्वचिन्मग्नो महावर्त्ते तरलैस्ताडितः क्वचित्।
यादोभिर्भक्ष्यते क्वापि स्वयमन्योऽन्यघातिभिः॥ १७॥
क्वचिच्छोकं क्वचिन्मोहं क्वचिद्दुःखं सुखं भयम्।
क्वचिन्मृत्युमवाप्नोति व्याध्यादिभिरुतार्दितः॥ १८॥

महामुनि कभी तो भयङ्कर आवर्त्तोंमें निमग्न होकर घूर्णित होते रहते, कभी चञ्चल तरङ्गोसे प्रताड़ित होते, कभी परस्पर युद्ध करनेवाले जल-जन्तुओंसे आहत होते तथा कभी शोक, कभी मोह, कभी दुःख, कभी सुख और कभी भयको प्राप्त

होते और कभी तो रोगादिसे आक्रान्त होकर मृत्युसम यातनाका भोग करते॥ १८॥

अयुतायुतवर्षाणां सहस्राणि शतानि च।
व्यतीयुर्भ्रमतस्तस्मिन् विष्णुमायावृतात्मनः॥ १९॥

इस प्रकार विष्णुकी मायासे आक्रान्त (मोहित) चित्तवाले मुनि प्रलयाब्धिमें यहाँसे वहाँ, वहाँसे यहाँ पछाड़ खाते रहे और ऐसे ही लाखों करोड़ों वर्ष व्यतीत हो गये॥ १९॥

स कदाचिद्भ्रमंस्तस्मिन् पृथिव्याः ककुदि द्विजः।
न्यग्रोधपोतं ददृशे फलपल्लवशोभितम्॥ २०॥

मार्कण्डेय ऋषि एकार्णव जलमें भ्रमण कर ही रहे थे कि एक बार पृथ्वीके किसी उच्च प्रदेशमें फल-पल्लवादिसे सुशोभित एक कोमल वट-वृक्ष दिखायी दिया॥ २०॥

प्रागुत्तरस्यां शाखायां तस्यापि ददृशे शिशुम्।
शयानं पर्णपुटके ग्रसन्तं प्रभया तमः॥ २१॥

उन्होंने उस वट-वृक्षके पूर्वोत्तर कोणमें स्थित शाखाओंमें पत्रपुटमें (पत्तोंके दोनेमें) लेटे हुए एक शिशुको देखा, जो अपनी देहकी उज्ज्वल प्रभासे घोर अन्धकारका हरण कर रहा था॥ २१॥

महामरकत-श्यामं श्रीमद्वदन-पङ्कजम्।
कम्बुग्रीवं महोरस्कं सुनासं सुन्दरभ्रुवम्॥ २२॥
श्वासैजदलकाभातं कम्बुश्रीकर्णदाडिमम्।
विद्रुमाधरभासेषच्छोणायितसुधास्मितम्॥ २३॥
पद्मगर्भारुणापाङ्गं हृद्यहासावलोकनम्।
श्वासैजद्वलिसंविग्न-निम्ननाभिदलोदरम्॥ २४॥
चार्वङ्गुलिभ्यां पाणिभ्यामुन्नीय चरणाम्बुजम्।
मुखे निधाय विप्रेन्द्रो धयन्तं वीक्ष्य विस्मितः॥ २५॥

उस शिशुका वर्ण महामरकतमणिके समान श्यामल, मुखकमल सुरम्य, ग्रीवा कम्बु (शङ्ख) के समान तीन रेखाओंसे युक्त, वक्षःस्थल सुप्रशस्त, नासिका अति मनोरम एवं भौंहे भी बड़ी सुन्दर थीं, कपोल-प्रान्त पर छायी अलकावलियाँ श्वासवायुसे सञ्चालित एवं कम्पित होती हुई अति सुशोभित हो रही थीं, शङ्खके समान अन्तर्वलयसे युक्त (घुमावदार) सुरम्य कानोंमें दाड़िमके (अनारके) पुष्प अद्भुत शोभा धारण कर रहे थे। शिशुकी अमृतमयी उज्ज्वल एवं मधुर मुसकान विद्रुम (मूँगे) वर्णीय अधरोंकी शोभासे युक्त होकर आरक्तिम (लालिमामयी) हो गयी थी, नेत्रप्रान्त (आँखोंकी कोर) कमलके गर्भदेशके (भीतरी भागके) समान ईषत् अरुण-वर्णके थे, चितवन मनोरम मुसकानमयी थी, नाभि गभीर त्रिवलीसे युक्त थी जो श्वास-सञ्चालनसे कम्पित एवं चलायमान हो रही थी, उदर अश्वत्थ-पत्रके सदृश था। उस समय वे मनोरम अङ्गुलियोंसे युक्त कर-युगल द्वारा अपने एक चरणकमलको उठाकर अपने मुखके गह्वरमें रखकर पान कर रहे थे। मुनि यह देखकर अत्यन्त विस्मित हो गये। (मेरे चरणकमल कितने मधुमय हैं, इनका आस्वादन करनेके लिए भक्त बहुत यत्न करते हैं। अतएव मैं भी इसका आस्वादन करके देखूँ—यह सोचकर अपने चरणका अगूँठा चूस रहे थे।)॥ २२-२५॥

तद्दर्शनाद्वीतपरिश्रमो मुदा
प्रोत्फुल्लहृत्पद्म-विलोचनाम्बुजः।
प्रहृष्टरोमाद्भुतभावशङ्कित :
प्रष्टुं पुरस्तं प्रससार बालकम्॥ २६॥

शिशुके दर्शनसे मार्कण्डेयजीका परिश्रम दूर हो गया तथा हृदयपद्म एवं नयनकमल आनन्दसे प्रफुल्लित हो उठे। उस समय उनके शरीरका रोम-रोम पुलकित हो रहा था। शिशुके अद्भुत भावको देखकर मनमें शङ्काएँ उठने लगीं। बालकका परिचय जाननेकी इच्छासे वे उसकी ओर चलने लगे॥ २६॥

तावच्छिशोर्वै श्वसितेन भार्गवः
सोऽन्तःशरीरं मशको यथाविशत्।
तत्राप्यदो न्यस्तमचष्ट कृत्स्नशो
यथा पुरा मुह्यदतीव विस्मितः॥ २७॥

मार्कण्डेयजी वहाँ पहुँचे ही थे कि शिशुकी श्वास-वायुके आकर्षणसे वे मच्छरके समान उनके शरीरमें प्रविष्ट हो गये। वहाँ उन्होंने सम्पूर्ण विश्वको (सृष्टिको) उसी प्रकार समग्ररूपसे व्यवस्थित देखा, जैसा प्रलयकालसे पहले देखा था। इस अद्भुत दृश्यको देखकर वे अतीव विस्मित एवं मोहित हो गये॥ २७॥

खं रोदसी भागणानद्रिसागरान्
द्वीपान् सवर्षान् ककुभः सुरासुरान्।
वनानि देशान् सरितः पुराकरान्
खेटान् व्रजानाश्रमवर्णवृत्तयः॥ २८॥
महान्ति भूतान्यथ भौतिकान्यसौ
कालञ्च नानायुग-कल्पकल्पनम्।
यत् किञ्चिदन्यदद्वयवहारकारणं
ददर्श विश्वं सदिवावभासितम्॥ २९॥

मार्कण्डेयजीने वटपत्रशायी उस शिशुके उदरमें आकाश, स्वर्ग, मर्त्यलोक, ज्योतिष्कमण्डल, पर्वत, सागर, वर्ष, द्वीप, लोक, दिशाएँ, सुर, असुर, वन, देश, नदी, पुर, आकर (खानें), किसानोंके गाँव (बस्तियाँ), गो-कुल (गायोंका समूह), आश्रम, वर्ण, उनकी वृत्तियाँ अर्थात् उनके आचार-व्यवहार, पञ्च महाभूत, भौतिक पदार्थ, विविध-युग, कल्प-प्रणेता-काल एवं लोक-यात्रा-निर्वाहकी उपयोगी (जिन पदार्थोंसे जगत्का व्यवहार सम्पन्न होता है) एवं अन्यान्य जो भी वस्तुएँ हैं, उन सबको परमार्थ वस्तुके समान सत्य प्रतीत होते देखा। उस बालकके द्वारा प्रकाशित होती हुई सभी वस्तुएँ उन्होंने उस बालकके उदरमें देखीं॥ २८-२९॥

हिमालयं पुष्पवहाञ्च तां नदीं
निजाश्रमं तत्र ऋषी अपश्यत्।
विश्वं विपश्यन् श्वसिताच्छिशोर्वै
बहिर्निरस्तो न्यपतल्लयाब्धौ॥ ३०॥

उन्होंने वहाँ हिमालय, पुष्पभद्रा नदी एवं जहाँ नर-नारायण ऋषिका साक्षात्कार हुआ था, उस निज आश्रमको भी देखा। (उन्होंने पुष्पभद्रा नदीको अपने आश्रमके समीप ही देखा था) इस तरह सम्पूर्ण सृष्टिको देखते-देखते वे शिशुके प्रश्वास-वायुके वेगसे पुनः बाहर निकल आये और प्रलय-सागरमें गिर पड़े॥ ३०॥

तस्मिन् पृथिव्याः ककुदि प्ररूढं
वटञ्च तत्पर्णपुटे शयानम्।
तोकञ्च तत्प्रेमसुधास्मितेन
निरीक्षितोऽपाङ्गनिरीक्षणेन ॥ ३१॥

अथ तं बालकं वीक्ष्य नेत्राभ्यां धिष्ठितं हृदि।
अभ्ययादिसंक्लिष्टः परिष्वक्तुमधोक्षजम्॥ ३२॥

अनन्तर उन्होंने पृथ्वीके उन्नत प्रदेशमें (सागरके मध्य टीलेमें) उत्पन्न उसी वट-वृक्षको एवं उसके पत्र-पुटमें (पत्तेके दोनेमें) सोते हुए उसी बालकको देखा। उसकी चितवन प्रेममयी, सुधामयी, मधुरातिमधुर, उज्ज्वल कान्तियुक्त एवं सस्मित थी। मार्कण्डेय ऋषिने नेत्रमार्गके द्वारा हृदयमें प्रविष्ट उस बालकका अधोक्षज भगवान् श्रीहरिके रूपमें दर्शन किया। वे अत्यधिक क्लिष्ट (क्लान्त) थे। वे उनका आलिङ्गन करनेके लिए बड़े कष्टसे उनकी ओर दौड़े। (आलिङ्गन करनेका यत्न तो किया, परन्तु भगवान्‌को और देख न सके। भगवद्दर्शन दृश्य वस्तुके समान भोग्य व्यापार नहीं है।)॥ ३१-३२॥

तावत् स भगवान् साक्षाद्योगाधीशो गुहाशयः।
अन्तर्दधे ऋषेः सद्यो यथेहानीशनिर्मिता॥ ३३॥

मार्कण्डेय ऋषि सबके हृदयरूपी गुहामें शयन करनेवाले एवं योगेश्वरोंके अधिपति भगवान्‌का आलिङ्गन करना ही चाहते थे कि उसी क्षण उनके निकटसे भगवान् उसी तरह अन्तर्धान हो गये, जिस प्रकार दैवानुकूल-रहित (भाग्यहीन) मनुष्यकी कार्य-चेष्टाका कोई फल दिखायी नहीं देता। (ऋषि प्रलय-समुद्रकी उत्ताल तरङ्गोंमें अयुत वर्षों तक डूबते-उतरते रहे और बड़ा भारी कष्ट सहते रहे। वटपत्रशायी बालकके श्वास-प्रश्वासके द्वारा उन्होंने उसके उदरमें सात बार प्रवेश तथा सात बार निर्गमन किया। उनकी भगवान्‌को दर्शन करनेकी वाञ्छा ऐसी थी, जैसे दरिद्रकी धनादिकी वाञ्छा, जो शीघ्र उत्पन्न होती है एवं शीघ्र ही समाप्त हो जाती है।)॥ ३३॥

तमन्वथ वटो ब्रह्मन् सलिलं लोकसंप्लवः।
तिरोधायि क्षणादस्य स्वाश्रमे पूर्ववत् स्थितः॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे श्रीमार्कण्डेयस्य मायादर्शनं नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

हे ब्रह्मन्! भगवान्‌के अन्तर्द्धान (तिरोधान) होते ही क्षणभरमें मार्कण्डेयके सम्मुखसे वटवृक्ष, अपार जलराशि एवं ब्रह्माण्डका प्रलय सब अन्तर्हित हो गये। उन्होंने देखा कि वे पहले ही के समान अपने आश्रममें बैठे हुए हैं॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके नौवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दशमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीको भगवान् शङ्करका वरदान

श्रीसूत उवाच—

स एवमनुभूयेदं नारायणविनिर्मितम्।
वैभवं योगमायायास्तमेव शरणं ययौ॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—मार्कण्डेय इस प्रकारसे नारायण-रचित योगमायाके वैभवका अनुभव करके उन नारायणके ही शरणापन्न हो गये। (भगवान्‌से विच्छिन्न माया भगवद्-निर्मित योगमायाका बहिः-वैभव मात्र है। योगमाया जीवको सेवोन्मुखिनी वृत्ति प्रदान करती हैं, महामाया विक्षेपात्मिका एवं आवरणी शक्तिके द्वारा जीवको मोहित करती हैं। योगमायाका बहिर्वैभव महामाया जिस समय तक जीव हृदयमें अधिष्ठित रहती हैं, तब तक भगवत्-प्रपत्तिकी सम्भावना नहीं है।)॥ १॥

श्रीमार्कण्डेय उवाच—

प्रपन्नोऽस्म्यङ्घ्रिमूलं ते प्रपन्नाभयदं हरे।
यन्मायया‌पि विबुधा मुह्यन्ति ज्ञानकाशया॥ २॥

श्रीमार्कण्डेय ऋषिने कहा—हे हरे! आपकी माया ज्ञानके समान ऐसे प्रकाशमान् होती है कि ज्ञान (भजन) न रहनेपर भी मनुष्य ऐसे मोहित हो जाते हैं, मानो वे ज्ञानी हैं। आपकी मायासे ब्रह्मादि देवता भी मोहित हो जाते हैं। आपके चरण-कमल शरणागतोंको अभय प्रदान करनेवाले हैं, मैं आपके चरण-तलका आश्रय लेता हूँ। (शरणागत व्यक्ति अपने प्रपन्नस्वभाववश सेवा-वृत्तिके कारण अहङ्कार-विमूढ़ न होकर वास्तव ज्ञानमें प्रतिष्ठित होता है, प्रतीति मात्रमें नहीं।)॥ २॥

श्रीसूत उवाच—

तमेवं निभृतात्मानं वृषेण दिवि पर्यटन्।
रुद्राण्या भगवान् रुद्रो ददर्श स्वगणैर्वृतः॥ ३॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—उसी समय प्रमथ इत्यादि अपने गणोंसे परिवेष्टित भगवान् शङ्कर पार्वतीके साथ नन्दी बैलपर सवार होकर आकाशमार्गसे विचरण करते हुए मार्कण्डेयजीको देख रहे थे, जो शरणापन्न होकर समाधिकी अवस्थामें तन्मय हो रहे थे॥ ३॥

अथोमा तमृषिं वीक्ष्य गिरीशं समभाषत।
पश्येमं भगवन् विप्रं निभृतात्मेन्द्रियाशयम्॥ ४॥

अनन्तर जब पार्वतीजीने मुनिको इस ध्यानावस्थामें देखा, तो शङ्करजीसे कहा—हे भगवन्! इस विप्रको देखिए—इसके देह, इन्द्रिय एवं चित्त समाधिके कारण निश्चल (शान्त) हो गये हैं॥ ४॥

निभृतोदझषव्रातो वातापाये यथार्णवः।
कुर्वस्य तपसः साक्षात् संसिद्धिं सिद्धिदो भवान्॥ ५॥

झंझावातकी (तूफानकी) समाप्तिपर अपार जलराशि एवं मछलियोंसे परिपूर्ण समुद्र जिस तरह निस्तब्ध एवं निश्चल हो जाता है, उसी प्रकार ये ऋषि अचल एवं शान्त बैठे हैं। आप स्वयं सिद्धिके दाता हैं, अतः आप इनके सम्मुख प्रकट हों एवं इनकी तपस्याकी सिद्धि प्रदान करें॥ ५॥

श्रीभगवानुवाच—

नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये॥ ६॥

भगवान् शङ्करने कहा—हे देवि! इन ब्रह्मर्षिने अव्यय पुरुष भगवान् श्रीहरिके प्रति परम भक्ति प्राप्त कर ली है। अतएव इन्हें स्वर्गादि लोक-विषयक अभ्युदय अथवा अणिमादि सिद्धियोंकी कोई कामना नहीं है, ये तो मोक्षतककी भी इच्छा नहीं करते॥ ६॥

अथापि संवदिष्यामो भवान्येतेन साधुना।
अयं हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः॥ ७॥

हे भवानी! तब भी मैं इनके साथ वार्त्तालाप करूँगा; क्योंकि ऐसे साधुओंका समागम जीवोंके परम कल्याणके लिए होता है॥ ७॥

श्रीसूत उवाच—

इत्युक्त्वा तमुपेयाय भगवान् स सतां गतिः।
ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वदेहिनाम्॥ ८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—समस्त विद्याओंके अधिपति (प्रवर्त्तक), समस्त जीवोंके ईश्वर, सज्जनोंके आश्रय (शरण) एवं आदर्श शङ्कर पार्वतीसे इस प्रकार कहकर ऋषिके निकट उपस्थित हुए। (साधुओंको वाञ्छित भक्ति प्रदान करने हेतु शङ्कर ही गति हैं।)॥ ८॥

तयोरागमनं साक्षादीशयोर्जगदात्मनोः।
न वेद रुद्धधीवृत्तिरात्मानं विश्वमेव च॥ ९॥

उस समय मार्कण्डेय ऋषिकी चित्तवृत्ति शान्त थी। जगत्के अन्तर्यामी उमा-महेश्वरके साक्षात् आगमन, अपनी देह एवं सम्पूर्ण विश्वके विषयमें उनको कुछ भी सुधबुध न थी॥ ९॥

भगवांस्तदभिज्ञाय गिरीशो योगमायया।
आविशत्तद्गुहाकाशं वायुश्छिद्रमिवेश्वरः॥ १०॥

जगदीश्वर भगवान् शङ्कर उनकी अवस्थाको अच्छी तरहसे जानते थे। वायु जिस प्रकार रन्ध्रमें (छिद्रमें) प्रवेश कर जाती है, उसी प्रकार वे योगमायाके बलसे उनके हृदयाकाशमें प्रविष्ट हो गये॥ १०॥

आत्मन्यपि शिवं प्राप्तं तडित्पिङ्गजटाधरम्।
त्र्यक्षं दशभुजं प्रांशुमुद्यन्तमिव भास्करम्॥ ११॥

व्याघ्रचर्माम्बरं शूलधनुरिष्वसि-चर्मभिः।
अक्षमालाडमरुक-कपालं परशुं सह॥ १२॥
विभ्राणं सहसा भातं विचक्ष्य हृदि विस्मितः।
किमिदं कुत एवेति समाधेर्विरतो मुनिः॥ १३॥

ऋषि सहसा तड़ित्‌की छटाके समान पिङ्गल (पीत) वर्ण जटाधारी, त्रिनेत्रसे सुशोभित, त्रिशूल, धनुष, बाण, तलवार, ढाल, अक्षमाला, डमरु, कपाल, व्यघ्राम्बर एवं परशु धारण किये हुए दस भुजाओंसे युक्त, उन्नत कलेवर, उदीयमान सूर्यके समान भगवान् शिवको अन्तर्देशमें अकस्मात् प्रकाशित देखकर विस्मित हो गये। वे मनमें विचार-विमर्श करने लगे—ये कौन हैं और कहाँ-से आये हैं? और यह सोचते हुए वे अपनी समाधिसे निवृत्त हो गये॥ ११-१३॥

नेत्रे उन्मील्य ददृशे सगणं सोमयाऽगतम्।
रुद्रं त्रिलोकैकगुरुं ननाम शिरसा मुनिः॥ १४॥

अनन्तर उन्होंने अपनी आँखें खोलीं और देखा कि अपने परिजनों एवं पार्वतीजीके साथ त्रिलोकीके एकमात्र गुरु भगवान् शिव यहाँ उपस्थित हैं। उन्होंने उनके चरणोंमें अपना मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया॥ १४॥

तस्मै सपर्यां व्यदधात् सगणाय सहोमया।
स्वागतासनपाद्यार्घ्यगन्धस्रग्धूपदीपकैः॥ १५॥

अब इसके बाद मार्कण्डेय ऋषिने स्वागत, आसन, पाद्य, अर्घ्य, गन्ध, पुष्पमाला, धूप एवं दीप द्वारा पार्वतीजीके साथ सपरिवार भगवान् शिवकी पूजा की॥ १५॥

आह त्वात्मानुभावेन पूर्णकामस्य ते विभो।
करवाम किमीशान येनेदं निर्वृतं जगत्॥ १६॥

मार्कण्डेय ऋषिने भगवान् शिवसे कहा—हे विभो! हे ईशान! आप आत्मानन्दानुभूतिके कारण पूर्णकाम हैं। यह सम्पूर्ण जगत्

आपकी शान्तिसे ही शान्ति प्राप्त कर रहा है। आप बतलाइए कि मैं आपकी प्रसन्नताके लिए क्या उपचार (कौन-सी सेवा) करूँ?॥ १६॥

नमः शिवाय शान्ताय सत्त्वाय प्रमृडाय च।
रजोजुषेऽथ घोराय नमस्तुभ्यं तमोजुषे॥ १७॥

हे देव! मैं आपके निर्गुण (त्रिगुणातीत), सर्वमङ्गलकारी सदाशिव-स्वरूपको एवं त्रैगुण्ययुक्त अर्थात् सत्त्वगुणके आश्रयसे सबको आनन्द प्रदान करनेवाले शान्तस्वरूपको, रजोगुणके आश्रयसे घनघोर (भयङ्कर) रूप धारण करनेवाले एवं तमोगुणसे भी सान्निध्य रखनेवाले आपके अघोर स्वरूपको प्रणाम करता हूँ॥ १७॥

श्रीसूत उवाच—

एवं स्तुतः स भगवानादिदेवः सतां गतिः।
परितुष्टः प्रसन्नात्मा प्रहसंस्तमभाषत॥ १८॥

श्रीसूत गोस्वामीजीने कहा—जब मार्कण्डेयजीने आदिदेव, सज्जनों (साधुजनों) के परमाश्रयस्वरूप भगवान् शङ्करकी इस प्रकार स्तुति की, तब वे मुनिकी स्तुतिसे परम सन्तुष्ट हुए और उनसे कहने लगे॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच—

वरं वृणीष्व नः कामं वरदेशा वयं त्रयः।
अमोघं दर्शनं येषां मर्त्यो यद्विन्दतेऽमृतम्॥ १९॥

भगवान् शङ्करने कहा—हे मुनिवर! आप मुझसे अभीष्ट वर माँगिए। ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश—हम तीनों वरदाताओंमें श्रेष्ठ हैं। मरणशील मनुष्य हमसे मोक्ष (अमृतत्व) का वरदान प्राप्त करते हैं एवं हमारा साक्षात्कार (दर्शन) कभी व्यर्थ नहीं जाता॥ १९॥

ब्राह्मणाः साधवः शान्ता निःसङ्गा भूतवत्सलाः।
एकान्तभक्ता अस्मासु निर्वैराः समदर्शिनः॥ २०॥

सलोका लोकपालास्तान् वन्दन्त्यर्चन्त्युपासते।
अहञ्च भगवान् ब्रह्मा स्वयञ्च हरिरीश्वरः॥ २१॥

जो ब्राह्मण सदाचार-सम्पन्न, शान्त, निष्काम, समस्त प्राणियोंसे प्रेम करनेवाले, वैरभावसे रहित, समदर्शी एवं हमारे ऐकान्तिक भक्त होते हैं, लोकपालगण सम्पूर्ण लोकोंके (लोकवासियोंके) साथ उनकी स्तुति एवं वन्दना करते हैं। मैं, ब्रह्माजी एवं जगदीश्वर श्रीहरि हम सब भी उनका सम्मान करते हैं। (भगवान्‌के गुणावतार ब्रह्मा एवं शिव वस्तु-विचारसे अभिन्न हैं।)॥ २०-२१॥

न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते।
नात्मनश्च जनस्यापि तद्युष्मान् वयमीमहि॥ २२॥

ऐसे शान्त पुरुष ब्रह्मा-विष्णु-महेशमें किञ्चित् मात्र भी भेद-दर्शन नहीं करते तथा स्वयं और अन्य जीवोंमें पार्थक्य नहीं रखते (अपने तथा दूसरेके साथ सुख-दुःखादिमें भेद नहीं देखते), इसी कारण हम आप जैसे सन्त भक्तोंका सम्मान करते हैं॥ २२॥

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवाश्चेतनोज्झिताः।
ते पुनन्त्युरुकालेन यूयं दर्शनमात्रतः॥ २३॥

पृथ्वीपर सभी जलमय स्थान वस्तुतः 'तीर्थ' पद वाच्य नहीं हो सकते एवं अचेतन (जड़) प्रस्तरमयी, मृत्तिकामयी मूर्त्तियाँ यथार्थतः 'देव' पद वाच्य नहीं हो सकतीं, क्योंकि दीर्घकाल पर्यन्त सेवा करनेके बाद वे सेवकको पवित्र करते हैं, परन्तु आपके जैसे साधु तो दर्शन मात्रसे ही मनुष्योंको पवित्र कर देते हैं। अतः वास्तविक तीर्थ तो इाप ही हैं॥ २३॥

ब्राह्मणेभ्यो नमस्यामो येऽस्मद्रूपं त्रयीमयम्।
बिभ्रत्यात्मसमाधानतपःस्वाध्यायसंयमैः॥ २४॥

जो ब्राह्मण आत्मसमाधि (चित्तकी एकाग्रता), तपस्या, वेदपाठ (स्वाध्याय) एवं संयम (वागादि-नियमन) के द्वारा हम तीनोंसे अभिन्न त्रयीमय वेदात्मक शरीरको धारण करते हैं, हम उन्हें

प्रणाम करते हैं। (भक्तियोगी भगवद्भक्त सर्वतोभावसे शुद्ध विचार सम्पन्न होनेके कारण ब्राह्मणोत्तम हैं।)॥ २४॥

श्रवणाद्दर्शनाद्वापि महापातकिनोऽपि वः।
शुध्येरन्नन्त्यजाश्चापि किमु सम्भाषणादिभिः॥ २५॥

महापातकी एवं चाण्डालादि अन्त्यज भी आपके नाम-श्रवणसे अथवा आपके स्वरूप-दर्शनसे पवित्र हो जाते हैं, यदि आपके साथ सम्भाषण हो जाय तो बात ही क्या कही जाय?॥ २५॥

श्रीसूत उवाच—

इति चन्द्रललामस्य धर्मगुह्योपबृंहितम्।
वचोऽमृतायनमृषिर्नातृप्यत् कर्णयोः पिबन्॥ २६॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—महर्षि मार्कण्डेय चन्द्रललाम (चन्द्रभूषण) शङ्करजीके मुखसे निःसृत धर्मके गोपनीय रहस्यसे युक्त अमृतास्पद वचनोंका अपने कानोंसे पान तो कर रहे थे, परन्तु उन्हें तृप्तिका कुछ भी अनुभव नहीं हो रहा था। (ऋषिको अपनी स्तुतिसे आनन्द प्राप्त नहीं हो रहा था, स्तुतिके छलसे जो धर्मकी शिक्षा दी जा रही थी, उससे वे तृप्त नहीं हो रहे थे।)॥ २६॥

स चिरं मायया विष्णोर्भ्रामितः कर्शितो भृशम्।
शिववागमृतध्वस्त-क्लेशपुञ्जस्तमब्रवीत्॥ २७॥

भगवान् विष्णुकी मायाशक्तिसे वे चिरकालतक भटक चुके थे और अतिशय कृश हो गये थे—बहुत थक चुके थे। महादेवजीके वचनामृत-पानसे उनके सारे कष्ट दूर हो गये थे। वे उनसे कहने लगे—(अनर्थयुक्त अवस्थामें जीव मायासे आकृष्ट रहता है एवं गुणजात कष्टोंको भोगता रहता है। श्रीगुरु-वचनोंके श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरणसे अनर्थोंकी निवृत्ति हो जाती है। श्रद्धासम्पन्न होकर गुरुदेवका आश्रय करनेसे भजन आरम्भ होता है और भजनके फलस्वरूप अनर्थ मिट जाते हैं।)॥ २७॥

श्रीमार्कण्डेय उवाच—

अहो ईश्वरलीलेयं दुर्विभाव्या शरीरिणाम्।
यन्नमन्तीशितव्यानि स्तुवन्ति जगदीश्वराः॥ २८॥

श्रीमार्कण्डेय ऋषिने कहा—अहो! यह ईश्वर-चरित मुझ जैसे जीवोंके लिए अचिन्त्य (समझके बाहर) है, क्योंकि जो जगदीश्वरके द्वारा शासन-योग्य (अधीन) हैं, वे ही उन्हें (मुझ-जैसोंको) प्रणाम एवं स्तव करते हैं॥ २८॥

धर्मं ग्राहयितुं प्रायः प्रवक्तारश्च देहिनाम्।
आचरन्त्यनुमोदन्ते क्रियमाणं स्तुवन्ति च॥ २९॥

अथवा वे स्वयं धर्म-प्रणेता एवं धर्म-प्रवक्ता होकर भी जीवको धर्म-शिक्षा प्रदान करनेके लिए प्रायशः स्वयं धर्मका अनुष्ठान करते हैं और दूसरोंके धार्मिक कृत्योंका अनुमोदन करते हैं तथा धर्मका पालन करनेवालोंकी स्तुति भी करते हैं॥ २९॥

नैतावता भगवतः स्वमायामयवृत्तिभिः।
न दुष्येतानुभावस्तैर्मायिनः कुहकं यथा॥ ३०॥

जिस प्रकार मायावी (जादूगर) अपनी माया (जादूगरी) दिखलाता है, तो उन खेलोंसे उसके प्रभावमें कोई कमी नहीं होती, इसी प्रकार आपके लोकशिक्षाप्रद नमस्कारादि मायिक कार्योंसे वस्तुतः आपका माहात्म्य किञ्चित् मात्र भी दूषित नहीं होता। (यद्यपि श्रीरुद्र द्वारा उनकी स्तुति आदि मायाकृत नहीं है, परन्तु अपनी स्तुतिसे लज्जित मुनि इस प्रकारके दृष्टान्तका प्रयोग कर रहे हैं। ध्यान रहे, निरपेक्ष सरलता एवं सांसारिक कपटता समजातीय नहीं है।)॥ ३०॥

सृष्ट्वेदं मनसा विश्वमात्मनानुप्रविश्य यः।
गुणैः कुर्वद्भिराभाति कर्त्तेव स्वप्नदृग् यथा॥ ३१॥
तस्मै नमो भगवते त्रिगुणाय गुणात्मने।
केवलायाद्वितीयाय गुरवे ब्रह्ममूर्त्तये॥ ३२॥

जो सङ्कल्पमात्रसे इस सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि करते हैं और अन्तर्यामीरूपसे उनमें प्रवेश करते हैं, जो स्वयं अकर्त्ता होकर भी स्वप्नदर्शी पुरुषकी भाँति प्रकृतिके गुणोंको क्रियमाण बनाकर इस जगत्के प्रत्यक्ष कर्त्ताके समान प्रकाशित हो रहे हैं, ऐसे उन त्रिगुणमय, गुण-नियन्ता, विशुद्ध (प्रकृतिके गुणोंके स्वामी होकर भी प्रकृतिसे पृथक् रहनेवाले), अद्वितीय ब्रह्म-स्वरूप (परब्रह्मके आदि-साकाररूप) जगद्गुरुको मैं प्रणाम करता हूँ। (श्रीगुरुदेव भगवान्की आश्रय-जातीय ब्रह्ममूर्त्ति हैं।)॥ ३१-३२॥

कं वृणे नु परं भूमन् वरं त्वद्वरदर्शनात्।
यद्दर्शनात् पूर्णकामः सत्यकामः पुमान् भवेत्॥ ३३॥

हे ब्रह्मन्! आपके दर्शन मात्रसे ही मनुष्य पूर्णकाम और सत्यकाम हो जाते हैं। आपके दर्शनसे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है। अतः आपसे मैं और क्या दूसरा वर माँगूँ?॥ ३३॥

वरमेकं वृणेऽथापि पूर्णात् कामाभिवर्षणात्।
भगवत्यच्युतां भक्तिं तत्परेषु तथा त्वयि॥ ३४॥

आप अपने भक्तोंकी समस्त कामनाओंको प्रदान करनेवाले पूर्णस्वरूप हैं, इसलिए मैं आपसे एक यही वर माँगता हूँ कि अच्युत भगवान् श्रीहरि, भगवद्भक्त और आपके प्रति मुझे अविचल (अस्खलित) भक्ति प्राप्त हो॥ ३४॥

श्रीसूत उवाच—

इत्यर्चितोऽभिष्टुतश्च मुनिना सूक्तया गिरा।
तमाह भगवान् शर्वः शर्वया चाभिनन्दितः॥ ३५॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—जब मुनिने सुरम्य वचनोंसे भगवान् शङ्करका इस प्रकार स्तवन एवं पूजन किया, तब पार्वतीसे अभिवन्दित होकर एवं उनसे अनुमोदन प्राप्त करके शर्व (शिव) मुनिसे इस प्रकार कहने लगे॥ ३५॥

कामो महर्षे सर्वोऽयं भक्तिमांस्त्वमधोक्षजे।
आकल्पान्ताद्यशः पुण्यमजरामरता तथा॥ ३६॥

हे महर्षे! अधोक्षज श्रीहरिके प्रति आपका अनपायिनी (अविचल) भक्ति बनी रहे, आपके सम्पूर्ण अभिलाष पूर्ण हों, प्रलयकाल पर्यन्त आपका अजरत्व, अमरत्व रहे एवं पुण्यकीर्त्ति बनी रहे कि आप अधोक्षज भगवान् श्रीहरिके सेवक हैं॥ ३६॥

ज्ञानं त्रैकालिकं ब्रह्मन् विज्ञानञ्च विरक्तिमत्।
ब्रह्मवर्च्चस्विनो भूयात् पुराणाचार्यतास्तु ते॥ ३७॥

हे ब्रह्मन्! आप ब्रह्मतेजसे युक्त हो। आप त्रिकालज्ञ हो। वैराग्य-युक्त भक्ति-रस-विज्ञानका आपमें अभ्युदय हो। पुराणोंका आचार्यत्व आपको प्राप्त हो॥ ३७॥

श्रीसूत उवाच—

एवं वरान् स मुनये दत्त्वागात् त्र्यक्ष ईश्वरः।
देव्यै तत्कर्म्म कथयन्ननुभूतं पुरामुना॥ ३८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—जगदीश्वर त्रिलोचनने मुनि मार्कण्डेयको वर प्रदान किया तथा पार्वतीसे उनके द्वारा अनुभूत विष्णुमायाके वैभव और उनके तपस्यादि आश्चर्यजनक कार्योंका वर्णन करते-करते वहाँसे प्रस्थान कर गये॥ ३८॥

सोऽप्यवाप्तमहायोगमहिमा भार्गवोत्तमः।
विचरत्यधुनाप्यद्धा हरावेकान्ततां गतः॥ ३९॥

भृगुवंशियोंमें श्रेष्ठ मार्कण्डेय ऋषिको भगवद्-भक्ति-विषयक महायोगकी महिमा उपलब्ध हो गयी थी। वे भगवान्के ऐकान्तिक भक्तके (अनन्य-प्रेमीके) रूपमें अब भी इस जगत्में विचरण करते हैं॥ ३९॥

अनुवर्णितमेतत्ते मार्कण्डेयस्य धीमतः।
अनुभूतं भगवतो मायावैभवमद्भुतम्॥ ४०॥

हे मुने! महामति मार्कण्डेयजीके इस अद्भुत चरित्रका एवं उनके द्वारा अनुभूत विष्णुमायाके विचित्र वैभवका मैंने आपके समीप वर्णन किया॥ ४०॥

एतत् केचिदविद्वांसो माया संसृतिरात्मनः।
अनाद्यावर्त्तितं नृणां कादाचित्कं प्रचक्षते॥ ४१॥

जो लोग बद्धजीवोंके सृष्टि-प्रलय-रूपमें रचित संसृतिको (संसार-भावको) भगवान्‌की माया द्वारा रचित कारणके रूपमें नहीं जानते, ऐसे अज्ञानी व्यक्ति मार्कण्डेयके इस आकस्मिक (कदाचित्क अर्थात् किसी एक समय होनेवाले) वृतान्तको अनादिकालसे परिवर्त्तनशील दैव-द्विसहस्र युगान्तरका पुन-पुनः आवर्त्तितरूपमें अर्थात् अनादिकालसे चले आ रहे अन्तहीन चक्रके रूपमें तुलना करते हैं। (मार्कण्डेयजीका माया-वैभव दर्शन भगवान्‌की अचिन्त्यशक्तिसे सम्पन्न हुआ था—यह केवल उनके लिए ही था, सर्वसाधारणके लिए नहीं। परन्तु कोई-कोई देवताओंके सहस्र युग परिमाणके चक्रसे इसका सात कल्प कहकर वर्णन करते हैं।)॥ ४१॥

य एवमेतद्भृगुवर्यवर्णितं
रथाङ्गपाणेरनुभावभावितम् ।
संश्रावयेत् संशृणुयादु तावुभौ
तयोर्न कर्माशयसंसृतिर्भवेत्॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे श्रीमार्कण्डेयस्य वरलाभो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

हे भृगुवर्य! जो पूर्ववर्णित रथाङ्गपाणि श्रीहरिके अचिन्त्य प्रभावसे युक्त मार्कण्डेय ऋषिके इस चरित्रका दूसरेके निकट वर्णन करता

है अथवा स्वयं श्रवण करता है—उन दोनोंका ही कर्मवासना-जनित संसार-भाव (जन्म-मृत्यु) समाप्त हो जाता है और अधोक्षज भगवान्‌की नित्य सेवाकी उपलब्धि होती है॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके दसवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकादशोऽध्यायः

भगवान्‌के अङ्ग, उपाङ्ग एवं आयुधोंका रहस्य तथा विभिन्न सूर्यगणोंका वर्णन

श्रीशौनक उवाच—

अथेममर्थं पृच्छामो भवन्तं बहुवित्तमम्।
समस्ततन्त्रराद्धान्ते भवान् भागवत तत्त्ववित्॥ १॥

श्रीशौनकजीने कहा—हे भागवत-प्रवर सूतजी! आप बहुज्ञोंमें श्रेष्ठ, भगवद्-भक्त एवं समस्त तन्त्रोंके (पूजाकी व्यावहारिक विधि बतानेवाले शास्त्रोंके) सिद्धान्ततत्त्वको जाननेवाले हैं—अतः इस विषयमें हम आपसे कुछ जानना चाहते हैं॥ १॥

तान्त्रिकाः परिचर्यायां केवलस्य श्रियः पतेः।
अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पं कल्पयन्ति यथा च यैः॥ २॥
तन्त्रो वर्णय भद्रं ते क्रियायोगं बुभुत्सताम्।
येन क्रियानैपुणेन मर्त्त्यो यायादमर्त्त्यताम्॥ ३॥

आपका कुशल हो! तान्त्रिकघन चैतन्यघनविग्रह लक्ष्मीपति श्रीहरिकी उपासनाके विषयमें जिस प्रकारसे जिन समस्त तत्त्वोंके द्वारा उनके अङ्ग (पाणि-पाद आदि), उपाङ्ग (गरुड़ इत्यादि), आयुध (सुदर्शन चक्र आदि) और वेश (कौस्तुभादि अलङ्कारों) की कल्पना तान्त्रिकगणों द्वारा की जाती है एवं मनुष्य जिस क्रिया-नैपुण्यके द्वारा (पाञ्चरात्रिक विधिके) द्वारा अमृतत्वकी प्राप्ति करनेमें समर्थ हो जाता है, हम उसी क्रियायोगको (उपासना विधिको) जाननेके इच्छुक हैं। आप हमारे निकट पूर्वजिज्ञासित तत्त्वका वर्णन करें॥ २-३॥

श्रीसूत उवाच—

नमस्कृत्य गुरून् वक्ष्ये विभूतीर्वैष्णवीरपि।
याः प्रोक्ता वेदतन्त्राभ्यामाचार्यैः पद्मजादिभिः॥ ४॥

श्रीसूत गोस्वामीजीने कहा—ब्रह्मादि आचार्योंने, वेदोंने और पाञ्चरात्रादि तन्त्र-ग्रन्थोंने भगवान् विष्णुकी जिन वैष्णवी विभूतियोंका वर्णन किया है, मैं श्रीगुरुवर्गके चरणोंमें नमस्कार करके आपलोगोंके लिए उसीका वर्णन कर रहा हूँ॥ ४॥

मायाद्यैर्नवभिस्तत्त्वैः स विकारमयो विराट्।
निर्मितो दृश्यते यत्र सचित्के भुवनत्रयम्॥ ५॥

भगवान्के जिस चेतनाधिष्ठित विराट्रूपमें यह त्रिभुवन दिखायी देता है, वह अव्यक्त प्रकृति, सूत्रात्मा, महतत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा—इन नौ मूलभूत तत्त्वोंके सहित ग्यारह इन्द्रियों तथा पञ्चभूत—इन सोलह विकारोंसे बना हुआ है। (चेतना द्वारा विराट्रूपको अधिष्ठित करनेपर इसमें तीनों लोक दिखायी देने लगते हैं।)॥ ५॥

एतद्वै पौरुषं रूपं भूः पादौ द्यौः शिरो नभः।
नाभिः सूर्योऽक्षिणी नासे वायुः कर्णौ दिशः प्रभोः॥ ६॥
प्रजापतिः प्रजननमपानो मृत्युरीशितुः।
तद्बाहवो लोकपाला मनश्चन्द्रो भ्रुवौ यमः॥ ७॥
लज्जोत्तरोऽधरो लोभो दन्ता ज्योत्स्ना स्मयो भ्रमः।
रोमाणि भूरुहा भूम्नो मेघाः पुरुषमूर्द्धजाः॥ ८॥

यही भगवान्का पौरुष रूप है। (किस किस विभूति द्वारा कौन-कौन-सा अङ्ग कल्पित है, वही बतलाते हैं। सच्चिदानन्द विग्रह जगदीश्वर भगवान्के चरणयुगल यह भूलोक है, (अभेद निदर्शनके लिए कहते हैं कि भूलोक ही चरण-द्वय हैं—अपने चरणोंसे वे अपनी विभूति पृथ्वीका धारण-पोषण करते हैं) स्वर्ग लोक उनका मस्तक है, आकाश नाभि है, सूर्य नेत्र-द्वय हैं, वायु

नासा-द्वय है, दिशाएँ कर्ण-द्वय हैं, प्रजापति जननाङ्ग है, मृत्यु पायु (गुदा) है, लोकपालगण उनकी भुजाएँ हैं, चन्द्रमा मन है, यमराज भ्रू-युगल है, लज्जा ऊपरका ओष्ठ है, लोभ नीचेका ओष्ठ है, ज्योत्सना दन्त-पंक्ति है, भ्रम अर्थात् माया हास्य है, वृक्षावली रोम है और मेघ-माला विराट् पुरुषके केश-स्वरूप है॥ ६-८॥

यावानयं वै पुरुषो यावत्या संस्थया मितः।
तावानसावपि महापुरुषो लोकसंस्थया॥ ९॥

यह लौकिक व्यष्टि पुरुष जिस प्रकार अवयव-सन्निवेश द्वारा परिमाण विशिष्ट (सात वितस्ति) है, उक्त विराट् पुरुष (समाष्टि) भी लोक सन्निवेश द्वारा उसी प्रकारसे परिमाण विशिष्ट (सात वितस्ति) है॥ ९॥

कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्त्यजः।
तत्प्रभा व्यापिनी साक्षाच्छ्रीवत्समुरसा विभुः॥ १०॥

अजन्मा भगवान् श्रीहरि कौस्तुभमणिके छलसे शुद्ध जीव-चैतन्यरूप आत्मज्योतिको धारण करते हैं तथा उस कौस्तुभकी सर्वव्यापिनी प्रभाको ही साक्षात् श्रीवत्सरूपसे अपने वक्षःस्थलपर धारण करते हैं। [अकार द्वारा विष्णु, उकार द्वारा श्रीलक्ष्मी एवं मकार—उन दोनोंके दासको पच्चीस तत्त्वात्मक (जीव) कहते हैं। इसी कारणसे भगवान् अपने दासको हृदयमें धारण करते हैं। कौस्तुभकी ज्योतिः दक्षिण स्तनके ऊर्ध्वपर्यन्त व्याप्त है, उसीको श्रीवत्स कहते हैं। अर्थात् भगवान् दक्षिणावर्त्त शुभ्रवर्ण मृणाल तन्तुके समान सूक्ष्म रोमावलिके आकारको धारण करते हैं। (श्रीवत्सकी विभूति धर्म है) इसी प्रकार वाम स्तनके ऊपर लक्ष्मी रेखा अथवा स्वर्णरेखा है। (इसकी विभूति जगत्के राज्य आदि सम्पद् हैं।)]॥ १०॥

स्वमायां वनमालाख्यां नानागुणमयीं दधत्।
वासश्छन्दोमयं पीतं ब्रह्मसूत्रं त्रिवृत्स्वरम्॥ ११॥

बिभर्त्ति साङ्ख्यं योगञ्च देवो मकरकुण्डले।
मौलिं पदं पारमेष्ठ्यं सर्व्वलोकाभयङ्करम्॥ १२॥

विविध गुणमयी अर्थात् त्रिगुणमयी निज माया उनकी वनमालाकी विभूति है तथा पीताम्बरकी विभूति वैदिक छन्द हैं, त्रिमात्रक (अ, उ, म) प्रणव ब्रह्मसूत्र (यज्ञसूत्र अर्थात् जनेऊ) के रूपमें है, सांख्य एवं योगशास्त्रको वे मकराकृति कुण्डल-द्वयके रूपमें एवं सर्वाभयप्रद शिरोभूषण अर्थात् किरीटके रूपमें वे ब्रह्मलोकको धारण करते हैं॥ ११-१२॥

अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः।
धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते॥ १३॥

जिसको अधिष्ठान करके भगवान् अवस्थित हैं, वह अनन्त नामक आसन (शेषशय्या) अव्याकृत प्रधान (प्रकृतिकी अव्यक्त अवस्था) कहा जाता है। प्रधान अनन्तकी विभूति है, जो जगत्की सृष्टिका आदि कारण है तथा धर्म, ज्ञानादिसे युक्त जो सत्त्वगुण है वही नाभिकमल (पद्मासन) है॥ १३॥

ओजःसहोबलयुतं मुख्यतत्त्वं गदां दधत्।
अपां तत्त्वं दरवरं तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम्॥ १४॥
नभोनिभं नभस्तत्त्वमसिं चर्म तमोमयम्।
कालरूपं धनुः शार्ङ्गं तथा कर्ममयेषुधिम्॥ १५॥

(जिन अस्त्रोंको वे धारण करते हैं, उनके सम्बन्धमें बतलाते हैं) ओजः शब्दसे इन्द्रिय शक्ति (मरुत्), सहः शब्दसे मनःशक्ति (व्योम) एवं बल शब्दसे दैहिक शक्ति (क्षिति)—इन तीन शक्तियोंसे युक्त प्राण तत्त्व ही गदा रूपमें वर्णित है, इस प्रकारसे पाञ्चजन्य शङ्ख जलतत्त्व एवं सुदर्शन तेज तत्त्व है। आकाशके समान निर्मल नभः तत्त्व उनका असि (तलवार) है एवं तमोतत्त्व चर्म (ढाल) है। शार्ङ्ग नामक धनुष कालस्वरूप एवं कर्मेन्द्रियाँ तरकस स्वरूप हैं॥ १४-१५॥

इन्द्रियाणि शरानाहुराकूतीरस्य स्यन्दनम्।
तन्मात्राण्यस्याभिव्यक्तिं मुद्रयार्थक्रियात्मताम्॥ १६॥

ज्ञानेन्द्रियाँ शरस्वरूप हैं, क्रियाशक्तियुक्त (चञ्चल एवं वेगवान्) मनः रथस्वरूप है और शब्दादि पञ्च तन्मात्राएँ उनके रथके बाहर अभिव्यक्त होती हैं। उन्होंने वरद एवं अभयदरूप मुद्राएँ धारण कर रखी हैं—उनकी इन मुद्राओंसे (हाथोंके सङ्केतोंसे) लोक-व्यवहारके लिये उनकी क्रियाशीलता स्पष्टतः व्यक्त होती है॥ १६॥

मण्डलं देवयजनं दीक्षासंस्कार आत्मनः।
परिचर्या भगवत आत्मनो दुरितक्षयः॥ १७॥

सूर्यमण्डल अथवा अग्निमण्डल भगवद्-पूजाका अधिष्ठान (स्थान अर्थात् भूमि) है—यहाँ भगवान् पूजे जाते हैं, गुरुमुखसे प्राप्त दीक्षा-संस्कार भगवद्-पूजाका अधिकार (योग्यता) है अर्थात् दीक्षा आत्माकी शुद्धिका साधन है एवं मन्त्र-प्रयोगकी विभूति जीवका संस्कार है। भगवत्-सेवा जीवके समस्त पापोंकी विनाशिनी है॥ १७॥

भगवान् भगशब्दार्थं लीलाकमलमुद्वहन्।
धर्मं यशश्च भगवांश्चामरव्यजनेऽभजत्॥ १८॥

ऐश्वर्यादि षड्गुण 'भग' शब्दके वाचक हैं। भगवान् समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य—इन षड्गुणरूप लीलाकमलको धारण करते हैं। भगवान् धर्म तथा यशःस्वरूप चामर एवं व्यजनको स्वीकार करते हैं॥ १८॥

आतपत्रन्तु वैकुण्ठं द्विजा धामाकुतोभयम्।
त्रिवृद्वेदः सुपर्णाख्यो यज्ञं वहति पूरुषम्॥ १९॥

हे द्विजगण! श्रीहरिका आतपत्र (छत्र) समस्त भयोंसे रहित वैकुण्ठधाम है एवं वेदत्रयी (ऋक्, यजुः एवं साम) गरुडस्वरूप है। ये गरुड ही वेदत्रयीको धारण करते हैं और यज्ञरूपी विष्णुके वाहनका काम करते हैं। (लोकगत जो कुछ

भी निर्भयत्व अनुभूत होता, उसे निश्चय ही छत्रकी विभूति जानना चाहिए।)॥ १९॥

अनपायिनी भगवती श्रीः साक्षादात्मनो हरेः।
विष्वक्सेनस्तन्त्रमूर्त्तिर्विदितः पार्षदाधिपः।
नन्दादयोऽष्टौ द्वाःस्थाश्च तेऽणिमाद्या हरेर्गुणाः॥ २०॥

भगवान्‌से कभी अलग न होनेवाली भगवती लक्ष्मी देवी जगत्‌के अन्तर्यामी श्रीहरिकी नित्यशक्तिरूपिणी हैं। भगवान्‌के प्रधान पार्षद विष्वक्सेन तन्त्रमूर्त्ति अर्थात् पञ्चरात्रादि आगम स्वरूप हैं। भगवान्‌के स्वाभाविक गुण अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ ही नन्दादि आठों द्वारपाल हैं (पद्मपुराणके उत्तर खण्डमें (२५६/९-२१) अठारह द्वारपालोंके नाम दिये गये हैं—नन्द, सुनन्द, जय, विजय, चण्ड, प्रचण्ड, भद्र, सुभद्र, धाता, विधाता, कुमुद, कुमुदाक्ष, पुण्डरीक, वामन, शङ्कुकर्ण, सर्वनेत्र, सुमुख एवं सुप्रतिष्ठित।)॥ २०॥

वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम्।
अनिरुद्ध इति ब्रह्मन् मूर्त्तिव्यूहोऽभिधीयते॥ २१॥

चतुर्दिक्‌में स्थित चतुर्व्यूहके विषयमें बतलाते हैं—हे ब्रह्मन्! नारायण मूर्त्तिभेदसे नारायण स्वयं ही वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—इन चार नामोंसे (अंश-चतुर्व्यूहरूपसे) अभिहित होते हैं॥ २१॥

स विश्वस्तैजसः प्राज्ञस्तुरीय इति वृत्तिभिः।
अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर्भगवान् परिभाव्यते॥ २२॥

वे भगवान् ही विषय, इन्द्रिय, आशय एवं ज्ञानयुक्त वृत्तियोंके द्वारा विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीयके रूपमें ध्यान किये जाते हैं (वासुदेवकी विभूति विश्व, सङ्कर्षणकी तैजस, प्रद्युम्नकी प्राज्ञ एवं अनिरुद्धकी विभूति तुरीय ज्ञान (दिव्य चेतनाका उच्चतम स्तर) कही जाती है। विषयको ग्रहण करनेवाली शक्ति ही इन्द्रिय है, आशय शब्दसे मन (अज्ञान-संस्कार) कहा जाता है। जिसके

द्वारा ज्ञान आवृत एवं विक्षिप्त होता है। ज्ञान इन तीनोंका साक्षी अथवा ज्ञाता है।)

चतुर्व्यूह-उपासनाको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वे भगवान् ही जागरावस्थाके अभिमानी 'विश्व' बनकर शब्द, स्पर्श आदि बाह्य विषयोंको ग्रहण करते हैं, स्वप्नावस्थाके अभिमानी तैजस बनकर बाह्य विषयोंके बिना मन-ही-मन विविध विषयोंको ग्रहण करते हैं और देखते हैं, वे ही सुषुप्ति अवस्थाके अभिमानीप्राज्ञ बनकर विषय एवं मनके संस्कारोंसे युक्त अज्ञानसे आवृत्त हो जाते हैं और वे ही सबके साक्षी तृरीय रहकर समस्त ज्ञानोंके अधिष्ठान रहते हैं॥ २२॥

अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पैर्भगवांस्तच्चतुष्टयम्।
बिभर्त्ति स्म चतुर्मूर्त्तिर्भगवान् हरिरीश्वरः॥ २३॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि वासुदेव, सङ्कर्षण आदि चार मूर्त्तियोंमें विश्व, तैजस, आदि रूपोंको धारण करके भी ईश्वररूपमें ही अवस्थित रहते हैं। उनकी चारों ही मूर्त्तियों अङ्ग, उपाङ्ग, आयुध एवं आभूषणसे युक्त होती हैं। चारों ही स्वरूप विश्वादि चारों अवस्थाओंको धारण करते हैं। वासुदेवके अङ्ग (शरीर), उपाङ्ग (आयुध), आभूषण एवं पारिषद (सङ्गी) ये सभी भगवान्से अभिन्न हैं। वासुदेव अङ्ग, सङ्कर्षण उपाङ्ग, प्रद्युम्न अस्त्र एवं अनिरुद्ध पारिषद हैं।)॥ २३॥

द्विजऋषभ स एष ब्रह्मयोनिः स्वयंदृक्
स्वमहिमपरिपूर्णो मायया च स्वयैतत्।
सृजति हरति पातीत्याख्ययानावृताक्षो
विवृत इव निरुक्तस्तत्परैरात्मलभ्यः॥ २४॥

हे द्विजवर! भक्तों द्वारा आत्मरूपमें लभ्य, स्वप्रकाश, स्वमहिमासे परिपूर्ण, वेदयोनि (वेदोंके मूल स्रोत) भगवान् अनावृतज्ञान (कर्मों एवं नामोंसे भगवान्का ज्ञान कभी आवृत नहीं होता) युक्त होकर अपनी माया द्वारा इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार करनेमें

ब्रह्मा-विष्णु-महेशके नामसे भिन्न-भिन्न पुरुषोंके समान शास्त्रमें कहे गये हैं, परन्तु वस्तुतः वे भिन्न नहीं हैं। (भगवान् ब्रह्म अर्थात् वेदके प्रकाशक हैं, इनका कोई प्रकाशक नहीं है, ये स्वप्रकाश हैं, राजाके समान ऐश्वर्यके लिए इनको प्रकृतिकी अपेक्षा नहीं है—निज महिमासे परिपूर्ण हैं। क्रीड़ाके लिए निज शक्ति माया द्वारा ब्रह्मादि नामोंका सृजन करते हैं एवं वे ही इस जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं संहृति करते हैं। भगवान् द्वारा धारण की हुई कौस्तुभ मणि यह निर्दिष्ट करती है कि सभी जीव भगवान्के वक्षःस्थलकी कौस्तुभ मणि अर्थात् उसी मणिकी विभूति हैं। अतः एक भी जीव निन्दा अथवा विद्वेषके योग्य नहीं है।)॥ २४॥

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्-
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोपवनिताव्रजभृत्यगीत-
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गल पाहि भृत्यान्॥ २५॥

हे कृष्णसख (अर्जुनके सखा)! हे वृष्णिश्रेष्ठ! पृथ्वी-द्रोही राजाओंके वंशको दहन करनेवाले! हे श्रवणमङ्गल! गोपवधुओं-नारदादि भक्तगणों द्वारा कीर्त्तित हे पुण्यकीर्त्तिशालिन्! हे गोविन्द! हे श्रीकृष्ण! आप मुझ जैसे अपने सेवकोंकी रक्षा कीजिए॥ २५॥

य इदं कल्य उत्थाय महापुरुषलक्षणम्।
तच्चित्तः प्रयतो जप्त्वा ब्रह्म वेद गुहाशयम्॥ २६॥

जो ब्राह्म मुहूर्त्तमें उठकर पवित्र एवं तद्गतचित्त होकर पूर्वोक्त मन्त्रका (अङ्ग, उपाङ्ग, आयुधादि वर्णनात्मक पाठका) जप करता है, वह हृदयस्थ महापुरुषरूपी ब्रह्मका दर्शन प्राप्त कर लेता है अर्थात् अन्तर्यामी परमात्माको जान लेता है॥ २६॥

श्रीशौनक उवाच—

शुको यदाह भगवान् विष्णुराताय शृण्वते।
सौरो गणां मासि मासि नाना वसति सप्तकः॥ २७॥

तेषां नामानि कर्माणि नियुक्तानामधीश्वरैः।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां व्यूहं सूर्यात्मनो हरेः॥ २८॥

श्रीशौनकजीने कहा—हे सूतजी! सौर सप्तगण (सूर्य सम्बन्धित सात प्रकारके पुरुष सूर्य देवता, ऋषि, यक्ष, गन्धर्व, अप्सरा, राक्षस तथा नाग) प्रत्येक मासमें विभिन्न स्थानोंमें अवस्थान करते हैं अर्थात् प्रत्येक महीने बदलते रहते हैं। यह श्रीशुकदेवजीसे कथा श्रवण करनेवाले कहाराज परीक्षित्को (पञ्चम स्कन्धमें) बतलाया गया था। हम श्रीहरिके व्यूह (अंश-विस्तार) के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान् हैं। आप हमें बतलाइए कि ये सप्तगण अपने अधिपतियों द्वारा अधिष्ठित होकर (अपने स्वामी द्वादश आदित्योंके साथ रहकर) क्या करते हैं? इन सप्तमूर्त्तियोंके नाम क्या-क्या हैं?॥ २७-२८॥

श्रीसूत उवाच—

अनाद्यविद्यया विष्णोरात्मनः सर्वदेहिनाम्।
निर्मितो लोकतन्त्रोऽयं लोकेषु परिवर्त्तते॥ २९॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—निखिल प्राणियोंके अन्तर्यामी भगवान् श्रीहरिने अपनी अनादि एवं अचिन्त्य मायाके द्वारा सूर्यदेवकी रचना की है। ये सूर्यदेव समस्त लोकोंके प्रवर्त्तक (निर्वाहक) रूपमें सभी लोकोंमें विचरण करते हैं॥ २९॥

एक एव हि लोकानां सूर्य्य आत्मादिकृद्धरिः।
सर्ववेदक्रियामूलमृषिभिर्बहुधोदितः ॥ ३०॥

जगत्के अन्तर्यामी आदिकर्ता अद्वितीय श्रीहरि ही वास्तवमें सूर्यके रूपमें प्रकाशित होते हैं। समस्त वैदिक क्रियाओंके मूल (उद्गम) कारण उनका ही ऋषियोंने उपाधि भेदसे बहुत रूपों एवं नामोंमें वर्णन किया है॥ ३०॥

कालो देशः क्रिया कर्त्ता करणं कार्यमागमः।
द्रव्यं फलमिति ब्रह्मन् नवधोक्तोऽजया हरिः॥ ३१॥

हे शौनकजी! वे ही श्रीहरि मायाके द्वारा काल (प्रातः कालादि), समतलादि देश, यज्ञादि क्रिया, कर्त्ता (ब्राह्मणादि), स्रुवा आदि करण, यागादि कर्म, वेदमन्त्र, शाकल्य आदि द्रव्य और स्वर्गादि फलरूपसे नौ प्रकारके कहे गये हैं॥ ३१॥

मध्वादिषु द्वादशसु भगवान् कालरूपधृक्।
लोकतन्त्राय चरति पृथग्द्वादशभिर्गणैः॥ ३२॥

कालरूपधारी भगवान् सूर्य लोक यात्राका सम्यक् निर्वाह करनेके लिए चैत्रादि बारह महीनोंमें अपने भिन्न-भिन्न बारह गणोंके साथ भ्रमण करते हैं॥ ३२॥

धाता कृतस्थली हेतिर्वासुकी रथकृन्मुने।
पुलस्त्यस्तुम्बुरुरिति मधुमासं नयन्त्यमी॥ ३३॥

हे मुनि! धाता नामक सूर्य, कृतस्थली नामक अप्सरा, हेति नामक राक्षस, वासुकि नामक नाग, रथकृत नामक यक्ष, पुलस्त्य नामक ऋषि और तुम्बुरु नामक गन्धर्व—ये चैत्र मासमें अपने-अपने कार्योंका निर्वाह करते हैं॥ ३३॥

अर्यमा पुलहोऽथौजाः प्रहेतिः पुञ्जिकस्थली।
नारदः कच्छनीरश्च नयन्त्येते स्म माधवम्॥ ३४॥

अर्यमा नामक सूर्य, पुलह नामक ऋषि, अथौजा नामक यक्ष, प्रहेति नामक राक्षस, पुञ्जिकस्थली नामकी अप्सरा, नारद नामक गन्धर्व, कच्छनीर नामक नाग—ये वैशाख मासके कार्य-निर्वाहक हैं॥ ३४॥

मित्रोऽत्रिः पौरुषेयोऽथ तक्षको मेनका हहाः।
रथस्वन इति ह्येते शुक्रमासं नयन्त्यमी॥ ३५॥

मित्र नामक सूर्य, अत्रि नामक ऋषि, पौरुषेय नामक राक्षस, तक्षक नामक नाग, मेनका नामकी अप्सरा, हहा नामक गन्धर्व और रथस्वन नामक यक्ष—ये शुक्र अर्थात् ज्येष्ठ मासके कार्य-निर्वाहक हैं॥ ३५॥

वसिष्ठो वरुणो रम्भा सहजन्यस्तथा हुहूः।
शुक्रश्चित्रस्वनश्चैव शुचिमासं नयन्त्यमी॥ ३६॥

वरुण नामक सूर्यके साथ वशिष्ठ नामक ऋषि, रम्भा नामकी अप्सरा, सहजन्य नामक राक्षस, हूहू नामक गन्धर्व, शुक्र नामक नाग और चित्रस्वन नामक यक्ष आषाढ़ मासमें अपने-अपने कार्यका निर्वाह करते हैं॥ ३६॥

इन्द्रो विश्वावसुः श्रोता एलापत्रस्तथाङ्गिराः।
प्रम्लोचा राक्षसो वर्यो नभोमासं नयन्त्यमी॥ ३७॥

इन्द्र नामक सूर्य, विश्वावसु नामक गन्धर्व, श्रोता नामक यक्ष, एलापत्र नामक नाग, अङ्गिरा नामक ऋषि, प्रम्लोचा नामकी अप्सरा और वर्य नामक राक्षस—ये नभ अर्थात् श्रावण मासके निर्वाहक हैं॥ ३७॥

विवस्वानुग्रसेनश्च व्याघ्र आसारणो भृगुः।
अनुम्लोचा शङ्खपालो नभस्याख्यं नयन्त्यमी॥ ३८॥

विवस्वान् नामक सूर्य, उग्रसेन नामक गन्धर्व, व्याघ्र नामक राक्षस, आसारण नामक यक्ष, भृगु नामक ऋषि, अनुम्लोचा नामक अप्सरा और शङ्खपाल नामक नाग—ये भाद्र महीनेके कार्यके निर्वाहक हैं॥ ३८॥

पूषा धनञ्जयो वातः सुषेणः सुरुचिस्तथा।
घृताची गौतमश्चेति तपोमासं नयन्त्यमी॥ ३९॥

पूषा नामक सूर्य, धनञ्जय नामक नाग, वात नामक राक्षस, सुषेण नामक गन्धर्व, सुरुचि नामक यक्ष, घृताची नामकी अप्सरा और गौतम नामक ऋषि—ये माघ महीनेके कार्यके निर्वाहक हैं॥ ३९॥

ऋभुर्वर्चा भरद्वाजः पर्जन्यः सेनजित् तथा।
विश्व ऐरावतश्चैव तपस्याख्यं नयन्त्यमी॥ ४०॥

पर्जन्य नामक सूर्य, ऋभु नामक यक्ष, वर्चा नामक राक्षस, भरद्वाज नामक ऋषि, सेनजित् नामकी अप्सरा, विश्व नामक

गन्धर्व और ऐरावत नामक नाग—ये फाल्गुन महीनेके कार्य निर्वाहक हैं॥ ४०॥

अथांशु कश्यपस्ताक्ष्र्य ऋतसेनस्तथोर्वशी।
विद्युच्छत्रुर्महाशङ्खः सहोमासं नयन्त्यमी॥ ४१॥

अंशु नामक सूर्य, कश्यप नामक ऋषि, ताक्ष्र्य नामक यक्ष, ऋतसेवन नामक गन्धर्व, उर्वशी नामक अप्सरा, विद्युच्छत्रु नामक राक्षस और महाशङ्ख नामक नाग—ये अग्रहायण मासके कार्य निर्वाहक हैं॥ ४१॥

भगः स्फूर्जोऽरिष्टनेमिरूर्ण आयुश्च पञ्चमः।
कर्कोटकः पूर्वचित्तिः पुष्यमासं नयन्त्यमी॥ ४२॥

भग नामक सूर्य, स्फूर्ज नामक राक्षस, अरिष्टनेमि नामक गन्धर्व, ऊर्ण नामक यक्ष, आयु नामक ऋषि, कर्कोटक नामक नाग और पूर्वचित्ति नामकी अप्सरा—ये पौष मासके कार्य निर्वाहक हैं॥ ४२॥

त्वष्टा ऋचीकतनयः कम्बलश्च तिलोत्तमा।
ब्रह्मापेतोऽथ शतजिद्धृतराष्ट्र इषम्भराः॥ ४३॥

त्वष्टा नामक सूर्य, जमदग्नि नामक ऋषि, कम्बल नामक नाग, तिलोत्तमा नामकी अप्सरा, ब्रह्मापेत नामक राक्षस, शतजित् नामक यक्ष और धृतराष्ट्र नामक गन्धर्व—ये आश्विन मासके पालक हैं॥ ४३॥

विष्णुरश्वतरो रम्भा सूर्यच्वर्चाश्च सत्यजित्।
विश्वामित्रो मखापेत ऊर्जमासं नयन्त्यमी॥ ४४॥

विष्णु नामक सूर्य, अश्वतर नामक नाग, रम्भा नामकी अप्सरा, सूर्यवर्चा नामक गन्धर्व, सत्यजित् नामक यक्ष, विश्वामित्र नामक ऋषि और मखापेत नामक राक्षस—ये कार्तिक मासके कार्य निर्वाहक हैं॥ ४४॥

एता भगवतो विष्णोरादित्यस्य विभूतयः।
स्मरतां सन्ध्ययोर्नृणां हरन्त्यंहो दिने दिने॥ ४५॥

आदित्यरूपी भगवान् श्रीहरिकी इन सारी विभूतियोंको प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकालमें स्मरण करनेवाले मनुष्योंकी पापराशि विनष्ट हो जाती है॥ ४५॥

द्वादशस्वपि मासेषु देवोऽसौ षड्भिरस्य वै।
चरन् समन्तात् तनुते परत्रेह च सन्मतिम्॥ ४६॥

उक्त सूर्यदेव गन्धर्वादि षड् गणोंके साथ बारहों महीने सर्वत्र भ्रमण करते हैं और मनुष्योंके इहलोक एवं परलोकमें सन्मति (शुभ चेतना) का विस्तार करते हैं॥ ४६॥

सामर्ग्यजुर्भिस्तल्लिङ्गैर्ऋषयः संस्तुवन्त्यमुम्।
गन्धर्वास्तं प्रगायन्ति नृत्यन्त्यप्सरसोऽग्रतः॥ ४७॥
उन्नह्यन्ति रथं नागा ग्रामण्यो रथयोजकाः।
चोदयन्ति रथं पृष्ठे नैर्ऋता बलशालिनः॥ ४८॥

ऋषिगण, उनके (सूर्यदेवके) प्रकाशक साम, ऋक् एवं यजुः मन्त्रों द्वारा इन सूर्यदेवकी सम्यक् स्तुति करते हैं, गन्धर्व उनके माहात्म्यका गान करते हैं, अप्सराएँ उनके सम्मुख नृत्य करती हैं, नाग दृढ़तापूर्वक उनके रथको बाँधे रहते हैं, यक्ष रथमें घोड़ोंको योजित करते हैं और बलवान् राक्षस पीछेसे बलपूर्वक रथका सञ्चालन करते हैं॥ ४७-४८॥

वालखिल्याः सहस्राणि षष्टिर्ब्रह्मर्षयोऽमलाः।
पुरतोऽभिमुखं यान्ति स्तुवन्ति स्तुतिभिर्विभुम्॥ ४९॥

वालखिल्य नामक साठ हजार विशुद्धचित्त ब्रह्मर्षि उनकी (सूर्यकी) ओर मुख करके उनके आगे-आगे चलते हैं एवं स्तुति-वचनोंसे सूर्यदेवकी स्तुति करते हैं॥ ४९॥

एवं ह्यनादिनिधनो भगवान् हरिरीश्वरः।
कल्पे कल्पे स्वमात्मानं व्यूह्य लोकानवत्यजः॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे श्रीमदादित्यव्यूहविवरणं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अनादिनिधन (आद्यन्तरहित) अज भगवान् जगदीश्वर श्रीहरि प्रत्येक कल्पमें इस प्रकारसे अपना विभाग करके सारे लोकोंका पालन करते हैं॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके ग्यारहवें अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

श्रीमद्भागवतकी संक्षिप्त विषय-सूची

श्रीसूत उवाच—

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्ये सनातनान्॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—मैं हरिभक्तिस्वरूप महत् धर्म एवं भक्ति-प्राप्य जगत्के विधाता श्रीकृष्णको नमस्कार करता हूँ। अनन्तर व्यासादि ब्राह्मणोंको एवं श्रीमद्भागवत-प्रकाशक-गणोंको नमस्कार करके सनातन धर्म (भगवान्के, भक्तियोगके एवं श्रीकृष्ण चरित्रोंके निर्गुणत्वके कारण नित्य धर्म) का वर्णन करूँगा। महत् धर्मसे तात्पर्य है—भगवत्-लीला-चरितोंका श्रवण एवं कीर्तन॥ १॥

एतद्वः कथिते विप्रा विष्णोश्चरितमद्भुतम्।
भवद्भिर्यदहं पृष्टो नारणां पुरुषोचितम्॥ २॥

हे मुनिगण! आपने मुझसे मनुष्योंके सुनने योग्य जिस विषयकी जिज्ञासा की थी, विष्णुका वही अद्भुत चरित मैंने आपके निकट वर्णन किया है॥ २॥

अत्र संकीर्त्तितः साक्षात् सर्वपापहरो हरिः।
नारायणो हृषीकेशो भगवान् सात्वतां पतिः॥ ३॥

यह श्रीमद्भागवत ग्रन्थ समस्त पापोंका विनाश करनेवाला है। इसमें नारायण (नार अर्थात् जीवोंके, अयन अर्थात् आश्रय), हृषीकेश (समस्त के प्रवर्त्तक अथवा स्वामी), उद्धवादि सात्वतोंके पति, भगवान् यादवेश्वर श्रीहरिका साक्षात्रूपसे वर्णन हुआ है॥ ३॥

अत्र ब्रह्म परं गुह्यं जगतः प्रभवाप्ययम्।
ज्ञानञ्च तदुपाख्यानं प्रोक्तं विज्ञानसंयुतम्॥ ४॥

इस श्रीमद्भागवत नामक महापुराणमें निर्गुण परब्रह्मके परम रहस्यमय (वाक् आदि इन्द्रियोंसे अग्राह्य अति गोपनीय) तत्त्वका वर्णन हुआ है। उनसे ही इस जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय होते हैं। इस पुराणमें उन्हीं परब्रह्मके विज्ञान-सहित ज्ञान (साक्षात् अनुभवके सहित) ज्ञानका वर्णन है, एवं उसके साधनोंका स्पष्ट निर्देश है॥ ४॥

भक्तियोगः समाख्यातो वैराग्यञ्च तदाश्रयम्।
पारीक्षितमुपाख्यानं नारदाख्यानमेव च॥ ५॥

इस पुराणमें साध्य-साधनरूप भक्तियोग और उससे उत्पन्न वैराग्यका भी भलीभाँति वर्णन उपलब्ध है। इसमें श्रीपरीक्षित् महाराजके और देवर्षि नारदजीके उपाख्यान भी बतलाये गये हैं॥ ५॥

प्रायोपवेशो राजर्षेर्विप्रशापात् परीक्षितः।
शुकस्य ब्रह्मर्षभस्य संवादश्च परीक्षितः॥ ६॥

इस ग्रन्थमें बतलाया गया है कि मुनिके शापके कारण राजर्षि परीक्षित्ने किस प्रकार प्रायोपवेशन (उपवास) का व्रत ले लिया था। ब्राह्मणश्रेष्ठ शुकदेव एवं परीक्षित्के मध्य भगवत्-धर्म विषयक प्रश्नोत्तररूप संवादका वर्णन भी इसमें हुआ है॥ ६॥

योगधारणयोत्क्रान्तिः संवादो नारदाजयोः।
अवतारानुगीतञ्च सर्गः प्राधानिकोऽग्रतः॥ ७॥

योग-धारणाके द्वारा उत्क्रान्ति (शरीर-त्याग) अर्थात् अर्चिरादि गति, ब्रह्मा-नारदजीका संवाद, अवतार-सङ्कीर्तन एवं महत्तत्त्वादिरूपमें प्रधान कार्य-रूप प्राकृतिक सृष्टिका वर्णन हुआ है। (प्रथम स्कन्धसे ही प्रकरणके अर्थोंका अनुक्रम करके कहते हैं—पहले जन्मगुह्याध्यायकी कथा अति प्रसिद्ध होनेपर भी उसका लङ्घन

किया गया है। इसी प्रकारसे चित्रकेतु, त्रिपुरवध आदिकी कथा, भीष्म-निर्याण, अम्बरीष आदिकी कथा, अघासुर-वध, ब्रह्ममोहनादि कथा—इस प्रकारसे बहुत-सी कथाओंका भी लङ्घन किया गया है। कहीं-कहीं विपरीत क्रम भी हुआ है।)॥ ७॥

विदुरोद्धव-संवादः क्षत्तृमैत्रेययोस्ततः।
पुराणसंहिताप्रश्नो महापुरुषसंस्थितिः॥ ८॥

विदुरजी एवं उद्धवका संवाद, अनन्तर विदुर एवं मैत्रेयजीका संवाद, पुराण संहिता विषयक प्रश्न एवं महापुरुषका अवस्थान (महापुरुषमें अर्थात् भगवान् पद्मनाभमें संस्थिति-प्रलयकालमें उनके उदरमें ब्रह्माका शयन) वर्णित हुआ है॥ ८॥

ततः प्राकृतिकः सर्गः सप्त वैकृतिकाश्च ये।
ततो ब्रह्माण्डसम्भूतिर्वैराजः पुरुषो यतः॥ ९॥

अनन्तर गुणोंके क्षोभसे उत्पन्न प्राकृतिक सृष्टि, महत्तत्त्वादि सात-विकृति-प्रकृतिके द्वारा कार्य सृष्टि एवं ब्रह्माण्डोत्पत्तिका वर्णन हुआ है। इसी प्रसङ्गमें विराट्पुरुषकी स्थितिके विषयमें भी बतलाया गया है॥ ९॥

कालस्य स्थूल-सूक्ष्मस्य गतिः पद्मसमुद्भवः।
भुव उद्धरणेऽम्भोधेर्हिरण्याक्षवधो यथा॥ १०॥

स्थूल एवं सूक्ष्म कालगति, नाभि-कमलकी सृष्टि (गर्भोदशायी विष्णुकी नाभिसे लोककमलकी उत्पत्ति) एवं प्रलय-समुद्रसे पृथ्वीका उद्धार करते समय वराहजी द्वारा हिरण्याक्षके वधका वृत्तान्त वर्णित हुआ है॥ १०॥

ऊर्द्ध्वतिर्यगवाक्सर्गो रुद्रसर्गस्तथैव च।
अर्द्धनारीश्वरस्याथ यतः स्वायम्भुवो मनुः॥ ११॥

अनन्तर ऊर्ध्व-सृष्टि (देवतादि उच्च योनियोंकी सृष्टि) मनुष्योंकी सृष्टि, तिर्यक् सृष्टि (पशु-पक्षीकी सृष्टि), अधः-सृष्टि (निम्न आसुरी आदि योनियोंकी सृष्टि), रुद्र सृष्टि एवं स्वायम्भुव मनुके उत्पत्तिक्षेत्र

अर्धनारीश्वरकी सृष्टि (अर्धनारीश्वरसे स्वायम्भुव मनुका प्राक्टय) भी वर्णित हुई है। (अर्द्ध नारी-नरसे मनु एवं शतरूपाका जन्म हुआ है)॥ ११॥

शतरूपा च या स्त्रीणामाद्या प्रकृतिरुत्तमा।
सन्तानो धर्मपत्नीनां कर्दमस्य प्रजापतेः॥ १२॥

नारियोंमें श्रेष्ठ उत्तम आद्या प्रकृति शतरूपा नामकी स्त्रीकी कथा एवं कर्दम प्रजापतिकी धर्मपत्नियोंकी सन्ततिका विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है॥ १२॥

अवतारो भगवतः कपिलस्य महात्मनः।
देवहूत्याश्च संवादः कपिलेन च धीमता॥ १३॥

अनन्तर महात्मा भगवान् कपिलदेवके अवतार एवं परम विवेकी कपिलमुनिके साथ देवहूतिके संवादके विषयमें बतलाया गया है॥ १३॥

नवब्रह्मसमुत्पत्तिर्दक्षयज्ञविनाशनम्।
ध्रुवस्य चरितं पश्चात् पृथोः प्राचीनबर्हिषः॥ १४॥
नारदस्य च संवादस्ततः प्रैयव्रतं द्विजाः।
नाभेस्ततोऽनुचरितमृषभस्य भरतस्य च॥ १५॥

मरीचि आदि नवसंख्यक ब्राह्मणोंकी (ब्रह्माके पुत्रोंकी) उत्पत्ति, प्रजापति दक्षके यज्ञका विनाश, ध्रुव-चरित, पृथु-चरित, प्राचीनबर्हिः-चरित एवं प्राचीनबर्हिः तथा नारदके मध्य संवादका वर्णन हुआ है। हे द्विजो! इसके साथ ही प्रियव्रत-चरित, नाभि-चरित, ऋषभ-चरित एवं भरत-चरित भी वर्णित हुए हैं॥ १४-१५॥

द्वीपवर्षसमुद्राणां गिरिनद्युपवर्णनम्।
ज्योतिश्चक्रस्य संस्थानं पातालनरकस्थितिः॥ १६॥

इस ग्रन्थमें द्वीप-वर्ष-समुद्रोंका, पर्वत एवं नदियोंका सम्यक्रूपेण वर्णन प्राप्त होता है। साथ ही ज्योतिष्क-मण्डलकी स्थिति तथा पाताल एवं नरककी स्थिति भी बतलायी गयी है।

नरकको दूर करनेवाले अजामिल-उपाख्यानका वर्णन इसके बाद हुआ है॥ १६॥

दक्षजन्म प्रचेतोभ्यस्तत्पुत्रीणाञ्च सन्ततिः।
यतो देवासुरनरास्तिर्यङ्नगखगादयः॥ १७॥

प्रचेताओंके पुत्ररूपमें दक्षका पुनर्जन्म, दक्षकी कन्याओंकी सन्तानोत्पत्ति एवं उनसे देव, असुर, नर, तिर्यक् योनि, वृक्ष, पक्षी इत्यादि समस्त प्राणियोंके जन्मके विषयमें छठे स्कन्धमें बतलाया है॥ १७॥

त्वाष्ट्रस्य जन्म निधनं पुत्रयोश्च दितेर्द्विजाः।
दैत्येश्वरस्य चरितं प्रह्लादस्य महात्मनः॥ १८॥

हे द्विजगण! वृत्रासुरका जन्म एवं संहार, हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपुका जन्म तथा वध और दैत्येश्वर (दैत्य-शिरोमणि) महात्मा प्रह्लादका चरित भी इसमें वर्णित हुआ है॥ १८॥

मन्वन्तरानुकथनं गजेन्द्रस्य विमोक्षणम्।
मन्वन्तरावताराश्च विष्णोर्हयशिरादयः॥ १९॥

ग्रन्थमें मन्वन्तरोंका वर्णन, गजेन्द्र-मोक्ष एवं विभिन्न मन्वन्तरोंमें होनेवाले श्रीहरिके हयग्रीवादि अवतारोंका वर्णन हुआ है॥ १९॥

कौर्मं मात्स्यं नारसिंहं वामनञ्च जगत्पतेः।
क्षीरोदमथनं तद्वदमृतार्थे दिवौकसाम्॥ २०॥

अनन्तर जगत्पति श्रीहरिके कौर्म, मात्स्य, नारसिंह एवं वामन अवतार तथा अमृत-प्राप्ति हेतु देवताओंके समुद्र-मन्थनकी कथा कही गयी है॥ २०॥

देवासुरमहायुद्धं राजवंशानुकीर्त्तनम्।
इक्ष्वाकुजन्म तद्वंशः सुद्युम्नस्य महात्मनः॥ २१॥

देवासुर-महायुद्ध, राजवंश-वर्णन, इक्ष्वाकु-जन्म, उनके वंशका वर्णन एवं महात्मा सुद्युम्नके वंशके वर्णनके विषयमें भी बतलाया गया है॥ २१॥

इलोपाख्यानमत्रोक्तं तारोपाख्यानमेव च।
सूर्यवंशानुकथनं शशादाद्या नृगादयः॥ २२॥

मरीचि आदि नव ब्राह्मणोंसे उत्पत्ति, इला एवं ताराका उपाख्यान, सूर्य-वंश वर्णन, शशाद तथा नृग आदि राजाओंके चरित्रका वर्णन हुआ है॥ २२॥

सौकन्यञ्चाथ शर्यातेः ककुत्स्थस्य च धीमतः।
खट्वाङ्गस्य च मान्धातुः सौभरेः सगरस्य च॥ २३॥

अनन्तर सुकन्या, शर्याति, ककुत्स्थ, खट्वाङ्ग, मान्धाता, सौभरि ऋषि एवं सगरका चरित भी कीर्त्तित हुआ है॥ २३॥

रामस्य कोशलेन्द्रस्य चरितं किल्विषापहम्।
निमेरङ्गपरित्यागो जनकानाञ्च सम्भवः॥ २४॥

कौशल-नरेश भगवान् श्रीरामचन्द्रका पुण्य-चरित, महाराज निमिका देह-त्याग एवं जनक राजाओंकी उत्पत्तिके विषयमें भी बतलाया गया है॥ २४॥

रामस्य भार्गवेन्द्रस्य निःक्षत्रीकरणं भुवः।
ऐलस्य सोमवंशस्य ययातेर्नहुषस्य च॥ २५॥
दौष्मन्तेर्भरतस्यापि शान्तनोस्तत्सुतस्य च।
ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशोऽनुकीर्त्तितः॥ २६॥

परशुराम द्वारा क्षत्रियोंका संहार, सोमवंशीय ऐल, ययाति, नहुष, दुष्मन्त-नन्दन भरत, शान्तनु एवं उनके पुत्र भीष्मादिका तथा ययातिके ज्येष्ठ-पुत्र यदुके वंशका विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है॥ २५-२६॥

यत्रावतीर्णो भगवान् कृष्णाख्यो जगदीश्वरः।
वसुदेवगृहे जन्म ततो वृद्धिश्च गोकुले॥ २७॥

यदुवंशमें कृष्ण नामक जगदीश्वर भगवान् अवतीर्ण हुए हैं। वसुदेव-गृहमें उनका जन्म एवं गोकुलमें उनके बड़े होनेकी अनेकानेक लीलाएँ इस ग्रन्थमें वर्णित हुई हैं॥ २७॥

तस्य कर्माण्यपाराणि कीर्त्तितान्यसुरद्विषः।
पूतनासुपयःपानं शकटोच्चाटनं शिशोः॥ २८॥
तृणावर्त्तस्य निष्पेषस्तथैव बक-वत्सयोः।
अघासुरवधो धात्रा वत्सपालावगूहनम्॥ २९॥

असुर-रिपु श्रीकृष्णके अनन्त लीला-चरित्रोंका निरूपण है यथा बाल्यावस्थामें पूतनाका स्तनपान करते हुए उसका प्राण-संहार, शकट-निक्षेप, तृणावर्त्त, बक एवं वत्सासुर-वध, अघासुर-वध एवं ब्रह्मा द्वारा गोवत्सोंका हरणादि वर्णन हुआ है॥ २८-२९॥

धेनुकस्य सहभ्रातुः प्रलम्बस्य च संक्षयः।
गोपानाञ्च परित्राणं दावाग्नेः परिसर्पतः॥ ३०॥

श्रीकृष्णके साथ बलदेवजी द्वारा धेनुक एवं प्रलम्बासुरका संहार एवं परिसरणशील (चारों दिशाओंमें फैलते हुए) दावानलसे गोपोंके परित्राणके विषयमें बतलाया गया है॥ ३०॥

दमनं कालियस्याहेर्महाहेर्नन्दमोक्षणम्।
व्रतचर्या तु कन्यानां यत्र तुष्टोऽच्युतो व्रतैः॥ ३१॥
प्रसादो यज्ञपत्नीभ्यो विप्राणाञ्चानुतापनम्।
गोवर्द्धनोद्धारणञ्च शक्रस्य सुरभेरथ॥ ३२॥
यज्ञाभिषेकः कृष्णस्य स्त्रीभिः क्रीडा च रात्रिषु।
शङ्खचूडस्य दुर्बुद्धेर्वधोऽरिष्टस्य केशिनः॥ ३३॥

अनन्तर कालियनाग-दमन, महासर्पके ग्राससे नन्द महाराजका परित्राण, कृष्ण-प्राप्ति हेतु गोपकन्याओंकी व्रत-चर्या, व्रतसे श्रीकृष्णका सन्तोष, यज्ञरत विप्रपत्नियोंके प्रति अनुग्रह, विप्रोंका अनुताप, गोवर्द्धन-धारण, इन्द्र एवं सुरभि द्वारा यज्ञ एवं अभिषेक, शारदीय रात्रियोंमें गोप-रमणियोंके साथ रासक्रीड़ा, शङ्खचूड़, अरिष्ट एवं केशी नामक दैत्योंके संहारका भी वर्णन हुआ है।॥ ३१-३३॥

अक्रूरागमनं पश्चात् प्रस्थानं रामकृष्ण्योः।
व्रजस्त्रीणां विलापश्च मथुरालोकनं ततः॥ ३४॥

तदनन्तर अक्रूरका मथुरासे वृन्दावन-आगमन, उनके साथ भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलरामजीका मथुराके लिए प्रस्थान, व्रज रमणियोंका विलाप तथा श्रीबलदेव और श्रीकृष्णके मथुरा दर्शनका वर्णन हुआ है॥ ३४॥

गजमुष्टिकचाणूरकंसादीनां तथा वधः।
मृतस्यानयनं सूनोः पुनः सान्दीपनेर्गुरोः॥ ३५॥

अतःपर कंसके कुवलयापीड़ नामक हाथी, मुष्टिक, चाणूर और कंस आदिका संहार, यमालयसे गुरु सान्दीपनि मुनिके मृत पुत्रका पुनः आनयन आदि प्रसङ्गोंका भी वर्णन हुआ है॥ ३५॥

मथुरायां निवसता यदुचक्रस्य यत् प्रियम्।
कृतमुद्धव-रामाभ्यां युतेन हरिणा द्विजाः॥ ३६॥

हे ब्राह्मणो! तदनन्तर मथुरामें रहते समय उद्धव और श्रीबलरामके सहित श्रीकृष्णने यदुवंशियोंके जो सब प्रियकार्य सम्पन्न किये थे, उनका वर्णन हुआ है॥ ३६॥

जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो वधः।
घातनं यवनेन्द्रस्य कुशस्थल्या निवेशनम्॥ ३७॥

जरासन्ध द्वारा सत्रह बार एकत्र करके लायी गयी सेनाओंका वध, कालयवनका मुचुकुन्द द्वारा संहार एवं रातोंरात द्वारकापुरीकी स्थापनाका वर्णन किया गया है॥ ३७॥

आदानं पारिजातस्य सुधर्मायाः सुरालयात्।
रुक्मिण्या हरणं युद्धे प्रमथ्य द्विषतो हरेः॥ ३८॥

अनन्तर स्वर्गसे द्वारकामें पारिजात वृक्ष एवं सुधर्मा नामकी देवसभाका आनयन (लाना) तथा युद्धमें शत्रुओंपर विजय करते हुए रुक्मिणीदेवीके हरणकी कथा बतलायी गयी है॥ ३८॥

हरस्य जृम्भणं युद्धे बाणस्य भुजकृन्तनम्।
प्राग्ज्योतिषपतिं हत्वा कन्यानां हरणञ्च यत्॥ ३९॥

बाणासुर-युद्धमें शिवजीका स्तम्भन (उनका जँभाई लेते रह जाना), बाणासुरकी भुजाओंका छेदन तथा प्राग्ज्योतिष-पुराधिपति नरकासुरका वध करते हुए उसके द्वारा अवरुद्ध सोलह हजार स्त्रियोंके द्वारकामें लानेकी कथा भी वर्णित हुई है॥ ३९॥

चैद्यपौण्ड्रकशाल्वानां दन्तवक्रस्य दुर्मतेः।
शम्बरो द्विविदः पीठो मुरः पञ्चजनादयः॥ ४०॥

माहात्म्यञ्च वधस्तेषां वाराणस्याश्च दाहनम्।
भारावतरणं भूमेर्निमित्तीकृत्य पाण्डवान्॥ ४१॥

शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व, दुर्मति दन्तवक्त्र, शम्बरासुर, द्विविद, पीठ, मुर, पञ्चजन इत्यादिके प्रभाव एवं उनका संहार, वाराणसी-पुरी-दाह तथा पाण्डवोंको निमित्त करके भू-भार-हरणकी कथा भी कही गयी है॥ ४०-४१॥

विप्रशापापदेशेन संहारः स्वकुलस्य च।
उद्धवस्य च संवादो वासुदेवस्य चाद्भुतः॥ ४२॥
यत्रात्मविद्या ह्यखिला प्रोक्ता धर्मविनिर्णयः।
ततो मर्त्यपरित्याग आत्मयोगानुभावतः॥ ४३॥

हे शौनकजी! अनन्तर विप्र-शापके छलसे अपने वंशका संहार, वसुदेव-संवाद एवं उद्धव-संवादमें सम्पूर्ण आत्म-ज्ञान-वर्णन एवं वर्णाश्रमधर्म-निर्णय तथा अपनी योगमायाके प्रभावसे मनुष्य-लीला एवं मर्त्यलीलाके परित्यागका वर्णन किया गया है॥ ४२-४३॥

युगलक्षणवृत्तिश्च कलौ नृणामुपप्लवः।
चतुर्विधश्च प्रलय उत्पत्तिस्त्रिविधा तथा॥ ४४॥

विभिन्न युगोंके लक्षण, युगानुरूप वृत्ति, कलियुगमें मानवोंका उपद्रव (धर्म-विप्लव) चार प्रकारके प्रलय एवं त्रिविधा (प्राकृती, नैमित्तिकी एवं नित्या) सृष्टिका वर्णन हुआ है॥ ४४॥

देहत्यागश्च राजर्षेर्विष्णुरातस्य धीमतः।
शाखाप्रणयनमृषेर्मार्कण्डेयस्य सत्कथा।
महापुरुषविन्यासः सूर्यस्य जगदात्मनः॥ ४५॥

इसके बाद महामति राजर्षि परीक्षित्का देह-त्याग, श्रीव्यासदेव द्वारा वेद-पुराणकी शाखाओंका विस्तार, मार्कण्डेयका पुण्य-चरित, महापुरुष-संस्थिति (भगवान्के अङ्ग-उपाङ्गोंके स्वरूपका वर्णन) एवं सूर्य-संस्थानका (सूर्यके गणोंका) वर्णन हुआ है॥ ४५॥

इति चोक्तं द्विजश्रेष्ठा यत्पृष्टोऽहमिहास्मि वः।
लीलावतारकर्माणि कीर्त्तितानीह सर्वशः॥ ४६॥

हे द्विजश्रेष्ठगण! आप लोगोंने मुझसे जिस विषयमें प्रश्न किये थे, उन सबका वर्णन मैंने कर दिया। इस ग्रन्थमें समस्त प्रकारके लीलावतार-चरितोंका भी वर्णन किया गया है॥ ४६॥

पतितः स्खलितश्चार्त्तः क्षुत्त्वा वा विवशो गृणन्।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥ ४७॥

जो ऊँचाईसे नीचे गिरते समय अथवा कुएँ आदिमें गिरते समय, सीढ़ीसे गिरते समय अथवा पग-सञ्चालनमें त्रुटिसे, दुःखी होकर अथवा छींकते समय अथवा छींकनेके बाद विवशतापूर्वक उच्च-स्वरसे 'हरये नमः' उच्चारण करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है (जड़ाभिनिवेश भोग एवं काल्पनिक त्यागसे उसकी मुक्ति हो जाती है।)॥ ४७॥

सङ्कीर्त्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥ ४८॥

भगवान् श्रीहरिका चरित-कीर्त्तन अथवा माहात्म्य श्रवण करनेपर वे मनुष्योंके हृदयमें प्रविष्ट होकर उसी प्रकार सारे दुःखोंको दूर

कर देते हैं, जिस प्रकार सूर्य अन्धकारको एवं प्रबल वायु घनघोर मेघोंको छिटका देते हैं। (सूर्य हृदयगत गुहाके अन्धकारको दूर नहीं कर सकता, जब कि वैकुण्ठ श्रवण-जनित सम्यक् कथाएँ जीवके चित्तमें प्रविष्ट होकर भोग एवं त्यागकी प्रवृत्तिको नष्ट कर देती हैं।)॥ ४८॥

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा,
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः।
तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलं,
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥ ४९॥

जिसमें अधोक्षज भगवान् श्रीहरिकी कथाओंका कीर्त्तन नहीं, वे सभी कथाएँ असत्, मिथ्या एवं सारहीन हैं। जिन कथाओंमें भगवान्के अनन्त गुणोंका अभ्युदय होता है, वे ही वाक्य सत्य हैं, वे ही मङ्गलप्रद हैं एवं वे ही पुण्यजनक हैं—यह जान लेना चाहिए। (भागवत शास्त्रका तात्पर्य कृष्ण-कीर्त्तन ही है। जिन कथाओंमें भगवान्का वर्णन नहीं होता, वे असत् ही हैं। ऐसी असत् कथाएँ कहनेवाले सत्यवादी होनेपर भी मिथ्यावादी हैं, प्रियवादी होनेपर भी कटुभाषी हैं। इसके विपरीत अपनी कल्पनासे असत् होनेपर भी यदि उसमें भगवान्के यशका वर्णन है, तो वे सत्य हैं, गृहाश्रम-विध्वंसक होनेपर भी वे मङ्गलमयी हैं। इन कथाओंमें दोष कदापि नहीं होता।)॥ ४९॥

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥ ५०॥

जिस वाणीके द्वारा उत्तमश्लोक भगवान्के परम पवित्र यशका गान क्षण-क्षण होता है, वही वाणी नव-नवायमानरूपमें अनुभूत होनेवाली, रुचिप्रद, रम्य, चित्तके लिए नित्य महोत्सवकारी एवं शोक-समुद्रको शोषित करनेवाली है॥ ५०॥

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं
यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः॥५१॥

जो वाणी पद-पदपर विचित्र छन्द-अलङ्कारसे युक्त हो, परन्तु उसमें श्रीहरिके लोकपावनकारी यशका वर्णन नहीं है, ऐसी वाणी विष्ठादिभोजी कौएके समान है, जो असारग्राही मनुष्योंके लिए तो प्रीतिप्रद हो सकती है, किन्तु ज्ञानियोंके लिए नहीं। सारग्राही ज्ञानी तो इसका सेवन (श्रवण) कभी नहीं करते। विमल चित्त, परम पवित्र, क्षीर-नीर भेदकारी साधुगण (हंसगण) भगवद्-गीतिसे युक्त वचनोंमें ही प्रीति रखते हैं और उनका ही निरन्तर सेवन करते हैं॥५१॥

तद्वाग्विसर्गो जनताघसंप्लवो,
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्,
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥५२॥

परमहंस साधु दूसरोंके द्वारा कीर्त्तित कथाओंको स्वयं सुनते हैं और श्रोताओंके समीप उनका गान करते हैं, कोई सुननेवाला न मिले तो स्वयं ही कथाएँ कहते हैं। श्रीहरिके यश, पुण्य नाम, रूप, लीलाओंसे युक्त काव्यादिमें यदि पद, बन्धादि शिल्पात्मक सौंदर्य न हो, तो भी उसके श्रवण-गान-कीर्त्तनसे सम्पूर्ण पापोंका विनाश हो जाता है। ['न यत् वच', 'तद् वाग्' एवं 'नैष्कर्म्यम्' ये तीनों श्लोक (भा.१०/१२/५१-५३) भक्तिकी सर्वोत्कर्षताके विस्तारक हैं। अतः इन तीनोंको महापुराणके प्रथम अध्याय (१/५/१०-१२) में भी कहा गया है, जैसे कोई महामन्त्र आदि एवं अन्तमें दो अथवा तीन बीजों द्वारा सम्पुटित होता है।]॥५२॥

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं,
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे,
न ह्यर्पितं कर्म यदप्यनुत्तमम्॥५३॥

नैष्कर्म्य ब्रह्मका प्रकाशक एवं उपाधि निवर्त्तक (निरुपाधिक) निर्मल ज्ञान भी यदि विष्णु-भक्तिसे रहित होता है तो, वह यथार्थरूपमें शोभा नहीं पाता। अतः जो कर्म साधनकालमें एवं फलकालमें सर्वदा दुःखात्मक हैं, ऐसे कर्म सर्वोत्तम होकर भी यदि ईश्वरको समर्पित नहीं होते, तो वे किस प्रकारसे शोभा पा सकते हैं? (कर्मानुष्ठानके विनिमयमें जीवका किसी प्रकारसे मङ्गल नहीं हो सकता, मुक्त पुरुषोंका नैष्कर्म्य भी भगवद्-भक्तिसे रहित हो, तो वह भी प्रशंसनीय नहीं हो सकता।)॥५३॥

यशःश्रियामेव परिश्रमः परो
वर्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु ।
अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयो-
र्गुणानुवादश्रवणादरादिभिः ॥५४॥

वर्णाश्रम धर्मके अनुकूल आचरण, तपस्या एवं शास्त्र-श्रवणादि विषयक जो परिश्रम किया जाता है, वह मात्र यश एवं ऐश्वर्यका कारणस्वरूप हो सकता है, किन्तु भगवान्के गुणानुवादका आदरपूर्वक श्रवण श्रीधरके (श्रीहरिके) पादपद्म-युगलका अविस्मरण (अविचल स्मृति)—रूप महाफल प्रदान करता है॥५४॥

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि च शं तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानञ्च विज्ञानविरागयुक्तम्॥५५॥

कृष्ण-पदारविन्द युगलकी स्मृति मनुष्योंके अशुभका विनाश करती है, चित्तकी शुद्धि करती है, श्रीहरि-भक्ति प्रदान करती

है, विज्ञान-वैराग्यसे युक्त ज्ञान देती है एवं समस्त मङ्गलका विस्तार करती है। (भगवत्-स्मृति केवल अमङ्गलका ही विनाश करती हो, ऐसा नहीं है, यह प्रचुर मात्रामें वास्तव मङ्गल प्रदान करती है।)॥ ५५॥

यूयं द्विजाग्र्या बत भूरिभागा
यच्छश्वदात्मन्यखिलात्मभूतम्।
नारायणं देवमदेवमीश-
मजस्रभावा भजताविवेश्य॥ ५६॥

हे द्विजवरगण! आप सब अतिशय पुण्यवान् एवं धन्य हैं। आप सदा-सर्वदा अपने हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे अवस्थित, सभी मनुष्योंके आराध्य, अन्य किसी देवताके अनधीन, जगदीश्वर नारायणको हृदयमें संस्थापित करके भक्तिसे युक्त होकर निरन्तर उनकी आराधना करते हैं। (भगवत्-सेवाके प्रभावसे बद्धजीवमें भी नित्य सेव्य प्रभुका, अपने सेवकत्वका एवं सेवावृत्तिके ज्ञानका उदय होता है।)॥ ५६॥

अहञ्च संस्मारित आत्मतत्त्वं
श्रुतं पुरा मे परमर्षिवक्त्रात्।
प्रायोपवेशे नृपतेः परीक्षितः
सदस्यृषीणां महताञ्च शृण्वताम्॥ ५७॥

पुराकालमें महाराज परीक्षित् प्रायोपवेशनका व्रत लेकर बड़े-बड़े ऋषि एवं अन्यान्य महाजनोंकी सभामें परमर्षि श्रीशुकदेवजीके मुखसे कथा श्रवण कर रहे थे, तब मैंने भी उस कथाको सुना था। अब आपने मेरे चित्तमें पुनः उसी आत्मतत्त्वकी स्मृति करायी है (भगवत्-कथा-श्रवणमें किञ्चित् मात्र भी अनुराग होनेपर जीवका परम मङ्गल होता है।)॥ ५७॥

एतद्वः कथितं विप्राः कथनीयोरुकर्मणः।
माहात्म्यं वासुदेवस्य सर्वाशुभविनाशनम्॥ ५८॥

हे विप्रगण! एकमात्र जिनका महान् चरित कीर्त्तनीय है, उन्हीं श्रीकृष्णके सर्व-पाप-विनाशन माहात्म्यका मैंने आपके निकट वर्णन किया है॥ ५८॥

य एतत् श्रावयेन्नित्यं यामक्षणमनन्यधीः।
श्लोकमेकं तदर्द्धं वा पादं पादार्द्धमेव वा।
श्रद्धावान् योऽनुशृणुयात् पुनात्यात्मानमेव सः॥ ५९॥

जो तद्गतचित्त (कृष्णमयचित्त) होकर प्रति दिन प्रत्येक प्रहर, प्रत्येक क्षण दूसरोंके निकट इस भागवतशास्त्रका कीर्त्तन करते हैं अथवा श्रद्धायुक्त होकर इसके एक श्लोक, आधे श्लोक, श्लोकके चतुर्थ अथवा अष्टम भागका क्षण-प्रतिक्षण श्रवण करते हैं, वे अपनी आत्माको पवित्र करते हैं। (श्रद्धापूर्वक हरिकथा-श्रवण जीवके भक्ति-पथका प्रथम सोपान है।)॥ ५९॥

द्वादश्यामेकादश्यां वा शृण्वन्नायुष्यवान् भवेत्।
पठत्यनश्नन् प्रयतः पूतो भवति पातकात्॥ ६०॥

जो मनुष्य द्वादशी अथवा एकादशीको भागवत श्रवण करता है, वह दीर्घजीवी होता है और जो उन दिनों उपवासी रहकर एकाग्रचित्तसे इसका पाठ करता है, वह समस्त पापोंसे विमुक्त हो जाता है॥ ६०॥

पुष्करे मथुरायां च द्वारवत्यां यतात्मवान्।
उपोष्य संहितोमेतां पठित्वा मुच्यते भयात्॥ ६१॥

पुष्कर, मथुरा एवं द्वारका क्षेत्रमें उपवास करके जो संयत-चित्तसे इस भागवत-संहिताका पाठ करते हैं, वे समस्त भयोंसे मुक्त हो जाते हैं॥ ६१॥

देवता मुनयः सिद्धाः पितरो मनवो नृपाः।
यच्छन्ति कामान् गृणतः शृण्वतो यस्य कीर्त्तनात्॥ ६२॥

जो इस पुराणका कीर्त्तन करते हैं, दूसरोंको सुनाते हैं और स्वयं सुनते हैं—देवगण, मुनिगण, सिद्धगण, पितृगण,

मनुगण एवं राजागण ऐसे मनुष्योंकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करते हैं॥ ६२॥

ऋचो यजूंषि सामानि द्विजोऽधीत्यानुविन्दते।
मधुकुल्या घृतकुल्याः पयःकुल्याश्च तत् फलम्॥ ६३॥

ब्राह्मणगण ऋक्, यजुः एवं सामवेदका पाठ करके मधुकुल्या, घृतकुल्या, पयःकुल्या रूप (मधु, घी एवं दूधकी नदियाँ अर्थात् समस्त प्रकारकी समृद्धिरूप) जो भी फल प्राप्त करते हैं, इसका पाठ करनेपर मनुष्यको वे सभी फल प्राप्त हो जाते हैं॥ ६३॥

पुराणसंहितामेतामधीत्य प्रयतो द्विजः।
प्रोक्तं भगवता यत्तु तत् पदं परमं व्रजेत्॥ ६४॥

ब्राह्मण संयत चित्तसे इस पुराण संहिताका पाठ करनेपर भगवान्‌के उस परम-पदकी प्राप्ति करनेमें समर्थ हो जाते हैं, जिसका वर्णन भगवान्‌ने स्वयं किया है॥ ६४॥

विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम्।
वैश्यो निधिपतित्वञ्च शूद्रः शुद्ध्येत पातकात्॥ ६५॥

इस महासंहिताका अध्ययन करनेसे ब्राह्मणको भक्ति, क्षत्रियोंको समुद्रपर्यन्त भूमण्डलका राज्य, वैश्योंको निधिपति कुबेरका पद और शूद्रोंको पापसे छुटकारा मिल जाता है॥ ६५॥

कलिमलसंहतिकालनोऽखिलेशो
हरिरितरत्र न गीयते ह्यभीक्ष्णम्।
इह तु पुनर्भगवानशेषमूर्त्तिः,
परिपठितोऽनुपदं कथाप्रसङ्गः॥ ६६॥

कलि-कलुष-विनाशन, सम्पूर्ण जगत्‌के अधीश्वर श्रीहरिका अन्यान्य शास्त्रोंमें अव्याहत (निरन्तर) गतिसे कीर्त्तन नहीं है, परन्तु इस श्रीमद्भागवत ग्रन्थके कथा-प्रसङ्गमें तो पद-पदपर अनन्त-विग्रह श्रीहरिकी ही कथा वर्णित हुई है॥ ६६॥

तमहमजमनन्तमात्मतत्त्वं
जगदुदय-स्थिति-संयमात्म-शक्तिम्।
द्युपतिभिरज - शक्र - शङ्कराद्यै -
र्दुरवसितस्तवमच्युतं नतोऽस्मि॥ ६७॥

जो जगत्की सृष्टि, स्थिति और संहार शक्तिसे सम्पन्न होकर भी अच्युत हैं, ब्रह्मा, इन्द्र, महेश आदि स्वर्गके अधिपति भी जिनकी स्तुति करना लेशमात्र भी नहीं जानते, मैं उन्हीं अज, अनन्त, आत्मरूपी भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करता हूँ॥ ६७॥

उपचितनवशक्तिभिः स्व आत्म-
न्युपरचितस्थिरजङ्गमालयाय ।
भगवत उपलब्धिमात्रधाम्ने
सुरऋषभाय नमः सनातनाय॥ ६८॥

जिनके अनन्त विग्रहमें (अपने आत्मस्वरूपमें) ही प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहङ्कार एवं पञ्चतन्मात्रारूप उपरचित (समीपमें निर्मित) नवविध शक्तियों द्वारा स्थावर-जङ्गमात्मक धामकी (आवासकी) व्यवस्था हुई है, उन्हीं विज्ञानरूपी (उपलब्धि द्वारा जिनके स्वरूपका ज्ञान होता है) सनातन, देवोत्तम श्रीहरिको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ६८॥

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥ ६९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धार्थनिरूपणं नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

श्रीशुकदेव महाराज जो अपने आत्मानन्द (निर्गुण ब्रह्मानन्द अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार) में विभोर रहते थे। अपने उसी भावके कारण उन्होंने अन्याभिलाषको अपसारित कर दिया था। श्रीहरिकी अति बलवती, रम्य और रुचिर लीलाओंके द्वारा उनका चित्त

आकृष्ट होकर स्थिरीभूत (कदापि विचनित न होनेवाला) हो गया था। उन्होंने जीवोंपर दया करनेके लिए परमार्थ-तत्त्वके प्रकाशक श्रीमद्भागवत-रूपी प्रदीपको प्रकाशित एवं विस्तृत किया है। मैं उन्हीं अखिल पाप-नाशन, व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजीको प्रणाम करता हूँ॥ ६९॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके बारहवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

विभिन्न पुराणोंकी श्लोक-संख्या और श्रीमद्भागवतकी महिमा

श्रीसूत उवाच—

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्र-रुद्र-मरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपद-क्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थित-तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र एवं मरुद्गण दिव्य स्तुति-वचन एवं अङ्ग—(शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष एवं निरुक्त) तथा पद-क्रम-उपनिषद् युक्त वेदवचनोंके द्वारा जिनका स्तव करते हैं, साम-सङ्गीतज्ञ जिनके माहात्म्यका गान करते हैं, योगी समाधिकालमें एकाग्रचित्तसे जिनके स्वरूपका दर्शन करते हैं एवं सुर-असुर जिनके माहात्म्यकी सीमाको नहीं जान सकते, मैं उन देवताको प्रणाम करता हूँ॥ १॥

पृष्ठे भ्राम्यदमन्द-मन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयना-
न्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः।
यत्संस्कार-कलानुवर्त्तनवशाद्वेलानिभेनाम्भसां
यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यर्नाद्यापि विश्राम्यति॥ २॥

महाभारी मन्दर पर्वत कच्छप भगवान्‌की पीठके ऊपर द्रुत गतिसे भ्रमण कर रहा था, उस समय उसकी चट्टानोंकी नोंकके घर्षणसे उनकी पीठमें खुजलाहट हो रही थी—जिससे तनिक-सा सुख मिलनेके कारण भगवान् सो गये थे—उन कूर्म भगवान्‌की श्वासवायु आप लोगोंकी रक्षा करें। इस श्वासवायुके संस्कारके

लेशमात्र अनुवर्त्तनके (भगवान्‌के श्वास-निश्वासके अनुकरणके) क्षोभके छलसे समुद्री जलराशिका यातायात (ज्वारभाटा) आज भी निरन्तर प्रवर्त्तमान (चल रहा) है, कभी भी विश्राम नहीं है। (कूर्मावतारका प्राकट्य एवं कूर्मलीलाकी प्रयोजनीयता बद्ध जीवोंके हृदयमें अनुकूल वायुके प्रभावसे जड़-भोग्य-कण्डूयनकी शान्ति करे, उनका श्वासानिल बद्धजीवोंके तर्क-कण्डूयनकी भी शान्ति करे।)॥ २॥

पुराणसंख्यासम्भूतिमस्य वाच्यप्रयोजने।
दानं दानस्य माहात्म्यं पाठादेश्च निबोधत॥ ३॥

हे द्विजगण! अब आप पुराण-संहिताओंकी श्लोक-संख्या, श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय एवं प्रयोजन, इसका दान, दान-पद्धति, दान-माहात्म्य एवं इसके पाठादिकी महिमा श्रवण करें। (जिस प्रकार राजाके सम्मुख उसकी स्तुति करते समय मण्डलेश्वरोंकी भी गणना की जाती है, उसी प्रकार महापुराण-चक्रवर्त्ती श्रीमद्भागवतके निकट सभी पुराणोंकी संख्याका स्मरण किया जाना चाहिए।)॥ ३॥

ब्राह्मं दशसहस्राणि पाद्मं पञ्चोनषष्टि च।
श्रीवैष्णवं त्रयोविंशच्चतुर्विंशति शैवकम्॥ ४॥
दशाष्टौ श्रीभागवतं नारदं पञ्चविंशतिः।
मार्कण्डं नव वाह्नञ्च दशपञ्चचतुःशतम्॥ ५॥
चतुर्द्दश भविष्यं स्यात्तथा पञ्चशतानि च।
दशाष्टौ ब्रह्मवैवर्त्तं लैङ्गमेकादशैव तु॥ ६॥
चतुर्विंशति वाराहमेकाशीतिसहस्रकम्।
स्कान्दं शतं तथा चैकं वामनं दश कीर्त्तितम्॥ ७॥
कौर्मं सप्तदशाख्यातं मात्स्यं तत्तु चतुर्द्दश।
एकोनविंशत् सौपर्णं ब्रह्माण्डं द्वादशैव तु॥ ८॥
एवं पुराणसन्दोहश्चतुर्लक्ष उदाहृतः।
तत्राष्टादशसाहस्रं श्रीभागवतमिष्यते॥ ९॥

ब्रह्मपुराण दस हजार श्लोकात्मक, पद्मपुराण पचपन हजार, श्रीविष्णुपुराण तेईस हजार, शिवपुराण चौबीस हजार, श्रीमद्भागवत अठारह हजार, नारदपुराण पच्चीस हजार, मार्कण्डेय पुराण नौ हजार, अग्निपुराण पन्द्रह हजार चार सौ, भविष्यपुराण चौदह हजार पाँच सौ, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण अठारह हजार, लिङ्गपुराण ग्यारह हजार, वराहपुराण चौबीस हजार, स्कन्दपुराण इक्यासी हजार एक सौ, वामनपुराण दस हजार, कूर्मपुराण सत्रह हजार, मत्स्यपुराण चौदह हजार, गरुड़पुराण उन्नीस हजार एवं ब्रह्माण्डपुराण बारह हजार श्लोकात्मक हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पुराणोंके श्लोकोंकी कुल संख्या चार लाख कही गयी है। इनमें श्रीमद्भागवतमें अठारह हजार श्लोक हैं। (जिस प्रकार अवतारोंमें कृष्णकी गणना करके पुनः 'एते चांश कला' इत्यादि कहकर कृष्णकी पृथक्रूपसे गणना है, उसी प्रकार पुराणोंमें भी श्रीमद्भागवतकी गणना करके अठारह हजार श्लोकात्मक श्रीमद्भागवतकी पुनः गणना इसके पुराणचक्रवर्त्तित्वको प्रकाश करती है। 'श्रीमत्' यह पद इसकी सम्पूर्णताको निर्दिष्ट करता है॥ ४-९॥

इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे।
स्थिताय भवभीताय कारुण्यात् सम्प्रकाशितम्॥ १०॥

हे शौनकजी! भगवान् नारायणने सर्वप्रथम अपने नाभिकमलपर स्थित और संसारसे (दुर्दमनीय इन्द्रियोंसे) भयभीत ब्रह्मापर कृपा करके इस श्रीमद्भागवतका उपदेश प्रदान किया था। (भगवान्ने प्रपञ्च-सृष्टिसे पूर्व ब्रह्माको भागवत धर्मका उपदेश दिया था।) देवसृष्टिके पहले ब्रह्माका आविर्भाव-काल है। पारमार्थिकताके अभावके कारण जो आतङ्क उपस्थित हुआ है, उसका निराकरण करते हुए श्रीगौरसुन्दरने आश्वस्त करते हुए कहा है—'आमार आज्ञाय गुरु हञा तार एइ देश। कभु ना बाँधिवे तोमाय विषय तरङ्ग' अर्थात् मेरी आज्ञासे गुरु बनकर—कृष्णके उपदेश सुनाकर इस देशकी रक्षा करो। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि विषयकी तरङ्गें तुम्हें कभी बाँध नहीं सकेंगी॥ १०॥

आदि-मध्यावसानेषु वैराग्याख्यानसंयुतम्।
हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम्॥ ११॥
सर्ववेदान्तसारं यद्ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्॥ १२॥

इस श्रीमद्भागवतके आदि, मध्य और अन्त्य भागमें वैराग्य उत्पन्न करनेवाले बहुत-से आख्यान हैं, जिनसे संयुक्त हरिलीलाकथामृत वितरणसे सत्पुरुष एवं देवता अति आनन्दित होते हैं। इसमें अखिल वेदान्त-उपनिषद्का सारभाग अर्थात् वेदादि सार, वेदमध्यसार एवं वेदान्तका सारभाग वर्णित हुआ है। इसमें आत्मैकत्वस्वरूप (आत्मासे अभिन्न) अद्वितीय ब्रह्मवस्तु विषयक विचार हैं और कैवल्य (केवला भक्ति अर्थात् प्रेमभक्ति) ही इसका एकमात्र फल (प्रयोजन) है।

वास्तव वस्तु स्वयंरूप कृष्ण ही एक सम्बन्ध है, कृष्णसेवैक-निष्ठा ही एक अभिधेय है, कृष्णप्रेमैक-निष्ठा ही केवला भक्ति है। भगवत्-निष्ठा द्वारा भक्ति ही समस्त ज्ञानका परम सुष्टु आदर्श है। केवला भक्ति ही प्रेम नामक प्रयोजनके कैवल्य शब्दकी सार्थकता करती है॥ ११-१२॥

प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंहसमन्वितम्।
ददाति यो भागवतं स याति परमां गतिम्॥ १३॥

जो व्यक्ति भाद्रपद मासकी पूर्णिमा-तिथिपर श्रीमद्भागवत-पुराणको सोनेके सिंहासनपर आरूढ़ कराके उसका दान करता है, उसे परमगति प्राप्त होती है॥ १३॥

राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे।
यावद्भागवतं नैव श्रूयतेऽमृतसागरम्॥ १४॥

जबतक अमृतका सागर-स्वरूप श्रीमद्भागवत पुराण कर्णगोचर नहीं होता, तब तक अन्यान्य पुराण साधु-समाजमें स्थान प्राप्त करते हैं। (प्रौष्ठपदी अर्थात् भाद्रमासकी पूर्णिमा तिथिपर मुनीन्द्र

श्रीमन् शुकदेवजी द्वारा यह शास्त्र सम्पन्न किया गया था। जब तक श्रीमद्भागवत-सूर्यको नहीं देखा जाता, तभी तक अन्यान्य नक्षत्र रूपी पुराणोंका प्रभाव रहता है।)॥ १४॥

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥ १५॥

श्रीमद्भागवत समस्त वेदान्तके सारभूतरूपमें कहा गया है। जो इसके रसामृतास्वादनसे सन्तुष्ट एवं तृप्त हैं, उनकी अन्यत्र कहीं भी आसक्ति नहीं हो सकती। (प्रापञ्चिक बुद्धिसे चिन्मयरसको जड़रसके समान समझनेके कारण दुर्बुद्धिका उदय होता है और ऐसे लोग श्रीमद्भागवतको समस्त वेदान्तके सार-रूपमें धारण करनेमें असमर्थ होते हैं। चिन्मय रसामृतसे जो तृप्त हैं, उन्हें कृष्णेतर साहित्यमें रुचि नहीं रहती।)॥ १५॥

निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा॥ १६॥

हे द्विजगणो! जिस प्रकार सर्वपाप-विनाशत्वके कारण गङ्गा सभी पुण्य नदियोंसे श्रेष्ठ है, सर्वोत्कृष्टत्वके कारण विष्णु सभी देवताओंसे श्रेष्ठ हैं, भागवत धर्मके उपदेष्टाके कारण शिव सभी वैष्णवोंसे श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार श्रीमद्भागवत पुराण समस्त पुराणोंमें श्रेष्ठ है॥ १६॥

क्षेत्राणाञ्चैव सर्वेषां यथा काशी ह्यनुत्तमा।
तथा पुराणव्रातानां श्रीमद्भागवतं द्विजाः॥ १७॥

हे द्विजगण! सभी पुण्य-स्थानोंमें जिस प्रकार काशीधाम सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार पुराणोंमें श्रीमद्भागवत सर्वोत्तम है॥ १७॥

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् सुपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥ १८॥

यह श्रीमद्भागवत नामक विशुद्ध पुराण वैष्णवोंकी परम प्रिय वस्तु है। इस पुराणमें जीवनमुक्त परमहंसों द्वारा लभ्य सर्वश्रेष्ठ, अद्वितीय और मायाके लेशसे रहित दिव्य ज्ञानका वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थमें ज्ञान, वैराग्य और भक्तिसे युक्त नैष्कर्म्य अर्थात् कर्मोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति भी प्रकाशित है। जो मनुष्य भक्तिके साथ इसका श्रवण, पठन और मनन करता है, उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है और वह मुक्त हो जाता है॥ १८॥

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्रताय कारुण्यत-
स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि॥ १९॥

जिन्होंने कल्पके प्रारम्भमें ब्रह्माजीके निकट इस ज्ञान-प्रदीपको (श्रीमद्भागवतको) प्रकाशित किया था, अनन्तर ब्रह्माजीके रूपमें महर्षि नारदजीको, नारदजीके रूपमें महर्षि वेदव्यासको, वेदव्यासके रूपमें योगीन्द्र शुकदेवजीको और शुकदेवके रूपमें करुणा पूर्वक अनुग्रह-वर्षण करते हुए शापोपविष्ट विष्णुरात महाराज परीक्षित्‌के लिए प्रकाशित किया था, उसी विशुद्ध, विमल, शोक-रहित, अमृत, परम-सत्यस्वरूप श्रीनारायण तत्त्वका हम ध्यान करते हैं। (जो धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इस चतुर्वर्गकी अभिलाषा करते हैं—ऐसे कपटयुक्त व्यक्ति प्रेमकी धारणा करनेमें असमर्थ होते हैं, इसीलिए स्पष्टतः कहा है—जो कल्मष युक्त, शोकयुक्त, परिणामशील एवं अशुद्ध हैं, उनके लिए सत्यवस्तुके ध्यानकी सम्भावना नहीं है। गायत्री द्वारा जिस प्रकार इस ग्रन्थका आरम्भ किया गया था, उसी प्रकार गायत्री द्वारा ही उपसंहार किया गया है। यह ग्रन्थ ब्रह्मविद्याका ग्रन्थ है; यह साक्षात् कृष्णलीलामय है। इसके अनुक्षण अनुशीलनके प्रभावसे जीव बद्धावस्थाको पार करके अधोक्षज-सेव्यका ध्यान कर सकते हैं।)॥ १९॥

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साक्षिणे।
य इदं कृपया कस्मै व्याचचक्षे मुमुक्षवे॥ २०॥

हम उन विश्वसाक्षी भगवान् वासुदेवको प्रणाम करते हैं, जिन्होंने कृपा करके मोक्षाभिलाषी ब्रह्माको इस श्रीमद्भागवत महापुराणका उपदेश किया था। (उपदेशसे पूर्व ब्रह्माजीकी मुक्तिकी इच्छा थी किन्तु उपदेशके बाद प्रेम-विषयमें उनकी आकाङ्क्षा जाग उठी और मोक्षके प्रति उपेक्षा हो गयी।)॥ २०॥

योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे।
संसारसर्प्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत्॥ २१॥

संसार-रूप काल-सर्पने जिनका दंशन कर लिया था, उन राजा परीक्षित्को जिन्होंने मुक्त किया था, उन ब्रह्म-स्वरूप योगीन्द्र शुकदेवको मैं प्रणाम करता हूँ। (जिस प्रकार अर्जुनका मोह गीताशास्त्र द्वारा, उद्धवजीका मोह एकादश-स्कन्ध द्वारा भगवान्ने नष्ट किया था, उसी प्रकार परीक्षित्के संसारको श्रीशुकदेवजीने नष्ट किया था—यह प्राकृत लोकदृष्टिसे कहा जाता है। श्रीकृष्णने कृपापूर्वक परीक्षित्को युधिष्ठिरके लिए दान दिया था और स्वयं उन्हें सर्वक्षण संरक्षण प्रदान करते हैं—ऐसे विष्णुरात परीक्षित्के लिए संसार हो नहीं सकता। सर्प-विष-हरण-मन्त्र लोगोंके अर्थ-ज्ञानकी अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार अर्थ जानें अथवा न जानें श्रीमद्भागवतका शब्द-शब्द संसार-विषको समूल नष्ट कर देता है। श्रीकृष्णचन्द्र ही सार्वकालिक सर्वजगत्-गुरु हैं, वे ही श्रीकृष्णचैतन्यरूपमें बद्धजीवके लिए अमन्दोदया करुणाका विस्तार करते हैं।)॥ २१॥

भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते।
तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो॥ २२॥

हे प्रभो! हे देवाधिदेव! हे श्रीकृष्ण! आप कृपा करके ऐसा विधान करें कि हम जब-जब जन्म ग्रहण करें, तब-तब आपके श्रीचरण-कमलोंमें यथार्थ एवं अविचल भक्तिका अभ्युदय होता रहे॥ २२॥

नामसङ्कीर्त्तनं यस्य सर्वपाप-प्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वादशस्कन्धे श्रीभागवतमाहात्म्यं नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

समाप्तमिदं द्वादश-स्कन्धात्मकं श्रीमद्भागवतम्।

जिनका नाम सङ्कीर्त्तन समस्त पापोंका विनाश करनेवाला है और जिनके प्रति किया गया नमस्कार समस्त दुःखोंको हर लेनेवाला है, मैं उन परम पुरुष श्रीहरिको प्रणाम करता हूँ॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके तेरहवें अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।